श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्

संस्कृत-छाया - पदार्थान्वय - मूलार्थोपेतम्
आत्मज्ञान-प्रकाशिका हिन्दी-भाषा टीका सहितञ्च

द्वितीय भाग - १४ से २५ अध्ययन पर्यंत

व्याख्याकार

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक

जैन धर्म दिवाकर ध्यानयोगी
आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज

प्रकाशक

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति (लुधियाना)
भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट (दिल्ली)

आगम	:	श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् भाग-२
व्याख्याकार	:	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
दिशा निर्देश	:	गुरुदेव बहुश्रुत श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
सपादक	:	आचार्य सम्राट् डॉ श्री शिवमुनि जी महाराज
सहयोग	:	श्रमण श्रेष्ठ कर्मयोगी श्री शिरीष मुनि जी महाराज
प्रकाशक	:	आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना
	:	भगवान महावीर रिसर्च एड मेडीटेशन सेटर ट्रस्ट दिल्ली
अर्थ सौजन्य	:	भक्त श्री त्रिलोकचन्द जी जैन (लुधियाना) के सुपुत्रो द्वारा
अवतरण	:	अप्रैल २००३
मूल्य	:	तीन सौ रुपए मात्र
प्राप्ति स्थान	:	१ भगवान महावीर मेडिटेशन एड रिसर्च सैटर ट्रस्ट श्री आर. के जैन, एस-ई ६२-६३, सिघलपुर विलेज, शालिमार बाग, नई दिल्ली दूरभाष : ९८११०८३६२७, (ऑ) २७१३८१६४ २ श्री सरस्वती विद्या केन्द्र, जैन हिल्स, मोहाडी रोड जलगाव-२६००२२-२६००३३ ३ पूज्य श्री ज्ञान मुनि जैन फ्री डिस्पेसरी डाबा रोड, नजदीक विजेन्द्र नगर, जैन कॉलोनी, लुधियाना ४ श्री चन्द्रकान्त एम मेहता, ए-७, मोन्टवर्ट-२, सर्वे न १२८/२ए, पाषाण सुस रोड, पूना-४११०२१ दूरभाष : ०२०-५८६२०४५
मुद्रण व्यवस्था	:	कोमल प्रकाशन C/o विनाद शर्मा, म न २०८७/२ गली न २०, शिव मन्दिर के पास, प्रेम नगर, नई दिल्ली-११०००८ दूरभाष: ०११-२५८७३८४१, ९८१०७६५००३

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

प्रकाशकीय

श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग दो) आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति के तत्वावधान में प्रकाशित होने वाला चतुर्थ प्रकाशन है। इससे पहले उपासकदशांग, अनुत्तरौपपातिक और उत्तराध्ययन के प्रथम भाग का प्रकाशन इस समिति द्वारा कराया जा चुका है। ये सभी प्रकाशन सुन्दर और सुरूचिपूर्ण हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग दो) जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज की साहित्य साधना का सुफल है। आचार्य श्री के साधनामयी जीवन और उनके कृतित्व से प्राय: समग्र जैन जगत सुपरिचित है। उन्होंने आगमो के भाष्य लेखन पर जो श्रम किया वह जैन जगत पर और जगत के समस्त भव्य जीवों पर महान उपकार है। आचार्य श्री से पूर्व कुछेक विद्वान मुनियों और बाद मे कई विद्वानो, मुनियो और आचार्यों ने आगमो पर पर्याप्त रूप से लिखा है, बडे-बड़े आगम ग्रन्थ प्रकाश मे आए है। पर आचार्य श्री के लेखन की जो शैली है वह अन्यत्र दृष्टिगोचर नही होती। आचार्य श्री की व्याख्याओ का हार्द है उनकी सरलता और स्पष्टता। साधारण बुद्धि का अध्येता भी आचार्य श्री के व्याख्यायित आगमो को सरलता से हृदयगम कर सकता है। आगम जैसे दुरुह विषय को जिस सरलता, स्पष्टता और सरसता से आचार्य श्री ने प्रस्तुत किया है उसे देखकर बडे-बडे विद्वान और भाषाशास्त्री हैरान है।

जैन धर्म दिवाकर, ध्यानयोगी चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज हमारी प्रेरणा के प्राण है। आचार्य श्री के हृदय मे यह सकल्प जगा कि भगवान महावीर की वाणी के सरल सस्करण सर्वसुलभ बनने चाहिए। आचार्य श्री के सकल्प के साथ जैन जगत के कई बुद्धिजीवी, अग्रगण्य श्रावक और प्रतिष्ठित व्यक्ति शीघ्र ही जुड गए और परिणामस्वरूप "आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति" का सुगठन हो गया। उक्त समिति के निर्देशन मे प्रकाशित होने वाला यह चतुर्थ ग्रन्थ पुष्प है।

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन का व्यय वहन किया है लुधियाना नगर के सुविख्यात जैन श्रावक भक्त श्री त्रिलोकचन्द जी के सुपुत्रो ने। श्री भगतजी आचार्य प्रवर श्री आत्माराम जी म के प्रमुख श्रावको मे थे। उनके सुपुत्र भी अपने पूज्य पिताश्री के चरण-चिन्हो पर चलकर स्व-पर कल्याण के पथ पर अग्रसर हैं। प्रस्तुत सौजन्य के लिए आगम प्रकाशन समिति इस परिवार का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती है।

—विनीत

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति लुधियाना

भगवान महावीर मेडिटेशन एड रिसर्च सेटर ट्रस्ट, नई दिल्ली

श्रुत सेवा

प्रस्तुत आगम श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग द्वितीय) का प्रकाशन सुप्रसिद्ध जैन श्रावक भक्त श्री त्रिलोकचन्द जी जैन के सुपुत्रो द्वारा अपने पूज्य पितृवर्य की पुण्यस्मृति में कराया जा रहा है। यह मर्वविदित है कि भक्त श्री त्रिलोकचन्द जी जैन जैनजगत के एक सुप्रतिष्ठित श्रावक और आदर्श व्यक्ति थे। वे धर्मवीर थे, दानवीर थे, और अनन्य श्रमणोपासक थे। जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्मारामजी महाराज के वे प्रमुख श्रावको मे अग्रणी थे। आचार्य श्री के धर्मप्रभावना के कार्यो मे भक्त जी सबसे आगे रहकर अपनी सेवाएं अर्पित करते थे। आचार्य श्री के भावो और इगितो को वे अपने जीवन का लक्ष्य और आदर्श मानते थे। उन्होने अपने जीवन काल मे आचार्य श्री जी की जा सेवा की वह अविस्मरणीय है। इस सत्य से लुधियाना नगर का आबालवृद्ध सहज ही सुपरिचित है।

महामना श्री भक्त जी के जीवन की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे सदैव मौन रहकर मामाजिक सेवाए करते थे। नाम, प्रशसा और यश की उन्होंने कभी कामना नही की। परन्तु जैसे कस्तूरी की मुगन्ध समस्त आवरणो को पार कर आकाश म व्याप्त हो जाती है वैसे ही श्री भक्त जी का विमल मुयश जन-जन के मन मे व्याप्त हो गया। जनमानस मे उनके लिए सहज श्रद्धा, प्यार और सम्मान का भाव मौजूद है।

श्री भक्त जी का पुत्र-पौत्र परिवार उन्ही द्वारा मृजित पथ पर गतिमान है। उनके चार सुपुत्र है–(1) श्री ऋषभदाम जी, (2) श्री धर्मवीर जी, (3) श्री महेन्द्र कुमार जी, (4) श्री सतीश कुमार जी। ये सभी अपने पूज्य पिता जी के धर्म सस्कारो को प्राणवन्त करके उनके सेवा मिशन को आगे बढा रहे है।

जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट श्री शिवमुनि जी म. के विगत लुधियाना चातुर्मास मे इस परिवार ने प्रभूत सेवा का लाभ प्राप्त किया। श्री भक्त जी के सुपुत्र सरल-विमल मना श्री महेन्द्र कुमार जी ने आचार्य श्री के सान्निध्य मे दीक्षित श्री निपुण मुनि जी के धर्मपिता का दायित्व वहन कर अपने पूज्य पिताश्री की स्वर्णीम परम्परा को आगे बढाया। अतीत मे श्री भक्त जी ने भी आचार्य श्री आत्माराम जी म क प्रमुख शिष्य वरिष्ठ उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी क दीक्षा प्रसग पर उनक धर्मपिता का दायित्व सवहन किया था।

श्री भक्त जी का परिवार सन 1938 मे ही हौजरी व्यवसाय से जुडा हुआ है। इनक उत्पादन मिनी किग निटवियर (टॉप गेयर) नाम से भारतभर मे विश्रुत और प्रचलित है। विशेष- श्री उत्तराध्ययन सूत्र क प्रथम भाग का प्रकाशन भी इसी परिवार ने कराया था। प्रस्तुत द्वितीय भाग भी इसी प्रकार के सौजन्य से प्रकाशित हुआ है। आचार्य भगवन क अप्राप्त साहित्य के पुनर्सस्करण के इस सम्यक् अनुष्ठान मे प्राप्त सौजन्य पर आगम प्रकाशन समिति इस परिवार का हार्दिक अभिनन्दन करती है। धन्यवाद सहित ।

प्रकाशक
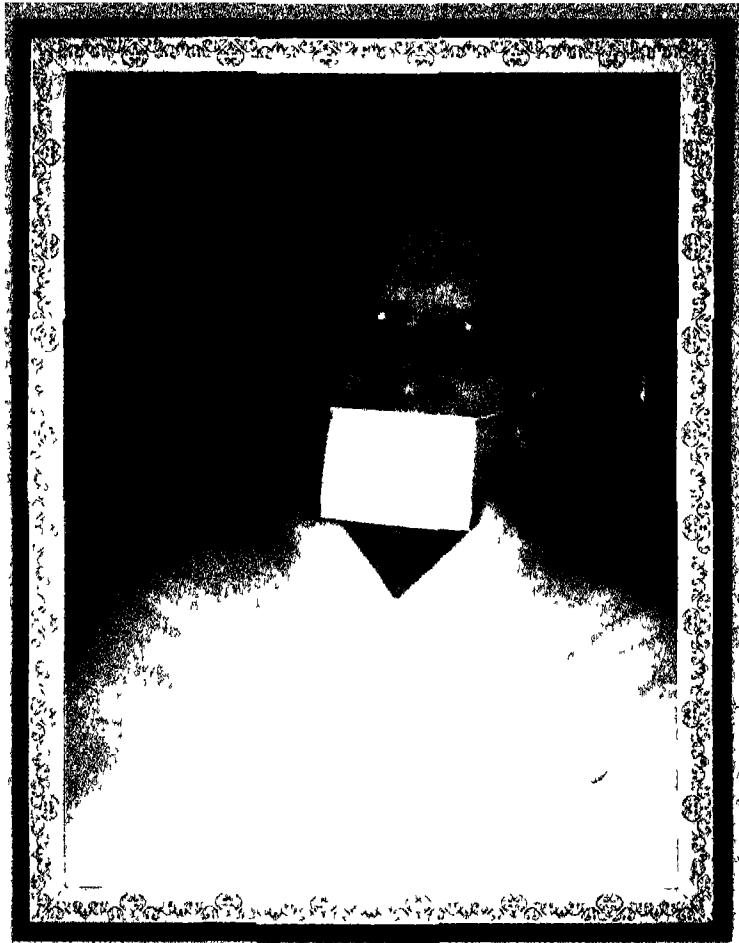
बहुश्रुत, पंजाब केसरी, गुरुदेव
श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

सम्पादकीय

श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् जैनागम साहित्य का एक बहुमूल्य मणि-रत्नों से पूर्ण मूल आगम है। इस आगम मे कथाओ, उपदेशों, निर्देशों आदि के माध्यम से धर्म और दर्शन का अल्प कलेवर मे सूक्ष्म और हृदय-स्पर्शी निरुपण हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र का स्थान मूल आगमो में है। इस आगम मे भगवान महावीर की वाणी का मूल हार्द सग्रहीत है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में बीज रूप मे वे सभी रत्न सकलित हैं जो समग्र आगम वाड्गमय में मौजूद हैं। सार रूप में कह सकते हैं कि वैदिक परम्परा मे जो स्थान श्रीमद्भागवत गीता का है, ईसाइयो मे जो स्थान बाइबिल का है और इस्लाम मे जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जिन परम्परा मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र का है। यह आगम एक ऐसा पुष्पाहार है जिसमे समस्त शुभ वर्णो के सुगन्धित पुष्प कुशल मालाकार की भाति सजोए और पिरोए गए है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे धर्म के आधार-स्वरूप आचार-विचार और उनके प्रकारो पर तो विस्तृत और स्पष्ट चर्चाए हुई ही है, साथ ही आत्मा, परमात्मा, जीवन, शरीर, आयुष्य आदि पर भी प्रखर प्रकाश डाला गया है। विनय को धर्म के धरातल के रूप मे स्वीकार करके उसी के स्वरूप चिन्तन और विश्लषण मे उत्तराध्ययन मे प्रवेश किया गया है। जैसे-जैस हम उत्तराध्ययन मे आगे बढते जाते है हमारे समक्ष चिन्तन के असख्य असख्य द्वार उद्घाटित होत जाते है। हमें ज्ञात होता है कि जिस जीवन के पखा पर हम सवार है वह कितना अस्थिर, असस्कारित और अनिश्चित है। हमे ज्ञात होता है कि जीवन मे क्या दुर्लभ है और उस दुर्लभ के सम्यक् उपयोग के सूत्र हमारे हाथो मे आते हैं। वे इतने सटीक, सहज और सरस है कि उन्हे पाकर हम गद्गद् बन जाते है। उपदेशो मे इतनी तीक्ष्णता और हृदय-स्पर्शिता है कि अध्येता का जीवन आन्दोलित बन जाता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कई कथाए और दृष्टात भी सकलित है। ये कहानिया और दृष्टान्त अध्यताओ के मानस को आन्दोलित करती है और वे अपने जीवन और उसकी दिशा पर चिन्तन करन के लिए अन्तःस्फूर्त प्रेरणा से प्रेरित बनते है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र तीर्थकर महावीर की अन्तिम वाणी हे। इस दृष्टि स भी इस आगम का विशिष्ट महत्व है। इसमे छत्तीस अध्ययन है। प्रत्येक अध्ययन म जीवन और साधना के विभिन्न पहलूओ पर चिन्तन किया गया है और श्रेय-पथ का निर्देश किया गया है।

प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार

प्रस्तुत आगम श्री उत्तराध्ययन सूत्र (भाग द्वितीय) के व्याख्याकार है स्वनामधन्य, जैनागम रत्नाकर, जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज। पूज्य आचार्य श्री का व्यक्तित्व और कृतित्व निश्चित रूप से किसी परिचय की अपेक्षा नही रखता। उनके बारे में कुछ भी लिखना सूरज को दीपक दिखाने के सदृश है। जैन-जैनेतर जगत के साथ-साथ कई पाश्चात्य विद्वान भी

आचार्य श्री के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखकर अभिभूत बन गए। सरिता में जैसे जल बहता है वैस ही पूज्य श्री की प्रज्ञा मे आगम प्रवाहित होते थे। उनका जीवन और दर्शन आगमों के अर्क से ओत-प्रोत और सुवासित था। उनके उठने, बैठने, चलने आदि क्रियाओ से **'जयं चरे जयं चिट्ठे'** आदि सूत्र व्याख्यायित और प्राणवन्त बनते थे। अप्रमाद के संवाद उनके सांसो मे सुवासित बनकर जगत के समक्ष महावीर के सच्चे 'भिक्षु' का प्रतिमान प्रस्तुत करते थे। आगमो के शब्द-शब्द का मर्म उनकी प्रज्ञा के साथ-साथ आचार मे भी आकार पाता था। नि:शब्द है उनका व्यक्तित्व। आकाश को हथेलियो में बांधने का बाल प्रयत्न है उनके बारे मे कुछ कहना।

आचार्य श्री का कृतित्व भी जहा परिमाण मे अत्यन्त विशाल है वहीं गहराई मे भी अपरिमित और अगाध है। जिस भी आगम पर आचार्यश्री की लेखनी चली, उसी के अतल को उसने छू लिया। सुखद आश्चर्य है कि धर्म और दर्शन के गूढ़तम रहस्यो को उन्होंने इतनी सरलता से प्रस्तुत कर दिया कि उसे माधारण मे साधारण बुद्धि का अध्येता भी सरलता से हृदयंगम कर सकता है। जन-सामान्य पर आचार्य श्री का यह उपकार सदाकाल स्मरणीय और समादरणीय रहेगा।

प्रस्तुत आगम आचार्य श्री की लेखनी से व्याख्यायित है। पाठक स्वयं इस आगम का अध्ययन कर आचार्य श्री के विशाल दृष्टिकोण को हृदयगम कर मकेंगे। आचार्य श्री जी द्वारा व्याख्यायित श्री उत्तराध्ययन सूत्र एक विशाल ग्रन्थ है। इसकी विशालता को देखत हुए इसे तीन भागो मे प्रकाशित करने का विचार रखा गया है। पूर्व प्रकाशनो मे भी इसे तीन ही भागो मे प्रकाशित किया गया है। इस आगम के प्रथम भाग मे एक से तेरह तक अध्ययन ग्रहण किए गए है। प्रथम भाग का प्रकाशन पहले हो चुका है। प्रस्तुत द्वितीय भाग मे चौदह से पच्चीसवे अध्ययन तक की विषय वस्तु का ग्रहण किया गया है। अस्तु, प्रस्तुत ग्रन्थ मे पाठक चौदह से पच्चीस अध्ययनो तक का स्वाध्याय कर पाएगे।

जिन शासन की महती कृपा से मुझे यह पुण्यमयी अवसर उपलब्ध हुआ है कि पूज्य श्री के आगमो को जनसुलभ बनाने मे अपना योगदान समर्पित कर सकू। पूज्यश्री के अदृष्ट आशीर्वाद का ही यह सुफल है कि जैन जगत के अग्रगण्य श्रावको मे यह सकल्प जगा है कि महाप्रभु महावीर की वाणी के सरलतम सस्करण प्रकाश मे आए जिससे विभ्रमित जगत को एक नवीन दिशा मिल सके। इस कार्य मे मै निमित्त भर हू। परन्तु अपन निमित्त भर होने को मै अपना महान पुण्य मानता हू। आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति साधुवाद की सुपात्र है जो पूरे समपर्ण और संकल्प से आचार्य भगवन क साहित्य के प्रकाशन की दिशा मे त्वरित गति से गतिमान है।

मेरे सुशिष्य श्रमण श्रेष्ठ कर्मयोगी मुनिरत्न श्री शिरीष मुनि जी महाराज एव ध्यान साधना को समर्पित साधक श्री शैलेश जी का श्रम भी इस सपादन-प्रकाशन अभियान मे पूर्ण समर्पण भाव से जुडा हुआ है। वे सहज ही मेरे आशीष के सुपात्र है। उनके अतिरिक्त जैन दर्शन के अधिकारी विद्वान श्री ज प. त्रिपाठी ने मूल पाठ पठन व श्री विनाद शर्मा ने प्रूफ पठन तथा प्रकाशन दायित्व का सफल सवहन कर श्रुत सेवा का शुभ अनुष्ठान किया है। तदर्थ उन्हें मेरे साधुवाद !

आचार्य शिव मुनि

ज्ञान के गौरीशिखर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

प्रस्तुति : आचार्य शिव मुनि

जैनागम रत्नाकर पूज्य आचार्य सम्राट् श्री आत्मारामजी महाराज श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर आचार्य थे। स्थानकवासी परम्परा के बावीस सम्प्रदायों के मुनियों ने उन्हें अपना अनुशास्ता माना और स्वीकार किया था। सदियो-सदियो से विश्रृंखलित स्थानकवासी मुनि परम्परा पूज्य श्री के नेतृत्व मे एक ध्वज के नीचे एकत्रित होकर एक बन गई थी।

आप एक ज्ञानयोगी महापुरुष थे। जैन और जैनेतर दर्शनो के गम्भीर अध्येता और पारगामी पण्डित मुनिराज थे बत्तीस जैनागमो के साथ-साथ वेद, उपनिषद, महाभारत, रामायण, गीता, स्मृति, पुराण तथा पाश्चात्य दर्शनो मे आपका सफल प्रवेश था। अनेक आगमो पर आपने बृहद भाष्य लिखकर श्रुतसेवा के साथ-साथ सघ को भी एक नई दिशा दी। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रश आदि प्राचीन भाषाओ के आप मर्मज्ञ थे। आपने अपनी कुशल लखनी से शताधिक ग्रन्थो का प्रणयन किया।

जन्म · पजाब प्रान्त के अन्तर्गत राहो नगर मे वि स 1939, भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को आपका जन्म एक क्षत्रिय कुल मे हुआ। आपके पिता का नाम श्रीमान मनसाराम और माता का नाम श्रीमती परमेश्वरी देवी था।

मातृ-पितृ वियोग और वैराग्य · सयोग क साथ वियोग का वही सम्बन्ध हाता है जो देह के साथ छाया का हाता है। व्यक्ति सयोग का स्वाद ले भी नही पाता कि वियोग की तिक्तता उसे उद्वेलित बना दती है। वियाग के विषधर क दश से बालक आत्माराम दशित बने और अल्पवय में ही उन्हें मातृ-पितृ वियोग का विषपान करना पडा। पर यह उस बालक की विलक्षणता ही थी कि वे उस विषपान से विमूढ न बने। उम विष को कण्ठ में धार कर वे शिव बन गए और शिवत्व के मार्ग पर यात्रायित बन गए। उन्हें पूज्य आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज का सत्सान्निध्य प्राप्त हो गया और उन्होने उन पाद-पद्मो मे स्वय के स्वत्व को अर्पित कर दिया।

दीक्षा · सयोग-सुखो की नश्वरता का दर्शन कर आपके हृदय मे वैराग्य अंगडाइया ले रहा था। वैराग्य का प्रतिफल है दीक्षा। फलत: आप श्री न वि स 1951 आषाढ शुक्ला पचमी के दिन छत बनूड गाव मे आर्हती दीक्षा मे प्रवेश किया। पूज्य श्री शालिगराम जी महाराज आपके दीक्षा गुरु थे।

अध्ययन-समर्पण : दीक्षित होकर आप अध्ययन करने लगे। पुष्प का रसपान करते हुए भंवरा जैसे अग-जग और स्व के बोध-से शून्य बन जाता है वैसे ही आप श्री समष्टि से शून्य बनकर अध्ययन मे लीन बन गए। कुछ ही वर्षो मे आप हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रश आदि भाषाओ के मर्मज्ञ मनीषी बन गए। भाषा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त आदि के मर्मज्ञ बनने के पश्चात् आपने बत्तीस आगमो का पारायण किया। न केवल पारायण किया अपितु उन्हे कण्ठस्थ और हृदयस्थ भी किया। जैन दर्शन के साथ-साथ वैदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन और पाश्चात्य दर्शनो का भी आपने गम्भीरता से अध्ययन किया। यौवनवय मे पहुंचते-पहुंचते आप जैन समाज के विद्वद्मनीषी साधको की अग्रिम श्रेणी में परिगणित होने लगे।

अध्यापन : अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन भी आपका प्रिय शौक था। आप लघुमुनियों और श्रावक व श्राविकाओं को नियमित अध्ययन कराते थे। आपकी अध्यापन शैली सरल और सहज ग्राह्य थी।

सृजन धर्मिता : आप एक सृजनधर्मी महापुरुष थे। आपने अनुभव किया कि स्थानकवासी समाज के पास उसके मूल आगम तो है पर वे सरल और सर्वग्राह्य भाषा मे उपलब्ध नहीं है। प्राकृत न जानने वाले जिज्ञासु आगमो का मर्म नही समझ पाते थे। आपने भगीरथ सकल्प के साथ आगमो पर सरल हिन्दी में टीकाएं लिखना प्रारभ किया। अथक और अनवरत श्रम के साथ आप इस महत्कार्य में लग गए और आचाराग, स्थानाग, अन्तकृद्दशाग, अनुत्तरोपपातिक, दशाश्रुतस्कध, बृहत्कल्प, निरयावलिया, प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी आदि आगमो पर आपने सरल हिन्दी भाषा मे बृहद् टीकाए लिखीं। इसके साथ ही आपने जैनागम न्याय सग्रह, जैनागमों मे स्याद्वाद, जैनागमों में परमात्मवाद, तत्त्वार्थ सूत्र जैनागम समन्वय, जैन तत्त्व कलिका आदि मौलिक और उत्कृष्ट ग्रन्थो का लेखन किया।

उक्त आगमो और ग्रन्थो का समग्र जैन जगत द्वारा स्वागत किया गया। अल्पज्ञो के लिए आगमों का अध्ययन सहज बन गया। जैन जगत पर आपका यह महान उपकार है।

उपाध्याय पद : आपके ज्ञान गाम्भीर्य और अध्यापन-शौक को दृष्टिगत रखते हुए पंजाब परम्परा के महान आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने सवत 1969 में अमृतसर नगर में आपको उपाध्याय पद से सम्मानित किया। कालान्तर में आपको 'जैन धर्म दिवाकर' और 'साहित्यरत्न' आदि पदों से भी सम्मानित किया गया।

आचार्य पद : वि.स. 2003 मे पजाब प्रान्त के चतुर्विध श्री सघ ने आपको अपना आचार्य स्वीकार किया। आपके कुशल नेतृत्व मे पजाब सम्प्रदाय ने चहुंमुखी विकास किया और उन्नति के शिखरो का स्पर्श किया।

आचार्य सम्राट् पद : आप श्री जी की महिमा-गरिमा से समग्र भारत वर्षीय चतुर्विध श्री सघ मुग्ध था। सूर्य के प्रकाश के समान आपका ज्ञान-प्रकाश सर्वत्र व्याप्त था। उस दौरान संवत 2009 मे राजस्थान के सादड़ी नगर में समग्र भारत वर्षीय स्थानकवासी सम्प्रदायो का एक बृहद् सम्मेलन आयोजित हुआ। उस सम्मेलन मे स्थानकवासी सम्प्रदायो के समस्त पदवीधारी मुनियों ने अपने-अपने पदो को तिलाजलि देकर सघैक्य का शख फूका। समस्त सम्प्रदायों के अग्रगण्य मुनियों और मेढीभूत श्रावको ने मिलकर समस्त सम्प्रदायो का विलय कर 'श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ' का निर्माण किया और उस सघ के आदिम शास्ता के रूप मे आप श्री को सर्वसम्मति स चुना गया। उक्त तथ्य आपकी महिमा और श्रेष्ठता को स्वत· आख्यायित करता है।

चतुर्विध संघ के सर्वोच्च पद पर आसीन होकर भी आप एक अति सरल और अति विनम्र मुनि बने रहे। अहं का भाव आपको स्पर्श तक न कर सका था। अनुशास्ता होते हुए भी आप स्वय को सघ का सेवक मानते थे। आपके कुशल मार्गदर्शन मे श्रमणसघ ने चहुमुखी विकास किया।

महाप्रयाण · दस वर्षो तक आप श्री ने श्रमण सघ को कुशल नेतृत्व प्रदान किया। आयुष्य के अन्तिम पडाव पर आपकी देह को व्याधियो ने घेर लिया। पर दैहिक व्याधियां आपके परम शान्त और गम्भीर मानस सागर को एक क्षण के लिए तरगायित न कर सकीं। दैहिक अस्वास्थ्य का स्वस्थ मानसिकता के साथ आपने सामना किया। आखिर वि स 2018, माघ वदी नवमी (सन् 1961) को पूर्ण समाधि और संलेखना सथारे सहित आपने मृणमय देह का त्याग कर दिया।

देह से मिटकर भी आप अपने गुणा के रूप में अमिट है और सदा अमिट रहेगे। आपकी सयमनिष्ठा, कष्टसहिष्णुता, सरलता, विनम्रता और समाज को आपका अवदान सदैव स्मरण किए जाते रहेगे।

जैन धर्म दिवाकर ध्यान योगी

आचार्य सम्राट् डा० श्री शिवमुनि जी महाराज

निर्भीक आत्मार्थी एवं पंचाचार की प्रतिमूर्तिः
आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म.

व्यक्ति यह समझता है कि मेरी जाति का बल, धन, बल, मित्र बल यही मेरा बल है। वह भूल जाता है कि यह वास्तविक बल नही है, वास्तव मे तो आत्मबल ही मेरा बल है। लेकिन भ्रांति के कारण वह उन सारे बलों को बढ़ाने के लिए अनेक पाप-कर्मों का उपार्जन करता है, अनंत अशुभ कर्म-वर्गणाओं को एकत्रित करता है। जिससे कि उसका वास्तविक आत्मबल क्षीण होता है। जाति, मित्र, शरीर, धन इन सभी बलों को बढ़ा करके भी वह चिंतित और भयभीत रहता है कि कहीं मेरा यह बढ़ाया हुआ बल क्षीण न हो जाए, उसका यह डर इस बात का सूचक है कि जिस बल को उसने बढ़ाया है वह उसका वास्तविक बल नही है।

सर्वश्रेष्ठ बल–वास्तविक बल तो अपने साथ अभय लेकर आता है। आत्मबल जितना बढ़ता है उतना ही अभय का विकास होता है। अन्य सारे बल भय बढ़ाते हैं। व्यक्ति जितना भयभीत होता है उतना ही वह सुरक्षा चाहता है। बाहर का बल जितना ही बढता है उतना ही भय भी बढ़ता है और भय के पीछे सुरक्षा की आवश्यकता भी उसे महसूस होती है। इस प्रकार जितना वह बाह्य रूप मे बलवान बनता है उतना ही भयभीत और उतनी ही सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करता है। भगवान अभय मे जीवन को जीए, उन्होंने आत्मबल की साधना की। वह चाहते तो किसी का सहारा ले सकते थे लेकिन उन्होने किसी का सहारा, किसी की सुरक्षा क्यो नहीं ली, क्योंकि वे जानते थे कि बाह्य बल बढाने मे आत्मबल के ज्ञान का जागरण नहीं होता। इसलिए वे सारे सहारे छोडकर आत्मबल-आश्रित और आत्मनिर्भर बन गए। जैसे कहा जाता है कि श्रमण स्वावलम्बी होता है, अर्थात् वह किसी दूसरे के बल पर, व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के बल पर नहीं खडा अपितु स्वय अपने बल पर खड़ा हुआ है। जो दूसरे के बल पर खड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को खुश रखने के लिए प्रयत्नरत रहता है। जिस हेतु पापकर्म या माया का सेवन भी वह कर लेता है। आत्मबल बढाने के लिए सत्य, अहिसा और साधना का मार्ग है। 'भगवान का मार्ग वीरो का मार्ग है।' वीर वह है जो अपने आत्मबल पर आश्रित रहता है। यह भ्रान्ति अधिकांश लोगो की है कि बाह्यबल बढने से ही मेरा बल बढेगा। इसलिए अनेक बार साधुजन भी ऐसा कहते है कि मेरा श्रावक बल बढेगा तो मेरा बल बढेगा, मेरे प्रति मान, सम्मान एवं भक्ति रखने वालो की वृद्धि अधिकाश लोगो की है कि बाह्यबल बढने से ही मेरा बल बढ़ेगा। इसलिए अनेक बार साधुजन भी ऐसा कहते है कि मेरा श्रावक बल बढेगा तो मेरा बल बढ़ेगा, मरे प्रति, मान, सम्मान एव भक्ति रखने वालो की वृद्धि होगी तो मेरा बल बढ़ेगा। फिर इस हेतु से अनेक प्रपच भी बढेगे। यही अज्ञान है। वास्तविकता यह है कि बाह्य बल बढ़ाने से, उस पर आश्रित रहने से आत्मबल नही बढ़ता अपितु क्षीण होता है। लेकिन आत्मबल का विकास करने से सारे बल अपने आप बढते है।

साधु कौन ?–साधु वही है जो बाह्यबल का आश्रय छोडकर आत्मबल पर ही आश्रित रहता

है। अत: आत्मबल का विकास करो। उसके लिए भगवान के मार्ग पर चलो। चित्त में जितनी स्थिरता और समाधि होगी उतना ही आत्मबल का विकास होगा और उसी से समाज-श्रावक इत्यादि बल आपके साथ चलेगे। बिना आत्मबल के दूसरा कोई बल साथ नही देगा।

असंयम किसे कहते हैं ?–इन्द्रियों के विषयों के प्रति जितनी आसक्ति होगी उतनी ही उन विषयों की पूर्ति करने वाले साधनों के प्रति (धन, स्त्री, पद, प्रतिष्ठा आदि) आसक्ति होगी। साधनो के प्रति रही हुई इस आसक्ति के कारण वह निरन्तर उसी ओर पुरुषार्थ करता है, उनको पाने के लिए पुरुषार्थ करता है, इस पुरुषार्थ का नाम ही असयम है।

संयम क्या है ?–इन्द्रिय निग्रह के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह सयम है और विषयो को जुटाने के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह असयम है।

साधु पद में गरिमायुक्त आचार्य पद–साधुजन स्वय की साधना करते है और आवश्यकता पडने पर सहयोग भी करते है। लेकिन आचार्य स्वय की साधना करने के साथ-साथ (अपने लिए उपयुक्त साधना ढूढ़ने के साथ-साथ) यह भी जानते है और सोचते है कि सघ के अन्य सदस्यो को कौन-सी और कैसी साधना उपयुक्त होगी। उनके लिए साधना का कौन-सा और कैसा मार्ग उपयुक्त है, जैसे मा स्वय ही खाना नहीं खाती अपितु किसी को क्या अच्छा लगता है, किसके लिए क्या योग्य है यह जान-देखकर वह सबके लिए खाना बनाती भी है। इसी प्रकार आचार्यदव जानते हैं कि शुभ आलम्बन मे एकाग्रता के लिए किसके लिए क्या योग्य है और उससे वैसी ही साधना करवाते हैं। इस प्रकार आचार्य पद की एक विशेष गरिमा है।

पंचाचार की प्रतिमूर्ति–हमारे आराध्य स्वरूप पूज्य गुरुदेव श्री शिवमुनि जी म. दीक्षा लेने के प्रथम क्षण से ही तप-जप एव ध्यान योग की साधना मे अनुरक्त रहे हे। आपकी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता और सुपात्रता को देखकर ही हमारे पूर्वाचार्यो ने आपको श्रमण सघ के पाट पर आसीन कर जिन-शासन की महती प्रभावना करने का संकल्प किया। जिनशासन की महती कृपा आप पर हुई।

यह सक्रमण काल है, जब जिनशासन मे सकारात्मक परिवर्तन हो रह है। भगवान महावीर के २६००वे जन्म कल्याणक महोत्सव पर हम सभी को एकता, सगठन एव आत्मीयता-पूर्ण वातावरण मे आत्मार्थ की ओर अग्रसर होना है। आचार्य सघ का पिता होता है। आचार्य जो स्वय करता है वही चतुर्विध सघ करता है। वह स्वय पचाचार का पालक हाता है तथा सघ को उस पथ पर ले जाने मे कुशल भी होता है। आचार्य पूर सघ को एक दृष्टि देते है जो प्रत्येक साधक के लिए निर्माण एव आत्मशुद्धि का पथ खोल देती है। हमारे आचार्य देव पचाचार की प्रतिमूर्ति हैं। पचाचार का सक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है–

ज्ञानाचार–आज संसार मे जितना भी दुख है उसका मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान के परिहार हेतु जिनवाणी का अनुभवगम्य ज्ञान अति आवश्यक है। आज ज्ञान का सामान्य अर्थ कुछ पढ लेना, सुन लेना एव उस पर चर्चा कर लेना या किसी और को उपदेश देना मात्र समझ लिया गया है। लेकिन जिनशासन मे ज्ञान के साथ सम्यक् शब्द जुड़ा है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् जिनवाणी के सार को अपने अनुभव से जानकर, जन-जन को अनुभव हेतु प्रेरित करना। द्रव्य श्रुत के साथ भावश्रुत को

आत्मसात् करना। हमारे आराध्यदेव ने वर्षों तक बहुश्रुत गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी म.सा , उपाध्याय प्रवर्तक श्री फूलचंद जी म.सा. 'श्रमण' एवं अनेक उच्चकोटि के संतों से द्रव्य श्रुत का ज्ञान ग्रहण कर अध्यात्म साधना के द्वारा भाव श्रुत में परिणत किया एवं उसका सार रूप ज्ञान चतुर्विध सघ को प्रतिपादित कर रहे हैं एवं अनेक आगमों के रहस्य जो बिना गुरुकृपा से प्राप्त नही हो सकते थे, वे आपको जिनशासनदेवों एव प्रथम आचार्य भगवत श्री आत्माराम जी म. की कृपा से प्राप्त हुए हैं। वही अब आप चतुर्विध संघ को प्रदान कर रहे है। आपने भाषाज्ञान की दृष्टि से गृहस्थ मे ही डबल एम.ए. किया एवं सभी धर्मो मे मोक्ष के मार्ग की खोज हेतु शोध ग्रन्थ लिखा और जैन धर्म से विशेष तुलना कर जैन धर्म के राजमार्ग का परिचय दिया। आज आपके शोध ग्रन्थ, साहित्य एवं प्रवचनो द्वारा ज्ञानाचार का प्रसार हो रहा है। आप नियमित सामुहिक स्वाध्याय करते हैं एव सभी को प्रेरणा देते है। अत: प्रत्येक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ज्ञानाचारी बनकर ही आचार्य श्री की सेवा कर सकते है।

दर्शनाचार—दर्शन अर्थात् श्रद्धा, निष्ठा एव दृष्टि। आचार्य स्वयं सत्य के प्रति निष्ठावान होते हुए पूरे समाज को सत्य की दृष्टि देते हैं। जैन दर्शन मे सम्यक् दृष्टि के पाच लक्षण बताए है—१ सम अर्थात् जा समभाव मे रहता है। २ सवेग—अर्थात् जिसके भीतर मोक्ष की रुचि है उसी ओर जो पुरुषार्थ करता है, जो उद्वेग में नहीं जाता। ३ निर्वेद—जो समाज-संघ मे रहते हुए भी विरक्त है, किसी मे आमक्त नही है। ४ आस्था—जिसकी देव, गुरु, धर्म के प्रति दृढ श्रद्धा है, जो स्व मे खोज करता है, पर में सुख की खोज नहीं करता है तथा जिसकी आत्मदृष्टि है, पर्यायदृष्टि नही है। पर्याय-दृष्टि राग एव द्वेष उत्पन्न करती है। आत्म-दृष्टि सदैव शुद्धात्मा के प्रति जागरूक करती है। ऐसे दर्शनाचार से सपन्न है हमारे आचार्य प्रवर। चतुर्विध सघ उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए ऐमे आत्मार्थी सद्गुरु की शरण मे पहुचे और जीवन का दिव्य आनन्द अनुभव करे।

चारित्राचार—आचार्य भगवन् श्री आत्माराम जी म चारित्र की परिभाषा करते हुए कहते है कि चयन किए हुए कर्मो को जो रिक्त कर दे उसे चारित्र कहते है। जो सदैव समता एव समाधि की ओर हमे अग्रसर करे वह चारित्र है। चारित्र से जीवन रूपान्तरण होता है। जीवन की जितनी भी समस्याए हैं सभी चारित्र से समाप्त हा जाती है। इसीलिए कहा है **'एकान्त सुही मुणी वियरागी'।** वीतरागी मुनि एकान्त रूप से सुखी है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप रूपी शत्रुओ को दूर करने के लिए आप वर्षो से साधनारत है। आप अनुभव गम्य, साधना जन्य ज्ञान दने हेतु ध्यान शिविरों द्वारा द्रव्य एवं भाव चारित्र की ओर समग्र समाज को एक नयी दिशा दे रहे है। आप सत्य के उत्कृष्ट साधक हैं एवं प्राणी मात्र के प्रति मगल भावना रखते हैं एव प्रकृति से भद्र एवं ऋजु है। इसलिए प्रत्येक वर्ग आपके प्रति समर्पित है।

तपाचार—गौतम स्वामी गुप्त तपस्या करते थे एव गुप्त ब्रह्मचारी थे। इसी प्रकार हमारे आचार्य प्रवर भी गुप्त तपस्वी हैं। वे कभी अपने मुख से अपने तप एवं साधना की चर्चा नहीं करते है। वर्षों से एकान्तर तप उपवास के साथ एवं आभ्यंतर तप के रूप मे सतत स्वाध्याय एवं ध्यान तप कर रहे हैं। इसी ओर पूरे चतुर्विध संघ को प्रेरणा दे रहे हैं। संघ में गुणात्मक परिवर्तन हो, अवगुण की

चर्चा नही हो, इसी सकल्प को लेकर चल रहे है। ऐसे उत्कृष्ट तपस्वी आचार्य देव को पाकर जिनशासन गौरव का अनुभव कर रहा है।

वीर्याचार—सतत अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करना वीर्याचार है। आत्मशुद्धि एव सयम में स्वयं पुरुषार्थ करना एव करवाना वीर्याचार है।

ऐस पंचाचार की प्रतिमूर्ति हैं हमारे श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म । इनके निर्देशन में सम्पूर्ण जैन समाज को एक दृष्टि की प्राप्ति होगी। अत: हृदय की विशालता के साथ, समान विचारों के साथ, एक धरातल पर, एक ही एकल्प के साथ हम आगे बढें और शास्मन प्रभावना करें।

निर्भीक आचार्य—हमारे आचार्य भगवन् आत्मबल के आधार पर साधना के क्षेत्र में आगे बढ रहे है। सघ का सचालन करते हुए अनेक अवसर ऐसे आये जहा पर आपको कठिन परीक्षण के दौर से गुजरना पडा। किन्तु आप निर्भीक होकर धैर्य से आगे बढते गए। आपश्री जी श्रमण सघ के द्वारा पूरे देश को एक दृष्टि देना चाहते है। आपके पास अनेक कार्यक्रम हैं। आप चतुर्विध सघ मे प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु योजनाबद्ध रूप से कार्य कर रहे है।

पूज्य आचार्य भगवन् ने प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु निम्न योजनाए समाज के समक्ष रखी है-

१ बाल सस्कार एव धार्मिक प्रशिक्षण के लिए गुरुकुल पद्धति के विकास हेतु प्रेरणा।

२ माधु-साध्वी, श्रावक एव श्राविकाओ के जीवन के प्रत्येक क्षण मे आनन्द पूर्ण वातावरण हो, इस हेतु सेवा का विशेष प्रशिक्षण एव सेवा केन्द्रो की प्रेरणा।

३ देश-विदेश मे जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु स्वाध्याय एवं ध्यान साधना के प्रशिक्षक वर्ग को विशेष प्रशिक्षण।

४ व्यसन-मुक्त जीवन जीने एव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म आनद एव सुखी होकर जीने हेतु शुद्ध धर्म-ध्यान एव स्वाध्याय शिविरों का आयोजन।

इन सभी कार्यो को रचनात्मक रूप देने हेतु आपश्री जी के आशीर्वाद म नासिक म **'श्री सरस्वती विद्या केन्द्र'** एव दिल्ली मे **'भगवान महावीर मेडीटेशन एंड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट'** की स्थापना की गई है। इस केन्द्रीय सस्था के दिशा निर्देशन मे देश भर मे त्रिदिवसीय ध्यान योग साधना शिविर लगाए जाते है। उक्त शिविरों के माध्यम से हजारो-हजार व्यक्तियों ने स्वस्थ जीवन जीने की कला सीखी है। अनेक लागो को असाध्य रोगो से मुक्ति मिली है। मैत्री, प्रेम, क्षमा और सच्चे सुख को जीवन मे विकसित करने के ये शिविर अमोघ उपाय सिद्ध हो रह है।

इक्कीसवीं सदी के प्रारभ मे ऐसे महान विद्वान् और ध्यान-योगी आचार्यश्री को प्राप्त कर जैन सघ गौरवान्वित हुआ है।

—शिरीष मुनि

आगम स्वाध्याय विधि

जैन आगमों के स्वाध्याय की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है। वर्तमान-काल मे आगम लिपिबद्ध हो चुके हैं। इन आगमो को पढने के लिए कौन साधक योग्य है और उसकी पात्रता कैसे तैयार की जा सकती है इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

आगम ज्ञान को सूत्रबद्ध करने का सबसे प्रमुख लाभ यह हुआ कि उसमें एक क्रम एवं सुरक्षितता आ गई लेकिन उसमें एक कमी यह रह गई कि शब्दों के पीछे जो भाव था उसे शब्दो मे पूर्णतया अभिव्यक्त करना संभव नहीं था। जब तक आगम-ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा आ रहा था तब तक वह ज्ञान पूर्ण रूप से जीवन्त था। यह ऐसा था जैसे भूमि में बीज को बोना। गुरु पात्रता देखकर ज्ञान के बीज बो देते थे, और वही ज्ञान फिर शिष्य के जीवन मे वैराग्य, चित्त-स्थैर्य, आत्म-परिणामो मे सरलता और शाति बनकर उभरता था। आगम-ज्ञान को लिपिबद्ध करने के पश्चात् वह प्रत्यक्ष न रहकर किचित परोक्ष हो गया। उम लिपिबद्ध सूत्र को पुन: प्राणवान बनाने के लिए किसी आत्म-ज्ञानी सद्गुरु की आवश्यकता होती है।

आत्म-ज्ञानी सद्गुरु के मुख से पुन: वे सूत्र जीवन्त हो उठते है। ऐसे आत्म-ज्ञानी सद्गुरु जब कभी शिष्यो मे पात्रता की कमी देखते है तो कुछ उपायों के माध्यम से उस पात्रता को विकसित करते है। यही उपाय पूर्व मे भी सहयोग के रूप मे गुरुजनो द्वारा प्रयुक्त होते थे, हम उन्हीं उपायों का विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे है-

तीर्थकरो द्वारा प्रतिपादित शासन की प्रभावना मे अनेकानेक दिव्य शक्तियो का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा है। जैसे प्रभु पार्श्वनाथ की शासन रक्षिका देवी माता पद्मावती का सहयोग शासन प्रभावना मे प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार आदिनाथ भगवान की शासन रक्षिका देवी माता चक्रेश्वरी देवी का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

इन सभी शासन-देवो ने हमारे अनेक महान् आचार्यो को समय-समय पर सहयोग दिया है। यदि आगम अध्ययन किसी सद्गुरु की नेश्राय में किया जाए एव उनकी आज्ञानुसार शासन रक्षक देव का ध्यान जाए तब वह हमे आगम पढने मे अत्यन्त सहयोगी हो सकता है। ध्यान एवं उपासना की विधि गुरुगम मे जानने योग्य है। सक्षेप मे हम यहा पर इतना ही कह सकते है कि तीर्थकरो की भक्ति से ही वे प्रसन्न होते है।

आगम पढने मे चित्त स्थैर्य का अपना महत्व है और चित्त स्थैर्य के लिए योग, आसन, प्राणायाम एव ध्यान का सविधि एव व्यवस्थित अभ्यास आवश्यक है। यह अभ्यास भी गुरु आज्ञा में किसी योग्य मार्गदर्शक के अन्तर्गत ही करना चाहिए।

आसन प्राणायाम और ध्यान का प्रमुख सहयोगी तत्त्व है। शरीर की शुद्धि की षड्क्रियाए है। इन क्रियाओ का विधिपूर्वक अभ्यास करने से साधना के बाधक तत्त्व, शारीरिक व्याधिया, दुर्बलता, शारीरिक अस्थिरता, शरीर मे व्याप्त उत्तेजना इत्यादि लक्षण समाप्त होकर आसन स्थैर्य, शारीरिक और मानसिक समाधि एवं अन्तर में शान्ति और सात्विकता का आविर्भाव होता है तथा इस पात्रता के आधार पर प्राणायाम और ध्यान की साधना को गति मिलती है।

अपने सद्गुरु देवो की भक्ति, उनका ध्यान एव प्रत्यक्ष सेवा यह ज्ञान उपार्जन का प्रत्यक्ष एव महत्वपूर्ण उपाय है। शिष्य की भक्ति ही उसका सबसे बडा कवच है।

अनेक साधक स्वाध्याय का अर्थ केवल विद्वत्ता कर लेते है। लेकिन स्वाध्याय का अन्तर्हृदय है, आत्म-समाधि। और इस आत्म-समाधि के लिए सात्विक भोजन का होना भी एक प्रमुख कारण है।

प्रतिदिन मगलमैत्री का अभ्यास और आगम पठन केवल इस दृष्टि से किया जाए कि इससे मुझे कुछ मिले, मेरा विकास हो, मैं आगे बढू, तब तो वह स्व-केन्द्रित साधना हो जाएगी, जिसका परिणाम अहकार एव अशाति होगा। ज्ञान-साधना का प्रमुख आधार हो कि मेरे द्वारा इस विश्व मे शाति कैसे फैले, मै सभी के आनन्द एव मंगल का कारण कैसे बनू, मै ऐसा क्या करूं कि जिसमे सबका भला हो, सबकी मुक्ति कैसे हो। यह मगल भावना जब हमारे आगम ज्ञान और अध्ययन का आधार बनेगी तब ज्ञान अहम् को नही प्रेम को बढाएगा। तब ज्ञान का परिणाम विश्व प्रेम और वैराग्य होगा। अहकार और अशाति नही।

—शिरीष मुनि

शुभ स्मृति

इस विस्तृत आगम के प्रकाशन के समय सहसा मुझे चार स्वर्गीय महान् आत्माओ की शुभ स्मृति हो रही है। इन पुनीत आत्माओं के पवित्र नाम क्रमश: इस प्रकार हैं—परम पूज्य आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज, पूज्यवर्य आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज, पूजनीय स्थविरपद-विभूषित गणावच्छेदक श्री गणपतिराय जी महाराज, एवं मेरे अन्तेवासी म्व पण्डितवर्य मुनि श्री ज्ञान चन्द्र जी।

आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज मे हृदय की सरलता और शुद्धता, वाणी की मितता और मधुरता अध्ययन और अध्यापन आदि मे सतत सलग्नता, शान्ति, सहिष्णुता आदि सद्गुणों की विशेषता थी। यह महात्मा परम गम्भीर थे। इनमे आचार्य के सब विशेष गुण विद्यमान थे। इन्होंने आचार्य क कर्त्तव्यो को अच्छी तरह से निभाया। इनके समकालीन श्रीसघ मे पूर्ण शान्ति और उत्तम व्यवस्था रही। जैनागमो की आरम्भिक शिक्षा मैने इन्हीं से प्राप्त की थी, अत: इस प्रसिद्ध सूत्र के प्रकाशन के अवसर पर इन आचार्य-चरणा का पुण्य स्मरण करना नितान्त आवश्यक है।

आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज इनके उत्तराधिकारी थे। यह महात्मा परम तपस्वी और तजस्वी थे। इनमे हृदय की दृढता और आत्मबल की विशेषता थी। इन्होने आत्मबल के द्वारा पजाब देश मे जैनधर्म का खूब प्रचार किया था। इनके आचार, तप और त्याग प्रशसनीय है।

श्री स्वामी गणपतिराय जी महाराज की सेवा मे मुझे अधिक से अधिक रहना पड़ा। मेरे अध्ययन और लेखनादि कार्य मे इनकी सहायता सब से अधिक रही। मेरे ऊपर इनकी सदैव कृपा-दृष्टि रही। यह महात्मा सौम्य मूर्ति थे। इनका हृदय गम्भीर और उन्नत विचारों से परिपूर्ण था। इन्होंने अन्त तक मनसा, वाचा, कर्मणा संयम का निर्दोष एव निरतिचार पालन किया। इनकी अन्तिम घडियो की शान्ति, समाधि और तेजस्विता का दृश्य अवर्णनीय है। मारणान्तिक वेदना की आकुलता की बजाय चेहरे पर अद्भुत मुसकराहट और अभूतपूर्व तेजस्विता दिखाई देती थी। इस शुभ अवसर पर ऐसी पुण्यात्मा की शुभ स्मृति का होना स्वाभाविक ही है।

स्व. प. मुनि श्री ज्ञान चन्द्र जी अद्भुत प्रतिभावान् थे। इनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक थी। केवल पाच वर्षो मे ही इन्होंने व्याकरण, साहित्य और आगमों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनका पाण्डित्य प्रगाढ़ था। यह मेरे परम सहायक और प्रिय शिष्य थे। इन्होंने स्वयं भी कतिपय पुस्तको की रचना की और मुझे भी लेखन-कार्य के लिए प्रेरणा देते रहते थे। इस शास्त्र की विद्वद्मान्य और लोकोपयोगी टीका लिखने की इन्होने ही मुझे विशेष रूप से प्रेरणा दी थी, अत: इस सूत्र के प्रकाशन के समय इनकी मधुर-स्मृति का होना अनिवार्य है।

आचार्य आत्माराम

गुर्वावली

नायसुओ वद्धमाणो नायसुओ महामुणी ।
लोगे तित्थयरो आसी अपच्छिमो सिवंकरो ॥ १ ॥

सतित्थे ठविओ तेण पढमो अणुसासगो ।
सुहम्मो गणहरो नाम तेअंसी समणच्चिओ ॥ २ ॥

तत्तो पवट्टिओ गच्छो सोहम्मो नाम विस्सुओ ।
परंपराए तत्थासी सूरी चामरसिंघओ ॥ ३ ॥

तस्स संतस्स दंतस्स मोतीरामाभिहो मुणी ।
होत्थ सीसो महापन्नो गणिपय विभूसिओ ॥ ४ ॥

तस्स पट्टे महाथेरो गणावच्छेअगो गुणी ।
गणपतिसंनिओ साहू सामण्ण-गुण्णसोहिओ ॥ ५ ॥

तस्स सीसो गुरुभत्तो सो जयरामदासओ ।
गणावच्छेअगो अत्थि समो मुत्तोव्व सासणे ॥ ६ ॥

तस्स सीसो सच्चसंधो पवट्टग पयंकिओ ।
सालिग्गामो महाभिक्खू पावयणी धुरंधरो ॥ ७ ॥

तस्संतेवासिणा एसा अप्पारामेण भिक्खुणा ।
उवज्झाय पयंकेणं भासाटीका समत्थिआ ॥ ८ ॥

उत्तराज्झयणस्स टीकेयं लोकभासासुबद्धिआ ।
पढंताणं गुणंताणं वायंताणं पमोइणी ॥ ६ ॥

पूज्यपाद आचार्यवर्य्य श्री अमरसिंह जी महाराज की पट्टावली

पंचनईय सव्वगुणालंकियस्स पुज्जसिरि अमरसिंहस्स सीसो महाचाई वेरग्गमुद्दा रामबक्खस महामुणी तप्पट्टे विराइओ।

तप्पट्टे तेसिं लहुगुरुभाया संतिमुद्दा गणिगुणालंकिओ सत्थविसारओ पुज्जसिरि मोतीरामो भूओ।

तप्पट्टे संधहिएसी जोइसविण्णु मिच्छत्त-निकंदणकत्ता पुज्जसिरि सोहणलालो होत्था।

तप्पट्टे जइण जाइए दसाए उद्धारए पंचालकेसरी इय उपाधिधारए पुज्जसिरि कासीरामो संपइ काले विरायए, साहिच्चमंडलस्स ठावणा इमेसिं काले भूआ ! आसं करेमि एएसिं पहावओ सव्वकज्जं सफलं भविस्सइ।

विक्रम संवत् १९९६ भाद्रपद शुक्ला गुरूवासरे

१९९६

धन्यवादार्पण

जाते दिवं सविधवासिनि बुद्धिचन्द्रे,
मच्छेमुषीविवृतितो विमूखीबभूव ।
अंगीकृतामररचत् पुनरस्ततन्द्रः,
शिष्योऽपरो बुधवरो मम हेमचन्द्रः ॥ १ ॥

येऽपीपठन् मुनिवराः प्रथिताऽऽगमं मां,
येऽजीगमन् गुरुगिरामतिमर्थ-गंगाम् ।
तन्वंस्तदत्र विवृतिं सुकृदंशभाग्भ्यः,
तेभ्योऽर्पयामि विनयैः शतधन्यवादान् ॥ २ ॥

आत्मारामः

प्रशस्तिः

तत्रेयं पद्यद्वयेन वागवतारणा

प्रपञ्चसञ्चारिणि पञ्चमेऽत्र, काले कराले कलयन्ति लोकाः ।
स्वत्वेषु वित्तेषु मुतेषु भिक्षा, सर्वे न शिक्षां न शुचि न दीक्षाम् ॥ १ ॥

स्पृहणीयगुणा अगण्यपुण्यास्तरुणत्वेऽपि दधुस्तपस्विता ये ।
रमणीयहृदा विदा तदेषा, स्मरण सद्वृजिनैकवर्जन हि ॥ २ ॥

आस्ते पञ्चनदः शुभो जनपदो दूरीकृतान्तर्गदः,
प्रेमार्द्रैकगदागदः प्रकृतितः प्रोतुङ्गचित्सम्मदः ।
अत्राऽवातरदक्षिपड्वसुधरासख्यामिते (१८६२) वत्सरे,
निस्तन्द्रोऽमरसिहजिन्नरवरश्चञ्चत्प्रपञ्चात्परः ॥ ३ ॥

वस्वङ्कवस्विन्दुमिते (१८९८) शुभेऽब्दे, नामाभिधेय विदधत्सदर्थम् ।
नरेषु चन्द्रोऽमरचन्द्रता सः, मुनीन्द्रता चारुतरा बभार ॥ ४ ॥

आचारागमतीर्थरक्षणपरा तच्चातुरी सा तुरी,
वेमाऽसौ यशसा चय मृदुतर श्वेत व्यधादम्बरम् ।
तेने तेन विशेषवर्णरुचिकृद्देशोऽप्यशेषो निजः,
पञ्चाप प्रहतप्रपञ्चनिचयः श्वेताम्बरः सवरः ॥ ५ ॥

कालक्षोणिनिधीन्दुसम्मिततमे (१९१३) वर्षे विहारक्रमाद्,
इन्द्रप्रस्थपुरं सुमारवसता पूज्या कनीरामका. ।
अस्मै पूज्यपद तदैव ददिरे श्राद्धे समिद्धाद्धवे,
पूज्य पूज्यमथो विधाय दधिरे शब्दाश्रय द्विविधम् ॥ ६ ॥

वसुकालनिधीन्दुमिते (१९३८) विषमे, नृपविक्रमहायनकेऽयमगात् ।
सुरसद्म-यताऽमरसिंहमुने-रुचिता रुचिरोच्चतरैव गतिः ॥ ७ ॥

मोतीराममुनिस्ततोऽमवदसावष्टादशाशीतिके,
वर्षे लब्धजनिः रत्नभूमिनिधिभूसख्येऽब्दके (१९१०) सद्व्रती ।

अङ्कत्र्यङ्कधरामितेऽ (१९३९) भवदयं पूज्योऽतियोग्यः सता,
सिद्धीशास्यनिधीदुसम्मिततमे (१९५८) वर्षे दिव चाऽप्यगात् ॥ ८ ॥

गणोऽपि ववृधेतमां गणपतेरपेक्षापरो,
रसाम्बरनिधीन्दुसंमिततमेऽब्दके (१९०६) सोऽप्यभूत् ।
त्रिकालनिधिभूमितेऽ (१९३३) धितहिता स दीक्षा गुरोः,
द्विसिद्धिनिधिभूमिते (१९८८) सुरपुरीमयासीदसौ ॥ ६ ॥

तच्छिष्यो गणनीर्गणेयगुणिना शश्वत्सतामग्रणीः,
स श्रीमान् स्थविरोऽजनीन्दुनयनाङ्केन्दूपमे (१९२१) वत्सरे ।
दीक्षां वेद सरस्वदङ्कधरणीतुल्येऽ (१९४४) ग्रहीदाग्रहात्,
सच्छिष्यो जयरामदासजिदसावद्यापि विद्योतते ॥ १० ॥

तच्छिष्य. प्रथितप्रबोधमधुरः सद्वृत्तिसद्वर्तको,
भेजे जन्म पयोधिनेत्रनिधिभूसख्येऽब्दके (१९२४) सत्कुले ।
मुन्यब्ध्यङ्कधरामितेऽ (१९४७) तिमतिमान् दीक्षा दधारादरात्
शालिग्राममुनिः सदाजयजनिर्जीव्याच्चिर सन्मणि. ॥ ११ ॥

आगमोद्धार मस्कार - सार - लालसमानसः ।
मेधासिन्धून् दीनबधून् आत्मारामो नमत्यमून् ॥ १२ ॥

आत्म-वृत्तम्

पाचालदेशे ऋषिभूमिख्याते, 'राहो' प्रसिद्धे नगरे समृद्धे ।
अङ्काग्नितत्त्वेन्दु (१९३६) मिते हि वर्षे, जातो ह्यसौ भाद्रपदाख्यमासे ॥ १ ॥

द्वादश्या तिथौ श्रीमन्मनसाराम - पितुर्गृहे ।
माता परमेश्वरी ह्यासीत् ह्यात्मारामस्य सन्मतेः ॥ २ ॥

चन्द्रभूताङ्कभूम्यब्दे (१९५१) मुनिदीक्षा गृहीतवान् ।
शालिग्राम- मुनेरते--वासीत्यभवन्मुनीश्वरः ॥ ३ ॥

अङ्करसतत्त्वचद्राब्दे (१९६६) नगरेऽमृतसराभिधे ।
पञ्चनदाचार्यः श्रीमान् सोहनलालो मुनीश्वरः ॥ ४ ॥

उपाध्याय - पद तस्मै ददति स्म जितेन्द्रियः ।
उपाध्यायपद प्राप्य कृतमागम-मन्थनम् ॥ ५ ॥
मुनिचर्यानुरक्तेन तेनाचार्यपदं परम् ।
प्राप्तं त्रिनभाकाश-नेत्राब्दे (२००३) विक्रमस्य वै ॥ ६ ॥

चतुर्विधेन मघेन 'सादडी' नगरे शुभे ।
घोषित: श्रमणसघस्य, आचार्य: श्रमणाधिप: ।।

निधिनभव्योमनेत्राब्दे (२००६) विक्रमस्य नृपस्य वै ।
निगदन्तो जयेच्छब्द सर्वे हर्षमुपागता: ।।

शिष्य-परम्परा

खजानचन्द्राभिधस्तस्य शिष्य: सयम-सागर· ।
ज्ञानचन्द्रो ज्ञाननिधि:, सुरलोक गतौ हि तौ ।।

हेमचन्द्रो मुनिश्चापि मुनिर्ज्ञानाभिधोऽपि च ।
याभ्या शास्त्रसिन्धोस्तु, गहन मन्थन कृतम् ।।

रत्नमुनीति विख्यात:, शिष्य. सेवापरायण: ।
श्री मनोहरमुनिश्चापि, ख्यात: 'उत्कलकेसरी' ।।

अन्ये च बहवो मुनयस्तस्य शिष्यत्वमाप्नुवन् ।
सयमसिन्धौ निमज्जत:, सत: सत्य-पगयणा: ।।

उपाध्याय: श्री फूलचन्द्र: 'श्रमण:'

श्री खजानमुने· शिष्य., फूलचद्रो महामुनि: ।
तपसा तेजसा तुष्ट्या, समृद्ध: संयमाधिप: ।।

शातमूर्तिर्विरक्तो हि, रक्तो हि जैन-शासने ।
निष्णात· शास्त्र-सिधौ च श्रमणाख्य: शान्तमानस: ।।

आचार्यानन्द-ऋषिणा, महत्ता तस्य जानता ।
भूम्यग्निव्योमनेत्राब्दे (२०३१) दत्त "प्रवर्तक:" पदम् ।।

रामाग्निव्योमनेत्राब्दे, (२०३३) उपाध्यायपद हि स: ।
प्राप्तवान् लाकविख्यात:, लुधियाना-नगरे वसन् ।।

अस्या परम्परायान्तु येऽपि सति मुनीश्वरा· ।
तषा चरणेषु 'तिलको' हि वन्दत सादर सदा ।।

अनुक्रमणिका

॥ नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

अह उसुयारिज्जं चोदहमं अज्झयणं

अथेषुकारीयं चतुर्दशमध्ययनम्

पाठकों को स्मरण होगा कि तेरहवे अध्ययन की पूर्व पीठिका में यह वर्णन आ चुका है कि सागरचन्द्र नामक मुनि के पास चार गोपालो ने दीक्षा ग्रहण की। उनमें से चित्त और सभूति का वर्णन तो आ चुका है, परन्तु शेष जो दो मुनि थे वे शुद्ध सयम का पालन करते हुए मरकर देवलोक में गए। फिर वहा से च्यव कर वे क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर के किसी प्रधान सेठ के घर मे दोनो पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए।

युवावस्था में आने पर उन दोनो की अन्य चार व्यापारियो से मित्रता हो गई। अन्त में इन छहों ने फिर दीक्षा ग्रहण कर ली। इनमे से चार ने निष्कपट रूप सयम का आराधन किया, परन्तु दो की धर्म-क्रिया छलयुक्त थी। अनुक्रम से ये छहों साधु काल करके प्रथम देवलोक के नलिनी गुल्म नामक विमान में देवता रूप से उत्पन्न हुए, परन्तु माया-कपट के प्रभाव से उन छह में से दो जीव स्त्री –देवी के भाव-रूप से उत्पन्न हुए।

फिर जो गोपालों में से दो जीव थे उनको छोडकर अन्य चार जीव उस देवलोक से च्यव कर इषुकार नगर मे एक तो इषुकार नामक राजा हुआ, दूसरा उसी राजा की कमलावती नाम की रानी बनी, तीसरा भृगु नाम का पुरोहित हुआ और चौथा उस पुरोहित की यशा नाम वाली भार्या हुई।

भृगु पुरोहित पुत्र के न होने से अत्यन्त शोकग्रस्त रहता था। इधर उन दोनों गोपालकों के जीवो ने अवधि ज्ञान के द्वारा अपने आयु-कर्म की स्थिति को केवलमात्र छह मास की जानकर तथा अपने उत्पत्ति-स्थान को देखकर वे दोनो देव भृगु पुरोहित के पास आकर कहने लगे कि–"तुम चिन्ता मत करो, तुम्हारे घर में दो पुत्र उत्पन्न होगे, परन्तु वे दोनो बाल्यावस्था में ही दीक्षित हो जाएंगे। इसलिए आपको उन्हें बाल्यकाल मे ही जैन मुनियो के सहवास में रखने तथा विद्याभ्यास कराने का प्रयत्न करना चाहिए।" इस प्रकार कहकर वे दोनो ही देव अपने स्थान को चले गए।[१]

१ दीपिका टीका मे लिखा है कि वे दोनों देव जैन भिक्षु का रूप धारण करके भृगु पुरोहित के घर में आए, उस पुरोहित को धर्मोपदेश दिया। सन्तान के विषय मे पुरोहित के प्रश्न करने पर उन्होने कहा कि तुम्हारे दो पुत्र उत्पन्न होंगे और वे साधु वृत्ति को भी धारण करेंगे। अत आपने उनकी दीक्षा मे विघ्न नहीं डालना तथा आप भी धर्म का आराधन करना सीखो। तब भृगु पुरोहित ने उन मुनियो की सब बातो को स्वीकार करके उनके पास से श्रावक के व्रतो को अगीकार किया।

कालान्तर में उस भृगु पुरोहित के घर में दो पुत्रो का जन्म हुआ। पुत्रो के जन्म के अनन्तर उसने विचार किया कि इनको साधुओ के संसर्ग से सर्वथा बचाए रखना चाहिए। इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उसने नगर के बाहर एकान्त स्थान में जाकर कपैट नाम के ग्राम मे निवास कर लिया तथा अपने दोनों पुत्रो को साधुओं के सम्बन्ध में इस प्रकार शिक्षा देने लगा–

''हे पुत्रो ! जैन भिक्षुओं के मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई होती है और उनके पास रजोहरण होता है तथा वे भूमि को देखकर चलते हैं। उनके हाथ में एक वस्त्र की झोली होती है, उसमे वे शस्त्र आदि रखा करते हैं। अत: उनकी सगति कदापि नही करनी चाहिए, क्योंकि वे घातक होते हैं। वे बालकों को पकड़कर ले जाते हैं और मार डालते हैं। इसलिए उनसे सर्वदा दूर ही रहना चाहिए।''

इस प्रकार पिता के शिक्षण देने पर वे दोनों बालक जैन साधुओ से भय खाने लग गए। भृगु के ये भाव थे कि ये न तो साधुओं को मिलेगे और न उनसे दीक्षा ग्रहण करने को उद्यत होगे।

एक समय वे दोनो बालक ग्राम के बाहर खेलने के लिए गए, तब वहा पर दो साधु, नगर के बाहर रास्ता भूल जाने से उसी ग्राम मे आ गए। भृगु पुरोहित ने उनको आहार-पानी देकर कहा कि–''भगवन् ! इस ग्राम के लोग साधुओं से अपरिचित है। इतना ही नहीं, किन्तु उनके अत्यन्त द्वेषी भी है तथा इस ग्राम के बालक मेरे पुत्रो सहित साधुओ का बहुत उपहास किया करते हैं। इसलिए आप आहार-पानी ग्राम के बाहर जाकर ही करे, जिससे कि किसी को भी आपके साथ अविनय करने का अवसर प्राप्त न हो सके।''

भृगु पुरोहित की इस बात को सुनकर वे दोनो साधु ग्राम से बाहर निकल कर उसी ओर चल पड़े जिधर वे बालक खेलने के लिए गए हुए थे। उन साधुओं को देखकर पुरोहित के वे दोनो बालक भयभीत होकर आगे-आगे भागने लगे और भागकर एक विशाल वृक्ष पर चढ गए।

साधुओं ने उस वृक्ष के नीचे प्रासुक-शुद्ध स्थान देखकर रजोहरण द्वारा उसकी प्रमार्जना करके विधि-पूर्वक आहार करना आरम्भ किया। तब वृक्ष पर चढे हुए दोनों पुरोहित-पुत्रों ने उन साधुओं की सब क्रियाओ को ध्यान-पूर्वक देखा और देखकर वे विचार करने लगे कि ''इनके पास न तो कोई शस्त्र है तथा न इनके पात्रो में कोई मांस आदि अशुद्ध पदार्थ है, किन्तु इनके पात्रों मे तो प्राय: अपने ही घर का अन्न प्रतीत होता है।'' इस प्रकार विचार करने पर उनके मन का सब भय दूर हो गया और इन्ही चिन्तन के क्षणों में उनको जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। जाति-स्मरण ज्ञान होते ही उनका आत्मा वैराग्य के रंग से अतिरंजित हो गया।

इसके अनन्तर वृक्ष से नीचे उतरकर उन्होंने उन दोनों मुनिराजों को विधि-पूर्वक वन्दना की और अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त में उनसे प्रार्थना की कि-"भगवन्! आप कुछ समय के लिए इषुकार नगर में ही निवास करने की कृपा करें, क्योंकि हम माता-पिता की आज्ञा लेकर आपके कर-कमलों से मोक्ष के देने वाली पवित्र मुनि-वृत्ति को धारण करने का विचार रखते हैं। कारण कि प्रत्येक आत्मा इस मुनि-वृत्ति के द्वारा ही मोक्ष-पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। यह बात अवश्य है कि वह मुनि-वृत्ति बाह्य चिन्हों के साथ हो अथवा अन्तरंग भावों के साथ हो, परन्तु इस आत्मा का जब भी मोक्ष होगा तो मुनि-वृत्ति से ही होगा। अतएव हम चिरकाल से मुनि-वृत्ति धारण करने के लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं।

कुमारों के इन विचारो को सुनकर मुनिराजों ने कहा कि-"जैसे तुम को सुख हो वैसे करे, परन्तु इतना स्मरण रखें कि धर्म-कृत्यों के अनुष्ठान करने में प्रमाद बिलकुल नहीं करना चाहिए।"

इसके अनन्तर वे दोनों कुमार उक्त मुनिराजों को यथाविधि वन्दना नमस्कार करके अपने घर मे आ गए। घर मे आने के अनन्तर उन दोनों कुमारों ने अपने माता-पिता आदि के साथ इसी दीक्षा-सम्बन्धी विषय का संवाद आरम्भ किया। कुछ दिनों के बाद ही उसका यह परिणाम निकला कि वहां का राजा, रानी, पुरोहित और उसकी स्त्री तथा वे दोनों कुमार ये छहों जीव दीक्षित होकर संयम की आराधना करने लगे।

प्रस्तुत अध्ययन में इसी परमार्थ-साधक विषय का वर्णन है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है-

देवा भवित्ताण पुरे भवम्मि, केई चुया एगविमाणवासी ।
पुरे पुराणे उसुयारनामे, खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥ १ ॥

देवा भूत्वा पूर्वे भवे, केचिच्च्युता एकविमानवासिनः ।
पुरे पुराणे इषुकारनाम्नि, ख्याते समृद्धे सुरलोकरम्ये ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः-देवा-देवता, **भवित्ता**-होकर, **पुरे**-पूर्व, **भवम्मि**- भव में, **केई**-कितने एक, **चुया**-वहां से च्यव कर, **एगविमाणवासी**-एक विमान मे बसने वाले, **पुरे**-नगर में जो, **पुराणे**-प्राचीन था, **उसुयारनामे**-इषुकार नाम वाले में, **खाए**-ख्यात-प्रसिद्ध, **समिद्धे**-ऋद्धि से पूर्ण, **सुरलोगरम्मे**-देवलोक के समान रमणीय, **णं**-वाक्यालकार मे है।

मूलार्थ-पूर्व भव में देवता होकर, फिर वहां से कितने एक च्यव कर जो एक विमान में बसने वाले थे वे इषुकार नामक प्राचीन नगर में उत्पन्न हुए। वह नगर सुप्रसिद्ध, समृद्धियुक्त और देवलोक के समान रमणीय था।

टीका—पूर्व भव में प्रथम देवलोक क नलिनी गुल्म विमान में बसने वाले छह देव वहा से च्यव कर इषुकार नाम के एक प्राचीन नगर में उत्पन्न हुए। वह नगर पृथ्वी में सर्वत्र प्रख्यात और समृद्धि से परिपूर्ण तथा देवलोक के समान अतिरमणीय था।

इस गाथा मे यह दिखाया गया है कि मित्र देवता देवलोक से च्यव कर फिर मित्र रूप मे उत्पन्न हुए तथा वर्तमान मे जीवो का जो परस्पर सम्बन्ध दिखाई देता है, उसमें पूर्व-जन्म के संस्कार भी अवश्य कारण होते है। सूत्र मे जो 'केई' पद दिया है उसका अभिप्राय, कितने एक अनिर्दिष्ट नाम वाले देवो के निर्देश करने का है।

'सुरलोगरम्मे—सुरलोकरम्ये' इसमें मध्यमपदलोपी समास है।

क्या वे देवता सर्वथा उपभुक्त होकर स्वर्ग से च्युत हुए थे अथवा शुभ कर्मो के शेष रहते हुए उनका च्यवन हुआ? अब इसी विषय का निम्नलिखित गाथा में वर्णन किया जाता है—

सकम्मसेसेण पुराकएणं, कुलेसुदग्गेसु य ते पसूया ।
निव्विण्णसंसारभया जहाय, जिणिंदमग्गं सरणं पवण्णा[१] ॥ २ ॥

स्वकर्मशेषेण पुराकृतेन, कुलेषूदग्रेषु च ते प्रसूताः ।
विर्विण्णाः संसारभयात्त्यक्त्वा, जिनेन्द्रमार्ग शरणं प्रपन्नाः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**सकम्मसेसेण**—स्वकर्म शेष मे, **पुराकएणं**—पूर्वकृत से, **य**-फिर, **उदग्गेसु**—प्रधान, **कुलेसु**—कुल में, **ते**—वे देवता, **पसूया**—उत्पन्न हुए, **निव्विण्ण**—उद्वेग से युक्त, **संसारभया**—ससार के भय से, **जहाय**—काम-भागों को छोडकर, **जिणिंदमग्गं**—जिनेन्द्र-मार्ग की, **सरणं**—शरण को, **पवण्णा**—प्राप्त हुए।

मूलार्थ—पूर्व जन्म के किए हुए अपने शेष कर्मो से वे देवता प्रधान कुल में उत्पन्न हुए। फिर वे संसार के भय से निर्वेद को प्राप्त होते हुए काम-भोगों का परित्याग करके जिनेन्द्र देव के मार्ग को प्राप्त हुए।

टीका—वे देवता लोग पूर्व जन्म के किए हुए देवगति के योग्य कर्मो के फल को भोगकर, शेष रहे शुभ कर्मो के फल को भोगने के लिए पधान अर्थात् श्रेष्ठ कुलो मे उत्पन्न हुए और फिर भी संसार (जन्म-मरण) के भय से निर्वेद को प्राप्त होते हुए काम-भोगों को छोडकर श्री जिनेन्द्र देव के धर्म में दीक्षित हो गए।

---

१ इस गाथा मे ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनो कुलो का प्रधान कुल के नाम से उल्लेख किया हुआ देखा जाता है, जब कि अन्य शास्त्रो—दशाश्रुतस्कन्ध आदि मे ब्राह्मण का भिक्षाक—भिक्षु कुल माना है तथा इसकी प्रान्त कुलो—तुच्छ कुलो मे पग्गिणना की है, अत विद्वानो को इस पर अवश्य विचार करना चाहिए।

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वकृत शुभ कर्मों के प्रभाव से उत्तम कुल और तदनुरूप सामग्री की तो प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जिनेन्द्र देव के प्रतिपादन किए हुए धर्म की प्राप्ति तो आत्मा के क्षायिक और क्षयोपशम भाव पर ही निर्भर है, अतएव उक्त आत्माएं दोनों प्रकार के सुखों से युक्त थीं, इसीलिए सूत्रकार ने प्रधान कुल में जन्म और संसार से उद्विग्नता ये दोनों ही बातें उनमें दिखाई हैं। संसार से विरक्त होने वालों के लिए जिनेन्द्र-प्रदर्शित मार्ग ही अधिकतर श्रेयस्कर है, यह भी प्रदर्शित कर दिया गया है।

अब शास्त्रकार यह बताते हैं कि प्रधान कुल में किस-किस नाम वाले जीव उत्पन्न हुए और किस प्रकार से उन्होंने जिनोपदिष्ट मार्ग का अनुसरण किया—

पुम्मत्तमागम्म कुमार दो वि, पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती ।
विसालकित्ती य तहेसुयारो, रायत्थ देवी कमलावई य ॥ ३ ॥

पुंस्त्वमाऽऽगम्य कुमारौ द्वावपि, पुरोहितस्तस्य यशा च पत्नी ।
विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः, राजात्र देवी कमलावती च ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—पुम्मत्तं—पुरुष भाव में, **आगम्म**—आकर, **कुमार दोवि**—दोनों कुमार, **य**—और, **पुरोहिओ**—पुरोहित, **तस्स**—उसकी, **जसापत्ती**—यशा नाम वाली धर्मपत्नी, **य**—तथा, **विसाल-कित्ती**—विशाल कीर्ति वाला, **तह**—उसी प्रकार, **इसुयारराया**—इषुकार राजा, **त्थ**—और उसी नगर मे, **देवी कमलावई**—कमलावती नाम की उसकी पटरानी हुई।

मूलार्थ—इषुकार नगर में छह जीव उत्पन्न हुए, जैसे कि पुरुष रूप में उत्पन्न होने वाले दोनों कुमार, पुरोहित और उसकी यशा नाम वाली भार्या, इसी प्रकार इषुकार नामक विशालकीर्ति राजा और उसकी देवी कमलावती रानी।

टीका—देवलोक से च्यव कर छह जीव निम्न प्रकार से इषुकार नगर मे उत्पन्न हुए, यथा—प्रथम इषुकार नाम का विशालकीर्ति वाला राजा, दूसरी उसकी महारानी कमलावती, तीसरे भृगु नाम के पुरोहित और चौथी उनकी यशा नाम की भार्या एवं इनके घर में पुत्र रूप से उत्पन्न होने वाले दोनों कुमार—ऐसे छह जीव उत्पन्न हुए।

कुमार शब्द अविवाहित और अनभिषिक्त दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, अर्थात् जिसका विवाह न हुआ हो उसको भी कुमार कहते हैं तथा जिसका राज्याभिषेक न हुआ हो उसको भी कुमार ही कहा जाता है, जैसे कि राजकुमार इत्यादि। परन्तु यहां पर तो अविवाहित अर्थ में ही कुमार शब्द प्रयुक्त हुआ है।

'त्थ—अत्र' यहां पर अकार का सन्धि करके लोप किया गया है।

अब प्रथम उन दोनों कुमारों के विषय में कहते हैं–

जाईजरामच्चुभयाभिभूया, बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता ।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा, दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥ ४ ॥

जातिजरामृत्युभयाभिभूतौ, बहिर्विहाराभिनिविष्टचित्तौ ।
संसारचक्रस्य विमोक्षणार्थं, दृष्ट्वा तौ कामगुणेभ्यो विरक्तौ ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–**जाई**–जाति, **जरा**–बुढापा, **मच्चु**–मृत्यु के, **भयाभिभूया**–भय से व्याप्त हुए, **बहिं**–संसार से बाहर, **विहाराभिनिविट्ठचित्ता**–मोक्ष-स्थान में स्थापन किया है चित्त जिन्होने, **संसारचक्कस्स**–ससार चक्र के, **विमोक्खणट्ठा**–विमोक्षणार्थ, **दट्ठूण**–देखकर, **ते**–वे दोनों कुमार, **कामगुणे**–काम गुणों से, **विरत्ता**–विरक्त हुए।

मूलार्थ–जन्म, जरा और मृत्यु के भय से व्याप्त हुए, संसार से बाहर मोक्ष-स्थान में जिन्होंने अपने चित्त को स्थापित किया है, ऐसे दोनों कुमार साधुओं को देखकर संसार-चक्र से विमुक्त होने के लिए काम-भोगों से विरक्त हो गए।

टीका–जब उन दोनो कुमारो ने साधुओ के दर्शन किए तब उनको विषय-भोगों स विरक्ति हो गई। जन्म, जरा और मृत्यु से उनको भय लगने लगा और ससार-चक्र से मुक्त होने के लिए ससार से बाहर जो मोक्ष-स्थान है, उसमें चित्त को स्थिर करते हुए वे काम-भोगो से सर्वथा विरक्त हो गए।

यहा पर 'ते' यह 'तौ' के अर्थ में है।

अब उन दोनों कुमारों के विषय में फिर कहते हैं–

पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स, सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं, तहा सुचिण्णं तवसंजमं च ॥ ५ ॥
ते कामभोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा, तातं उवागम्म इमं उदाहु ॥ ६ ॥

प्रियपुत्रकौ द्वावपि ब्राह्मणस्य, स्वकर्मशीलस्य पुरोहितस्य ।
स्मृत्वा पौराणिकीं तत्र जातिं, तथा सुचीर्णं तपः संयमं च ॥ ५ ॥
तौ कामभोगेष्वसज्जन्तौ, मानुष्यकेषु ये चापि दिव्याः ।
मोक्षाभिकांक्षिणावभिजातश्रद्धौ, तातमुपागम्येदमुदाहरताम् ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**पियपुत्तगा**—प्रिय पुत्र, **दोन्नि वि**—दोनों ही, **माहणस्स**—ब्राह्मण के, **सकम्म-सीलस्स**— स्वकर्मनिष्ठ, **पुरोहियस्स**—पुरोहित के, **सरित्तु**—स्मरण करके, **पोराणिय**—पुरानी, **तत्थ**—वहा पर, **जाइं**—जाति को, **तहा**—उसी प्रकार, **सुचिण्णं**—अर्जित किया हुआ, **तव**—तप, **च**—और, **संजमं**—संयम को, **ते**—वे दोनों कुमार, **कामभोगेसु**—काम भोगों में, **असज्जमाणा**—असक्त हुए, **माणुस्सएसुं**—मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों में, **जे**—जो, **य**—और, **अवि**—निश्चय ही, **दिव्वा**—देवलोक के कामभोगों से आकर्षित न होते हुए किन्तु, **मोक्खाभिकंखी**—मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले, **अभिजायसड्ढा**—उत्पन्न हुई है मोक्ष में जाने की श्रद्धा जिनमें, **तातं**—पिता के पास, **उवागम्म**—आकर, **इमं**—यह वचन, **उदाहु**—कहने लगे।

मूलार्थ—स्वकर्मनिष्ठ ब्राह्मण पुरोहित के वे दोनों प्रिय पुत्र—कुमार अपने पूर्व जन्म का तथा उसमें अर्जित किए हुए तप और संयम का स्मरण करके देव और मनुष्य-संबंधी काम-भोगों से विरक्त हो गए तथा मोक्ष की इच्छा और उसकी प्राप्ति में विशिष्ट श्रद्धा रखते हुए पिता के पास आकर इस प्रकार कहने लगे।

टीका—वे दोनों कुमार भृगु नाम के पुरोहित के प्रिय पुत्र थे। भृगु भी साधारण ब्राह्मण नही था, वह अत्यन्त कर्मनिष्ठ और विचारशील ब्राह्मण था। साधुओ के दर्शन से उन कुमारों को जातिस्मरण ज्ञान हो गया, अत: उनको अपने पूर्व-जन्म तथा उसमें अर्जित किए हुए तप और सयम का भी ज्ञान तथा वैराग्य भी उत्पन्न हो गया। तब वे देवता और मनुष्य-सम्बन्धी सभी प्रकार के काम-भोगों से विरक्त होकर मोक्ष की इच्छा करने लगे और उसी के लिए विशिष्ट श्रद्धा रखने लगे। इस प्रकार संसार से विरक्त और मोक्ष की अभिलाषा में अनुरक्त वे दोनों कुमार अपने पिता के पास आकर इस प्रकार कहने लगे।

यद्यपि जाति-स्मरण ज्ञान देवता को भी होता है और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को भी था, परन्तु धर्म में मनुष्य की अभिरूचि तब होती है जब कि उसके ज्ञानावरणीयादि चारो घाती कर्मो का क्षय और क्षयोपशम हो जाता है, इसलिए सामान्य रूप से जातिस्मरण ज्ञान होने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को विषयों से उपरामता नहीं हुई और ये दोनों कुमार काम-भोगादि से विरक्त होकर मोक्ष के अभिलाषी हो गए।

पिता के पास आकर उन कुमारों ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

असासयं दट्ठु इमं विहारं, बहुअन्तरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसि न रइं लभामो, आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं ॥ ७ ॥

अशाश्वतं दृष्ट्वेमं विहारं, बह्वन्तरायं न च दीर्घमायुः ।
तस्माद् गृहे न रतिं लभावहे, आमंत्रयावश्चरिष्यावो मौनम् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**असासयं**—अशाश्वत, **इमं**—यह प्रत्यक्ष, **विहारं**—विहार को, **दट्ठु**—देखकर, **बहुअंतरायं**—बहुत से अन्तराय को, **य**—और, **न दीहमाउं**—आयु दीर्घ नहीं है, **तम्हा**—इसलिए, **गिहंसि**—घर में, **रइं**—रति-आनन्द को, **न लभामो**—हम नहीं प्राप्त करते, **आमन्तयामो**—आपको पूछते हैं, **मोणं**—मुनि वृत्ति को, **चरिस्सामु**—ग्रहण करेगे।

मूलार्थ—यह विहार—मनुष्य का निवास-स्थान अशाश्वत है, इसमें अन्तराय अर्थात् विघ्न बहुत हैं तथा आयु भी दीर्घ नहीं है, इसलिए हम घर में रति अर्थात् आनन्द को प्राप्त नहीं करते। अतः हम मौन अर्थात् मुनि-वृत्ति को ग्रहण करेंगे। यह आपसे पूछते हैं, अर्थात् आपकी आज्ञा चाहते हैं।

टीका—वैराग्य के रग मे रंगे हुए भृगु पुरोहित के दोनो पुत्र पिता के पास आकर कहने लगे कि—"पिता जी! यह मनुष्य का निवास-स्थान अर्थात् मनुष्य-जन्म और यह संसार अशाश्वत है, अर्थात् स्थिर रहने वाला नही है तथा इसमें अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते है और आयु भी दीर्घ नही है, इसलिए हम दोनों को इसमें अब रति नहीं—आनन्द नहीं।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य-सम्बन्धी इन विनश्वर सुखों से हम को किंचिन्मात्र भी प्रसन्नता नहीं है, अतः मुनि-वृत्ति को ग्रहण करने के लिए हम आप से आज्ञा चाहते है। तात्पर्य यह है कि आप हमे धर्म मे दीक्षित होने की अनुमति प्रदान करें।

यहा पर '**लभामो, आमंतयामी, चरिस्सामु**' ये सब बहुवचन द्विवचन के स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि प्राकृत में द्विवचन नही होता। अतएव '**तथा चास्मदोऽविशेषणे**' इस सूत्र से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग किया जाता है।

पुत्रों के इस वचन को सुनकर भृगु पुरोहित कहने लगे—

अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं, तवस्स वाघायकरं वयासी ।
इमं वयं वेयविओ वयन्ति, जहा न होई असुयाण लोगो ॥ ८ ॥

अथ तातकस्तत्र मुन्योस्तयोः, तपसो व्याघातकरमवादीत् ।
इमां वाचं वेदविदो वदन्ति, यथा न भवत्यसुतानां लोकः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ, **तायगो**—पिता, **तत्थ**—उस समय, **तेसिं**—उन, **मुणीण**—मुनियों को, **तवस्स**—तप के, **वाघायकरं**—व्याघात करने वाला वचन, **वयासी**—बोला, **इमं**—यह, **वयं**—वाणी, **वेयविओ**—वेदवित्, **वयंति**—कहते हैं, **जहा**—जैसे, **असुयाण**—पुत्र रहितों को, **लोगो**—लोक वा परलोक, **न होई**—प्राप्त नही होता।

मूलार्थ—उस समय पिता ने उन भाव मुनियों के तप को व्याघात करने वाला यह वचन कहा कि पुत्ररहितों को लोक वा परलोक की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा वेदवित् कहते हैं।

टीका—जब उन कुमारों ने पिता के पास आकर अपने मनोगत भाव प्रकट किए तब पिता ने उनके तप और संयम में विघ्नरूप इस प्रकार के वचन कहे कि—"वेदवित् लोग कहते हैं कि पुत्ररहित की गति नहीं होती—

'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च । गृहधर्ममनुष्ठाय तेन स्वर्गं गमिष्यति'।।

अर्थात् पुत्र-रहित मनुष्य को परलोक में सुख की प्राप्ति नहीं होती, स्वर्ग तो उसे प्राप्त हो ही नहीं सकता, पुत्रों द्वारा गृहस्थ-धर्म का पालन करने पर ही माता-पिता स्वर्ग में जाते है। तात्पर्य यह है कि पुत्र के बिना इस लोक में सुख नहीं तथा परलोक में भी पिंडदानादि के बिना सुख का प्राप्त होना कठिन है। अतएव शास्त्रकारों ने पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—**'पुं नरकात् त्रायते इति पुत्रः'**—अर्थात् जो माता-पिता को नरक से बचाता है, वही पुत्र है। जब कि वेदवेत्ताओं का ऐसा कथन है तब तुम वेदाज्ञा का उल्लघंन करके किस प्रकार मुनि-वृत्ति को धारण कर सकते हो ?

यही भृगु के कथन का आशय है। इसी अभिप्राय से शास्त्रकार ने भृगु पुरोहित के वचन को कुमारों के तप-रूप संयम का विघातक कहा है तथा प्रस्तुत गाथा में उन कुमारो के लिए जो मुनि शब्द का प्रयोग किया है वह भावी नैगम नय के अनुसार है, तात्पर्य यह है कि वे द्रव्य रूप से यद्यपि गृहस्थ ही हैं, परन्तु भाव रूप से उन्हे मुनित्त्व की प्राप्ति हो चुकी है, इसलिए भाव की दृष्टि से उन्हें मुनि कहना उचित ही है।

इसके अनन्तर पिता ने उन कुमारों के प्रति फिर कहा कि—

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया ।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥ ९ ॥

अधीत्य वेदान् परिवेष्य विप्रान्, पुत्रान् परिष्ठाप्य गृहे जातौ।
भुक्त्वा भोगान् सह स्त्रीभिः, आरण्यकौ भवतं मुनी प्रशस्तौ ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**अहिज्ज**—पढ़कर, **वेए**—वेदो को, **परिविस्स**—भोजन करवा कर, **विप्पे**—ब्राह्मणों को, **पुत्ते**—पुत्रों को, **गिहंसि**—घर में, **परिट्ठप्प**—स्थापित करके, **जाया**—हे पुत्रो, **भोच्चाण**—भोगकर, **भोए**—भोगो को, **इत्थियाहिं**—स्त्रियों के, **सह**—साथ, **आरण्णगा**—आरण्यवासी, **पसत्था**—प्रशस्त, **मुणी**—मुनि-मननशील, **होह**—हो जाना।

मूलार्थ—हे पुत्रो! तुम वेदों को पढ़कर, ब्राह्मणों को भोजन कराकर, स्त्रियों के साथ भोगों को भोग कर और पुत्रों को घर में स्थापित करके फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि बन जाना।

टीका–भृगु पुरोहित ब्राह्मण-धर्म अर्थात् वैदिक धर्म के अनुसार अपने दोनों पुत्रों को उपदेश करते हैं कि प्रथम तुम वेदों का अध्ययन करो। विद्याध्ययन को समाप्त करके ब्राह्मणों को भोजन कराकर गृहस्थ-धर्म में प्रवेश करो। फिर विषय-भोगों का सेवन करते हुए सन्तान को उत्पन्न करो। सन्तानोत्पत्ति के बाद जब सन्तान योग्य हो जाए, तब उनको घर-गृहस्थी का भार संभाल कर तुम जगल में रहने और मुनि-वृत्ति को धारण करने मे प्रवृत्ति करो। यही प्राचीन वैदिक परम्परा है, इसी के अनुसार तुम को चलना चाहिए।

इसके अनन्तर जो कुछ हुआ, अब उसका वर्णन शास्त्रकार करते हैं–

सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेणं, मोहाणिला पज्जलणाहिएणं ।
संतत्तभावं परितप्पमाणं, लालप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥ १० ॥
पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्तं, निमंतयन्तं च सुए धणेणं ।
जहक्कमं कामगुणेहिं चेव, कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥ ११ ॥

शोकाग्निना आत्मगुणेन्धनेन, मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन ।
संतप्तभावं परितप्यमानं, लालप्यमानं बहुधा बहुं च ॥ १० ॥
पुरोहितं तं क्रमशोऽनुनयन्तं, निमन्त्रयन्तं च सुतौ धनेन ।
यथाक्रमं कामगुणैश्चैव, कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–**सोयग्गिणा**–शोकाग्नि से तथा, **आयगुणिन्धणेणं**–आत्मगुणेन्धन से, **मोहाणिला**–मोह रूप वायु से, **पज्जलणाहिएणं**–अति प्रचंड से, **संतत्तभावं**–सन्तप्त भाव, **परितप्पमाणं**–सर्व प्रकार से सन्तप्त हृदय, **लालप्पमाणं**–बार-बार विलाप करता हुआ, **बहुहा**–बहुत प्रकार से, **च**–और, **बहुं**–अतीव। **तं**–उस, **पुरोहियं**–पुरोहित को जो, **कमसोऽणुणंतं**–क्रम से अनुनय करता हुआ, **च**–और, **निमंतयंतं**–निमंत्रण करता हुआ, **सुए**–पुत्रो को, **धणेणं**–धन से, **जहक्कमं**–यथाक्रम, **कामगुणेहिं**–कामगुणों से निमंत्रण करता हुआ, **ते**–वे दोनो, **कुमारगा**–कुमार, **पसमिक्ख**–देखकर-विचार कर, **वक्कं**–वाक्य-वचन बोले।

मूलार्थ–शोक रूप अग्नि, आत्मगुण रूप ईन्धन और अति प्रचंड मोह रूप वायु से सन्ताप और परिताप को प्राप्त हुए तथा बहुत प्रकार से बहुत सा आलाप-संलाप करते हुए उस पुरोहित को देखकर वे दोनों कुमार उसके प्रति इस प्रकार बोले, जो कि उन कुमारों को, धन और विषय भोगों से निमंत्रण करता हुआ उनका अनुनय कर रहा था अर्थात् उनके प्रति अपना अभिप्राय प्रकट कर रहा था।

टीका–भृगु पुरोहित शोकरूपी अग्नि से व्याप्त है, उसकी आत्मा के शान्ति आदि गुण

ईन्धन रूप हो गए और मोहरूप वायु से वह अग्नि अधिक प्रचंड हो उठी, जिससे शान्ति के भाव सन्ताप रूप में परिणत होकर अधिक परिताप देने लगे। इसलिए भृगु पुरोहित का हृदय अधिक परिताप को प्राप्त हो गया और वह भावी पुत्र-वियोग का अनुभव करता हुआ विलाप भी करने लगा।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु से प्रेरित हुई अग्नि सूखे वा गीले सभी प्रकार के ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार हृदय में उत्पन्न हुई शोक रूप अग्नि आत्मा के शान्ति आदि समस्त गुणों का विनाश कर देती है। मोह रूप वायु उसको और भी अधिक प्रचंड कर देता है जिससे हृदय में परिताप के साथ विलाप भी पैदा हो जाता है।

पुरोहित ने पुत्रों के व्यामोह से उन्हे अपने पास रखने के अनेक प्रयत्न किए, उनको धन का लोभ दिया, उनको विषय-भोगों का लालच दिया और अनेक प्रकार के अनुनय-विनय से उनके प्रति अपना आशय प्रकट किया जिससे कि वे संसार के परित्याग की भावना को स्थगित कर दे, परन्तु भृगु पुरोहित की इस दशा को देखकर उन कुमारो ने सोचा कि हमारे पिता तो मोह से व्याकुल हो रहे हैं, इनका शोक-सन्तप्त हृदय विह्वल हो रहा है। अधिक क्या कहें, ये तो इस समय अपने आपको भी भूल गए हैं, अत: इनको अब युक्ति से समझाना चाहिए, जिससे कि इनके मोहनीय कर्म का आवरण उठ जाए और ये भी सुपथ के पथिक बन जाएं। यह विचार कर उन्होंने अपने पिता से इस प्रकार कहा।

प्रस्तुत गाथा मे उपमा अलंकार की छटा दर्शनीय है।

उन कुमारों ने जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन करते हैं-

वेया अहीया न हवन्ति ताणं, भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥ १२ ॥

वेदा अधीता न भवन्ति त्राणं, भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि ।
जाताश्च पुत्रा न भवन्ति त्राणं, को नाम तवानुमन्येतैतत् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः-वेया-वेद, **अहीया**-पढ़े हुए, **ताणं**-त्राण-शरण, **न हवंति**-नहीं होते, **दिया**-द्विज, **भुत्ता**-भोजन करवाए हुए, **तमं तमेणं**-अज्ञानता में-अन्धकार में, **निंति**-पहुँचाते हैं, **य**-और, **जाया**-पुत्र भी, **ताणं**-त्राण-शरण, **न हवंति**-नहीं होते, **को**-कौन, **णाम**-संभावनार्थ में है, **ते**-तुम्हारे, **एयं**-यह पूर्वोक्त वाक्य को **अणुमन्नेज्ज**-माने।

मूलार्थ-हे पिता जी ! पढ़े हुए वेद रक्षक नहीं हो सकते, भोजन करवाए हुए द्विज भी अन्धकार में ले जाते हैं और पुत्र भी रक्षक नहीं हो सकते, तो फिर आपके इन पूर्वोक्त वचनों को कौन स्वीकार करे? अपितु कोई भी स्वीकार नहीं करेगा।

टीका–भृगु पुरोहित के प्रति उसके दोनों कुमार कहने लगे कि–"पिता जी! पढ़े हुए ऋग्-यजु आदि चारों वेद रक्षक नही हो सकते, कारण कि केवल वेदों के अध्ययन मात्र से ही दुर्गति के जनक कर्मो की निवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक कि अध्ययन के अनुरूप आत्मा को उन्नति-पथ पर ले जाने वाली क्रिया का आचरण न किया जाए, अत: केवल वेदाध्ययन मात्र से आत्मा के कर्मबन्धन नहीं छूट सकते। ब्राह्मणों को करवाया हुआ भोजन भी अज्ञानता का पोषक है, क्योंकि वे कुमार्ग की ओर ले जाने वाले और यज्ञादि कर्मो में पशुवध आदि के समर्थक हैं। तब उनको खिलाया हुआ भोजन कैसे पुण्य का जनक और ज्ञान का हेतु हो सकता है। पुत्रों को भी रक्षक मानना भूल है, क्योंकि इस आत्मा का रक्षक सिवाय इसके आचरण किए हुए शुभ कर्म के और कोई नही हो सकता, इसलिए जब कि यह बात प्रत्यक्ष और अनुभव से सिद्ध है तब आपके इस उक्त कथन को कौन बुद्धिमान् पुरुष स्वीकार कर सकता है, अर्थात् कोई भी स्वीकार नही करेगा।

इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रहे कि इस गाथा में जो कुछ भी कहा गया है वह किसी पर आक्षेप करने की बुद्धि से नहीं कहा गया। प्रत्युत वस्तुतत्व की यथार्थता को प्रतिपादन करने के उद्देश्य से कहा गया है। जैसे कि केवल वेद के अध्ययनमात्र से ही मोक्ष नहीं होता, किन्तु '**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**' ज्ञान और तदनुकूल चारित्र के अनुष्ठान से ही मोक्ष होता है, अत: जो लोग केवल अध्ययन को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानते हैं उनका विचार युक्ति-युक्त प्रतीत नही होता।

यद्यपि किसी समय पर अध्ययन से भी मनुष्य को परम लाभ पहुंचता है, क्योकि जिन शास्त्रो में सत्पदार्थो का निरूपण किया गया है, उनके अध्ययन से पुरुष के सम्यक्त्व की निर्मलता होती है, परन्तु वेदों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि उनमे पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन बहुत कम है। उदाहरणार्थ—अरूपी आकाश की भी उत्पत्ति वर्णित है। यथा–'**आत्मनः आकाशः संभूत,** इत्यादि'।

इसी प्रकार ब्राह्मण भोजन के विषय में भी केवल पात्रापात्र का विचार करना ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि पात्र और कुपात्र को देखकर ही मनुष्य को दान करने मे प्रवृत्त होना चाहिए। जिस प्रकार सुपात्र को दिया हुआ दान उत्तम फल के देने वाला होता है, उसी प्रकार कुपात्र दान हीन फल अर्थात् अधोगति का कारण बनता है। इसलिए जो लोग ब्राह्मण कहलाते हुए भी हिसक मार्ग के उपदेष्टा और यज्ञादि कार्यो में पशु-वध आदि जघन्य कर्म के समर्थक तथा व्यभिचारनिमग्न हो, उनको दिया हुआ दान अथवा खिलाया हुआ भोजन कभी भी सुगति के देने वाला नहीं माना जा सकता। अत: प्रस्तुत प्रकरण में शास्त्रकार ने सुपात्र दान का निषेध नही किया, किन्तु कुपात्र दान का कटु फल बताया है।

औरस पुत्र भी मृत्यु के समय पर अपने माता-पिता की किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते, गृहस्थाश्रम में निवास करने वालों के लिए पुत्र कुलवृद्धि का हेतु तो हो सकता है, किन्तु उसको पारलौकिक दुख की निवृति में सहायक समझना भूल है। तात्पर्य यह है कि जो लोग पुत्र को नरक से छुड़ाने वाला समझते है, वे शास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ हैं, अतः श्राद्धादि कर्म से भी पुत्र को रक्षक मानना युक्तिसंगत नहीं है।

यहां पर वृत्तिकार ने '**तमं तमेणं**' शब्द के '**णं**' को वाक्यालंकार के अर्थ में ग्रहण किया है तथा किसी-किसी वृत्तिकार ने सप्तमी के स्थान में इसे तृतीया का रूप स्वीकार किया है, परन्तु दोनो ही पक्षो में अर्थ में कोई भेद नहीं पडता।

इस प्रकार अपने पिता के तीनों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर वे दोनों कुमार अब पिता के द्वारा दिए गए कामभोगादि पदार्थो के प्रलोभन की समीक्षा करते हुए उन विषय-भोगों की असारता का प्रतिपादन करते हैं। यथा-

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥ १३ ॥

क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः, प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः, खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः-खणमित्त-क्षणमात्र, **सुक्खा**-सुख है, **बहुकाल**-बहुत काल पर्यन्त, **दुक्खा**-दुख है, **पगाम**-प्रकाम, **दुक्खा**-दुख है, **अणिगाम**-बहुत ही थोडा, **सुक्खा**-सुख है, **संसार-मोक्खस्स**--संसार के मोक्ष के, **विपक्खभूया**-विपक्षभूत है, उ--निश्चय ही, **कामभोगा**-कामभोग, **अणत्थाण**-अनर्थो की, **खाणी**-खान हैं।

मूलार्थ-क्षणमात्र सुख है, बहुत कालपर्यन्त दुख है, प्रकाम-अत्यधिक दुख है, बहुत ही थोड़ा सुख है। ये काम-भोग संसार से मुक्ति दिलाने के प्रतिकूल और निश्चय ही सारे अनर्थो की खान हैं।

टीका-वे दोनों कुमार पिता की ओर से दिए जाने वाले प्रलोभनों के विषय में कहते हैं कि-''पिता जी! इन काम-भोगों के सेवन से क्षणमात्र तो सुख है, परन्तु नरकादि में उनके फलस्वरूप दुख तो बहुत काल पर्यन्त भोगना पड़ता है तथा शारीरिक और मानसिक दुखों का भी अधिक रूप से अनुभव करना पड़ता है। काम-भोगों के सेवन से उपलब्ध होने वाला सुख तो बहुत ही स्वल्पकाल तक रहने वाला होता है, परन्तु दुख चिरकाल तक रहता है।

तात्पर्य यह है कि काम-भोग सम्बन्धी सुखों में परिणामतः दुख अधिक और चिरकालस्थायी

हैं एवं ये काम-भोग संसार के बन्धन का कारण होने से मोक्ष के पूर्ण प्रतिबंधक हैं, अर्थात् इनके संसर्ग में रहने वाला जीव मोक्ष के निरतिशय आनन्द को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। अधिक क्या कहें, विश्व के सारे अनर्थों का मूल अगर कोई है तो ये विषय-भोग ही हैं, इनके बिना संसार में कोई उपद्रव या अनर्थ नही होता। अतः इन सर्वथा हेय पदार्थों के प्रलोभन से हम को सयम-मार्ग से वंचित रखने का प्रयत्न करना आप जैसे विचारशील पिता के लिए किसी प्रकार से भी उचित नहीं।

कामभोगादि पदार्थ सब प्रकार के अनर्थों की खान हैं, यह बात ऊपर कही गई है। अब इसी को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार इनकी अनर्थकारिता का प्रतिपादन करते हैं—

परिव्वयन्ते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे, पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥ १४ ॥

परिव्रजन्ननिवृत्तकामः, अह्नि च रात्रौ परितप्यमानः ।
अन्यप्रमत्तो धनमेषयन्, प्राप्नोति मृत्युं पुरुषो जरां च ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—परिव्वयते—सर्व प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ, **अणियत्तकामे**—काम-भोगो स जा निवृत्त नही हुआ, **अहो**—दिन, **य**—और, **राओ**—रात्रि मे, **परितप्पमाणे**—सव प्रकार स तपा हुआ, **अन्नप्पमत्ते**-अन्न मे प्रमत्त अथवा अन्य-दूसरो के लिए दूषित प्रवृत्ति करने वाला, **धणमे-समाणे**- धन की गवेपणा करता हुआ, **पुरिसे**—पुरुष, **मच्चुं**—मृत्यु, **च**—और, **जरं**—जरा को, **पप्पोति**—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—जो पुरुष काम-भोगों से निवृत्त नहीं हुआ वह चारों दिशाओं में रात-दिन परिभ्रमण करता हुआ तप रहा है तथा दूसरों के लिए दूषित प्रवृत्ति करने वाला, धन की गवेषणा करता हुआ जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

टीका—कुमार कहते है कि—"पिता जी ! काम-भोगों की इच्छा वाला जीव चारो दिशाओ मे घूमता है और रात-दिन परितापों को प्राप्त होता रहता है, अर्थात् चिन्ता रूपी अग्नि से जलता हुआ रात-दिन शाक मे ही निमग्न रहता है तथा भोजन के लिए अथवा अन्य स्वजन-सम्बन्धि यो के लिए धन की विदेशों तक में गवषणा करता हुआ असह्य कष्टों को झेलता है। विदेशों मे गया हुआ कोई तो वहा ही वृद्ध हो जाता हे और कोई वहां मृत्यु को ही प्राप्त हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि ये सब काम-भोग दुखो की ही खान है। ससार में ऐसा कोई भी दुख नहीं हे कि जो कामभोगादि की अभिलापा रखने वाले पुरुप को सहन नही करना पडता, अतः मुमुक्षु पुरुप के लिए ये काम-भोग सर्वथा त्याग देने के योग्य है।

यहां पर **'अहो' 'राओ'** ये दोनों पद आर्ष होने से सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त किए गए हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाओ ॥ १५ ॥

इदं च मेऽस्ति इदं च नास्ति, इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम् ।
तमेवमेवं लालप्यमानं, हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–**इमं**–यह, **मे**–मेरे, **अत्थि**–है, **च**–और, **इमं** -यह, **मे**–मेरे, **नत्थि**–नही है, **इमं**–यह, **च**–और, **मे**–मेरे, **किच्च**–करणीय कार्य है, **इमं**–यह, **अकिच्चं**–अकरणीय है, **तं** -उस पुरुष को, **एवमेवं**–इसी प्रकार, **लालप्पमाणं**–संलाप करते हुए को, **हरा**–रात-दिन रूप चोर, **हरंति**–परलोक मे ले जाते हैं, **त्ति**–इस प्रकार विचार कर, **कहं**–कैसे, **पमाए**–प्रमाद किया जाए, **च**–पुनः अर्थ मे है।

मूलार्थ–यह वस्तु मेरी है, यह मेरी नहीं है, यह कार्य मुझे करना है और यह नहीं करना, इस प्रकार निरन्तर संलाप करते हुए पुरुष को कालरूप चोर एक दिन प्राणों को हर कर परलोक में पहुंचा देता है। तो फिर धर्म में प्रमाद कैसे किया जाए ?

टीका–दोनों कुमार अपने पिता के प्रति फिर कहते है कि यह जीव इसी प्रकार के विचारो की उधेडबुन में लगा हुआ अपनी आयु को पूरी करके चला जाता है, अथवा काल उसे परलोक का पथिक बना देता है। जैसे कि–यह पदार्थ मेरे पास है और वह नही एव यह कार्य तो मैने कर लिया, परन्तु वह अभी बाकी है। तात्पर्य यह है कि विषयभोगों के लिए उपयुक्त सामग्री के जुटाने मे रात-दिन पागलो की तरह व्यग्र रहने वाले जीव अपनी आयु के परिमाण को भी बिल्कुल भूल जाते हैं और इस दिशा मे दिन-रात रूप चोर तथा अनेक प्रकार की आधि-व्याधिया उसके पीछे लगी रहती हैं, जो समय आने पर उसको यहां से उठाकर परलोक में भेज देती है। एसी अवस्था मे विचारशील पुरुष को किसी प्रकार से भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अब भृगु पुरोहित उन कुमारों को धन का प्रलोभन देता हुआ कहता है कि–

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पगामा ।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥ १६ ॥

धनं प्रभूतं सह स्त्रीभिः, स्वजनास्तथा कामगुणाः प्रकामाः ।
तपः कृते तप्यते यस्य लोकः, तत्सर्वं स्वाधीनमिहैव युवयोः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–**धणं**–धन, **पभूयं**–बहुत है, **इत्थियाहिं**–स्त्रियों के, **सह**–साथ, **सयणा**–स्वजन, **तहा**–तथा, **कामगुणा**–कामगुण, **पगामा**–प्रकाम अत्यधिक हैं, **जस्स**–जिस, **कए**–के लिए, **लोग**–लोग, **तवं**–तप को, **तप्पइ**–तपते हैं, **तं**–वह, **सव्व**–सब, **तुब्भं**–आपके, **साहीणं**–स्वाधीन है, **इहेव**–यहां घर मे ही।

मूलार्थ–हे पुत्रो! यहां स्त्रियों के साथ धन बहुत है, स्वजन तथा कामगुण भी पर्याप्त हैं। जिसके लिए लोग तप करते हैं, वह सब कुछ इस घर में तुम्हारे स्वाधीन है।

टीका–पुरोहित जी फिर भी अपने पुत्रों को सांसारिक पदार्थों का प्रलोभन देते हुए कहते हैं कि ''इस घर में धन बहुत है तथा यहां विषयवासना की पूर्ति के लिए स्त्रियों की भी कमी नही हो सकती। सगे-सम्बन्धी भी पर्याप्त संख्या में हैं। अधिक क्या कहू जिन पदार्थो की प्राप्ति के लिए लोग दुष्कर तपश्चर्या करते हैं, वे सब के सब आपके स्वाधीन हैं, अर्थात् आपको अनायास प्राप्त हो रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि इस संसार में जितनी भी सुख की सामग्री है जैसे कि धन, स्त्री, सगे-सम्बन्धी और इच्छानुकूल काम-भोग आदि-वह सब आपके घर मे विद्यमान हैं और इन्ही के लिए प्राणी तप करते हैं तो फिर दीक्षा के लिए उद्यत होना कौन सी बुद्धिमत्ता का काम है? अतः तुम घर में ही रहो, और दीक्षा के लिए उद्यत मत होओ। यहां पर **'तुब्भं'** यह **'युवयोः'** का प्रतिरूप है।

पिता के इस कथन को सुनकर अब दोनों कुमार कहते हैं–

धणेण किं धम्मधुराहिगारे, सयणेण वा कामगुणेहिं चेव ।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी, बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥ १७ ॥

धनेन किं धर्मधुराधिकारे, स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव ।
श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ, बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–**धम्मधुराहिगारे**–धर्म-धुरा के उठाने में, **धणेण किं**–धन से क्या है, **सयणेण वा**–स्वजनों से क्या, **वा**–और, **कामगुणेहिं**–काम-गुणों से क्या है, **चेव**–'च', और 'एव' निश्चयार्थक हैं, **समणा**–साधु, **भविस्सामु**–होंगे, **गुणोहधारी**–गुणसमूह के धारण करने वाले, **बहिं**–नगर के बाहर, **विहारा**–विहार, स्थानों को, **अभिगम्म**–आश्रित करके, **भिक्खं**–भिक्षा लेंगे।

मूलार्थ–पिता जी! धर्मधुरा के उठाने में धन से क्या प्रयोजन ? तथा सगे-सम्बन्धी और विषय-भोगों से क्या मतलब ? अतः हम दोनों तो गुण-समूह के धारण करने वाले

साधु ही बनेंगे और नगर के बाहर विहार* स्थानों का आश्रय लेकर भिक्षावृत्ति से अपना निर्वाह करेंगे।

टीका—पिता के कथन का उत्तर देते हुए वे दोनो कुमार कहते हैं कि—"पिता जी। आपने हम लोगों को जो धन, स्वजन और कामभोगादि पदार्थों का प्रलोभन देते हुए घर में ही रहने का परामर्श दिया है उसके विषय मे हमारा निवेदन है कि जिन पुरुषों ने धर्म-धुरा का उद्वहन करना है, अर्थात् धर्म में दीक्षित होना है, उनको इस धन से क्या प्रयोजन? तथा स्वजनवर्ग और कामभोगादि से क्या मतलब? अर्थात् ये सभी पदार्थ धर्म के समक्ष अत्यन्त तुच्छ हैं, धर्म के समक्ष इनकी कोई भी गणना नहीं, अत: हम दोनों का संकल्प तो गुण समुदाय के आश्रयभूत साधु- धर्म के अनुसरण का ही है, इसलिए द्रव्य और भाव से अप्रतिबद्ध होकर नगर से बाहर रहते हुए हम दोनों केवल शुद्ध भिक्षा-वृत्ति से ही अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

इस प्रकार बार-बार समझाने पर भी जब वे भृगुपुत्र अपने विचारों से विचलित नहीं हुए, तब भृगु पुरोहित ने धर्म के मूलस्तम्भरूप आत्मा के अस्तित्व को ही मिटाने का प्रयत्न किया, अर्थात् शरीर से अतिरिक्त और आत्मा नाम का कोई नित्य पदार्थ नहीं है, यह समझाना आरम्भ किया।

अब शास्त्रकार इसी विषय में कहते हैं—

जहा य अग्गी अरणी असन्तो, खीरे घयं तेल्लमहातिलेसु ।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता, संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥ १८ ॥

यथा चाग्निररणितोऽसन्, क्षीरे घृतं तैलं अथतिलेषु ।
एवमेव जातौ शरीरे सत्त्वा:, संमूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ॥ १८ ॥

पदार्थान्वय:—**जहा**—जैसे, **अग्गी**—अग्नि, **अरणी**—अरणी से, **असंतो**—विद्यमान न होने पर भी उत्पन्न हो जाती है—जेसे, **खीरे**—दुग्ध में, **घयं**—घृत, **तेल्ल महातिलेसु**—तिलों मे तेल उत्पन्न हो जाता है, **एमेव**—इसी प्रकार, **जाया**—हे पुत्रो !, **सरीरंसि**—शरीर में, **सत्ता**—जीव, **संमुच्छई**—उत्पन्न हो जाता है, **नासइ**—नष्ट हो जाता है, **नावचिट्ठे**—बाद में नही ठहरता।

मूलार्थ—हे पुत्रो ! जैसे अविद्यमान होने पर भी अरणी से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, दुग्ध से घृत और तिलों से तेल उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार शरीर में से ही सत्त्व—जीव उत्पन्न हो जाता है और शरीर के नाश होने पर साथ ही नष्ट हो जाता है, अत: बाद में नहीं रहता।

---

* पूर्वकाल में नगरादि मे जो धर्मस्थान होते थे, उनको विहार कहा जाता था।

टीका—पुरोहित जी कहते है कि हे पुत्रो ! जैसे अरणिकाष्ठ से अग्नि, दुग्ध से घृत और तिलो से तेल उत्पन्न होता है, उसी तरह यह जीव भी इस शरीर से ही उत्पन्न होता है और उसके विनाश से विनष्ट हो जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि अरणि में अग्नि प्रथम विद्यमान नहीं थी, दुग्ध मे घृत मौजूद नही था, किंतु हलदी और चूने के मेल से उत्पन्न होने वाले लाल रंग की तरह अथवा मदशक्ति की तरह ये सब पदार्थ द्रव्य-सयोग से ही उत्पन्न होते हैं। इसी तरह यह जीव भी इस शरीर मे पृथ्वी आदि पाच भूतो के विलक्षण संयोग से उत्पन्न होने वाला एक पदार्थ ही है। जैसे यह शरीर के साथ उत्पन्न होता है वैसे ही शरीर के नाश होने पर यह नष्ट भी हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जीव कोई स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला पदार्थ नहीं है।

अथवा यो कहिए कि जेसे जल मे उठने वाले बुदबुदे जल से ही उत्पन्न होते हैं और जल में ही लय हो जाते है, उसी प्रकार यह जीव (चेतन-सत्ता) भी शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है ओर शरीर के साथ ही विलीन हो जाता है, अर्थात् जल-बुदबुद की तरह इसकी भी स्वतंत्र सत्ता नही है।

इस प्रकार जब कि आत्मा का अस्तित्व ही असिद्ध है तो फिर सयम आदि के ग्रहण करन का प्रयोजन ही कुछ नही रह जाता, अत: संयमवृत्ति की मिथ्या लालसा को त्यागकर यहा घर मे उपलब्ध होने वाले लौकिक सुखो का ही सम्पूर्ण रीति स उपभोग करना तुम्हारे लिए सबमे अधिक लाभप्रद है, यही प्रस्तुत गाथा का फलितार्थ है।

पिता के इस वक्तव्य को सुनकर उन कुमारों ने जो कुछ उत्तर दिया, अब उसी का वर्णन करते है—

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं निययस्स बन्धो, संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ॥ १९ ॥

नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्, अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः ।
अध्यात्महेतुर्नियतस्य बन्धः, संसारहेतुं च वदन्ति बन्धम् ॥ १९ ॥

पदार्थान्वय :—आत्मा, **नो**—नही है, **इंदियग्गेज्झ**—इन्द्रियग्राह्य, **अमुत्तभावा**—अमूर्त होने स, **य**—और, **अमुत्तभावावि**—अमूर्तभाव होने पर भी, **निच्चो**—नित्य, **होइ**—है, **अज्झत्थहेऊं**—अध्यात्महेतु—मिथ्यात्वादि, **नियय**—निश्चय ही, **अस्स**—इस जीव के, **बंधो**—बन्ध के कारण है, **च**—और, **संसारहेउं**-ससार का हेतु, **बंधं**—बन्ध को, **वयंति**—कहते है।

मूलार्थ—अमूर्त होने के कारण यह आत्मा इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता और अमूर्त होने से ही यह नित्य है तथा अध्यात्महेतु मिथ्यात्वादि निश्चय ही इस जीव के लिए बन्ध हैं और बन्ध को ही संसार का हेतु कहा गया है।

टीका–भृगु पुरोहित के उक्त दोनो कुमारों ने पिता के नास्तिकवाद–अनात्मवाद का इस गाथा के शब्दो द्वारा युक्तिपूर्ण और बड़ी ही सुन्दरता से निराकरण किया है। इस विषय का संक्षेप से विवरण इस प्रकार है–

भृगु पुरोहित ने पहले कहा है कि जैसे अग्नि आदि पदार्थ पूर्व असत् होते हुए भी काष्ठादि से उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार यह जीव भी इस प्रकार से पूर्व असत् होता हुआ भी शरीर से उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि असत् की भी उत्पत्ति संभव है, अतः यह आत्मा–चेतन सत्ता शरीर का ही एक विकास रूप गुण या विकार विशेष है, कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं है।

इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् असत् कभी उत्पन्न नहीं होता, किंतु सत् ही उत्पन्न होता है। इसलिए काष्ठ में अग्नि, दुग्ध में घृत और तिलो मे तेल पहले से ही विद्यमान हैं। तभी वे इन अपने नियत कारण काष्ठादि से उत्पन्न होते है और यदि असत् की भी उत्पत्ति मानी जाए तब तो घृत की इच्छा रखने वाले को दूध के लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नही रहती, वह जल विलोडन कर भी उससे घृत को प्राप्त कर सकेगा।

तात्पर्य यह है कि जैसे दुग्ध में पहले घृत नहीं फिर भी उससे उत्पन्न होता है, उसी प्रकार वह जल मे नही और उससे भी उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि घृत का असत्व अर्थात् न होना जल और दुग्ध दोनो मे समान है, परन्तु ऐसा होते आज तक किसी ने देखा नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि पानी मे घृत का कारण विद्यमान नही और दुग्ध मे है। तब ज्ञात हुआ कि कारणरूप भाव नित्य है और कारणरूप भाव से कार्यरूप भाव मे व्यक्त होना ही उत्पत्ति है। ऐसी अवस्था मे अभाव से भाव की उत्पत्ति वाला मन्तव्य युक्ति–युक्त प्रतीत नही होता। जब कि यह सुनिश्चित हो गया कि असत् की उत्पत्ति नही होती तब फिर पृथ्वी आदि पांच जड़ पदार्थो से जीव–चेतनसत्ता की उत्पत्ति की कल्पना भी निस्सार ही प्रतीत होती है। यदि यह जीव–चेतन सत्ता पृथ्वी आदि किसी एक पदार्थ अथवा समवाय का कार्यरूप हो तो उनमे उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, परन्तु होती नहीं। इसलिए जड़ पदार्थ से चेतन सत्ता की उत्पत्ति का स्वीकार करना कुछ युक्तिसंगत नही है।

फिर यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि कौन से भूत से इस चैतन्य सत्ता की उत्पत्ति मानी जाए, क्योंकि वे सभी जड़ हैं, अर्थात् मद्य आदि पदार्थ की तरह वे भी पांचो भूत जड़ सत्ता वाले है। इस प्रकार जब इन पांच भूतों में चैतन्य सत्ता का ही कारणरूप से अभाव है तो फिर उससे चैतन्य सत्ता का कार्यरूप में प्रकट होना केसे माना जा सकता है?

तात्पर्य यह है कि चैतन्य सत्ता के ये पांच भूत कारण नहीं हो सकते, अथवा चैतन्य सत्ता इन पांच भूतों का कार्य नहीं है, किंतु यह स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला पदार्थ है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि यह जीव स्वतन्त्र पदार्थ है तो इसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? बस, इसका ही उत्तर प्रस्तुत गाथा में देते हुए कहा गया है कि यह जीव अमूर्त-अरूपी है, इसलिए इसका चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियां रूपी पदार्थ का ही ग्रहण कर सकती हैं तथा जो अरूपी-वर्ण, गन्ध, रस आदि गुणों से रहित पदार्थ होता है वह नित्य होता है, अत: यह आत्मा भी नित्य है। तात्पर्य यह है कि शरीर ग्रहण करने से पहले और शरीर के विनाश के बाद भी आत्मा विद्यमान रहता है।

अब प्रश्न होता है कि आकाश की तरह यदि आत्मा नित्य है तो उसके साथ कर्मो का सम्बन्ध कैसे हो गया? इसके समाधान में शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा में रहने वाले जो मिथ्यात्वादि गुण हैं, वे ही इसके कर्म-बन्ध के हेतु हैं। जैसे आकाश के नित्य होने पर भी घटाकाश और मठाकाश रूप से अन्य पदार्थो के साथ उसका सम्बन्ध प्रतीत होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि के कारण इसका कर्माणुओं के साथ सम्बन्ध हो जाता है। यदि कहें कि अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मो का सम्बन्ध कैसे हुआ ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाश अरूपी–अमूर्त होने पर भी वह रूपी-मूर्त पदार्थो का आश्रय बन जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मो का आश्रय बन जाता है तथा जो आध्यात्मिक बंध है अर्थात् आत्मा के साथ कर्मो का बन्ध है इसी को विद्वानों ने संसार के परिभ्रमण का हेतु माना है।

साराश यह है कि आत्मा अमूर्त है और नित्य है। मिथ्यात्वादि उसके बन्ध के कारण है और यह बन्ध ही संसार अर्थात् जन्म-मरण परम्परा का हेतु है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है और वह अनादि परम्परा से मिथ्यात्वादि के कारण कर्म का बन्ध करता है और उस बन्ध के विच्छेदार्थ इसे धर्म के आचरण की आवश्यकता है। तदर्थ हमारा दीक्षा के लिए उद्यत होना किसी प्रकार से भी अनुचित नहीं कहा जा सकता, अत: वह सर्वथा युक्ति-युक्त और उचित ही है। यही इस गाथा का भावार्थ है।

अस्तु, जब कि आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित है और बन्ध के कारण भी सुनिश्चित हैं तथा इस बन्ध में संसार की कारणता भी विद्यमान है, तब फिर क्या करना चाहिए, अब इसी बात को वे कुमार अपने पिता से कहते हैं। यथा–

जहा वयं धम्ममजाणमाणा, पावं पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुब्भमाणा परिरक्खियन्ता, तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥ २० ॥

यथाऽऽवां धर्ममजानानौ, पापं पुरा कर्माकार्ष्व मोहात् ।
अवरुध्यमानौ परिरक्ष्यमाणौ, तन्नैव भूयोऽपि समाचरावः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **वयं**—हम, **धम्मं**—धर्म को, **अजाणमाण**—न जानते हुए, **मोहा**—अज्ञानता के वश से, **पुरा**—पहले, **पावं कम्म**—पाप कर्म, **अकासि**—करते हुए, **ओरुब्भमाणा**—रोके हुए, **परिरक्खियंता**—सर्व प्रकार से रक्षा किए हुए, **तं**—वह पापकर्म, **नेव**—नहीं, **भुज्जोवि**—फिर भी, **समायरामो**—ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—जैसे हम धर्म को न जानते हुए अज्ञान वश पहले पाप-कर्म करते थे और आपके रोके हुए तथा सर्व प्रकार से सुरक्षित किए हुए घर से बाहर भी नहीं निकलते थे, परन्तु अब हम उस पाप-कर्म का सेवन नहीं करेंगे।

टीका—दोनो कुमार कहते हैं कि पिता जी ! जिस प्रकार धर्म को न जानते हुए हम ने पहले पाप-कर्मो का उपार्जन किया है तथा आपके रोकने पर हम घर से बाहर भी नहीं निकल सकते थे, परन्तु अब हम से यह नही होगा, क्योकि अब हम ने धर्म और अधर्म को भली-भांति समझ लिया है। धर्म एव विषय भोगों के प्रलोभन में हम अब नहीं आ सकते। वास्तव में विचार का फल यही है कि वस्तुतत्व को समझ कर उसके अनुकूल आचरण किया जाए, जिससे कि आत्मा में इच्छित विकास की उपलब्धि हो सके।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए ।
अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहंसि न रइं लभे ॥ २१ ॥

अभ्याहते लोके, सर्वतः परिवारिते ।
अमोघाभिः पतन्तीभिः, गृहे न रतिं लभावहे ॥ २१ ॥

पदार्थान्वय :—**अब्भाहयंमि**—पीड़ित हुए, **लोगम्मि**—लोक में, **सव्वओ**—सर्व दिशाओ मे, **परिवारिए**—परिवृत हुए, **अमोहाहिं**—अमोघ, **पडंतीहिं**—शस्त्र-धाराओं के पडने से, **गिहंसि**—घर में, **रइं**—रति—आनन्द को, **न लभे**—हम नहीं प्राप्त कर सकते।

मूलार्थ—अमोघ शस्त्रधारा के पड़ने से सर्व दिशाओं में पीड़ित हुए इस लोक में अब हम घर में रहकर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते।

टीका—कुमार अपने पिता से फिर कहने लगे—"पिता जी। सर्व दिशाओ से वेष्टित यह लोक सर्व प्रकार से व्यथित हो रहा है। इस पर शस्त्रों की अमोघ धाराएं गिर रहीं हैं। ऐसी अवस्था में हम लोग घर में किस प्रकार रह सकते हैं, क्योंकि घर में हम को किसी प्रकार का

भी आनन्द नहीं। कल्पना कीजिए कि एक मृग है जो किसी तरह से रस्सी से बंध गया हो और ऊपर से उसको मार पड़ रही हो, ऐसी अवस्था में तीव्र व्यथा का अनुभव करने वाले उस मृग को क्या वहां पर कोई आनन्द प्राप्त हो सकता है, और वह वहां पर रहते हुए प्रसन्न हो सकता है, उसी प्रकार विषय-पाश से बंधे हुए और ऊपर से काम मोहादि के प्रहारों की भरमार होने से परम व्यथित हुए इस जीव को घर मे कभी शरण नही मिल सकती, तब उसके लिए यही उचित है कि वह घर से निकल कर धर्म में दीक्षित हो जाए। पिता जी ! हम को भी इस घर में किसी प्रकार के आनन्द की उपलब्धि नहीं हो रही, अत: हमे घर के त्याग मे ही आनन्द दीख रहा है।

कुमारों के इस कथन को सुनकर भृगु पुरोहित ने इस विषय में जो शंका उठाई, अब उसका वर्णन करते हैं–

केण अब्भाहओ लोगो, केण वा परिवारिओ ।
का वा अमोहा वुत्ता, जाया चिन्तावरो हुमे ॥ २२ ॥

केनाभ्याहतो लोकः, केन वा परिवारितः ।
का वाऽमोघा उक्ता, जातौ ! चिन्तापरो भवामि ॥ २२ ॥

पदार्थान्वय :–केण–किसने, **अब्भाहओ लोगो**–पीडित किया लोक, **वा**–अथवा, **केण**–किसने, **परिवारिओ**–परिवेष्टित किया, **वा**–अथवा, **का**–कौन-सी, **अमोहा**–शस्त्रधारा, **वुत्ता**–कही है, **जाया**–हे पुत्रो ! **चिंतावरो**–चिन्ता युक्त, **हुमे**–मै होता हूं।

मूलार्थ–यह लोक किसने पीड़ित किया है ? अथवा किसने वेष्टित किया है ? तथा शस्त्रों की धारा कौन सी है ? हे पुत्रो ! मैं यह जानने के लिए बड़ा चिंतित हो रहा हूं।

टीका–पुत्रों के कथन पर भृगु पृछते हैं कि "हे पुत्रो। किसने इस लोक को पीड़ित किया है, अर्थात् जिस प्रकार एक व्याध मृग को पीडा देता है उसी प्रकार इस लोक को व्यथित करने वाला कौन है ? तथा चारो दिशाओ मे इसको किसने वेष्टित किया है? तात्पर्य यह है कि जैसे जाल के द्वारा व्याध मृग को वेष्टित कर लेता है, उसी प्रकार इसको वेष्टित करने वाला कौन है ? एव इस पर कौन से शस्त्रों की धारा पड़ रही है ? अर्थात् जैसे कोई व्याध किसी मृग को अभिहनन करता है उसी प्रकार इस पर कौन से शस्त्र की धारा का आघात हो रहा है ? हे पुत्रो । तुम्हारे पूर्वोक्त कथन से मुझे बहुत चिंता हो रही है। इसका अभिप्राय यह है कि तुम मुझे स्पष्ट बताओ कि तुम को किस बात का कष्ट है ? क्योकि बताने पर ही व्याधि का निदान और उसकी यथाविधि चिकित्सा हो सकती है। अत: तुम्हारे कष्ट की मुझे बहुत चिन्ता हो रही है।

इस पर दोनों कुमारों ने उत्तर दिया–

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! विजाणह ॥ २३ ॥

मृत्युनाऽभ्याहतो लोकः, जरया परिवारितः ।
अमोघा रात्रय उक्ताः, एवं तात ! विजानीहि ॥ २३ ॥

पदार्थान्वय :–मच्चुणा–मृत्यु से, **अब्भाहओ**–पीड़ित है, **लोगो**–लोक, **जराए**–जरा से, **परिवारिओ**–परिवेष्टित किया हुआ है, **अमोहा**–शस्त्रधारा, **रयणी**–रात दिन, **वुत्ता**–कहे हैं, **एवं**–इस प्रकार, **ताय**–हे पिता जी। **विजाणह**–तुम जानो।

मूलार्थ–हे पिता जी! यह लोक मृत्यु से पीड़ित हो रहा है, जरा से वेष्टित हो रहा है, रात-दिन अमोघ शस्त्रधारा हैं, इस प्रकार आप जानिए।

टीका–कुमार बोले कि "पिता जी। मृत्यु से यह लाक पीडित हो रहा है, अर्थात इस लोक को मृत्यु ने दुखी कर रखा है। तीर्थकर, गणधर, इन्द्र, चक्री, केशव और राम इन सब को भी काल ने अपने विकराल मुख मे लिया हुआ है, सामान्य पुरुषो की तो बात ही क्या है। तथा जरा न इस लोक को सर्व प्रकार से वेष्टित कर रखा है, क्योकि जरा के कारण इस शरीर की कांति समय-समय पर नष्ट होती रहती है तथा रात-दिन रूप शस्त्रो की धारा है, जिससे कि आयु रूप बन्धन कट रहे है, ऐसा आप समझें।

तात्पर्य यह है कि रात-दिन के व्यतीत होते देर नही लगती उससे आयुरूप रस्सी के कट जाने से मृत्यु का आगमन भी अति शीघ्र हो जाता है और वह झट से इस जीव को यहा से उठाकर परलोक मे भेज देती है, अतः हमको यही चिन्ता लगी हुई है कि इससे किस प्रकार बचा जाए, सो बचने का उपाय हमको तो केवल धर्म ही प्रतीत होता है।"

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥ २४ ॥

या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते ।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः ॥ २४ ॥

पदार्थान्वय :–जा जा–जो जो, **रयणी**–रात्रि, **वच्चइ**–जाती है, **न**–नहीं, **सा**–वह, **पडिनियत्तई**–पीछे आती, **अहम्मं**–अधर्म, **कुणमाणस्स**–करते हुए की, **अफला**–निष्फल, **राइओ**–रात्रियां, **जन्ति**–जाती हैं।

मूलार्थ-जो जो रात्रि बीत जाती है वह पीछे लौटकर नहीं आती। अधर्म करने वाले की सब रात्रियां निष्फल जाती हैं।

टीका-कुमार कहते हैं कि "हे पिता जी! जो रात्रि चली जाती है, वह फिर वापस लौटकर नहीं आती, किन्तु अधर्म का सेवन करने वाले मनुष्य की सभी रात्रियां निष्फल हो जाती हैं।

यद्यपि सूत्र में केवल रात्रि शब्द ही है, परन्तु उसे दिन का भी उपलक्षण समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि काल का चक्र रात-दिन के रूप में निरन्तर चला जा रहा है। इसमें जिसने धर्म का सेवन किया, उसने तो इसको सफल कर लिया और अधर्म का सेवन करने वाले ने इसको निष्फल बना दिया।

जैसे कि जिन बालकों ने अपनी पहली अवस्था में विद्या का अध्ययन किया है वे युवा अवस्था मे अपनी विद्या से लाभ उठाते हुए स्वयं भी सुखी होते है तथा दूसरो को भी सुख पहुंचाते है और जिनकी आरंभिक आयु व्यसनों मे व्यतीत होती है वे रुग्ण दशा का अनुभव करते है और मृत्यु की गोद मे चले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रथम श्रेणी के मनुष्य अपनी आयु को सफल कर लेते है और दूसरी श्रेणी के उसे निष्फल बना देते है।

अब फिर कहते हैं-

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥ २५ ॥

या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते ।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः-जा जा-जो जो, **रयणी**-रात्रि, **वच्चइ**-जाती है, **न**-नहीं, **सा**-वह, **पडिनियत्तई**-वापस आती, **धम्मं**-धर्म, **कुणमाणस्स**-करते हुए की, **सफला**-सफल, **राइओ**-रात्रियां, **जन्ति**-जाती हैं।

मूलार्थ-जो रात्रि चली जाती है वह पीछे लौटकर नहीं आती। किन्तु धर्म का आचरण करने वाला उन रात्रियों को सफल कर लेता है।

टीका-इस गाथा का भावार्थ यह है कि जो मनुष्य श्रुत और चारित्र रूप धर्म की आराधना करते है, उनकी जीवन-चर्या सफल है। इसके विपरीत जिन लोगों के दिन व्यसनों के सेवन में व्यतीत होते हैं, उनका जीवन निष्फल है। इसलिए मनुष्य जन्म को प्राप्त करने का यही उद्देश्य है कि उसे धर्म के आराधन से सफल बनाने का प्रयत्न किया जाए।

कुमारों के इस पवित्र कथन को सुनकर उनके पिता भृगु के हृदय में कुछ सद्बोध की प्राप्ति हुई और वह उन कुमारों से इस प्रकार कहने लगे-

एगओ संवसित्ता णं, दुहओ सम्मत्तसंजुया ।
पच्छा जाया गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले ॥ २६ ॥

एकतः समुष्य, द्वये सम्यक्त्वसंयुताः ।
पश्चाज्जातौ गमिष्यामः, भिक्षमाणा गृहे गृहे ॥ २६ ॥

पदार्थान्वय :–एगओ–एक स्थान में, **संवसित्ता**–बस करके, **दुहओ**–हम दोनों, **सम्मत्त-संजुया**–सम्यक्त्व से युक्त, **जाया**–हे पुत्रो ! **पच्छा**–पश्चात्, **गमिस्सामो**–जायेंगे, **भिक्खमाणा**–भिक्षा करते हुए, **कुले कुले**–घर-घर में, **च**–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ–हम दोनों ही एक स्थान में सम्यक्त्व से युक्त होकर वास करते हुए पश्चात्–वृद्धावस्था के आने पर दीक्षा ग्रहण करेंगे और प्रति कुल में भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरेंगे।

टीका– भृगु पुरोहित अपने पुत्रो से कहते है कि "हे पुत्रो ! प्रथम हम चारो ही सम्यक्त्व-पूर्वक देशव्रत को धारण करके यहां पर रहें और जब तुम्हारी अवस्था परिपक्व हो जाएगी, तब हम सब दीक्षा ग्रहण करके भिक्षा-वृत्ति के द्वारा जीवन-यात्रा को चलाते हुए विचरेंगे।"

इस गाथा के द्वारा भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों को यही शिक्षा दी है कि तुम्हे पिछली अवस्था मे दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए, अभी तो गृहस्थ धर्मोचित देशव्रत का ही पालन करना उचित है।

पिता के इन वचनों को सुनकर उन कुमारों ने पिता को जो उत्तर दिया, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं–

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥ २७ ॥

यस्यास्ति मृत्युना सख्यं, यस्य वास्ति पलायनम् ।
यो जानीते न मरिष्यामि, स खलु कांक्षति, श्वःस्यात् ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–जस्स–जिसका, **अत्थि**–है, **मच्चुणा**–मृत्यु के साथ, **सक्खं**-मित्रता, **व**–अथवा, **जस्स अत्थि**–जिसकी है, **पलायणं**- मृत्यु से भागने की शक्ति, **जो**–जो, **जाणे**–जानता है, **न मरिस्सामि**–मैं नहीं मरूंगा, **सो**–वह, **हु**–निश्चय ही, **कंखे**–इच्छा करे कि, **सुए**–कल, **सिया**–हो अर्थात् कल मैं अमुक काम करूंगा।

मूलार्थ–जिसकी मृत्यु से मित्रता है और जो मृत्यु से भाग सकता है तथा जिसको

यह ज्ञान है कि मैं नहीं मरूंगा, वही पुरुष कल—आगामी दिवस की आशा कर सकता है।

टीका—भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों को युवावस्था के बाद दीक्षित होने की अनुमति दी, परन्तु कुमारों ने उसके उत्तर में जो कुछ कहा है, उसका भाव यह है कि धर्म के आचरण के लिए किसी विशेष समय की प्रतीक्षा करनी किसी प्रकार से भी उचित नही, क्योंकि पता नही मृत्यु कब आकर गला दबा ले। समय की प्रतीक्षा तो वही पुरुष कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, अथवा जो व्यक्ति कहीं भागकर उससे छुटकारा पा सकता हो, या जिसको मरना ही न हो। परन्तु ये सब बातें असम्भव हैं, अर्थात् न तो मृत्यु की किसी के साथ मित्रता है और न कोई उससे भाग सकता है तथा ऐसा भी कोई नहीं कि जिसने मरना ही न हो, तो ऐसी अवस्था मे धर्माराधन के लिए समय की प्रतीक्षा करनी अर्थात् यह कहना कि अमुक काम हम फिर कभी करेंगे, किसी प्रकार से भी युक्ति-युक्त नही, प्रत्युत धर्माराधन के लिए तो जितनी शीघ्रता हो सके, उतनी ही कम है। इसलिए इस कार्य मे समय की प्रतीक्षा करनी व्यर्थ है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो ।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ॥ २८ ॥

अद्यैव धर्म प्रतिपद्यावहे, यं प्रपन्नौ न पुनर्भविष्यावः ।
अनागतं नैव चास्ति किञ्चित्, श्रद्धाक्षमं नो विनीय रागम् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वय :—**अज्जेव**—आज ही, **धम्मं**—धर्म को, **पडिवज्जयामो**—ग्रहण करेंगे, **जहिं**—जिसके, **पवन्ना**—ग्रहण करने से, **न पुणब्भवामो**—फिर संसार में जन्म-मरण नही करेगे, **अणागयं**—बिना मिले, **नेव**—नहीं है, **किंचि**--किंचिन्मात्र, **य**—पुनः, **सद्धा**—श्रद्धा—अभिलाषा, **खमं**—योग्य है, **णे**—हमको, **विणइत्तु**—दूर करना, **रागं**—राग को।

मूलार्थ—हम आज ही धर्म को ग्रहण करेंगे, जिस धर्म के ग्रहण से फिर संसार में जन्म नहीं होता। ऐसा किंचिन्मात्र भी पदार्थ इस संसार में नहीं है, जो कि इस जीव को न मिल चुका हो, अत· धर्म में श्रद्धा रखनी और कामादि के राग को दूर करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

टीका—पूर्वगाथा मे जीवन की अस्थिरता का वर्णन किया गया है, अब दूसरे रूप में कुमार अपने पिता से कहते है कि ''पिता जी। हम आज ही धर्म को ग्रहण करेंगे, क्योंकि धर्म को ग्रहण करने से हम जन्म और मरण दोनों से रहित हो सकते हैं, अर्थात फिर हमारा इस संसार में जन्म

नहीं होगा तथा आपने हमको काम-भोगों के लिए बार-बार आमंत्रित किया है, परन्तु विचार पूर्वक देखो तो संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो कि इस जीव को कभी न कभी प्राप्त न हो चुका हो। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा अनेक प्रकार की ऊंची-नीची अवस्थाओं में से गुजरा है और अनेक प्रकार के पदार्थो से इसका सम्बन्ध होता रहा है। कभी यह राजा बना, कभी रंक, कभी मनुष्य बना कभी तिर्यञ्च एवं कभी देव और कभी नारकी। तात्पर्य यह है कि ऐसी कोई अवस्था नहीं है कि जिसका इस जीव ने एक अथवा अनेक बार अनुभव न किया हो। तब इन कामभोगादि विषयों का न मालूम हमने कितनी बार उपभोग किया है, इसलिए हमारी रुचि तो केवलमात्र कामादि राग के त्याग और धर्म के आराधन मे है, उसी को हम स्वीकार करेंगे।

अपने पुत्रों के इस कथन को सुनकर भृगु पुरोहित ने अपनी यशा नामक भार्या से जो कुछ कहा, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं–

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो, वासिट्ठि भिक्खायरियाइ कालो ।
साहाहि रुक्खो लहई समाहिं, छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥ २९ ॥

प्रहीणपुत्रस्य खलु नास्ति वासः, वाशिष्ठि ! भिक्षाचर्यायाः कालः ।
शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधिं, छिन्नाभिः शाखाभिस्तमेव स्थाणुम् ॥ २९ ॥

पदार्थान्वय :–पहीण–रहित, **पुत्तस्स**–पुत्र के, **नत्थि वासो**–मेरा बसना अच्छा नहीं, **वासिट्ठि**–हे वाशिष्ठि! **भिक्खायरियाइ**–भिक्षाचर्या का हमारा भी, **कालो**–काल है–समय है क्योंकि, **साहाहि**–शाखाओं से, **रुक्खो**–वृक्ष, **समाहिं**–समाधि को, **लहई**–प्राप्त करता है, **छिन्नाहि**–छेदन करके, **साहाहि**–शाखाओं का, **तं**–उस वृक्ष को, **एव**–निश्चय ही, **खाणुं**–स्थाणु–ठूठ कहते हैं। हु–पादपूर्ति में।

मूलार्थ–हे वाशिष्ठि ! पुत्र से रहित होकर मेरा घर में बसना अच्छा नहीं तथा मेरा भी भिक्षाचारी–संन्यासी होने का समय है, क्योंकि शाखाओं से ही वृक्ष समाधि को प्राप्त करता है और शाखाओं के कट जाने से लोक उसको स्थाणु कहते हैं।

टीका–भृगु पुरोहित अपनी स्त्री से कहते हैं कि "हे वाशिष्ठि! (वशिष्ठ गोत्र मे उत्पन्न होने वाली) पुत्रो के बिना मेरा इस घर में रहना अब ठीक नहीं है और मेरा भिक्षाचर्या का समय भी आ गया है, अर्थात् पुत्रों के चले जाने पर हमारा इस घर में रहना शोभा नहीं देता। वास्तव में वृक्ष अपनी शाखाओं से ही शोभा को प्राप्त होता है, शाखाओं के कट जाने से उसकी सारी रमणीयता जाती रहती है। उसको लोग वृक्ष के बदले स्थाणु–ठूंठ कहते है। तात्पर्य यह है कि ये दोनों कुमार हमारे गृहस्थाश्रम की शोभा के मूल कारण हैं, इनके चले जाने पर हमारा भी घर में रहना व्यर्थ है और उस ठूंठ के समान शोभा से रहित हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी, भिच्चाविहूणो व्व रणे नरिन्दो ।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए, पहीणपुत्तोमि तहा अहंपि ॥ ३० ॥

पक्षविहीन इव यथेह पक्षी, भृत्यविहीन इव रणे नरेन्द्रः ।
विपन्नसारो वणिगिव पोते, प्रहीणपुत्रोऽस्मि तथाऽहमपि ॥ ३० ॥

पदार्थान्वय :–**पंखा**–परो से, **विहूणो**–रहित, **जहा**–जैसे, **इह**–इस लोक मे, **पक्खी**–पक्षी होता है, **व्व**–समुच्चयार्थक है, **भिच्चा**–भृत्य सेना से, **विहूणो**–विहीन, **रणे**–रण में, **नरिंदो**–नरेन्द्र, **व्व**–समुच्चयार्थक है, **विवन्नसारो**–धन से हीन, **वणिओ**–वैश्य जैसे, **पोए**–पोत के डूबने से दुखी होता है, **पहीणपुत्तोमि**–पुत्रों से हीन, **तहा**–उसी प्रकार, **अहंपि**–मैं भी हूं।

मूलार्थ–जैसे परों के बिना इस लोक में पक्षी है, सेना के बिना संग्राम में राजा है, धन से हीन जैसे जहाज के चलाने वाला वणिक् है, उसी प्रकार का पुत्रों से हीन मैं हो गया हूं।

टीका–भृगु पुरोहित ने अपनी भार्या से कहा कि "हे प्रिये ! जैसे इस लोक मे परो के बिना पक्षी होता है, सेना के बिना रण में जैसे राजा होता है और जैसे धनरहित तथा डूबते हुए जहाज वाला वणिक् होता है, उसी प्रकार पुत्रो के बिना मै भी हो जाऊगा। तात्पर्य यह है कि परों से रहित पक्षी जैसे मार्जार आदि घातक जीवों से जल्दी पकड़ा जाता है और सेना-रहित राजा की जैसे सग्राम में जल्दी पराजय होती है एव धन-रहित एवं साधन-विहीन वणिक् जैसे जहाज के डूबने से अत्यन्त दुखी होता है, उसी प्रकार पुत्रो के बिना मुझ भी अनेक प्रकार के कष्टो का अनुभव करना पड़ेगा।

सारांश यह है कि संसार में रहने का आनन्द पुत्र आदि परिवार के साथ ही है, परिवार से रहित होने पर ससार मे निवास करने का न तो कोई सुख ही है और न यश ही है।

अपने पति के इन वाक्यों को सुनकर यशा ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं–

सुसंभिया कामगुणा इमे ते, संपिण्डिया अग्गरसप्पभूया ।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं, पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं ॥ ३१ ॥

सुसंभृताः कामगुणा इमे ते, सम्पिण्डिता अग्यरसप्रभूताः ।
भुञ्जीवहि तान् कामगुणान् प्रकामं, पश्चाद् गमिष्यावः प्रधानमार्गम् ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वय :–सुसंभिया–अति सस्कृत, **कामगुणा**–काम-गुण, **इमे**–ये प्रत्यक्ष, **ते**–तुम्हारे हैं, **संपिण्डिया**–भली प्रकार से मिले हुए, **अग्गरस**–प्रधान रस वाले, **पभूया**–प्रभूत हैं, **ता**–इसलिए, **कामगुणे**–कामगुणो को, **भुंजामु**–भोगें जो, **पगामं**–प्रकाम है–पर्याप्त है, **पच्छा**–पीछे–वृद्धावस्था में, **पहाणमग्गं**–प्रधानमार्ग–साधुधर्म को, **गमिस्सामु**–ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ–तुम्हारे ये कामभोग अच्छे संस्कार युक्त, इकट्ठे मिले हुए, प्रधान रस वाले और पर्याप्त हैं, इसलिए हम लोग इन काम-भोगों को भोगें, पश्चात् दीक्षा रूप प्रधान मार्ग का अनुसरण करेंगे।

टीका–यशा अपने पति से कहती है कि "आपके घर में अनेक प्रकार के मनोरंजक काम-भोग विद्यमान हैं। वे भी भली प्रकार से पर्याप्त रूप में उपस्थित है। अत· हम लोग प्रथम इनको भागे और पीछे से–जब कि युवावस्था की समाप्ति और वृद्धावस्था का आगमन होगा–ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूप जो प्रधान–श्रेष्ठ मार्ग है, उसको ग्रहण करेंगे।" तात्पर्य यह है कि यदि अनेक प्रकार से समझाने पर भी ये दोनों कुमार घर से जाते हैं तो जाने दीजिए। हम बाद मे चले जाएगे, अथवा हमारे घर मे और पुत्र हो जाएंगे। अत: इनके साथ हमको जाने की आवश्कता नहीं और यह प्राप्त हुई कामभोग की सामग्री फिर मिलनी भी नितान्त कठिन है।

अब भृगु पुरोहित कहते हैं कि–

भुत्ता रसा भोइ जहाइ णे वओ, न जीवियट्ठा पजहामि भोए ।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं, संविक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ॥ ३२ ॥

भुक्ता रसा भवति ! जहति नो वयः, न जीवितार्थ प्रजहामि भोगान् ।
लाभमलाभं च सुखं च दुःखं, संवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वय :–भोइ–हे प्रिये। **भुत्ता**–भोग लिए, **रसा**–रस, **जहाइ**–छोड़ता है, **णे**–हमको, **वओ**–यौवन वय–अवस्था, **जीवियट्ठा**–जीवन के वास्ते, **भोए**–भोगों को, **न पजहामि**–नहीं छोड़ता हूं, **लाभं**–लाभ, **च**–और, **अलाभं**–अलाभ, **सुहं**–सुख, **च**–और, **दुक्खं**–दुख को, **संविक्खमाणो**–सम्यक् प्रकार से विचरता हुआ, **मोण**–मुनि वृत्ति को, **चरिस्सामि**–आचरण करूगा।

मूलार्थ–हे प्रिये! सांसारिक रसों को हमने भोग लिया है, यौवन वय हमको छोड़ता चला जा रहा है, मैं जीवन के लिए भोगों को नहीं छोड़ता हूं, अपितु लाभ-अलाभ, सुख और दुख को सम्यक् प्रकार से देखता हुआ मुनि-वृत्ति का आचरण करूंगा।

टीका–पुरोहित जी अपनी यशा नामक भार्या से कहते है कि "हे प्रिये। रस-युक्त नाना

पदार्थो को हमने खूब भोगा, अब यौवन हमे छोड़ता जा रहा है। इसलिए मैं अब इन विकारों के सग को छोड़ता हू तथा यह भी ध्यान रहे कि मैं ससार को जीवन के वास्ते नहीं छोड़ता, किन्तु लाभ-अलाभ, सुख और दुख का सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करता हुआ मुनि-वृत्ति को धारण कर रहा हूं" क्योकि जब तक युवावस्था का कुछ अश बना हुआ है, तब तक ही संयम-क्रिया के अनुष्ठान मे प्राय: अधिक सफलता की संभावना रहती है।

तात्पर्य यह है कि मेरी दीक्षा का कारण युवावस्था को स्थिर रखना नहीं, अपितु परमार्थ सम्बन्धी लाभालाभ और सुख-दुख का अनुभव करना है, अत: मै दीक्षा के लिए उद्यत हुआ हू।"

पति के उक्त विचार को सुनकर उससे सहमत न होती हुई यशा उसके प्रति फिर कहती है–

मा हु तुमं सोयरियाण संभरे, जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी ।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं, दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ॥ ३३ ॥

मा खलु त्वं सौदर्याणां स्मार्षीः, जीर्ण इव हंसः प्रतिस्त्रोतोगामी ।
भुंक्ष्व भोगान् मया समं, दुःखं खलु भिक्षाचर्याविहारः ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः–हु–निश्चय ही, **तुमं**–तुम, **सोयरियाण**–अपने सगे भाइयो को, **मा सम्भरे**–मत स्मरण करो, **जुन्नो**–जीर्ण, **हंसो**-हंस, **व**–वत्, **पडिसोत्तगामी**–प्रतिस्रोत का गामी होता हुआ, **भोगाइं**–भोगो को, **मए समाणं**–मेरे साथ, **भुंजाहि**–भोगो, **खु**–निश्चय ही, **भिक्खायरिया**–भिक्षाचर्या और, **विहारो**-विहार, **दुक्खं**–दुःख रूप है।

मूलार्थ–भृगुपत्नी यशा ने कहा कि "हे पति देव ! प्रतिस्त्रोतगामी जीर्ण हंस की तरह तुम अपने भाइयों का स्मरण मत करो, किन्तु मेरे साथ भोगों को भोगो, क्योंकि यह भिक्षा-वृत्ति और विहार निश्चय ही दुख रूप हैं।

टीका-यशा कहती है कि "हे स्वामिन्। आप दीक्षा के लिए उद्यत तो हो रहे हैं, परन्तु कही ऐसा न हो कि दीक्षा लेकर उसके कष्टो का अनुभव करते हुए अपने सहोदर भाइयों अथवा अन्य सम्बन्धियों को स्मरण करने लग जाओ, जैसे कि प्रतिस्रोत मे गमन करने वाला बूढ़ा हंस अपनी असमर्थता के कारण जल मे ही निमग्न हो जाता है। अतएव मैं आपसे निवेदन करती हूं कि आप मेरे साथ गृहवास मे रहते हुए सांसारिक सुखों का उपभोग कीजिए, क्योकि भिक्षाचर्या–भिक्षावृत्ति–भिक्षु बनकर घर-घर मे मागना तथा अप्रतिबद्ध होकर ग्राम-ग्राम अथवा नगर-नगर में विचरना बड़ा ही कष्टजनक है।"

यहा पर विहार शब्द साधु के समस्त आचारों का उपलक्षण है। कहने का तात्पर्य यह है

कि आप इसके लिए शीघ्रता मत करें, क्योंकि संयम का पालन करना कुछ सहज काम नहीं है, अतः कुछ समय और घर में व्यतीत कीजिए। फिर इस पर विचार करना।

वृत्तिकार ने 'खु' शब्द वाक्यालंकार में ग्रहण किया है।

अब भृगु पुरोहित कहते हैं–

जहा य भोई तणुयं भुयंगो, निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो ।
एमेए जाया पयहन्ति भोए, ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को ॥ ३४ ॥

यथा च भवति ! तनुजां भुजङ्गः, निर्मोचनीं हित्वा पर्येति मुक्तः ।
एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्, तौ अहं कथं नानुगमिष्याम्येकः ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वय :–भोई–हे प्रिये ! **जहा**–जैसे, **य**–पुनः, **भुयंगो**–सर्प, **तणुयं**–शरीर में उत्पन्न हुई, **निम्मोयणिं**–कांचली को, **हिच्च**–छोड करके, **पलेइ**–भाग जाता है, **मुत्तो**–निरपेक्ष होता हुआ, **इमे**–इसी प्रकार, **ए**–ये तेरे, **जाया**–दोनों पुत्र, **भोए**–भोगों को, **पयहंति**–छोड़ रहे है, **ते**–उन दोनो के साथ, **अहं**–मैं, **इक्को**–अकेला, **कहं**–कैसे, **नाणुगमिस्सं**–न जाऊं।

मूलार्थ–हे प्रिये ! जैसे सर्प अपने शरीर में उत्पन्न हुई केंचुली को त्याग कर निरपेक्ष होता हुआ भाग जाता है, उसी प्रकार तेरे ये दोनों ही पुत्र सांसारिक भोगों को छोड़ कर चले जा रहे हैं, जब ऐसा है तब मैं भी इनके साथ ही क्यों न जाऊं? अर्थात् मैं अकेला यहां पर क्या करूंगा?

टीका–भृगुजी कहते है कि "हे प्रिये। जिस प्रकार सर्प अपने शरीर में उत्पन्न हुई केंचुली को निकालकर परे फैक देता है और स्वय वहां से चला जाता है और पीछे फिर कर उसको देखता तक भी नही, इसी प्रकार तेरे ये दोनो पुत्र ससार के विषयभोगो को अति तुच्छ समझकर उन्हे छोडकर जा रहे हैं। ऐसी दशा मे मै इनके बिना अकेला घर मे बैठा रहूं, यह किस प्रकार उचित समझा जा सकता है। तो फिर मैं भी इनके साथ ही क्यो न चला जाऊ ? तात्पर्य यह कि मेरे जैसे व्यक्ति को इन योग्य पुत्रों के बिना घर में रहना किसी प्रकार से भी उचित नहीं, अतः मैं इनके साथ ही चले जाना श्रेयस्कर समझता हूं।

अब फिर इसी विषय में प्रकारान्तर से कहते हैं–

छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया, मच्छा जहा कामगुणे पहाय ।
धोरेयसीला तवसा उदारा, धीरा हु भिक्खायरियं चरन्ति ॥ ३५ ॥

छित्त्वा जालमबलमिव रोहिताः, मत्स्या यथा कामगुणान् प्रहाय ।
धौरेयशीलास्तपसा उदाराः, धीराः खलु भिक्षाचर्या चरन्ति ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वय :–छिंदित्तु–छेदन करके, **जालं**–जाल को, **अबलं व**–निर्बल की तरह, **जहा**–जैसे, **रोहिया**–रोहित जाति का, **मच्छा**–मत्स्य उसी तरह, **कामगुणे**–कामगुणों को, **पहाय**–छोड़कर, **धोरेय**–धौरी–वृषभवत्, **सीला**–स्वभाव, **तवसा**–तप से, **उदारा**–प्रधान, **धीरा**–सत्त्व वाले, **हु**–निश्चय ही, **भिक्खायरियं**–भिक्षाचरी को, **चरंति**–आचरते हैं।

मूलार्थ–जैसे रोहित जाति का मत्स्य निर्बल जाल को छेदन करके चला जाता है, उसी प्रकार कामगुणों को त्यागकर ये मेरे पुत्र जा रहे हैं, क्योंकि तपःप्रधान और धर्म-धुरंधर धीर पुरुष ही भिक्षाचर्या–मुनिवृत्ति का अनुसरण करते हैं।

टीका–जैसे कोई बलवान् पुरुष निर्बल–जीर्ण वस्तु को तोडकर अर्थात् उसके प्रतिबन्ध को दूर करक आगे निकल जाता है, अथवा जैसे रोहित मत्स्य निर्बल जाल में फंसने पर उसे अपनी तीक्ष्ण पूछ से काटकर उसके बन्धन से निकल जाता है, उसी प्रकार मेरे ये पुत्र कामभोगरूप जाल का ताडकर प्रव्रज्या के लिए जा रहे है, परन्तु यह भी कोई साधारण काम नही, अर्थात् भिक्षाचर्या–सयमवृत्ति का पालन करना धीर पुरुषो का ही काम हे, जो कि धर्म में बलवान् वृषभ की तरह धुरधर हो ओर तप के आचरण मे सशक्त हो, वही धीर पुरुष संयम-वृत्ति का पालन कर सकता हे।

तात्पर्य यह है कि ससार के विषय-भोगो का त्याग करके जिस मुनि-वृत्ति को ग्रहण करने क लिए ये कुमार जा रहे है, वह भी परम धीर और गम्भीर प्रकृति के पुरुषो द्वारा ही आचरण की जा सकती है।

पति के उपर्युक्त उपदेश को सुनकर बोध को प्राप्त हुई यशा ने अपने मन में जो कुछ विचार किया, अब उसका वर्णन करते हैं–

नहेव कुंचा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा ।
पलेंति पुत्ता य पई य मज्झं, ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का ॥ ३६ ॥

नभसीव क्रौञ्चाः समतिक्रामन्तः, ततानि जालानि दलित्वा हंसाः ।
परियान्ति पुत्रौ च पतिश्च मम, तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वय :–नहे–आकाश मं, **कुंचा**–क्रौंच पक्षी, **व**–वत्, **समइक्कमंता**–सम्यक् प्रकार से जाते है, **तयाणि**–विस्तीर्ण, **जालाणि**–जाल को, **दलित्तु**–दलन करके, **हंसा**–हस–पक्षी जाते है उसी प्रकार, **पलति**–जाते है, **मज्झं**–मेरे, **पुत्ता**–पुत्र, **य**–और, **पई**–पति, **य**–पुनः, **ते**–उनके साथ, **अहं**–मै, **एक्का**–अकेली, **कहं**–कैसे, **नाणुगमिस्सं**–न जाऊं।

मूलार्थ–आकाश में सम्यक् प्रकार से जैसे क्रौंच पक्षी जाते हैं और विस्तृत जाल को

भेदन करके जैसे हंस चले जाते हैं, उसी प्रकार मेरे पुत्र और पति संसार को छोड़कर जा रहे हैं, तो फिर अकेली मैं उनके साथ क्यों न जाऊं अर्थात् मुझे भी उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए।

टीका—इस गाथा में यशा देवी के मानसिक विचारों का दिग्दर्शन कराया गया है। वह मन में विचार करती है कि जैसे आकाश में क्रौंच पक्षी अव्याहत गति से चले जाते हैं और जैसे जालों को अनर्थरूप जानकर उनके अनेक खंड करके हंस उड़ जाते हैं, उसी प्रकार मेरे पुत्र और पतिदेव भी विषयों के विकट जाल को तोड़कर क्रौंच और हंस की तरह संयम रूप आकाश मे अव्याहत रूप से विचरने के लिए जा रहे हैं। जब कि ऐसी अवस्था है तो मैं अकेली घर में कैसे रहूं ? किसके लिऐ क्यों रहू ? अर्थात् मै भी इनके पीछे ही क्यो न जाऊं ? पुत्रों और पति के चले जाने पर पीछे स्त्री का घर में रहना किसी प्रकार से भी शोभा योग्य नहीं माना जाता, अत: मुझे भी इनके साथ ही संयमव्रत ग्रहण कर लेना चाहिए।

इसके अनन्तर भृगु पुरोहित, उसकी धर्मपत्नी और दोनों कुमार इन चारों की एक सम्मति होने पर ये चारो ही वीतराग देव के धर्म मे दीक्षित हो गए, अर्थात् चारों ने संयम-मार्ग को ग्रहण कर लिया।

उनके संयम ग्रहण करने के अनन्तर जो कुछ हुआ, अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं। यथा—

पुरोहियं तं ससुयं सदारं, सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए ।
कुडुम्बसारं विउलुत्तमं च, रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥ ३७ ॥

पुरोहितं तं ससुतं सदारं, श्रुत्वाऽभिनिष्क्रम्य प्रहाय भोगान् ।
कुटुम्बसारं विपुलोत्तमं च, राजानमभीक्ष्णं समुवाच देवी ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वय :—तं—उस, **पुरोहियं**—पुरोहित को, **ससुयं**- पुत्रो के और, **सदारं**—अपनी स्त्री के साथ, **सोच्चा**—सुनकर, **अभिनिक्खम्म**—घर से निकलकर, **भोए**—भोगों को, **पहाय**—छोड़कर, **च**—और, **कुडुंब**—कुटुब, **सारं**—प्रधान धन, **विउलुत्तमं**--विस्तीर्ण और उत्तम, **तं**- उसे ग्रहण करते हुए देखकर, **रायं**—राजा को, **अभिक्खं**--बार-बार, **देवी**—कमलावती, **समुवाय**—कहने लगी।

मूलार्थ—संसार के समस्त काम-भोगों का त्याग करके अपने पुत्रों और स्त्री के साथ घर से निकलकर दीक्षित हुए भृगु पुरोहित को सुनकर उसके धनादि प्रधान पदार्थों को ग्रहण करने की अभिलाषा रखने वाले राजा को उसकी देवी—धर्मपत्नी कमलावती ने बार-बार इस प्रकार कहा।

टीका–जब भृगु पुरोहित ने सांसारिक पदार्थो को त्याग करके अपनी स्त्री और पुत्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली, अर्थात् वे चारों ही दीक्षित हो गए तो इसकी सूचना पाकर वहां के राजा ने उसका कुटुम्ब और उसके घर मे होने वाले विपुल धन आदि पदार्थो को अपने अधीन कर लेने का विचार किया, क्योंकि भृगु पुरोहित जिस धनादि विपुल सामग्री का त्याग करके दीक्षित हुआ था, वह प्राय: अधिकतर राजा के यहां से ही आई हुई थी, इसलिए उसने उसे ग्रहण करने में कोई दोष नहीं समझा, परन्तु उसकी कमलावती नाम की रानी को राजा का यह विचार उचित नहीं लगा। तब वह राजा से बार-बार इस प्रकार कहने लगी।

कमलावती रानी ने राजा से जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है। यथा–

वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ ।
माहणेण परिच्चत्तं, धणं आदाउमिच्छसि ॥ ३८ ॥

वान्ताशी पुरुषो राजन्, न स भवति प्रशंसनीयः ।
ब्राह्मणेन परित्यक्तं, धनमादातुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वय :–वंतासी–वमन किए हुए को खाने वाला, **रायं**–राजन्! **पुरिसो**-पुरुष, **न**–नहीं, **सो**–वह, **पसंसिओ**–प्रशसा के योग्य, **होइ**–होता है, **माहणेण**–ब्राह्मण के द्वारा, **परिच्चत्तं**–त्याग हुए, **धणं**–धन को, **आदाउं**–ग्रहण करने की, **इच्छसि**–तुम इच्छा करत हो।

मूलार्थ–हे राजन् ! वमन किए हुए को खाने वाला पुरुष कभी प्रशंसा का पात्र नहीं होता, फिर आप ब्राह्मण के द्वारा त्यागे गए धन को ग्रहण करने की इच्छा क्यों करते हैं ?

टीका–रानी कहती है कि जिस प्रकार वमन किए हुए भुक्त पदार्थ को ग्रहण करने वाला पुरुष इस लोक मे प्रशसा का पात्र नहीं बन सकता, उसी प्रकार ब्राह्मण द्वारा त्यागे हुए धन को ग्रहण करने में आपकी भी प्रशंसा नही होगी, किन्तु निन्दा की ही अधिक संभावना है। तात्पर्य यह है कि पहले तो आपने इस धन को सकल्प द्वारा वमन किया और अब उस धन को ब्राह्मण ने वमन कर दिया। इस प्रकार यह धन दो बार वमन किया गया है, अत: आप जैसे भद्र पुरुष को ऐसे वमन-तुल्य हेय पदार्थ को कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

साराश यह है कि जैसे वान्ताशी पुरुष संसार मे श्लाघनीय नहीं होता, अपितु निन्दा एवं भर्त्सना के योग्य माना जाता है, उसी प्रकार आप भी प्रजा में प्रशंसा के योग्य नही रहेंगे।

अस्तु, यदि इस वमन किए हुए धन को आप ग्रहण भी कर लें तो भी इससे आपकी बढ़ी हुई धन-पिपासा की शांति होनी कठिन ही नही, अपितु असम्भव है, क्योंकि तृष्णा दुष्पूर है, उसकी पूर्ति तो विश्व के सारे पदार्थ भी नहीं कर सकते।

अब इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥ ३९ ॥

सर्वं जगद्यदि तव, सर्वं वापि धनं भवेत् ।
सर्वमपि तेऽपर्याप्तं, नैव त्राणाय तत्तव ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वय :–सव्वं–सर्व, **जगं**–जगत्, **जइ**–यदि, **तुहं**–तेरा होवे, **वा**–अथवा, **सव्वं**–सर्व, **धणं**–धन, **वि**–अपि शब्द से क्षेत्रादि तेरे, **भवे**–होवें, **सव्वंपि**–सर्व पदार्थ भी, **ते**–तेरे लिए, **अपज्जत्तं**–अपर्याप्त हैं–तेरी तृष्णा को पूर्ण करने में असमर्थ हैं, **तं**–वह पदार्थ, **तव**–तेरे कष्टादि को मिटाने के लिए, **नेव**–नहीं है, **ताणाय**–रक्षा के लिए।

मूलार्थ–हे राजन्! यदि यह सारा जगत् आपका हो जाए, सारे धनादि पदार्थ भी आपके हो जाएं, तो भी ये सब अपर्याप्त ही हैं, अर्थात् विश्व के सारे पदार्थ भी आपकी तृष्णा को पूरी करने में असमर्थ हैं और ये सब पदार्थ मरणादि कष्टों के समय आपकी किसी प्रकार की भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

टीका–देवी कमलावती कहती है कि "हे राजन। यदि समस्त जगत् आपके वश में हो जाए तथा विश्व में जितना भी धन है वह सब आपके पास आ जाए, ऐसा होने पर भी वह सब पदार्थ समूह आपकी तृष्णा को पूर्ण नहीं कर सकते, क्योंकि यह तृष्णा आकाश के समान अनन्त है और धन असख्यात है तथा ये सब पदार्थ आपके जरा, रोग और मरण आदि कष्टों को मिटाने में किचिन्मात्र भी सहायक नहीं हो सकते, अत: इनकी लालसा करनी व्यर्थ है"।

देवी के कथन का अभिप्राय स्पष्ट है कि यदि कोई मनुष्य करोड़ो रुपये खर्च करके भी यह चाहे कि मुझे जरा–बुढ़ापा अथवा मृत्यु की प्राप्ति न हो तो उसकी यह इच्छा कभी सफल नहीं हो सकती। इससे सिद्ध हुआ कि यह धनादि पदार्थ जरा और मृत्यु के कष्ट को टालने मे सर्वथा असमर्थ है, तो फिर ब्राह्मण द्वारा त्यागे हुए–एक प्रकार से वमन किए हुए धन को ग्रहण करने की जो जघन्य लालसा है, उसका कारण केवल बढ़ी हुई तृष्णा ही है, जिसकी पूर्ति बिना सन्तोष के और किसी वस्तु अथवा उपाय द्वारा नहीं हो सकती।

अब रानी फिर कहती है–

मरिहिसि रायं! जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥ ४० ॥

मरिष्यसि राजन् ! यदा तदा वा, मनोरमान् कामगुणान् प्रहाय ।
एकः खलु धर्मो नरदेव ! त्राणं, न विद्यतेऽन्यमिहेह किञ्चित् ॥ ४० ॥

पदार्थान्वय :-रायं–राजन् ! **जया**–जिस समय, **वा**–अथवा, **तया**–उस समय तू, **मरिहिसि**–मरेगा, **मणोरमे**–मनोरम, **कामगुणे**–कामगुणों को, **पहाय**–छोड़कर, **हु**–जिससे, **एक्को**–एक, **धम्मो**–धर्म ही, **नरदेव**–हे नरदेव ! **ताणं**–त्राण है, **इह**–इस लोक में, **अन्नं**–अन्य पदार्थ, **इह**–इस लोक में मृत्यु के समय, **किंचि**–किंचिन्मात्र भी, **न विज्जई**–नहीं है।

मूलार्थ–हे राजन् ! जब मृत्यु का समय आयेगा उस समय तो अवश्य मरना ही पड़ेगा और मनोरम–सुन्दर कामगुणों को छोड़कर मृत्यु को स्वीकार करना ही होगा। हे नरदेव! इस लोक में मृत्यु के समय पर एक धर्म ही रक्षा करने वाला होगा, धर्म के बिना कोई इस मनुष्य का रक्षक नहीं है।

टीका–देवी ने फिर कहा कि "हे राजन्! जब मृत्यु का समय आएगा, उस समय तो इन अति प्यारे और सुन्दर कामगुणो को त्याग कर अकेले ही मुत्यु को स्वीकार करना होगा, अर्थात् उस समय जिन सांसारिक पदार्थो से आप प्रगाढ़ प्रेम कर रहे है, इनमे से कोई भी आपका साथी बनने वाला नही है, इसलिए हे नरदेव ! विश्व में इस प्राणी का एकमात्र रक्षक धर्म ही है। धर्म के बिना और कोई भी पदार्थ न ही प्राणी का रक्षक है और न साथ जाने वाला है।

प्रस्तुत गाथा में ससार के सम्बन्ध को लेकर धर्म की आवश्यकता और ससार की अनित्यता का अच्छा चित्र खीचा गया है।

जब कि धर्म के बिना इस जीव का कोई भी त्राता नहीं तो फिर क्या करना चाहिए, अब इसी विषय में कहते हैं–

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा, संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं ।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा, परिग्गहारम्भनियत्तदोसा ॥ ४१ ॥

नाहं रमे पक्षिणी पञ्जर इव, छिन्नसन्ताना चरिष्यामि मौनम् ।
अकिञ्चना ऋजुकृता निरामिषा, परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वय :-न–नही, **अहं**–मैं, **रमे**–रति पाती हूं, **वा**–जैसे, **पक्खिणि**–पक्षिणी, **पंजरे**–पिंजरे मे, **संताणछिन्ना**–स्नेह के जाल का विच्छेद है जिसके, **मोणं**–मुनि-वृत्ति को, **चरिस्सामि**-ग्रहण करूंगी, **अकिंचणा**–द्रव्य से रहित, **उज्जुकडा**–सफलता-पूर्वक अनुष्ठान करने वाली, **निरामिसा**–विषयरूप मास से रहित तथा, **परिग्गहारंभनियत्तदोसा**–परिग्रह और आरम्भ रूप दोष से निवृत्त हुई।

मूलार्थ—पिंजरे में रही हुई पक्षिणी की तरह मैं अब इस संसार में रति अर्थात् आनन्द का अनुभव नहीं कर पा रही, अतः जिसमें स्नेह का जाल टूट जाता है, अकिंचन, सरल और निरामिष होकर, अर्थात् मांस-पिण्ड रूप शरीर के मोह को त्याग कर तथा परिग्रह और आरम्भ रूप दोष से निवृत्त होकर ऐसी मनो-वृत्ति को मैं ग्रहण करूंगी।

टीका—इस गाथा के द्वारा कमलावती ने अपने हार्दिक भावों को बड़ी सुन्दरता से प्रकट कर दिया है। वह राजा से कहती है कि जैसे पिंजरे में रहती हुई पक्षिणी आनन्द नहीं पाती उसी प्रकार जन्म, जरा और मृत्यु आदि अनेक उपद्रवों वाले इस संसार रूप पिंजरे में रहती हुई मैं भी आनन्द की अनुभूति नहीं कर पा रही, अतः स्नेह के बन्धन से रहित होती हुई मैं मुनि-वृत्ति को धारण करूंगी। तदर्थ मैं द्रव्य और भाव से अकिंचन बनूंगी, द्रव्य से स्वर्ण-रत्न आदि से रहित और भाव से कषाय-रहित बनूगी तथा सरलता-पूर्वक क्रिया करने वाली, मांस पिण्डरूप शरीर की आसक्ति का त्याग करती हुई आरम्भ तथा परिग्रह रूप दोषों से निवृत्ति ग्रहण करूंगी।

इस प्रकार कमलावती ने संसार से निवृत्त होकर भाव-सयम ग्रहण करने का जो अभिप्राय था उसको स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है।

यहा पर 'वा' शब्द उपमा के अर्थ में आया है तथा '**संताणछिन्ना**' में छिन्न शब्द का परनिपात प्राकृत व्याकरण के नियम से है एव '**परिग्गहारंभनियत्तदोसा**' इसमें पूर्वापरनिपात अतत्र है।

अब फिर प्रस्तुत विषय का प्रकारान्तर से वर्णन करती हुई कमलावती कहती है—

दवग्गिणा जहारण्णे, डज्झमाणेसु जन्तुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति, रागद्दोसवसं गया ॥ ४२ ॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागद्दोसग्गिणा जगं ॥ ४३ ॥

दवाग्निना यथारण्ये, दह्यमानेषु जन्तुषु ।
अन्ये सत्त्वाः प्रमोदन्ते, रागद्वेषवशं गताः ॥ ४२ ॥
एवमेव वयं मूढाः, कामभोगेषु मूर्च्छिताः ।
दह्यमानं न बुध्यामहे, रागद्वेषाग्निना जगत् ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वय :—दवग्गिणा—दवाग्नि द्वारा, **जहा**—जैसे, **अरण्णे**-वन में, **डज्झमाणेसु**—जलते हुए, **जन्तुसु**—जन्तुओं को देखकर, **अन्ने**—अन्य, **सत्ता**—जीव, **पमोयन्ति**—आनन्द मानते हैं, **रागद्दोसं**—रागद्वेष के, **वसं गया**—वश में होते हुए।

एवमेव—इसी प्रकार, **वयं**—हम, **मूढा**—मूढ है, **कामभोगेसु**—कामभोगो में, **मुच्छिया**—मूर्च्छित हैं, **डज्झमाणं**—जलते हुए प्राणियो को देखकर, **न बुज्झामो**—बोध को प्राप्त नहीं होते जो, **रागद्दोसग्गिणा**—रागद्वेष रूप अग्नि से, **जगं**—जगत् जल रहा है।

मूलार्थ—जैसे वन की अग्नि से जलते हुए जीवों को देखकर राग-द्वेष के वशीभूत हुए अन्य जीव हर्ष मनाते हैं, उसी प्रकार काम-भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए हम मूढ़ भी जलते हुए प्राणियों को देखकर भी बोध को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि रागद्वेषरूप अग्नि से यह जगत् जल रहा है, हम भी जल रहे हैं।

टीका—कमलावती कहती है कि हे राजन्! वन में दवाग्नि के प्रचड होने से अनेक जंतु जलकर भस्म हो जात हैं, परन्तु वन से बाहर के जीव उन भस्म हुए जतुओं को देखकर राग-द्वेष के कारण आनन्द मनाते हैं। अविवेक के प्रभाव से उनके हृदय मे ये भाव उत्पन्न होते है कि ये हमारे परम शत्रु थे, अच्छा हुआ जो कि भस्म हो गए, अब निष्कंटकता हो जाएगी तथा वन मे हम अब सुख-पूर्वक निवास करेगे, इत्यादि।

उसी प्रकार राग, द्वेष और मोह के वश मे होकर हम भी उन पशुओ की तरह महामूढ़ बनकर काम-भोगों में अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं, क्योकि रागद्वेष रूप अग्नि के द्वारा जलते हुए प्राणिवर्ग को देखकर हमें कुछ भी बोध नही होता, परन्तु जो विवेक और विचार रखने वाले पुरुष होते है, वे अन्य जीवों को संकट में पडे देखकर द्रवित हो उठते हैं और उनकी रक्षा का उपाय करने लगते हैं, क्योंकि वे जानते है कि यह कष्ट किसी दिन हम पर भी आने वाला है तथा इनकी आत्मा और हमारी आत्मा दोनो समान है। अत: इनके कष्टो में सहानुभूति प्रदर्शित करना हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। परन्तु जो विवेक-रहित और प्रमादी जीव है, वे अन्य के कष्टो को देखकर उनमे सहायक होने के स्थान पर उलटा हर्ष मनाते है।

हे राजन्! हम भी ऐसे ही प्राणी है, क्योंकि हम यह प्रत्यक्ष देख रहे है कि सासारिक पदार्थो—धन, स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि पर अत्यन्त स्नेह रखने वाले जीव इनको यहीं पर छोड़ कर परलोक की यात्रा कर गए हे। वे जाते हुए न तो स्वयं इनको साथ लेकर गए और न ये स्वय ही उनके साथ गए, किन्तु ये सब यही पर पड़े रहे और यही पर इनको छोडकर वे स्नेही चले गए। यह देखकर हमको कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता, अन्यथा हमको इस बात का पूर्णतया भान रखना चाहिए कि हमारा वास्तविक कर्त्तव्य क्या है, हमारे साथ जाने वाला और यहा पर रह जाने वाला पदार्थ क्या है, तथा हम किससे प्रेम करें और किससे उदासीन रहें एव परलोक-यात्रा मे हमारा सहायक कौन हो सकता है, और जिन विषय-भोगो मे हम मूर्च्छित हो रहे हैं तथा जिनके लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहने और अनर्थ करने को हम उद्यत रहते हैं, वे हमारा कहा तक भला कर सकते हैं, कहां तक हमारा साथ दे सकते है। तात्पर्य यह है कि विचार-पूर्वक

अपने कर्त्तव्य का निश्चय करने में हम सर्वथा अनभिज्ञ बने हुए हैं। इसीलिए दूसरों के द्वारा त्यागी हुई धनादि वस्तुओं को प्राप्त करके हमें अत्यन्त हर्ष होता है, यह कितनी मूढ़ता और स्वार्थ-परायणता है।

अस्तु, जो पुरुष विवेकविकल नहीं हैं, बल्कि विचारशील हैं, अब उनका कर्त्तव्य बताते हैं। जैसे कि–

भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति, दिया कामकमा इव ॥ ४४ ॥

भोगान् भुक्त्वा वान्त्वा च, लघुभूतविहारिणः ।
आमोदमाना गच्छन्ति, द्विजाः कामक्रमा इव ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वय :–भोगे–भोगों को, **भोच्चा**–भोग कर, **य**–और फिर, **वमित्ता**–उनको छोड़ कर, **लहुभूय**–लघुभूत, **विहारिणो**–अप्रतिबद्ध विहार करने वाले, **आमोयमाणा**–आनन्दित होते हुए, **गच्छन्ति**–जाते हैं, **कामकमा**–स्वेच्छापूर्वक विचरने वाले, **दिया**–पक्षी की, **इव**–तरह।

मूलार्थ–जो विवेकी पुरुष होते हैं वे भोगों को भोग कर फिर वास्तविकता का ज्ञान होते ही उनको छोड़कर वायु की भांति अत्यन्त लघु होकर यथेष्ट विहार करते हैं और तथाविध अनुष्ठान में आनन्द मनाते हुए विचरते हैं, जैसे कि पक्षीगण अपनी इच्छा-पूर्वक गमन करते अथवा विचरते हैं।

टीका–जो पुरुष विचारशील और पुण्यवान् होते है, वे आयुपर्यन्त इन विषय-भोगों में लिप्त नही रहते, वे कुछ समय इनका उपभोग करने के बाद इनका परित्याग करते हुए आत्मशुद्धि की ओर अवश्य प्रवृत्त होते हैं तथा काम-भोगो का परित्याग करके वायु की तरह लघु और स्वच्छ होकर बन्धन-रहित पक्षी की भाँति अप्रतिबद्धविहारी होकर आनन्द मे मग्न रहते हुए सदा स्वेच्छा-पूर्वक विचरते हैं।

तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषय-भोगों से विरक्त होकर ज्ञान-पूर्वक संयम को ग्रहण करने वाले महात्मा पुरुषो की प्रवृत्ति ठीक उस पक्षी के समान है कि जो सर्वथा बन्धन-रहित, स्वतंत्र और स्वेच्छा-पूर्वक विचरने वाला है। जिस प्रकार आकाश में विचरने वाले पक्षी के लिए कोई बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार संयमशील के लिए भी किसी प्रकार का लौकिक बन्धन नहीं होता। जैसे पक्षी निरन्तर विचरता रहता है, वैसे ही सयमी महात्मा भी सदा अप्रतिबद्धविहारी होते है एव जिस प्रकार पक्षी स्वेच्छा-पूर्वक गमन करता है, उसी प्रकार मुनिजन भी जहां-जहां धर्म का अधिक लाभ देखते हैं और सयम की अधिक निर्मलता देखते है, वहा पर अपनी इच्छा से

जाते है तथा रागद्वेष की न्यूनता से उनका जीवन सदा आनन्दपूर्ण और शांतियुक्त रहता है, यही उनमें विशेषता है।

राजा को प्रतिबोध करने के निमित्त अब रानी फिर कामभोगादि विषयों के परित्याग की चर्चा करती हुई कहती है–

इमे य बद्धा फन्दन्ति, मम हत्थज्जमागया ।
वयं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥ ४५ ॥

इमे च बद्धाः स्पन्दन्ते, मम हस्तमार्य ! आगताः ।
वयं च सक्ताः कामेषु, भविष्यामो यथेमे ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वय :–इमे–ये प्रत्यक्ष, **य**–समुच्चयार्थ में है, **बद्धा**–नियंत्रित किए हुए भी, **फन्दन्ति**–अस्थिर होने से चंचल हैं, **वयं**–हम, **च**–फिर, **सत्ता**–आसक्त हैं, **कामेसु**–कामभोगों में, **जहा**–जैसे, **इमे**–ये भृगु पुरोहित आदि हो गए हैं उसी प्रकार, **भविस्सामो**–हम भी होंगे, अर्थात् धर्म मे दीक्षित होगे।

मूलार्थ–हे आर्य ! ये कामभोग जिन्हें हम अपने नियन्त्रण में समझते हैं, ये चंचल हैं, ये मेरे और आपके हस्तगत से प्रतीत हो रहे हैं, अतः हम इनमें आसक्त हो रहे हैं, किन्तु जैसे भृगु पुरोहित आदि इनको छोड़ गए हैं, उसी प्रकार हम भी इन्हें छोड़ेंगे।

टीका–देवी कमलावती फिर कहती है कि 'हे आर्य ! ये कामभोगादि अनेक प्रकार से सुरक्षित किए जाने पर भी अस्थिर स्वभावी होने से चचलता को ही धारण किए हुए हैं, यद्यपि ये मेरे और आपके हस्तगत हो रहे हैं और हम इनमें आसक्त हो रहे है, परन्तु जैसे ये भृगु पुरोहित आदि इनको छोडकर चले गये हैं, उसी प्रकार हम भी इनका परित्याग करके धर्म में दीक्षित होने के लिए जाएंगे।''

प्रस्तुत गाथा में काम भोगो की अस्थिरता और उनके त्याग का प्रतिपादन किया गया है, जो कि मुमुक्षु पुरुष के लिए सदा और सर्वथा उपादेय है।

उक्त गाथा मे यद्यपि अकेला '**मम**' शब्द है तथापि वह 'तव' का भी उपलक्षण है एवं '**अज्ज**' शब्द के '**आर्य**' और '**अद्य**' ये दोनो प्रतिरूप बनते हैं, सो इनका यथायोग्य अर्थ कर लेना चाहिए।

अब शास्त्रकार इस बात का वर्णन करते हैं कि इन कामादि विषयों के त्यागने में ही सुख है, भोगने में नहीं–

सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं निरामिसं ।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामि निरामिसा ॥ ४६ ॥

सामिषं कुललं दृष्ट्वा, बाध्यमानं निरामिषम् ।
आमिषं सर्वमुज्झित्वा, विहरिष्यामि निरामिषा ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः—सामिसं—मांस के सहित, **कुललं**—गृद्ध पक्षी को, **दिस्स**—देखकर, **बज्झमाणं**—अन्य पक्षियों द्वारा पीड़ित होता हुआ, **निरामिसं**—आमिष से रहित पक्षी को पीड़ा से रहित देखकर, **आमिसं**—मांस को, **सव्वं**—सर्व प्रकार से, **उज्झित्ता**—त्यागकर, **विहरिस्सामि**—विचरूंगी, **निरामिसा**—निरामिष होती हुई।

मूलार्थ—मांससहित गृद्ध पक्षी को अन्य पक्षियों द्वारा पीड़ित होते हुए और मांसरहित को सुखी देख कर मैं सर्व प्रकार से मांसरहित होकर—मांस को छोड़ कर विचरूंगी।

टीका—देवी कमलावती कहती है कि "हे राजन् ! यदि किसी गीध पक्षी के पास मांस का टुकडा है तो उसे देखकर अन्य गीध उस पर झपट पडते है और उसे अनेक प्रकार की पीड़ा पहुचाते है, परन्तु जिस गीध के पास मास नही होता वह आनन्द-पूर्वक विचरता है, अथवा जब वही माम के टुकडे को छोड देता है तो वह सुखी हो जाता है। इसी प्रकार अति स्नेहयुक्त होने से ये धन-धान्यादि पदार्थ भी मास के समान हैं और जो इनमें अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं वे अनक प्रकार की आधि-व्याधियों से पीडित हो रहे है, किन्तु जिन्होंने इनको मास का लोथडा समझ कर त्याग दिया है वे सुखी है, अर्थात् उनको किसी प्रकार का दुख नहीं होता। इसलिए इन मांसतुल्य विषय-भोगो का त्याग करके अर्थात् निरामिष होती हुई मैं संयम-मार्ग मे विचरूगी।"

यहा पर एकवचन की क्रिया के स्थान में बहुवचन का प्रयोग प्राकृत के **'व्यत्ययश्च'** इस नियम से जानना।

प्रस्तुत गाथा मे धन-धान्यादि पदार्थो में मूर्च्छित होने और उनके त्याग करने, इन दोनो बातो का फल-वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने इनकी हेयोपादेयता को स्पष्ट बता दिया है, जिससे कि मुमुक्षु पुरुषों को अपने कर्त्तव्य का निर्णय करने मे सुविधा रहे।

अब इसी प्रस्ताव में अन्य ज्ञातव्य विषय का वर्णन करते हैं—

गिद्धोवमा उ नच्चाणं, कामे संसारवड्ढणे ।
उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणुं चरे ॥ ४७ ॥

गृध्रोपमान् तु ज्ञात्वा, कामान् संसारवर्धनान् ।
उरगः सौपर्णेयपार्श्वे इव, शङ्कमानस्तनु चरेत् ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वय :–उ–तु–समुच्चयार्थ में, **गिद्धोवमे**–गृद्ध पक्षी की उपमा वाले, **नच्चा**–जानकर, **कामे**–कामभोगो को, **संसारवड्ढणे**–संसार के बढ़ाने वाले, **व्व**–जैसे, **उरगो**–सांप, **सुवण्ण**–गरुड़ के, **पासे**–समीप, **संकमाणो**–शंका करता हुआ, **तणुं**–स्तोक यत्न से, **चरे**–विचरता है, **णं**–वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ–गृद्ध पक्षी की उपमा वाले और संसार को बढ़ाने वाले इन काम-भोगों की नश्वरता को जान कर जैसे सांप गरुड़ के समीप शनैः-शनैः शंकाशील होकर चलता है, उसी प्रकार हमें भी संयम-मार्ग में यत्न से चलना चाहिए।

टीका–देवी कमलावती कहती है कि "हे राजन्! ये काम-भोग गीध पक्षी के मुख में रखे हुए मांस के टुकडे के समान हैं और ससार के बढ़ाने वाले है–जन्म-मरण के चक्र में फंसाने वाले है। ऐसा जानकर गरुड के पास से शकायुक्त होकर शनैः-शनैः जाने वाले सर्प की भांति हमें भी इनसे शंकित रहते हुए यत्न-पूर्वक संयम-मार्ग में विचरने का उद्योग करना चाहिए।" तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सर्प गरुड से शंकित रहता है, उसी प्रकार मुमुक्षु को सदा पापकर्म के आचरण से सशंकित रहना चाहिए।

यहा पर '**इव**' शब्द यद्यपि भिन्नक्रम में दिया गया है, तथापि उसका सम्बन्ध सौपर्णेय के साथ ही करना चाहिए।

जब कि इस प्रकार की स्थिति है तो फिर हमें क्या करना चाहिए, अब इसी विषय में कहते हैं–

नागो व्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए ।
एयं पत्थं महाराय ! उस्सुयारि त्ति मे सुयं ॥ ४८ ॥

नाग इव बन्धनं छित्त्वा, आत्मनो वसतिं व्रजेत् ।
एतत्पथ्यं महाराज! इषुकार ! इति मया श्रुतम् ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वय :–नागो–हाथी, **व्व**–वत्, **बंधणं**–बन्धन को, **छित्ता**–छेदन करके, **अप्पणो**–आत्मा की, **वसहिं**–वस्ती को, **वए**–जाए, **महाराय**–हे महाराज! **एयं**–यह, **पत्थ**–पथ्यरूप उपदेश, **उस्सुयारि**–हे इषुकार! **त्ति**–इस प्रकार, **मे**–मैंने, **सुयं**–सुना है।

मूलार्थ–जैसे हस्ती बन्धन को तोड़कर वन में चला जाता है, उसी प्रकार आपको भी कर्म-बन्धनों को तोड़कर आत्म-वसति–मोक्ष की ओर जाना ही उचित है। हे महाराज ! हे इषुकार ! इस प्रकार यह पथ्यरूप उपदेश मैंने सुना है।

टीका–महाराज इषुकार से उसकी रानी कमलावती कहती है कि जिस् प्रकार लोहे की

जंजीर रूपी बधनों को तोडकर हस्ती सुख-पूर्वक वन में चला जाता है, उसी प्रकार आप भी कर्मों के बंधनों को तोड़कर आत्मवसति–मोक्ष मे पहुंचने का प्रयास कीजिए। हे महाराज। यह उपदेश बड़ा ही पथ्यरूप है। इसी के द्वारा जीव अपने ध्येय को प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है। हे इषुकार। इस प्रकार मैंने महात्मा जनों स श्रवण किया है।

यहां पर कमलावती ने अपने कथन को परम्परा प्राप्त बताते हुए उसे उपादेय तथा प्रामाणिक बताने का यत्न किया है तथा साधुजनो से सुना हुआ यह उपदेश उनकी विशिष्टता तथा पज्यता का भी द्योतक है, क्योंकि साधु पुरुष सदा सत्यवक्ता और हितापदेष्टा होते है।

रानी कमलावती के उपदेश से जब राजा इषुकार को प्रतिबोध हो गया, तब वे दोनों–राजा और रानी किस ओर प्रवृत्त हुए, अब इस विषय का वर्णन करते हैं-

चइत्ता विउलं रज्जं, कामभोगे य दुच्चए ।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥ ४९ ॥

त्यक्त्वा विपुलं राज्यं, कामभोगांश्च दुस्त्यजान् ।
निर्विषयौ निरामिषौ, निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वय :–विउलं–विस्तीर्ण, **रज्जं**–राज्य को, **चइत्ता**–छोडकर, **य**–और, **दुच्चए**–दुस्त्य **कामभोगे**–कामभोगों को, **निव्विसया**–विषय-रहित, **निरामिसा**–आमिष–धनधान्यादि से रहित, **निन्नेहा**–स्नेह से रहित और, **निप्परिग्गहा**–परिग्रह से रहित हुए।

मूलार्थ–वे दोनों–रानी और राजा विपुल राज्य और दुस्त्यज काम-भोगों को छोड़कर विषयों से–धन-धान्यादि पदार्थो से एवं स्नेह तथा परिग्रह से रहित हो गए।

टीका–प्रस्तुत गाथा में देवी कमलावती के उपदेश की सफलता का दिग्दर्शन है, अर्थात् रानी चाहती थी कि उसके पतिदव सासारिक पदार्थो के मोह को छाडकर प्रव्रजित हो जाए, सो उसक उपदेश से प्रतिबोध को प्राप्त हुए राजा ने अपना विस्तृत राज्य तथा कामभागादि पदार्थो का परित्याग करके दीक्षा के लिए प्रस्थान कर दिया, यही उसके उपदेश की सफलता है।

तब इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए शास्त्रकार कहते है कि राज्य ओर कामभागादि विषयों का परित्याग करने से वे दानों निर्विषय अर्थात् विषया से रहित हो गए। विषय-रहित हान से आमिषतुल्य धन-धान्यादि पदार्थो से उनकी आसक्ति जाती रही, अतएव वे निरामिष बन गए। निरामिष होने से उनका किसी पर भी ममत्व न रहा, इसलिए व नि.स्नेह अर्थात् स्नेह–प्रीति राग से रहित हो गए। स्नेह से रहित होना ही निष्परिग्रही हाना है, क्योंकि मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है–"**मुच्छापरिग्गहो वुत्तो**"।

इसके अनन्तर उन दोनों की क्या चर्या रही, अब इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं–

सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे ।
तवं पगिज्झहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमा ॥ ५० ॥

सम्यग् धर्म विज्ञाय, त्यक्त्वा कामगुणान् वरान् ।
तपः प्रगृह्य यथाख्यातं, घोरं घोरपराक्रमौ ॥ ५० ॥

पदार्थान्वय :–सम्म–सम्यक्, **धम्म**–धर्म को, **वियाणित्ता**–जानकर, **वरे**–श्रेष्ठ–प्रधान, **कामगुणे**-कामगुणों को, **चिच्चा**–त्याग कर, **तवं**–तपकर्म, **अहक्खायं**–यथाख्यात–अर्हतादि ने जिस प्रकार से वर्णन किया है, **घोरं**–अति विकट, **पगिज्झ**–ग्रहण करके, **घोरपरक्कमा**–घोर पराक्रम वाले हुए।

मूलार्थ–धर्म को सम्यक्–भली प्रकार से जानकर, प्रधान काम-भोगों को छोड़कर तीर्थंकरादि द्वारा प्रतिपादन किए हुए घोर तप-कर्म को स्वीकार करके वे दोनों घोर पराक्रम वाले हुए।

टीका-इस गाथा का भावार्थ यह है कि उन दोनों रानी और राजा ने श्रुत और चारित्र रूप धर्म को भली-भांति जानकर संसार के प्रधान से प्रधान विषय भोगों का भी परित्याग कर दिया, जिनका कि त्याग करना बहुत ही कठिन है। इसके अनन्तर उन्होंने उस घोर—अति विकट तपकर्म का आचरण करना आरम्भ किया, जिसका प्रतिपादन अर्हतादि ने साधुओं को उद्देश्य रखकर किया है। उस तप रूप घोर कर्म के तीव्र अनुष्ठान से वे दोनों घोर पराक्रमी हुए, अर्थात् उक्त तप रूप कर्म के प्रभाव से उन्होंने आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को दूर करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की, अथवा यों कहिए कि उन्होंने कर्मरूप शत्रुओं को पराजित करने में पूर्ण पराक्रम दिखाया।

साराश यह है कि प्रथम धर्म को भली प्रकार से जानने का प्रयत्न करना चाहिए, जब उसका यथार्थ बोध हो जाए तब विषय-भोगों का परित्याग करके ज्ञान-पूर्वक तपस्या का आचरण करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना आत्मा के साथ लगे हुए कर्मरूप मल का दग्ध होना असंभव है। ज्ञान पूर्वक तपकर्म के अनुष्ठान से शुद्ध हुई आत्मा ही परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त हो जाती है, जो कि सब का परम ध्येय और परम लक्ष्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार निम्नलिखित दो गाथाओं में करते हैं–

एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्म-परायणा ।
जम्ममच्चुभउव्विग्गा, दुक्खस्सन्तगवेसिणो ॥ ५१ ॥

एवं ते क्रमशो बुद्धाः, सर्वे धर्मपरायणाः ।
जन्ममृत्युभयोद्विग्नाः, दुःखस्यान्तगवेषिणः ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वय :–एवं–इस प्रकार, **ते**–वे छहों जीव, **कमसो**–क्रम से, **बुद्धा**–प्रतिबोध को प्राप्त हुए, **सव्वे**–सर्व, **धम्मपरायणा**–धर्मपरायण हुए, **जम्म-मच्चुभउ विग्गा**–जन्म-मृत्यु के भय से उद्विग्न हुए तथा, **दुक्खस्संत**–दुख के अन्त के, **गवेसिणो**–गवेषक हुए।

मूलार्थ–इस प्रकार वे छह जीव क्रम से प्रतिबोध कों प्राप्त हुए और सभी धर्म में तत्पर हुए तथा जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न होकर दुखों का अन्त कैसे हो, इस विषय का अन्वेषण करने लग गए।

टीका–अब शास्त्रकार कहते है कि इस प्रकार वे छहों जीव क्रम से प्रतिबोध को प्राप्त हुए। यथा–साधुओं के दर्शन से दोनो कुमारो को प्रतिबोध हुआ, कुमारों क कथन से भृगु पुरोहित को वैराग्य हुआ, भृगु पुरोहित से उसकी धर्मपत्नी यशा को बोध हुआ, इन चारों को दीक्षित हुए जानकर कमलावती को वैराग्य हुआ और रानी के उपदेश से राजा प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। इस प्रकार ये छह जीव अनुक्रम से एक दूसरे के उपदेश से धर्म में दीक्षित हुए, अर्थात् ससार से विरक्त होकर सर्वविरति धर्म मे एकनिष्ठा से तत्पर हो गए।

संयम ग्रहण का मुख्य उद्देश्य जन्म-मरण के दृढ़तर बन्धनों स मुक्त होना है, इसलिए जन्म, जरा और मृत्यु आदि दुखो का अन्त किस प्रकार या किन उपायो से हा सकता है, अर्थात् सर्व प्रकार के दुखो का अन्त किस प्रकार से हो सकता है, वे इसी की गवेषणा मे प्रवृत्त हुए। तात्पर्य यह है कि वे सर्वविरतिरूप संयम द्वारा दुखों का समूल घात करने के लिए कटिबद्ध हो गए।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी बात का उल्लेख करते हैं–

सासणे विगयमोहाणं, पुव्विं भावणभाविया ।
अचिरेणेव कालेण, दुक्खस्सन्तमुवागया ॥ ५२ ॥

शासने विगतमोहानां, पूर्व भावनाभाविताः ।
अचिरेणैव कालेन, दुखस्यान्तमुपागताः ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वय :–विगयमोहाणं–मोहरहित के, **सासणे**–शासन मे, **पुव्विं**–पूर्वजन्म में, **भावणभाविया**–भावना से भावित हुए, **अचिरेणेव**–थोडे ही, **कालेण**–काल में, **दुक्खस्संतं**–दुःखो के अन्त को, **उवागया**–प्राप्त हो गए–मुक्त हो गए।

मूलार्थ–अर्हत्-शासन में पूर्वजन्म की भावना से भावित हुए (वे छहों जीव) थोड़े ही काल में दुखों के अन्त को प्राप्त हो गए, अर्थात् मुक्त हो गए।

टीका—प्रतिबोध होने के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि मोहनीय कर्म का समूलघात करने वाले श्रीअरिहतदेव के शासन मे जो पूर्व जन्म की भावना से भावित थे, अर्थात् जिन्होंने पूर्व जन्म में भी तप और सयम की भली-भाति आराधना की थी—अतएव उसके प्रभाव से उनके बहुत से कर्म क्षीण भी हो चुके थे, अत: वे थोड़े ही काल में दुखों के अन्त को प्राप्त हो गए। तात्पर्य यह है कि शेष कर्मो का क्षय करके वे मोक्ष को प्राप्त हो गए।

प्रस्तुत गाथा में इस भाव को भी व्यक्त किया गया है कि पूर्व-जन्म में किया हुआ अभ्यास उत्तर जन्म मे भी सहायक होता है और उसी के द्वारा आगामी जन्म मे शीघ्र सफलता प्राप्त होती है तथा अभ्यास से चारित्रावरणीय कर्म क्षयोपशम दशा को प्राप्त हो जाता है। उससे इस जीव को धर्म की प्राप्ति मे विलम्ब नही होता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को धर्म के अभ्यास मे प्रवृत्ति रखनी चाहिए।

अब मन्दबुद्धि पुरुषों के स्मरणार्थ अध्ययन की समाप्ति करते हुए सूत्रकार उन छहों आत्माओं का नाम निर्देश करते हुए फिर कहते हैं, यथा—

राया सह देवीए माहणो य पुरोहिओ ।
माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडा ॥ ५३ ॥

त्ति बेमि

इति उसुयारिज्जं चउद्दसमं अज्झयणं समत्तं ॥ १४ ॥

राजा सह देव्या, ब्राह्मणश्च पुरोहित: ।
ब्राह्मणी दारकौ चैव, सर्वे ते परिनिर्वृता: ॥ ५३ ॥

इति ब्रवीमि ।

इति इषुकारीयं चतुर्दशमध्ययनं समाप्तम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वय.—**राया**—राजा, **सह**—साथ, **देवीए**—देवी के, **य**—और, **माहणो**—ब्राह्मण, **पुरोहिओ**—पुरोहित, **च**—और, **माहणी**—ब्राह्मणी, **एव**—निश्चय ही, **दारगा**—उसके दोनों पुत्र, **ते**—वे, **सव्वे**—सब, **परिनिव्वुडा**—निवृत्ति—मोक्ष को प्राप्त हुए, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—राजा और उसकी रानी, ब्राह्मण और उसकी धर्मपत्नी तथा उनके दोनों पुत्र ये सब निवृत्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार मैं—सुधर्मास्वामी कहता हूं।

टीका—इस गाथा मे मन्दबुद्धि पुरुषो को सद्बोध प्राप्ति के निमित्त उन भाग्यशाली जीवों का फिर से नाम लिया गया है। यथा—इषुकार राजा, उसकी रानी कमलावती, भृगु पुरोहित और उसकी धर्मपत्नी यशा तथा यशा के दोनो कुमार ये छहो जीव कर्म-बन्ध के कारणभूत राग द्वेष

और कषाय–क्रोध, मान, माया और लोभ रूप अग्नि के सर्वथा शान्त होने से परम शान्तिरूप मोक्ष को प्राप्त हो गए। क्योंकि जब तक इस आत्मा में राग, द्वेष और कषायो की विद्यमानता है तब तक इसको शांति नही प्राप्त होती। जिस समय यह आत्मा कषायों से सर्वथा मुक्त हो जाता है, उस समय इसको परमनिवृत्ति–निर्वाण–मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के निमित्त कर्म-बन्धनों का टूटना परम आवश्यक है और कर्म-बंधन से छूटने के लिए कषायो की निवृत्ति परम आवश्यक है।

कषायों की निवृत्ति सयम की आराधना से हो सकती है, अतः दर्शन-ज्ञान और चरित्ररूप रत्नत्रयी की सम्यग् उपासना के द्वारा संयम में प्रवृत्ति करने वाला जीव कर्मो के जाल को तोडकर तथा आत्मा मे रहे हुए कर्म-जन्य अज्ञानान्धकार को दूर करके केवल प्राप्ति के द्वारा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनता हुआ चारो अघाती कर्मो के क्षय होने से परम निवृत्ति-निर्वाण पद-मोक्ष पद को प्राप्त कर लता है, जिसका कि अन्य दार्शनिको ने कैवल्य या विदेहमुक्ति के नाम से उल्लेख किया है।

"**त्ति बेमि**" पद की व्याख्या पहले की तरह ही समझ लेनी चाहिए।

चतुर्दशम् अध्ययनं संपूर्णम्

अह सभिक्खू नाम पंचदहं अज्झयणं

अथ सभिक्षुर्नाम पंचदशमध्ययनम्

चौदहवे अध्ययन मे जो साधक निदान से रहित होकर क्रियानुष्ठान करते हैं, उनके गुणों का वर्णन किया गया है, परन्तु वे गुण भिक्षुओं मे ही उपलब्ध होते हैं, अतः इस पन्द्रहवें अध्ययन मे भिक्षुओं के ही गुणों का यत्किंचित् उल्लेख किया जाता है, जिसकी कि आदिम गाथा इस प्रकार है

मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं, सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने ।
संथवं जहिज्ज अकामकामे, अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥ १ ॥

मौनं चरिष्यामि समेत्य धर्मं, सहितः ऋजुकृतः छिन्ननिदानः ।
संस्तवं जह्यादकामकामी, अज्ञातैषी परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥ १ ॥

पदार्थान्वय –मोणं संयमवृत्ति का, **चरिस्सामि** -आचरण करूंगा, **समिच्च**–विचार कर, **धम्मं**–धर्म का, **सहिए**- सम्यग्दर्शनादि से युक्त, **उज्जुकडे**–ऋजुकृत, **नियाणछिन्ने**–निदान से रहित, **संथवं**–संस्तव का, **जहिज्ज**--छोड़, **अकामकामे**–कामभोगों की कामना न करने वाला वा मुक्ति की कामना करने वाला, **अन्नायएसी**–अज्ञातकुल की भिक्षा करने वाला, **परिव्वए**-- प्रतिबद्धता से रहित होकर विचरे, **स**--वह, **भिक्खू**–भिक्षु होता है।

मूलार्थ–मैं धर्म को प्राप्त करके मुनि-वृत्ति का आचरण करूंगा (ऐसी प्रतिज्ञा वाला) दर्शनादि से युक्त, माया से रहित होकर क्रियानुष्ठान करने वाला, निदान और संस्तव से रहित तथा विषयों की कामना न करने वाला अपितु मोक्ष की इच्छा रखने वाला तथा अज्ञात कुल मे भिक्षा करने वाला जो अप्रतिबद्धविहारी हो, वही भिक्षु होता है।

टीका-इस गाथा मे भिक्षु के कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि–किसी भद्र आत्मा ने यह विचार किया कि मैं अब मुनि-वृत्ति का धारण करूंगा, क्योंकि मुझको धर्म की

प्राप्ति हो गई है। इस विचार के अनुसार जब वह दीक्षित हो गया तो उसके लिए इन नियमों का पालन करना नितान्त आवश्यक है, तभी वह भिक्षु कहला सकेगा। इसीलिए भिक्षु के निम्नलिखित नियम उक्त गाथा मे बताए गए है। यथा–

दर्शनादि से युक्त होना, अर्थात् तत्वार्थ में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला होना, माया अर्थात् कपट से रहित होकर क्रियानुष्ठान करना, किन्तु उसका जो भी क्रियानुष्ठान हो वह सब निदान से रहित हो और सस्तव का त्याग करना। संस्तव का अर्थ है पारिवारिक जनों से सम्बन्ध। पूर्वसंस्तव माता, पिता आदि का और पश्चात् सस्तव श्वसुरादि का तथा मित्रवर्ग का होता है। इस प्रकार के सस्तवों का त्याग करने वाला ही भिक्षु कहला सकता है।

जो विषयों की कामना को छोड़कर मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला हो तथा जो भिक्षा के लिए अपनी तपश्चर्या को न बताता हो ओर प्रतिबन्धरहित होकर विचरने वाला हो जो इन नियमों के पालन करने वाला हो, वह भिक्षु कहलाता है।

यद्यपि वृत्तिकारों ने 'अज्ञातैषी' का अर्थ अपने गुणा को बता कर भिक्षा न लेने वाला किया है, परन्तु दशाश्रुतस्कध के पांचवे अध्ययन मे श्रावक की प्रतिज्ञा के अधिकार मे ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि–'प्रतिज्ञाधारी श्रावक ज्ञातकुल की गोचरी करे, अर्थात् अपनी जाति के घरो में गाचरी कर, क्योंकि उसमे अभी ममत्व का भाव शेष रहता है। जब वह साधु बन गया, तब उसका समार से ममत्व मर्वथा छूट जाता है, तब उसके लिए ज्ञातकुल की गोचरी उचित नहीं रह जाती। इसलिए साधु के लिए अज्ञातकुल की गोचरी का विधान है, इस वर्णन से 'अज्ञातैषी' का ज्ञात कुल से भिक्षा न लेने वाला–यह अर्थ भी संगत प्रतीत होता है।

उक्त गाथा के समुच्चय भाव पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि दीक्षित पुरुष सिह की तरह निर्भय होकर रहे और सिह की तरह ही विचरे।

'नियाणछिन्ने' में **'छिन्न'** शब्द का परनिपात प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार हुआ है।

अब भिक्षु के स्वरूप-वर्णन में उसके अन्य गुणों का वर्णन करते हैं, यथा–

राओवरयं चरेज्ज लाढे, विरए वेयवियायरक्खिए ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥ २ ॥

रागोपरतश्चरेल्लाढः, विरतो वेदविदात्मरक्षितः ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी, यः कस्मिन्नपि न मूर्च्छितः स भिक्षुः ॥ २ ॥

पदार्थान्वय :–राओवरयं–राग से रहित, **लाढे**–सदनुष्ठान से युक्त, **चरेज्ज**–विचरे, **विरए**–विरतियुक्त, **वेयविय**–सिद्धान्त का वेत्ता, **आयरक्खिए**–आत्मरक्षक, **पन्ने**–प्रज्ञावान्,

अभिभूय–परिषहों को जीतकर, सव्वदंसी–सर्वदर्शी, जे–जो, कम्हिवि–किसी वस्तु पर भी, न मुच्छिए–मूर्च्छित नहीं होता, स–वह, भिक्खू–भिक्षु होता है।

मूलार्थ–राग से रहित और सदनुष्ठान-पूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, सिद्धांत का वेत्ता, आत्म-रक्षक, बुद्धिमान् और परीषहों को जीतकर सर्वप्राणियों को अपने समान देखने वाला तथा जो किसी वस्तु पर भी मूर्च्छित अर्थात् आसक्त नहीं होता, वही भिक्षु है।

टीका–इस गाथा में भिक्षु का स्वरूप उसके गुणों द्वारा वर्णन किया गया है, जैसे कि भिक्षु उसे कहते हैं जो राग और द्वेष से रहित हो, क्योंकि राग से रहित पुरुष ही विषयों से निवृत्ति प्राप्त कर सकता है। फिर जो सदनुष्ठान-पूर्वक विचरता है, वह भिक्षु है, क्योंकि सदनुष्ठान-पूर्वक विचरता हुआ जीव ही परोपकार कर सकता है। जो सिद्धान्त को जानकर दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला हो, उसको वेदविदात्मरक्षित कहते हैं अर्थात् वही भिक्षु है। **'वेद्यते अनेन तत्त्वमिति वेदः सिद्धान्तस्तस्य वेदनं वित् तेन आत्मरक्षितो दुर्गतिपतनात् त्रायते अनेनेति वेदविदात्मरक्षित.'** अथवा वेदवित्–सिद्धांत का वेत्ता और आय–ज्ञानादि लाभ के द्वारा आत्मा की रक्षा करने वाला और हेय–ज्ञेय–उपादेय के स्वरूप का ज्ञाता भिक्षु है। जो परीषहों का विजेता, सर्व जीवों पर समभाव रखने वाला और सचित्त, अचित्त एवं मिश्रित रूप किसी पदार्थ पर भी ममत्व न रखने वाला हो वही भिक्षु है। 'सर्वदर्शी' का यह भी अर्थ किया जाता है कि **'सर्व दशति भक्षयति'**–अर्थात् साधु रसगृद्धि को छोड़ता हुआ जैसा आहार मिले उसे समता-पूर्वक सर्व ही भक्षण कर ले, किंतु नीरस समझकर उसे फेंक न दे।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

अक्कोसवहं विइत्तु धीरे, मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥ ३ ॥

आक्रोशवधं विदित्वा धीरः, मुनिश्चरेल्लाढो नित्यमात्मगुप्तः ।
अव्यग्रमना असंप्रहृष्टः, यः कृत्स्नमध्यासयेत् स भिक्षुः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–**अक्कोसवह**–आक्रोश वध को, **विइत्तु**–जानकर, **धीरे**–धैर्यवान, **मुणी**–साधु, **लाढे**–सदनुष्ठानयुक्त, **चरे**–विचरे। **निच्चं**–सदा ही, **आयगुत्ते**–आत्मगुप्त होकर, **अव्वग्गमणे**–व्यग्र मन से रहित, **असंपहिट्ठे**–हर्ष से रहित, **जे**–जो, **कसिणं**–सम्पूर्ण परीषहों को, **अहियासए**–सहन करता है, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु है।

मूलार्थ–आक्रोश–वध आदि परीषहों को अपने किए हुए कर्मों का फल जान कर जो धैर्ययुक्त होकर सहन करता है तथा सदनुष्ठानयुक्त मुनि नित्य ही आत्मगुप्त होकर

देश में विचरता है एवं हर्ष-विषाद से रहित होकर जो सम्पूर्ण परीषहों को सहन करता है, वह भिक्षु है।

टीका–आक्रोश-परीषह अर्थात् दुर्वचन एवं वध-परीषह अर्थात् आत्म-वध का अवसर उपस्थित होने पर मुनि इस बात का विचार करे कि यह सब मेरे पूर्व किए हुए कर्मों का ही फल है, अतः धैर्यशील मुनि उक्त परीषहो के उपस्थित होने पर भी अक्षुब्ध ही रहे, अर्थात् किसी प्रकार का क्षोभ न करे। वह सदा ही आत्मा को असंयत प्रवृत्ति से दूर रखे और सदनुष्ठान-पूर्वक अप्रतिबद्ध होकर देश में विचरे–विहार करे। साथ ही किसी भी परीषह क आने पर मन को व्यग्र न करे, अर्थात् मैंने अमुक परीषह को जीत लिया, देखो मैं कितना शूरवीर हूं, इस प्रकार की गर्वोक्ति से आत्मगत हर्ष को भी प्रकट न करे। इस भांति जो सम्पूर्ण परीषहों पर विजयी होता है वही भिक्षु कहलाने योग्य है।

तात्पर्य यह है कि भिक्षुपद की सार्थकता शांति-पूर्वक कष्टा के सहन मे है, केवल वेष धारण कर लेने मे नहीं।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं–

पन्तं सयणासणं भइत्ता, सीउण्हं विविहं च दंसमसगं ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥ ४ ॥

प्रान्तं शयनासनं भजित्वा, शीतोष्णं विविधं च दंशमशकम् ।
अव्यग्रमना असंप्रहृष्टः, यः कृत्स्नमध्यासयेत् स भिक्षुः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–पन्तं–निस्सार, **सयण**–शय्या, **आसणं**–आसन, **भइत्ता**–सेवन करके, **सीउण्हं**–शीत और उष्ण, **च**–तथा, **विविहं**–नाना प्रकार के, **दंसमसगं**–दश और मशक क परीषहो के प्राप्त होने पर, **अव्वग्गमणे**–आकुलतारहित, **असंपहिट्ठे**–हर्षरहित, **जे**–जो, **कसिणं**–सम्पूर्ण परीषहो को, **अहियासए**–सहन करता है, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु है।

मूलार्थ–निस्सार शय्या और आसन को सेवन करके शीतोष्ण तथा नानाविध दश और मशक परीषहों के प्राप्त होने पर जो हर्ष और विषाद को प्राप्त नहीं होता, किन्तु शांति-पूर्वक सम्पूर्ण परीषहों को सहन कर लेता है, वह भिक्षु है।

टीका–शय्या ओर आसन यदि इच्छानुकूल न मिल ता भी, अर्थात् साधारण शय्या, सामान्य आसन और नीरस भोजन आदि का उपयोग करके शीत, उष्ण तथा दश, मशक आदि परीषहा के उपस्थित होने पर भी जो मुनि व्याकुल नही होता तथा हर्ष और विषाद को प्राप्त नही होता, किन्तु धैर्य-पूर्वक सब परीषहों को सहन कर लेता है, वही भिक्षु है।

अब फिर इसी विषय का उल्लेख करते हैं–

नो सक्कइमिच्छई न पूयं, नोवि य वन्दणगं कुओ पसंसं ।
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥ ५ ॥

न सत्कृतिमिच्छति न पूजां, नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम् ।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी, सहित आत्मगवेषकः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**सक्कइं**–सत्कार को, **नो इच्छई**–नही चाहता, **न पूयं**–न पूजा को चाहता है, **नोवि य**–और न, **वन्दणगं**–वन्दना की इच्छा रखता है, **कुओ**–कहां से, **पसंसं**–प्रशसा की इच्छा करे, **से**–वह, **संजए**–सयत और, **सुव्वए**-सुव्रत, **तवस्सी**–तप करने वाला, **सहिए**–ज्ञान से युक्त, **आयगवेसए**–आत्मा की गवेषणा करने वाला, **स**- वह, **भिक्खू**–भिक्षु है।

मूलार्थ–जो सत्कार और पृजा की इच्छा नहीं रखता, वन्दना और प्रशंसा को नहीं चाहता, वह संयत, सुव्रती, तपस्वी और ज्ञानादि के साथ आत्मा की गवेषणा करने वाला भिक्षु है।

टीका–इस गाथा मे सत्कार-पुरस्कार परीपह की चर्चा की गई है। वास्तव मे भिक्षु वही है जो अपने सत्कार आदि की इच्छा नही रखता। जैसे कि- मेरे आन पर लोग खडे हो जाएं और जब म कही जाऊ तो मेरी भक्ति क निमित्त मुझे छाडने जाएं, वस्त्रादि से मेरी पृजा करे, विधि पूर्वक मरी वन्दना करे तथा समय-समय पर मेरी प्रशसा कर, इत्यादि की भिक्षु के मन म अभिलापा नही हाती। तात्पर्य यह है कि इन सत्कार, पूजा आदि वस्तुओ की जो आकाक्षा नही करता, वह भिक्षु ह, वही सयत -संयमशील सुव्रती–सुन्दर व्रतो वाला, परम तपस्वी–उत्कृष्ट तप करन वाला, ज्ञान और क्रिया से युक्त तथा आत्मा की खोज करने वाला है।

अब फिर इसी विषय की चर्चा करते है–

जेण पुणो जहाइ जीवियं, मोहं वा कसिणं नियच्छइ ।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी, न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥ ६ ॥

येन पुनर्जहाति जीवितं, मोहं वा कृत्स्नं नियच्छति ।
नरनारीं प्रजह्यात् सदा तपस्वी, न च कौतूहलमुपैति स भिक्षुः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वय .–जेण–जिससे, **पुणो**- फिर, **जहाइ**- छाड देता है, **जीवियं**–सयम–जीवितव्य, **वा**–अथवा, **मोहं**–मोह, **कसिणं**–सम्पूर्ण, **नियच्छइ**–बाधता है, **नरनारिं**–पुरुष और स्त्री की संगति को, **पजहे**–छोड देवे, **सया**–सदैव, **तवस्सी**–तप करने वाला, **य**–और, **न कोऊहलं**–नहीं कौतूहल को, **उवेइ**–प्राप्त होता, **स**–वही, **भिक्खू**–भिक्षु है।

मूलार्थ–जिसका संग करने से संयमरूप जीवितव्य अर्थात् परम लक्ष्य छूटता हो, अथवा सम्पूर्ण मोहनीय-कर्म का बन्ध होता हो, ऐसे नर और नारी की संगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड़ देता है और कुतूहलता को प्राप्त नहीं होता, वही भिक्षु कहलाता है।

टीका–इस गाथा में संयम के विघात करने वाले पदार्थों के संसर्ग का निषेध किया गया है, अर्थात् जिनके ससर्ग से सयमरूप जीवन का विनाश होता हो, अथवा मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण प्रकार से बन्ध होता हो, इस प्रकार के पुरुष अथवा स्त्री की सगति को तपस्वी साधु सदा के लिए छोड दे, क्योंकि इनके ससर्ग से आत्मगुणों की विराधना होने की सभावना होती हे तथा कौतूहल-वर्धक व्यापार का भी साधु को सदा त्याग ही रखना चाहिए, क्योंकि इससे मोहनीय कर्म का बध होता है। इसलिए स्त्री आदि की कथा तथा अन्य काम-वर्द्धक विचारो का सर्वथा त्याग करने वाला साधु–मुनि ही भिक्षु कहलाता है।

इस प्रकार भिक्षु के मुख्य कर्त्तव्यों का वर्णन करके अब उसके लिए उसकी जीवन-यात्रा में जिन कामों का निषेध है, उनके विषय में कहते हैं–

छिन्नं सरं भोममन्तलिक्खं, सुविणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं ।
अंगवियारं सरस्स विजयं, जे विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू ॥ ७ ॥

छिन्नं स्वरं भौममन्तरिक्षं, स्वप्नं लक्षणदण्डवास्तुविद्याम् ।
अङ्गविकारं स्वरस्य विजयं, यो विद्याभिर्न जीवति स भिक्षुः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वय :–छिन्नं–छिन्नविद्या, **सरं**–स्वरविद्या, **भोम**–भूकम्पविद्या, **अंतलिक्खं**–अन्तरिक्षविद्या, **सुविणं**–स्वप्नविद्या, **लक्खणं**–लक्षणविद्या, **दंड**–दडविद्या, **वत्थुविज्जं**–वास्तुविद्या, **अंगवियारं**–अंगविचारविद्या, **सरस्स विजयं**–स्वर की विद्या, **जे**–जा, **विज्जाहिं**–उक्त विद्याओ से, **न जीवई**–आजीविका नही करता, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु कहलाता है।

मूलार्थ–छिन्नविद्या, स्वरविद्या, भूकंपविद्या, अन्तरिक्षविद्या, लक्षणविद्या, दण्डविद्या, वास्तुविद्या, अंगविचारविद्या, और स्वर-विद्या–इन विद्याओं से जो अपनी आजीविका-जीवन निर्वाह नहीं करता, वही भिक्षु है।

टीका–इस गाथा में यह बताया गया है कि साधु इन उपर्युक्त विद्याओं के द्वारा शरीर-यात्रा चलाने अर्थात् आहार-पानी आदि की गवेषणा न करे।

छिन्न-विद्या–वस्त्र, काष्ठ आदि के छेदन की विद्या। जैसे कि–इस प्रकार से काष्ठ वा वस्त्र आदि छेदन किया हुआ शुभ फल देता है।

स्वर-विद्या–षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का वर्णन करना।

भूकम्प-विद्या--भूकम्प क द्वारा शुभाशुभ फल का वर्णन करना। यथा--"**शब्देन महता भूमिर्यदा रसति कम्पते। सेनापतिरमात्यश्च राजा राष्ट्रं च पीड्यते ॥**" इत्यादि।

अन्तरिक्ष-विद्या--आकाश में गन्धर्व नगरादि को देखकर उनके शुभाशुभ का विचार करना। जैसे कि--"**कपिलं शस्यघाताय, माञ्जिष्ठे हरणं गवाम्। अव्यक्तवर्ण कुरुते बलक्षोभं न संशयः॥ गन्धर्वनगरं स्निग्ध सप्राकारं सतोरणम्। सौम्या दिशं समाश्रित्य राज्ञस्तद्वि-जयङ्करम्॥**" इत्यादि।

स्वप्न-विद्या-जिसके द्वारा स्वप्न का शुभाशुभ फल बताया जाए। यथा--"**गायने रोदनं ब्रूयान्नर्तने वधबन्धनम्। हसने शोचनं ब्रूयात् पठने कलहं तथा॥**" इत्यादि।

लक्षण-विद्या--जिसक द्वारा स्त्री-पुरुष के लक्षण वर्णन किए जाए। जैस कि--"**चक्षुःस्नेहेन मुखितो दन्तस्नेहेन च भोजनमिष्टम्। त्वक्स्नेहेन च सौख्यं नखस्नेहेन भवति परमधनम्॥**" इत्यादि। तथा पशुओं के शुभाशुभ लक्षण बताने वाली विद्या का भी इसी मे समावेश समझना चाहिए।

दंड-विद्या--काष्ठ के पर्वो-गाठा के फलाफल का वर्णन करना। जेसे कि--"एक पर्व वाली यष्टि प्रशसा करन वाली होती हे, और दो पर्व वाली क्लशकारिणी होती है" इत्यादि।

वास्तु-विद्या-जिसके द्वारा प्रासादादि बनाने के शुभाशुभ लक्षण वर्णन किए जात हे। यथा--"**कुटिला भूमिजाश्चैव, वैनीका, द्वन्द्वजास्तथा। लतिनो नागराश्चैव प्रासादा. क्षिति-मण्डना ॥ सूवताः पदविभागेन, कर्ममार्गेण सुन्दराः। फलावाप्तिकरा लोके भगभेदयुता विभो**"॥ **अण्डकैस्तु विविवतास्ते, निर्गमैश्चारुरूपकैः। चित्रपत्रैर्विचित्रैस्तु विविधाकार-रूपकै** ॥ इत्यादि।

अंग-विद्या-जिसके द्वारा अग-स्फुरण का फलाफल कहा जाए। जेसे कि--सिर क स्फुरण म राज्य की प्राप्ति होती हे, दक्षिण नत्र क स्फुरण स प्रिय का मिलाप होता हे, इत्यादि।

स्वर-विद्या-पशुओं के शब्दो को सुनकर उनके शुभाशुभ फल का विचार करना। यथा--"**गतिस्तारा स्वरो वाम पोदक्याः शुभद. स्मृत। विपरीतः प्रवेशे तु स एवाभीष्टदायकः।**" **तथा**--"**दुर्गास्वरत्रय स्यात् ज्ञातव्यं शाकुनेन नैपुण्यात्। चिलिचिलिशब्दः सफलः सुसुमध्य-श्चलचलो विफलः॥**" इत्यादि।

उक्त प्रकार की विद्याओं से जो अपना जीवन व्यतीत करने वाला है, उसे भिक्षु नही कहा जा सकता, किन्तु भिक्षु वही कहलाता हे जो इन विद्याओं से जीवन व्यतीत नहीं करता।

अब मंत्रादि के द्वारा भिक्षा ग्रहण करने का निषेध करते है--

मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं, वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥ ८ ॥

मंत्रं मूलं विविधं वैद्यचिन्तां, वमनविरेचनधूमनेत्रस्नानम् ।
आतुरस्मरणं चिकित्सकं च, तत् परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वय :–मन्तं–मत्र, **मूलं**–मूल, **विविहं**–नाना प्रकार की, **वेज्जचिन्तं**–वैद्य की चिन्ता, **वमण**–वमन, **विरेयण**–विरेचन, **धूम**–धूम, **नेत्त**–नेत्रौषधि, **सिणाणं**–स्नान, **आउरे**–आतुर अवस्था मे, **सरणं**–माता-पिता आदि की शरण–स्मरण करना, **च**–और, **तिगिच्छियं**–अपने रोग का प्रतिकार करना, **तं**–वह, **परिन्नाय**–ज्ञ-परिज्ञा स जानकर और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड कर, **परिव्वए**–संयम-मार्ग मे चले, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु होता है।

मूलार्थ–मंत्र, मूल, नाना प्रकार की चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम, नेत्रौषधि, स्नान, रुग्ण अवस्था में माता-पिता आदि का स्मरण और अपने रोग की चिकित्सा, इन पूर्वोक्त वस्तुओं को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड कर जो संयम-मार्ग में चलता है, वही भिक्षु है।

टीका -प्रस्तुत गाथा मे यह बताया गया है कि साधु निम्नलिखित कार्य-व्यापारो से अपना जीवन-निर्वाह न करे तथा इन वस्तुओ को व्यवहार मे न लाए–

मंत्र–ॐकार से लेकर स्वाहा पर्यन्त तथा ह्रीकारादि वर्णविन्यासरूप मत्र कहलाता है।

मूल–सहदेवी, मूलिका तथा काकोल्यादि के मूल का रोग-निवृत्ति आदि के लिए उपयोग करना।

वैद्यचिन्ता- औषधि और पथ्य आदि के लिए वैद्य का चिन्तन करना एव वमन कराना, विरेचन देना, मन:शिला आदि औषधियो का धूम के लिए उपयोग करना, नेत्र की औषधि तथा सस्कार-करना और सन्तानोत्पत्ति के लिए मंत्र तथा औषधि के द्वारा अभिमन्त्रित एवं सुसस्कृत जल स स्नान कराना, आतुर अवस्था मे अपन माता-पिता आदि का स्मरण करना और रुग्णावस्था मे अपनी चिकित्सा करना यह सब कुछ भिक्षु के लिए त्याज्य है। जब कि उसने संसार से अपना सबध ही छोड दिया ता फिर उसका इन वस्तुओ को उपयोग मे लाने की आवश्यकता भी नहीं है, अतएव कहा गया है कि जा ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड़कर विशुद्ध सयम-मार्ग मे विचरता है, वही भिक्षुपद को अलकृत करता है, क्योंकि इन पूर्वोक्त मत्रादि क्रियाओ का अनुष्ठान साधु-वृत्ति का कलकित करने वाला है।

अब साधु के त्यागने योग्य अन्य बातों का उल्लेख करते हैं, यथा–

खत्तियगणउग्गरायपुत्ता, माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो ।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥ ९ ॥

क्षत्रियगणोग्रराजपुत्राः, ब्राह्मणा भोगिका विविधाश्च शिल्पिनः ।
नो तेषां वदति श्लोकपूजां, तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–खत्तिय–क्षत्रिय, **गणउग्गरायपुत्ता**–गण, उग्रकुल के पुत्र तथा राजपुत्र, **माहण**–ब्राह्मण, **भोइय**–भोगिकपुत्र, **य**–और, **विविहा**–नानाप्रकार के, **सिप्पिणो**–शिल्पी लोग, **तेसिं**–उनकी, **नो वयइ**–न कहे, **सिलोग**–श्लाघा और, **पूयं**–पूजा–सत्कार, **तं**–उसको, **परिन्नाय**–जानकर, **परिव्वए**–संयम-मार्ग में चले, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु है।

मूलार्थ–क्षत्रिय, गण, उग्रकुल, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और नाना प्रकार के शिल्पी लोग, जो इनकी श्लाघा और पूजा को नहीं कहता और उसको ज्ञ-परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड़ कर संयम-मार्ग में विचरता है, वही भिक्षु कहलाता है।

टीका–इस गाथा मे साधु को उक्त पुरुषों की श्लाघा करने और इनके सत्कार-पुरस्कार में सम्मति देने का निषेध किया गया है। जैसे कि–क्षत्रिय राजा, मल्लादि समूह, आरक्षकादि कुल तथा राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगकुल के पुत्र और नाना प्रकार के शिल्पी लोग–सुनार आदि–इनकी श्लाघा (ये बहुत अच्छा काम करने वाले हैं, खूब निशाना लगाते हैं, खूब युद्ध करते हैं) और पूजा–सत्कार (इनको यह उपहार देना चाहिए, इनका इस विधि से सत्कार करना चाहिए इत्यादि) आदि करने के लिए किसी से न कहे, अर्थात् उक्त प्रकार से इनके कार्यों का समर्थन न करे, क्योंकि ऐसा करने पर पापादि कर्मों की अनुमोदना होती है। इस प्रकार जानकर जो साधु संयम-मार्ग में विचरता है, वही सच्चा भिक्षु है।

इसके अतिरिक्त इनकी श्लाघा पूजा के कथन से इनके परिचय की वृद्धि होती है, इनके संसर्ग मे अधिक आना पडता है जो कि दोषो का मूल है। इसलिए भी साधु के लिए इनका निषेध किया गया है।

निम्नलिखित बातों का भी साधु के लिए निषेध है, यथा–

गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा, अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा, जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥ १० ॥

गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टाः, अप्रव्रजितेन च संस्तुता भवेयुः ।
तेषामिहलौकिकफलार्थं, यः संस्तवं न करोति स भिक्षुः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–गिहिणो–गृहस्थ, **जे**–जो, **पव्वइएण**–प्रव्रजित होने के पश्चात्, **दिट्ठा**–परिचित हों, **व**–अथवा, **अप्पव्वइएण**–गृहस्थावास मे, **संथुया**–परिचित, **हविज्जा**–हों, **तेसिं**–उनका, **इहलोइय**–इस लोक के, **फलट्ठा**–फल के लिए, **जो**–जो, **संथवं**–संस्तव, **न करेइ**–नहीं करता, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु होता है।

मूलार्थ–जो पुरुष दीक्षित होने पर परिचित होने वाले गृहस्थों का गृहस्थ-वास में अथवा परिचितों का इस लोक में होने वाले फल के लिए संस्तव–स्तुति या विशेष परिचय नहीं करता वह भिक्षु है।

टीका–इस गाथा मे साधु को पूर्व-परिचित अथवा दीक्षा के बाद परिचय में आने वाले गृहस्थों के साथ ऐहिक फल - वस्त्र–पात्रादि की प्राप्ति के निमित्त परिचय करने का निषेध किया गया है, क्योंकि इस प्रकार का परिचय करना साधु-वृत्ति के सर्वथा विरुद्ध है, किन्तु धर्मोपदेश के लिए इसका निषेध नही, क्योकि वहा पर किसी ऐहिक फल की आशा नही होती। अतएव शास्त्रकारो ने साधु को धर्मोपदेश देने की सर्वप्रकार से छूट रखी है, अर्थात् जो सुनना चाहे, उसको उपदश देवे और जिनकी इच्छा न भी हो उनको भी साधु धर्म का उपदेश देवे, परन्तु उसमे किसी ऐहिक फल की इच्छा का समावेश न होना चाहिए।

अब फिर कहते हैं–

सयणासणपाणभोयणं, विविहं खाइमसाइमं परेसिं ।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे, जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ॥ ११ ॥

शयनासनपानभोजनं, विविधं खाद्यं स्वाद्यं परैः ।
अददभिः प्रतिषिद्धः निर्ग्रन्थो, यस्तत्र न प्रदुष्यति स भिक्षुः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वय–सयण–शय्या, **आसण**–आसन, **पाण**–पान, **भोयणं**–भोजन, **विविहं**–नाना प्रकार के, **खाइम**–खादिम, **साइमं**–स्वादिम, **परेसिं**–पर–गृहस्थो के, **अदए**–न देने से, **पडिसेहिए**–निषेध करने पर, **नियंठे**–निर्ग्रन्थ, **जे**–जो, **तत्थ**–उनसे, **न पउस्सई**–द्वेष नही करता, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु है।

मूलार्थ–शय्या, आसन, पानी और भोजन तथा नाना प्रकार के खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ, गृहस्थों के न देने से अपितु निराकरण अर्थात् निषेध करने पर भी जो निर्ग्रन्थ द्वेष या क्रोध नहीं करता वह भिक्षु है।

टीका–इस गाथा में यह बताया गया है कि भिक्षा के लिए किसी गृहस्थ के घर में गए हुए साधु को वह गृहस्थ यदि भिक्षा न दे प्रत्युत तिरस्कार-पूर्वक साधु को वहां से हटा दे तो निर्ग्रन्थ साधु उस पर किसी प्रकार का द्वेष-भाव न करे। जैसे कि शय्या, आसन, भोजन, पानी

तथा नाना प्रकार के खादिम–पिड खर्जूरादि–पर्दाथ तथा इलायची, लवंग आदि स्वादिम पदार्थो में से किसी पदार्थ की याचना करने पर साधु को गृहस्थ न दे, किंतु भर्त्सना-पूर्वक वहां से चले जाने को कहे, ऐसी अवस्था मे भी जो निर्ग्रन्थ–साधु उस गृहस्थ से द्वेष नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है।

तात्पर्य यह है कि साधु का यह कर्त्तव्य है–धर्म है कि वह अपने लिए प्रासुक वस्तुओ की गवेषणा करे और गृहस्थ के घर में जाकर अमुक आवश्यक वस्तु की याचना करे। आगे यह गृहस्थ की इच्छा पर निर्भर है कि वह साधु को दे या न दे। साधु को तो देने पर अथवा न देने पर समभाव म ही रहना उचित है, कितु किसी पर राग या द्वेष करना साधु का धर्म नहीं है, इसीलिए वह निर्ग्रन्थ कहलाता है, क्योकि उसमें राग-द्वेष की ग्रथि नहीं होती, अतएव उसके समीप शत्रु और मित्र दानो समान हाते है।

प्रस्तुत गाथा मे खादिम और स्वादिम शब्द सचित्त और अचित्त दोनो के लिए प्रयुक्त हुए है, परन्तु साधु के लिए वही पदार्थ ग्राह्य होगा जो कि अचित्त, प्रासुक अथवा निर्दोष होगा, अत: इलायची आदि सचित्त पदार्थो को साधु स्वीकार नही कर सकता।

यहा पर "**परेसिं**" यह पचमी के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार भिक्षा-सम्बन्धी सर्वदोषों का उल्लेख हो जाने पर अब ग्रासैषणा दोष के परिहार के विषय में कहते हैं–

जं किंचि आहारपाणगं विविहं, खाइमसाइमं परेसिं लद्धुं ।
जो तं तिविहेण नाणुकम्पे, मणवयकायसुसंवुडे स भिक्खू ॥ १२ ॥

यत्किञ्चिदाहारपानकं विविधं, खाद्य स्वाद्यं परेभ्यो लब्ध्वा ।
यस्तत् त्रिविधेन नानुकम्पेत, संवृतमनोवाक्कायः स भिक्षुः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वय :–जं–जो, **किंचि**–किचिन्मात्र, **आहार**–आहार, **पाणगं**–पानी, **विविहं**–नाना प्रकार के, **खाइम**-खादिम, **साइमं**–स्वादिम, **परेसिं**-गृहस्थों से, **लद्धुं**–मिलने पर, **जो**–जो, **तं**-उस आहार से, **तिविहेण**–तीनो योगा से, **अणुकंपे**–अनुकम्पा, **न**–नही करता, वह भिक्षु नहीं किन्तु, **जे**–जिसने, **मण**–मन, **वय**–वचन, **काय**–काया, **सुसवुडे**–भली प्रकार से संवृत किए है, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु होता है।

मूलार्थ–यत्किंचित् आहार, पानी तथा नाना प्रकार के खादिम, स्वादिम पदार्थ गृहस्थों से प्राप्त करके जो उस आहार से त्रिविध योग द्वारा बाल, वृद्ध और ग्लानादि पर अनुकम्पा नहीं करता, वह भिक्षु नहीं, किंतु जिसने मन, वचन और काया को भली प्रकार से संवृत किया है, वही भिक्षु है।

टीका—इस गाथा में यह भाव प्रकाशित किया गया है कि साधु, आहार पानी में रसासक्ति को छोड़कर, अंगारदोष को छोड़कर तथा संविभागी होकर वृद्ध, बाल और ग्लानादि की रक्षा करे। इसीलिए कहा है कि जो यत्किंचित् आहार-पानी तथा खादिम स्वादिमादि के मिलने पर उससे मन, वचन और काया के द्वारा वृद्ध, ग्लान और बाल आदि की रक्षा नही करता, वह भिक्षु नहीं, किन्तु जो मन, वचन और काया को भली प्रकार से संवृत करने वाला तथा प्राप्त हुए आहारादि से वृद्ध, ग्लानादि की रक्षा करने वाला हो, वही भिक्षु है।

अथवा यहां पर 'न' के स्थान मे 'ना' समझकर उसका पुरुष अर्थ कर लेने से उक्त गाथा का सरल और सीधा यह अर्थ करना चाहिए कि जो 'ना' साधु पुरुष, गृहस्थ के घर से उपलब्ध हुए विशुद्ध आहारादि द्वारा मन, वचन और काया से बाल, वृद्ध और ग्लान पर अनुकम्पा करता है, वह भिक्षु है।

इस प्रकार अंगार-दोष के त्यागने पर अब धूमदोष के परिहार के विषय में कहते है—

आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं सोवीरजवोदगं च ।
न हीलए पिण्डं नीरसं तु, पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ॥ १३ ॥

आयामकं चैव यवौदनं च, शीतं सौवीरं यवोदकं च ।
न हीलयेत् पिण्डं नीरसं तु, प्रान्तकुलानि परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥ १३ ॥

पदार्थान्वय :—आयामगं—अवश्रावण, **च**—समुच्चयार्थक है, **एव**—पादपूरणार्थक है, **च**—और, **जवोदणं**—यव का भात, **सीयं**—शीतल आहार, **सोवीर**—काजी के बर्तन का धोवन, **च**—और, **जवोदगं**—यवो का धोवन, **नो हीलए**—इनकी हीलना न करे, **तु**—वितर्क अर्थ मे, **पिंडं नीरसं**—नीरस पिड की भी निन्दा न करे, **पंतकुलाइं**—जो प्रान्तकुल है उनमे, **परिव्वए**—जाए, **स**—वह, **भिक्खू**—भिक्षु हाता है।

मूलार्थ—आयामक, यवभात, शीतल आहार, सौवीर, जौ के पानी और नीरस आहार की जो अवहेलना अर्थात् निन्दा नहीं करता तथा प्रान्तकुल में भिक्षा को जाता है, वही भिक्षु है।

टीका—आयामक और यवो का भात शीतलपिड, कांजी का धोवन, यवो का धोवन और नीरस आहार (जिसमें रस स्वल्प हो और जो बलप्रद न हो) गृहस्थो के घर से इस प्रकार के आहार-पानी के मिलने पर जो उस आहार पानी की अवहेलना नहीं करता—तिरस्कार या निन्दा नहीं करता तथा भिक्षा के लिए प्रायः प्रान्तकुलों में ही जाता है, वही सच्चा भिक्षु है। जिन सामान्य परिवारो मे प्रायः सरस आहार की उपलब्धि नहीं होती, वे "प्रान्तकुल" कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिन घरों मे बढ़िया और सरस आहार की योगवाही नहीं, उन्हीं घरों में प्राय: आहार के लिए जाना और जिन घरों में सरस और सुन्दर आहार मिलता हो, उन घरों में प्राय: उदासीन रहना तथा वहाँ से जैसा आहार मिल जाए उसी में संतोष मानना और उक्त आहार से किसी प्रकार की घृणा न करना, किंतु समतापूर्वक उससे क्षुधा की निवृत्ति करना, यह उज्ज्वल और निर्दोष मुनिवृत्ति है और उसी का अनुसरण करने वाला भिक्षु माना जा सकता है।

आयामक शब्द की वृत्तिकार ने **"आयाममेव आयामकम्–अवश्रावणम्"** यह व्याख्या की है।

अब भिक्षु की एक और कसौटी बताते हैं, जिसके द्वारा भिक्षु के स्वरूप की और भी अधिक स्पष्टता हो जाती है। यथा–

सद्दा विविहा भवन्ति लोए, दिव्वा माणुस्सगा तिरिच्छा ।
भीमा भयभेरवा उराला, जो सोच्चा न विहिज्जई स भिक्खू ॥ १४ ॥

शब्दा विविधा भवन्ति लोके, दिव्या मानुष्यकास्तैरश्चाः ।
भीमा भयभैरवा उदाराः, यः श्रुत्वा न बिभेति स भिक्षुः ॥ १४ ॥

पदार्थान्वय :–सद्दा–शब्द, **विविहा**–नाना प्रकार के, **लोए**–लोक में, **भवन्ति**–होते है, **दिव्वा**–दवसम्बन्धी, **माणुस्सगा**–मनुष्य सम्बन्धी तथा, **तिरिच्छा**–तिर्यञ्चसम्बन्धी, **भीमा**–रौद्र शब्द, **भयभेरवा**–भय से भैरव–भयकर–भय के उत्पादक, **उराला**–प्रधान शब्द, **जो**–जो, **सोच्चा**–सुनकर, **न**–नही, **विहिज्जई**–भय का प्राप्त होता, **स**–वह, **भिक्खू**–भिक्षु होता है।

मूलार्थ–देवता, मनुष्य और तिर्यञ्चसम्बन्धी नाना प्रकार के अति भयानक और रौद्र शब्द लोक मे होते हैं, उन शब्दो को सुनकर जो भयभीत नहीं होता, वही भिक्षु है।

टीका–इस गाथा म साधु को परम साहसी ओर हर प्रकार से निर्भय रहने का उपदेश दिया गया है। लोक मे अनेक प्रकार क भयानक शब्द होते है, उनमे से अनेक देवतासबधी और अनेक मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी हुआ करते है। उन शब्दो को सुनकर जो भय से त्रस्त नही होता, अर्थात् अपनी धारणा से नहीं गिरता, वह भिक्षु है।

तात्पर्य यह हे कि कभी-कभी दवता आदि परीक्षा के निमित्त अथवा किसी द्वेष के कारण धर्मध्यान मे लगे हुए साधु को धर्मपथ से गिराने के लिए उसक समीप आकर अनेक प्रकार के भयंकर शब्द करते हैं, जिनको सुनकर साधक अपने ध्यान से च्युत होकर अपने अभीष्ट साध्य की प्राप्ति से वञ्चित रह जाए. परन्तु विचारशील साधु को इस प्रकार के भयोत्पादक शब्दों को सुनकर भी अपने धर्मध्यान से कभी विचलित नही होना चाहिए। जिस महात्मा ने इस प्रकार की

दशा के उपस्थित होने पर भी अपने मन को विचलित नहीं किया, वही अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकता है, अर्थात् उसी की आत्मा अपने गुणों के विकास में उत्क्राति पैदा कर सकती है, इसलिए जो व्यक्ति किसी भयोत्पादक शब्द के कारण अपने शांति और धैर्य गुण के उत्कर्ष में अन्तर नहीं आने देता, किन्तु उसके द्वारा अपने आत्मा मे उत्तरोत्तर विकास का सम्पादन करता है, वही भिक्षु है।

धर्म का मूल सम्यक्त्व है, अब उसी की दृढ़ता के विषय में कहते हैं—

वायं विविहं समिच्च लोए, सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ॥ १५ ॥

वादं विविधं समेत्य लोके, सहितः खेदानुगतश्च कोविदात्मा ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी, उपशान्तोऽविहेठकः स भिक्षुः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—वायं—वाद, **विविहं**—विविध प्रकार, **समिच्च**—जान करके, **लोए**—लाक में, **सहिए**—ज्ञानादि से युक्त वा स्वहित के करने वाला, **य**—और, **खेयाणुगए**—सयम के अनुगत तथा, **कोवियप्पा**—कोविदात्मा, **पन्ने**—प्रज्ञावान्, **अभिभूय**—परीषह को जीतकर, **सव्वदंसी**—सर्व जीवों को आत्मा के समान देखने वाला, **उवसन्ते**—उपशान्तात्मा, **अविहेडए**—किसी को विघ्न न करने वाला, **स**—वह, **भिक्खू**—भिक्षु हाता है।

मूलार्थ—लोक में होने वाले नाना प्रकार के वादों को जानकर, ज्ञान से युक्त, संयम का पालन करता हुआ, कोविदात्मा, प्रज्ञावान् और सर्व प्रकार के परीषहों को जीतकर संसार के सभी प्राणियों को अपने समान देखने वाला उपशान्तात्मा तथा जो किसी को भी विघ्न करने वाला नहीं है, वह भिक्षु है।

टीका—प्रस्तुत गाथा का सक्षिप्त भावार्थ यह है कि—हर प्रकार के दर्शनो के विवाद को सुनकर भी साधु को अपने आत्मीय ज्ञान—सम्यक्त्व से कभी विचलित नही होना चाहिए। जैसे कि ससार में अनेक प्रकार के वादी लोग हैं जो कि अपने-अपने दर्शन के वशीभूत हुए परस्पर वाद-विवाद करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे है। कुछ इस जगत् को ईश्वरकृत मानते हैं, कुछ स्वभावजन्य कहते हैं, कुछ वाममार्ग पर आरूढ है तो कुछ पाँचभौतिक अर्थात् पाँच भूतो के उपासक है। किसी का कथन है कि—**'सेतुकरणेऽपि धर्मो भवत्यसेतुकरणेऽपि किल धर्मः। गृहवासेऽपि च धर्मो वनेऽपि वसतां भवति धर्मः। मुंडस्य भवति धर्मः, तथा जटाभिः सवाससां धर्मः।'** इत्यादि। दार्शनिको के इन जटिल वाद-विवादों को सुनकर और जानकर साधु अपने सम्यग् ज्ञानादि से विचलित न हो तथा अपने आत्मा के हित से भी पराङ्मुख न हो, क्योकि

लोक मे इस प्रकार के विवादग्रस्त विचारों का मूल कारण मिथ्यात्वादि दोष ही है। साधु को तो कर्मक्षय के हेतुभूत विशुद्ध सयम का ही अनुसरण करना चाहिए।

जिसने शास्त्रों के द्वारा आत्मा क स्वरूप को जान लिया है, उसको कोविदात्मा अर्थात् पंडित कहते हैं। प्रज्ञावान् उसको कहते है, जिसके मन में सदसत् वस्तु का पूर्ण विवेक है, अर्थात् जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है, अतएव वह परीषहो पर विजय प्राप्त करके सर्वदर्शी हो जाता है, अर्थात उसकी विवेकपूर्ण दृष्टि मे विपमता का कोई स्थान नहीं रहता, कितु जीवमात्र को वह अपने ही स्वरूप मे देखता है।

वह उपशान्तात्मा है अतएव जीवमात्र का अपने आत्मा के समान देखता हुआ वह किसी के भी कार्य का विघातक नही होता, अर्थात् किसी के कार्य में विघ्न अथवा हानि करने वाला नही बनता। माराश यह है कि जा व्यक्ति इन उक्त गुणो से युक्त है, वही भिक्षुपद को सार्थक करन वाला होता है।

इस विषय मे इतना और समझ लेना चाहिए कि सिद्धात के विषय मे जैन भिक्षु का मन्तव्य दूसरा से चाहे भिन्न ही है, तो भी दूसरो को अन्तराय अथवा दूसरो से वितंडावाद करना तथा वाद विवाद क लिए दूसरो को बलात् आमंत्रित करना, उसकी साधु-मर्यादा से सर्वथा बाहर है, इसलिए इन बातो को विचारशील माधु को कभी आचरण मे नहीं लाना चाहिए।

''**खेदानुगतः**'' का अर्थ है सयम से युक्त होना। वृत्तिकार को भी यही अर्थ अभिमत है, यथा--''**खेदयति कर्म अनेनेति खेदः संयमस्तेनानुगतो युक्तः**' अर्थात् जिसके द्वारा कर्मो को खेदित--व्यथित--किया जाए उसको खेद कहते है, वह सयम है, जो उसके अनुगत अर्थात् युक्त हो, वह खेदानुगत अर्थात् संयमयुक्त कहलाता है।

अब अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार फिर भिक्षु के ही स्वरूप का वर्णन करते हैं। यथा–

असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइन्दिओ सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी, चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥ १६ ॥

त्ति बेमि ।

इति सभिक्खुयं पंचदसमं अज्झयणं समत्तं ॥ १५ ॥

अशिल्पजीव्यगृहोऽमित्रः, जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
अणुकषायी लघ्वल्पभक्षी, त्यक्त्वा गृहमेकचरः स भिक्षुः ॥ १६ ॥

इति ब्रवीमि ।

इति सभिक्षुकं पञ्चदशमध्ययनं समाप्तम् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—असिप्पजीवी—शिल्पकला से आजीविका न करने वाला, **अगिहे**—घर से रहित, **अमित्ते**—मित्ररहित, **जिइन्दिओ**—जितेन्द्रिय, **सव्वओ**—सर्व प्रकार से, **विप्पमुक्के**—बन्धन से मुक्त, **अणुक्कसाई**—अल्प कषाय वाला, **अप्प**—अल्प, **लहु**—हलका, निस्सार, **भक्खी**—भक्षण करने वाला, **गिहं**—घर को, **चिच्चा**—छोड़ करके, **एगचरे**—रागद्वेष से रहित होकर अकेला ही जो विचरता है वा गुणयुक्त होकर अकेला ही जो विचरता है, **स**—वह, **भिक्खू**—भिक्षु है। **त्ति**—इस प्रकार, **बेमि**—मैं कहता हूं।

मूलार्थ—अशिल्पजीवी, गृह से रहित, मित्र और शत्रु से रहित, जितेन्द्रिय, सर्वप्रकार से बन्धनमुक्त, अल्प कषाय वाला, स्वल्प और लघु भोजन करने वाला और घर को छोड़कर जो अकेला विचरता है, वह भिक्षु कहलाता है।

टीका—इस गाथा में सामान्यरूप से भिक्षु के सारे गुणो को वर्णन कर दिया गया है, अर्थात प्रस्तुत गाथा मे भिक्षु के जिन गुणो का उल्लेख किया गया है, उनमे अन्य समस्त गुणो का समावेश हो जाता है। साधु शिल्पकला—चित्र, पत्र-छेदन आदि के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह न करे। उसका किसी प्रकार का भी कोई घर या मठ नही होना चाहिए तथा संसार मे साधु का कोई मित्र अथवा शत्रु भी नही होना चाहिए, अर्थात् उसमे राग-द्वेष नही होना चाहिए, क्योंकि ससार में मित्रता और शत्रुता के कारण राग और द्वेष ही है। राग से मित्रता और द्वेष से शत्रुता पैदा होती है।

साधु जितेन्द्रिय होना चाहिए, अर्थात् इद्रियो पर उसका पूरा नियत्रण हो और वह सर्व प्रकार से सासारिक बन्धनो से मुक्त हो एव अल्पकषायी—सज्वलनरूप कषायों वाला हो। तात्पर्य यह है कि उसमे क्रोध, मान, माया और लोभ की मात्रा बहुत ही स्वल्प हो।

इसके अतिरिक्त वह बहुत ही थाड़ा तथा निःसार भोजन करने वाला हो तथा घर को छोडकर वनो मे एव अन्यत्र सिह की तरह अकेला ही निर्भय होकर विचरने वाला हो। ये उक्त गुण जिस व्यक्ति मे विद्यमान हों वह भिक्षु है, वह मुनि है और वही सच्चा त्यागशील साधु है।

"**अशिल्पजीवी**" इस कथन से यह भी ध्वनित होता है कि साधु शिल्पकला के जानने वाला तो भले ही हो, परन्तु उसके द्वारा आजीविका करने वाला नहीं होना चाहिए।

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी स कहते है कि हे जम्बू ! जैसे मैने भगवान् से श्रवण किया है, वैसे ही मैंने तेरे प्रति कह दिया है, इसमे मेरी निजी कल्पना कुछ नहीं है।

पञ्चदशमध्ययन सम्पूर्णम्

अह बम्भचेरसमाहिठाणाणाम सोलसमं अज्झयणं

अथ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं नाम षोडशमध्ययनम्

गत पन्द्रहवे अध्ययन में साधु के गुणो का वर्णन किया गया है, परन्तु वे गुण, अपनी स्थिति के लिए सब से प्रथम ब्रह्मचर्य की अपेक्षा रखते है, अत: इस सोलहवे अध्ययन मे ब्रह्मचर्य का ही विविध दृष्टियो से निरूपण किया जाता है, जिसका आदिम सूत्र यह है-

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता, जे भिक्खू सुच्चा निसम्म संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिंदिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्-इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य बहुलसंयमो, बहुलसंवरो, बहुलसमा-धिर्गुप्तो, गुप्तेन्द्रियो, गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत्।

पदार्थान्वयः-सुयं--सुना है, **मे**--मैने, **आउसं**-हे आयुष्मन् ! **तेणं**-उस, **भगवया**-भगवान् ने, **एव**--इस प्रकार, **अक्खायं**-कथन किया है, **इह**-इस क्षेत्र मे या इस प्रवचन में, **खलु**-निश्चय ही, **थेरेहिं**-स्थविरो ने, **भगवंतेहिं**- भगवतो ने, **दस**-दस, **बम्भचेर**-ब्रह्मचर्य के, **समाहिठाणा**-समाधि-स्थान, **पण्णत्ता**-प्रतिपादन किए है, **जे**-जिनको, **भिक्खू**-भिक्षु, **सुच्चा**-सुन करके, **निसम्म**--विचार करके, **संजमबहुले**-सयम-बहुल, **संवरबहुले**-सवर-बहुल, **समाहिबहुले**-समाधि-बहुल, **गुत्ते**-मन, वचन और काया जिसके गुप्त हैं, **गुत्तिंदिए**-गुप्तेन्द्रिय, **गुत्तबम्भयारी**-गुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी, **सया**-सदा, **अप्पमत्ते**-अप्रमत्त होकर, **विहरेज्जा**-विचरे।

मूलार्थ—हे आयुष्मन्! मैंने सुना है और श्री भगवान् ने इस प्रकार कहा है—इस क्षेत्र वा जिनशासन में स्थविर भगवंतों ने ब्रह्मचर्य के दश समाधि-स्थान प्रतिपादन किए हैं, जिनको सुनकर और हृदय में विचार कर भिक्षु धारण करे, जिससे कि वह संयम-बहुल, संवर-बहुल, समाधि-बहुल और मन-वचन-काय-गुप्त, गुप्तेन्द्रिय और गुप्तब्रह्मचारी सदा अप्रमत्त होकर विचरे।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है- श्री भगवान् ने इस प्रकार कथन किया है—इस क्षेत्र में वा इस प्रवचन में पूज्य गणधरों ने दश प्रकार के ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थानो का प्रतिपादन किया है, जिन समाधि- स्थानों को शब्द से सुनकर और अर्थ से सुनिश्चित करके, संयम, संवर अर्थात् आस्रव-निरोध और समाधि की अधिकाधिक साधना करे, क्योंकि समाधि की बहुलता ब्रह्मचर्य पर ही अवलंबित है, फिर मन, वचन और काया को वश मे कर तथा पाचों इन्द्रियों को विषयों से हटाकर गुप्तेन्द्रिय होवे एव ब्रह्मचर्य की नवगुप्तियां के सेवन से गुप्तब्रह्मचारी ओर सदा अप्रमत्त होकर विचरे, अर्थात् अप्रतिबद्धविहारी होकर सर्वत्र म विचरण कर।

इस गाथा में सयम की बहुलता आदि के कथन से ब्रह्मचर्य की गुप्तियो के फल का भी निर्देश कर दिया गया है तथा ब्रह्मचर्य को समाधि का मुख्य स्थान बताया है, क्योंकि इसके बिना चित्त की समाधि नही हो सकती।

यहां ''संजमबहुले'' इस पद में 'बहुल' शब्द का अर्थ है प्रभूत गुणों को उत्पन्न करने वाला। 'बहु' का अर्थ है अत्यन्त—लातीति 'लः' अर्थात् जो अधिक गुणों का उत्पादक हो वह बहुल है।

अब शिष्य प्रश्न करता है, यथा—

कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिंदिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य बहुल-संयमो, बहुल-संवरो, बहुलसमाधिर्गुप्तो, गुप्तेन्द्रियो, गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत्।

पदार्थान्वयः—कयरे—कौन, **खलु**—निश्चय से, **ते**—वे, **थेरेहिं**—स्थविर, **भगवन्तेहिं**—भगवन्तो ने, **दस**—दश, **बंभचेर**—ब्रह्मचर्य के, **समाहि**—समाधि के, **ठाणा**—स्थान, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किए है, **जे**—जिनको, **भिक्खू**—भिक्षु, **सोच्चा**—सुन करके, **निसम्म**—हृदय मे अवधारण करके,

संजम-बहुले—सयम-बहुल, **संवर-बहुले**—सवर-बहुल, **समाहि-बहुले**—समाधि-बहुल, **गुत्ते**—मन, वचन और काया जिसके गुप्त है, **गुत्तिंदिए**—गुप्तेन्द्रिय, **गुत्तबम्भयारी**—गुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी, **सया**—सदैव, **अप्पमत्ते**—अप्रमत्त होकर, **विहरेज्जा**—विचरे।

मूलार्थ—वे कौन से दश ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थान स्थविर भगवंतों ने प्रतिपादन किए हैं, जिनको शब्द से सुनकर, अर्थ से निश्चित करके भिक्षु संयम-बहुल, समाधि-बहुल और मन-वचन-कायगुप्त, गुप्तेन्द्रिय और गुप्तब्रह्मचारी बनकर सदा अप्रमत्त होकर विचरे।

टीका—शिष्य गुरु से पूछता है—हे भगवन् ! वे कौन से दश ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थान हैं, जिनको सुनकर और अर्थ से सुनिश्चित करके भिक्षु संयम, सवर और समाधि की अधिकाधिक साधना करे और मन, वचन तथा काया को वश में करे तथा पांचों इन्द्रियों को विषयों से हटाकर गुप्तेन्द्रिय हावे, एवं ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरण करे।

अब गुरु उत्तर देते हैं, यथा—

इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिंदिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

इमानि खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य बहुलसंयमो, बहुलसंवरो, बहुलसमाधिर्गुप्तो, गुप्तेन्द्रियो, गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत्।

पदार्थान्वयः—**इमे**—ये, **खलु**—निश्चय से, **ते**—वे, **थेरेहिं**—स्थविर, **भगवन्तेहिं**—भगवन्तो ने, **दस**—दश, **बम्भचेर**—ब्रह्मचर्य क, **समाहिठाणा**—समाधि-स्थान, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किए हैं, **जे**—जिनको, **भिक्खू**—भिक्षु, **सोच्चा**—सुन करके, **निसम्म**—हदय मे अवधारण करके, **संजमबहुले**—संयमबहुल, **संवरबहुले**—संवरबहुल, **समाहिबहुले**—समाधिबहुल, **गुत्ते**—मन, वचन और काया जिसके गुप्त है, **गुत्तिंदिए**—गुप्तेन्द्रिय, **गुत्तबम्भयारी**—गुप्तियो के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी, **सया**—सदैव, **अप्पमत्ते**—अप्रमत्त हाकर, **विहरेज्जा**—विचरे।

मूलार्थ—स्थविर भगवंतों ने निम्नलिखित ब्रह्मचर्य के दश समाधि-स्थान प्रतिपादन किए हैं, जिनको सुनकर और समझ कर भिक्षु संयम-बहुल, संवर-बहुल, समाधि-बहुल और मन-वचन-कायगुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरण करे।

टीका—शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते है—वे ब्रह्मचर्य के दश समाधि-स्थान

ये हैं, जिनका कि आगे उल्लेख किया जा रहा है, जिनको सुनकर व विचार कर भिक्षु संयम, संवर और समाधि की अधिकाधिक साधना करता है, वह मन, वचन तथा काया को वश में करे और पाचो इन्द्रियो को विषयों से हटाकर गुप्तेन्द्रिय होकर ब्रह्मचर्य की नवगुप्तियों के सेवन से गुप्तब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरे।

अब ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थानों में से प्रथम स्थान के विषय में कहते हैं-

तं जहा-विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा, समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ वा भंसेज्जा, तम्हा नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे ॥ १ ॥

तद्यथा-विविक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः। न स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः। तत् कथमिति चेत्? आचार्य आह-निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेवमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा, समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः ॥ १॥

पदार्थान्वयः-तं जहा-जैसे कि, **विवित्ताइं**-विविक्त-एकान्त-स्त्री, पशु, पंडक से रहित, **सयणासणाइं**-शय्या और आसन, **सेवित्ता**-सेवन करे, **से**-वह, **निग्गन्थे**-निर्ग्रन्थ, **हवइ**-है, **नो**-नही, **इत्थी**-स्त्री, **पसु**-पशु, **पण्डग**-नपुंसक से, **संसत्ताइं**-ससक्त, **सयणासणाइं**-शय्या और आसन, **सेवित्ता**-सेवन करने वाला, **हवइ**-होवे, **से**-वह, **निग्गन्थे**-निर्ग्रन्थ है, **तं**-वह, **कहं**-केसे, **इति चे**-यदि ऐस कहा जाए तो, **आयरियाह**-आचार्य कहते हैं, **निग्गन्थस्स**-निर्ग्रन्थ को, **खलु**-निश्चय से, **इत्थी**-स्त्री, **पसु**-पशु, **पण्डग** नपुसक, **संसत्ताइं**-ससक्त, **सयणासणाइं**-शयनासनादि का, **सेवमाणस्स**-सवन करते हुए, **बंभयारिस्स**-ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**-ब्रह्मचर्य में, **संका**-शंका, **वा**-अथवा, **कंखा**-आकांक्षा, **वा**-अथवा, **विइगिच्छा**-सन्देह, **वा**-अथवा, **समुप्पज्जेज्जा**-उत्पन्न होवे, **भेयं**-भेद, **वा**-अथवा, **लभेज्जा**-प्राप्त होवे, **वा**-समुच्चय अर्थ में है, **उम्मायं**-उन्माद को, **पाउणिज्जा**-प्राप्त होवे, **दीहकालियं वा**-अथवा दीर्घकालिक, **रोगायंकं**-रोगातड्क, **हवेज्जा**-होवे, **केवलिपण्णत्ताओ**-केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**-धर्म से,

भंसेज्जा–भ्रष्ट होवे, **तम्हा**–इसलिए, **खलु**–निश्चय से, **नो**–नही, **इत्थी**–स्त्री, **पसु**–पशु, **पण्डग**–पडक-नपुंसक से, **संसत्ताइं**–संसक्त, **सयणासणाइं**–शयन और आसन के, **सेवित्ता**–सेवन करने वाला, **हवइ**–होवे, **से**–वह, **निग्गन्थे**–निर्ग्रन्थ होता है।

मूलार्थ–जैसे कि–स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित शय्या और आसन आदि का जो सेवन करने वाला है, वह निर्ग्रन्थ है, अर्थात् स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शय्या और आसन के सेवन करने वाला जो नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है। यदि कहें कि ऐसा क्यों? तो इस पर आचार्य कहते हैं–स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयनासन का सेवन करने वाले निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा और सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा संयम का भेद और उन्माद की प्राप्ति हो जाती है, दीर्घकालिक रोग और आतंक का आक्रमण हो जाता है और केवलि-प्रतिपादित धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए स्त्री, पशु, नपुंसक से अधिष्ठित शयनासनादि को जो सेवन नहीं करता वही निर्ग्रन्थ है।

टीका- ब्रह्मचर्य के इस प्रथम समाधिस्थान मे यह बताया गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करन वाला निर्ग्रन्थ साधु, ऐसे स्थान मे निवास न करे जहां पर स्त्री, पशु और नपुंसक का वास हो, क्योंकि स्त्री, पशु और नपुसक से अधिष्ठित स्थान म निवास करने से ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के लिए ब्रह्मचर्य-जन्य समाधि का रहना कठिन हो जाता है। इसी विषय को शिष्य के उत्तर मे आचार्य कहत है कि यदि ब्रह्मचारी स्त्री, पशु और नपुसक से अधिष्ठित स्थान मे रहने लगे तो उसके मन में शका, आकांक्षा (भोगेच्छा) और विचिकित्सा–सशय–के उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है।

शका–ब्रह्मचर्य मे शंका का उत्पन्न होना, जैसे कि–क्या मै मैथुन का सेवन करू अथवा न करू, अथवा जो ब्रह्मचारी ऐसे स्थाना का सेवन करते हे वे ब्रह्मचारी है या नही?

आकांक्षा–स्त्री के मिलने पर मै अवश्य ही उसका सग कर लूंगा, अथवा मैन जो यह ब्रह्मचर्य रूप धर्म को धारण किया है, इसका फल मुझे मिलेगा या कि नही। तात्पर्य यह हे कि जब मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होता हे, तब मनुष्य के मुख से इस प्रकार क शब्द निकलते है–

"सत्यं वच्मि हितं वच्मि सारं वच्मि पुनः पुनः। अस्मिन्नसारे ससारे सारं सारंगलोचना॥"

इसके अनन्तर फिर य भाव उत्पन्न होने लगते हे कि–तीर्थकरो ने मैथुनक्रीडा के जो दोष वर्णन किए है, वास्तव मे वे दोप नही है, जब इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो गया तो फिर वह विचारने लगता है कि–

"प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः। प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणापि चेतसा॥"

जब इस प्रकार की आकाक्षा उत्पन्न हो जाती है तो फिर धर्म मे भी सन्देह उत्पन्न हो ही

जाता है। उस सन्देह का परिणाम यह निकलता है कि चारित्र-धर्म का विनाश हो जाता है, ऐसा शकाशील साधक उन्माद अर्थात् पागलपन का शिकार हो जाता है, और दीर्घकालिक रोगो से घिर जाता है। इस प्रकार अन्त में वह केवली भगवान् के प्रतिपादित धर्म से पतित हो जाता है, अत: ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के लिए स्त्री, पशु और नपुंसक द्वारा ससेवित स्थान का सर्वथा त्याग करना ही समुचित और शास्त्र-सम्मत है।

अब द्वितीय समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं, यथा—

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ वा भंसेज्जा, तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा ॥ २ ॥

नो स्त्रीणां कथां कथयिता भवति स निर्ग्रन्थ:। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कथां कथयतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा, समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्रीणां कथां कथयेत् ॥ २ ॥

पदार्थान्वय:—नो—नहीं, **इत्थीणं**—स्त्रियो की, **कहं**—कथा, **कहित्ता**—कहने वाला, **हवइ**—होवे, **से**—वह, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ है। **तं कहमिति चे**—वह कैसे? यदि इस प्रकार कहा जाए तो, **आयरियाह**—आचार्य कहते हैं कि, **निग्गन्थस्स**—निर्ग्रन्थ को, **खलु**—निश्चय ही, **इत्थीणं**—स्त्रियो की, **कहं**—कथा, **कहेमाणस्स**—कहते हुए को, **बम्भयारिस्स**—ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**—ब्रह्मचर्य में, **संका**—शका, **वा**—अथवा, **कंखा**—कांक्षा, **वा**—अथवा, **विइगिच्छा**—सदेह, **वा**—अथवा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न हो, **भेयं**—सयम-भेद को, **वा**—अथवा, **लभेज्जा**—प्राप्त करे, **उम्मायं**—उन्माद को, **पाउणिज्जा**—प्राप्त करे, **वा**—अथवा, **दीहकालियं**—दीर्घकालिक, **रोगायंकं**—रोगातक, **हवेज्जा**—होवे, **वा**—अथवा, **केवलिपण्णत्ताओ**—केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**—धर्म से, **भंसेज्जा**—भ्रष्ट हो, **तम्हा**—इसलिए, **नो**—नहीं, **इत्थीणं**—स्त्रियों की, **कहं**—कथा, **कहेज्जा**—कहे।

मूलार्थ—जो स्त्रियों की कथा नहीं करता वह निर्ग्रन्थ होता है। ऐसा कहने पर शिष्य ने प्रश्न किया कि क्यों ? तब आचार्य कहते हैं कि—स्त्रियों की कथा करते हुए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा ओर सन्देह उत्पन्न हो जाता है, संयम का विनाश होता है, उन्माद की प्राप्ति होती है और उस पर दीर्घकालिक ज्वरादि रोगों का आक्रमण

होता है तथा केवली भगवान् के द्वारा प्रतिपादन किए हुए धर्म से वह पतित हो जाता है, इसलिए स्त्री की कथा न करे।

टीका—इस गाथा मे ब्रह्मचर्य की समाधि के द्वितीय स्थान का वर्णन किया गया है। गुरु शिष्य के प्रति कहते है कि ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्रियो की कथा में—स्त्रियों की सौन्दर्य-चर्चा मे प्रवृत्त न हो। यदि होगा तो उसके ब्रह्मचर्य मे शका, कांक्षा, सन्देह आदि दोषों के उत्पन्न होने की सभावना तथा चारित्रादि का विनाश, उन्माद और दीर्घकालिक रोग की प्राप्ति होगी एवं वह केवली भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म से पतित हो जाएगा।

स्त्री-कथा से यहां पर शास्त्रकारो का अभिप्राय स्त्रियो के रूप-लावण्य के वर्णन तथा अन्य काम-वर्धक चेष्टाओ के निरूपण आदि से है, परन्तु पतिव्रता स्त्रियों के शील और संयम का दृढ करने वाले आख्यानों के कहने में कोई दोष नहीं है।

सूत्रकार के कथनानुसार तो अकेली स्त्री के लिए धर्म-कथा कहने का भी साधु को अधिकार नही है फिर काम-कथा की तो बात ही क्या है।

अब तृतीय समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं, यथा—

नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा ॥ ३ ॥

नो स्त्रीभिः सार्ध सन्निषद्यागतो विहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्यः आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीभिः सार्ध सन्निषद्यागतस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वाऽऽकांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मात्खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीभिः सार्ध सन्निषद्यागतो विहरेत् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—नो—नहीं, **इत्थीहिं**—स्त्रियों के, **सद्धिं**—साथ, **सन्निसेज्जागए**—पीठ आदि—एक आसन पर बैठा हुआ, **विहरित्ता**—विचरने वाला, **हवइ**—होवे, **से**—वह, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ होता है, **तं**—वह, **कह**—कैसे ? **इति चे**—यदि ऐसा कहे तो, **आयरियाह**—आचार्य कहते हैं, **निग्गन्थस्स**—निर्ग्रन्थ को, **खलु**—निश्चय ही, **इत्थीहिं**—स्त्रियो के, **सद्धिं**—साथ, **सन्निसेज्जागयस्स**—एक शय्या पर

बैठे हुए, **बम्भयारिस्स**–ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**–ब्रह्मचर्य मे, **संका**–शंका, **वा**–अथवा, **कंखा**–कांक्षा, **वा**–अथवा, **विइगिच्छा**–सन्देह, **वा**–अथवा, **समुप्पज्जेज्जा**–उत्पन्न होवे, **वा**–अथवा, **भेदं**–सयम का भेद, **वा**–समुच्चयार्थ मे, **लभेज्जा**–प्राप्त करे, **उम्मायं**–उन्माद को, **पाउणिज्जा**–प्राप्त करे, **वा**–अथवा, **दीहकालियं**–दीर्घकालिक, **रोगायंकं**–रोगातंक, **हवेज्जा**–होवे, **वा**–अथवा, **केवलिपण्णत्ताओ**–केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**–धर्म से, **भंसेज्जा**–भ्रष्ट होवे, **तम्हा**–इसलिए, **खलु**–निश्चय से, **नो**–नहीं, **इत्थीहिं**–स्त्रियों के, **सद्धिं**–साथ, **सन्निसेज्जागए**–एक पीठादि पर बैठा हुआ, **विहरेज्जा**–विचरे।

मूलार्थ–जो स्त्रियों के साथ एक पीठ–आसन पर बैठकर विचरने वाला न हो वह निर्ग्रन्थ है। वह कैसे ? इस पर आचार्य कहते हैं कि निश्चय ही निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी द्वारा स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने से उसके ब्रह्मचर्य में शका, आकांक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की संभावना रहती है, संयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलि-प्रतिपादित धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठकर कभी न विचरे।

टीका–इस गाथा मे निर्ग्रन्थ साधु को स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने का निषेध किया गया है, अर्थात् जिस एक पीठ और आसन आदि पर स्त्री बैठी हो, उसी पीठ पर साधु न बैठे, यदि वह बैठेगा तो उसके ब्रह्मचर्य में वही शका आदि दोषों का आगमन होगा और सयमविनाश आदि की प्राप्ति होगी। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु को स्त्री के साथ एक आसन पर कभी बैठने का दु:साहस नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वृत्तिकार तो यहा तक कहते है कि–"**उत्थितास्वपि हि तासु मुहूर्त तत्र नोपवेष्टव्यम्**" अर्थात् स्त्री के उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक वहा साधु को न बैठना चाहिए, क्योंकि वहां पर तत्काल बैठने से उनकी स्मृति आदि दोषों के उत्पन्न होने की सभावना रहती है।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत मे आरूढ होने वाली साध्वी स्त्री के लिए पुरुष के साथ एक आसन पर बैठने तथा उसके उठकर चले जाने पर भी वहा पर एक मुहूर्त से प्रथम बैठने का निषेध है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने का तात्पर्य केवल ब्रह्मचर्य की रक्षा है।

अब चतुर्थ समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं, यथा–

नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह–निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं

मणोरमाइं आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा, तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा निज्झाएज्जा ॥ ४ ॥

नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयिता निर्ध्याता भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत्? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यवलोकमानस्य निर्ध्यायतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वाऽऽकांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयेन्निर्ध्यायेत् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वय :-नो—नहीं, **इत्थीणं**—स्त्रियों के, **मणोहराइं**—मनोहर—मन को हरने वाले, **मणोरमाइं**—मनोरम—सुन्दर, **इन्दियाइं**—इन्द्रियो को, **आलोइत्ता**—आलोकन करने वाला, **निज्झाइत्ता**—ध्यान करने वाला, **हवइ**—होवे, **से**—वह, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ है। **तं कहमिति चे**—वह ऐसा क्यो है ? इस पर, **आयरियाह**—आचार्य कहते है कि, **निग्गन्थस्स**—निर्ग्रन्थ, **बम्भयारियस्स**—ब्रह्मचारी को, **खलु**—निश्चय से, **इत्थीणं**—स्त्रियो के, **मणोहराइं**—मन को हरने वाले और, **मणोरमाइं**—मन को सुन्दर लगने वाले, **इन्दियाइं**—इन्द्रियो को, **आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स**—अवलोकन और ध्यान करते हुए, **बम्भचेरे**—ब्रह्मचर्य में, **संका**—शका, **वा**—अथवा, **कंखा**—काक्षा, **वा**—अथवा, **विइगिच्छा**—सन्देह, **वा**—अथवा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होवे, **वा**—अथवा, **भेदं**—सयम का भेद, **वा**—समुच्चयार्थ में, **लभेज्जा**—प्राप्त करे, **उम्मायं**—उन्माद को, **पाउणिज्जा**—प्राप्त करे, **वा**—अथवा, **दीहकालियं**—दीर्घकालिक, **रोगायंकं**—रोगातक, **हवेज्जा**—होवे, **वा**—अथवा, **केवलिपण्णत्ताओ**—केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**—धर्म से, **भंसेज्जा**—भ्रष्ट होवे, **तम्हा**—इसलिए, **खलु**—निश्चय से, **नो**—नही, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ, **इत्थीणं**—स्त्रियो के, **मणोहराइं**—मणोहर—मन को हरने वाल, **मणोरमाइं**-मनोरम—सुन्दर, **इन्दियाइं**—इन्द्रियो को, **आलोएज्जा**—आलोकन करे, **निज्झाएज्जा**—ध्यान कर।

मूलार्थ—जो स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन और ध्यान नहीं करता वह निर्ग्रन्थ है। कैसे ? शिष्य की इस शंका पर आचार्य कहते हैं कि जो निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को देखता और ध्यान करता है, उसके ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है,

संयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं वह केवलि-प्रतिपादित धर्म से पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर और सुन्दर इन्द्रियों का अवलोकन और ध्यान न करे।

टीका—ब्रह्मचर्य के चतुर्थ समाधि-स्थान में निर्ग्रन्थ भिक्षु को स्त्रियों के अंगों के अवलोकन और ध्यान करने का निषेध किया गया है, तात्पर्य यह है कि निर्ग्रन्थ साधु मन को हरने और आह्लाद उत्पन्न करने वाले स्त्रियों के अगों को सामान्य अथवा विशेष रूप से न देखे, क्योंकि स्त्रियों के अंगों का बार-बार अवलोकन करने से उसके ब्रह्मचर्य में पीछे बताए गए शंका आदि समस्त दोषों के उत्पन्न होने की सभावना रहती है एवं संयम के विनाश और धर्म से पतित होने का भय होता है, इसलिए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्रीजनो को कामदृष्टि से कभी भी अवलोकन नहीं करना चाहिए।

यहा पर '**आलोकिता**' शब्द का अर्थ '**इषद्द्रष्टा**' और '**निर्ध्याता**' शब्द का अर्थ वासनात्मक दृष्टि से निरीक्षण करने वाला है।

साराश यह हे कि ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्रियो के अंगो का किसी रूप मे भी अवलोकन न करे, क्योंकि उनको देखने से कामचेष्टा म उत्तेजना बढ़ती है। जब इस प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा मे साधु कटिबद्ध होगा, तभी उसकी समाधि स्थिर रह सकती है, अन्यथा नहीं।

अब पांचवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कूइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह— निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कूइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कूइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ॥ ५ ॥

नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा श्रोता न भवति स निर्ग्रन्थः । तत्कथमिति चेत्? आचार्य आह–निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा श्रृण्वतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा, समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा श्रृण्वन् विहरेत् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–नो–नही, **निग्गन्थे**–निर्ग्रन्थ, **इत्थीणं**–स्त्रियों के, **कुड्डन्तरंसि**–कुड्य-पत्थर की दीवार आदि में, **वा**–अथवा, **दूसन्तरंसि**–वस्त्र के अन्तर मे, **भित्तंतरंसि**–दीवार के अन्तर मे, **कूइयसद्दं**–विलास समय का कूजित शब्द, **रुइयसद्दं**–प्रेमरोप का शब्द, **गीयसद्दं**–गीतशब्द, **हसियसद्दं**–हसित शब्द–हॅमने का शब्द, **थणियसद्दं**–रति समय मे किया हुआ स्तनितशब्द, **कन्दियसद्दं**–आक्रन्दन शब्द, **विलवियसद्दं**– प्रलापरूप विलपित शब्द, **सुणेत्ता**–सुनने वाला, **हवइ**–होव, **से**–वह, **निग्गन्थे**–निर्ग्रन्थ है। **तं कहमिति चे**–वह ऐसा क्यो है? इस पर, **आयरियाह**–आचार्य कहते है, कि, **निग्गन्थस्स**–निर्ग्रन्थ, **खलु**–निश्चय से, **इत्थीणं**–स्त्रियों क, **कुड्डन्तरंसि**–कुड्य आदि मे, **दूसन्तरंसि**–वस्त्र के अन्तर मे, **भित्तन्तरंसि**–दीवार के अन्तर मे, **कूइयसद्दं**–विलास समय का कूजित शब्द, **रुइयसद्दं**–प्रेमरोप का शब्द, **गीयसद्दं**–गाने का शब्द, **हसियसद्दं**-हसने का शब्द, **थणियसद्दं**–रतिसमय मे किया स्तनित शब्द, **कन्दियसद्दं**–आक्रन्दन-शब्द, **विलवियसद्दं वा**–अथवा प्रलापरूप विलपित शब्द को, **सुणेमाणस्स**–सुनते हुए, **बम्भयारिस्स**–ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**-ब्रह्मचर्य मे, **संका**–शका, **वा**–अथवा, **कंखा**–काक्षा, **वा**–अथवा, **विइगिच्छा**–सन्देह, **वा**–अथवा, **समुप्पज्जिज्जा**–उत्पन्न होवे, **भेदं**-सयम का भेद, **वा**–समुच्चयार्थ मे, **लभेज्जा**–प्राप्त करे, **उम्मायं**–उन्माद को, **पाउणिज्जा**–प्राप्त करे, **वा**–अथवा, **दीहकालियं**-दीर्घकालिक, **रोगायंकं**–रोगातक, **हवेज्जा**–होवे, **वा**–अथवा, **केवलिपण्णत्ताओ**–केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**–धर्म से, **भंसेज्जा**–भ्रष्ट होवे। **तम्हा**–इसलिए, **खलु**–निश्चय से, **नो**–नही, **निग्गन्थे**–निर्ग्रन्थ साधु, **इत्थीणं**–स्त्रियो के, **कुड्डन्तरंसि**–कुड्य–पत्थर की दीवार आदि मे, **वा**–अथवा, **दूसन्तरंसि**–वस्त्र के अन्तर मे, **भित्तन्तरंसि**–दीवार के अन्तर मे, **कूइयसद्दं**–विलास समय का कूजित शब्द, **रुइयसद्दं**–प्रेम-रोप का शब्द, **गीयसद्दं**–गीत शब्द, **हसियसद्दं**–हसित शब्द–हँसने का शब्द, **थणियसद्दं**–रतिसमय मे किया हुआ स्तनित शब्द, **कन्दियसद्दं**–आक्रन्दन शब्द, **विलवियसद्दं**–विलाप शब्द, **सुणेमाणे**–सुनने वाला, **विहरेज्जा**–विचरे।

मूलार्थ–निर्ग्रन्थ साधु, कुड्यान्तर से मिट्टी पाषाण आदि की दीवार के पीछे से, पर्दे के पीछे रह कर और किसी भी दीवार के पीछे से, स्त्रियों के कूजित-शब्द, रुदित-शब्द, गीत-शब्द, हास्य-शब्द और स्तनित-शब्द तथा क्रन्दित और विलाप शब्द को न सुने।

यह किस लिए? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि निर्ग्रन्थ साधु मिट्टी-पत्थर आदि की दीवार के पीछे से, वस्त्र के अन्तर से, वा दीवार के अन्तर से यदि स्त्रियों के कूजने, रोने, गाने, हंसने, कहकहा मारने, आक्रन्दन करने वा प्रलाप करने के शब्द को सुने तो उस ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की संभावना रहती है, संयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घ-कालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलि-प्रतिपादित धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ कुड्यान्तर में–पाषाणभित्ति के अन्तर में, वस्त्र के अन्तर में और भीत के अन्तर में स्त्रियों के कूजित-शब्द, रुदित-शब्द, गीत, हास्य और स्तनित-शब्द तथा क्रन्दित और विलाप-शब्दों को सुनता हुआ न विचरे।

टीका–इस पंचम समाधि-स्थान में स्त्रियों के विविध प्रकार के शब्दों को सुनने का साधु के लिए निषेध किया गया है। निर्ग्रन्थ साधु कुड्यान्तर में–अर्थात् पत्थर-मिट्टी आदि के बने हुए घर में ठहरा हुआ, तथा वस्त्र के अन्तर में पर्दे के पीछे बैठ कर या पक्की इंटों से बने हुए घर में ठहरा हुआ स्त्रियों के कूजित, रुदित, गीत, हास्य, स्तनित, क्रन्दित और विलाप शब्दों को सुनने की चेष्टा न करे।

सुरतसमय में कपोतादि पक्षियों के समान जो अव्यक्त शब्द होता है, उसे कूजित कहते हैं।

प्रेम-मिश्रित रोष से रतिकलहादि में होने वाला शब्द रुदित कहा जाता है।

प्रमोद में आकर स्वरताल पूर्वक किया गया गान गीत कहलाता है।

प्रसन्नता से अतीव हंसना हास्य कहलाता है।

अत्यधिक रति-सुख में उत्पन्न होने वाला शब्द स्तनित कहलाता है।

भर्ता के रोष से तथा प्रकृति के ठीक न होने से जो शोकपूर्ण शब्द हैं, वे आक्रदित और विलपित के नाम से प्रसिद्ध है।

इन पूर्वोक्त शब्दों के रुचि-पूर्वक श्रवण से साधु के ब्रह्मचर्य में पूर्वोक्त शंका आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका परिणाम संयम-भेद और धर्म से पतित होना है, इसलिए जहां पर ऐसे शब्द सुनाई दें, वहां पर निर्ग्रन्थ साधु कभी निवास न करे। कारण कि इनसे मन की चचलता मे वृद्धि होती है और ब्रह्मचर्य मे आघात पहुंचता है।

अब छठे समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं–

नो निग्गन्थे इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ॥ ६ ॥

नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मर्ता भवेत् स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मरेत् ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—नो—नही, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ, **इत्थीणं**-स्त्रियो के, **पुव्वरयं**—पूर्व -गृहस्थावास मे स्त्री के साथ किया हुआ जो विपर्यविलास, उसका, **पुव्वकीलिय**—पूर्व—स्त्री के साथ की हुई क्रीडा का, **अणुसरित्ता**—स्मरण करने वाला, **हवइ**—होवे, **से**—वह, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ है, **तं कहमिति चे**—वह कैसे? यदि इस तरह कहा जाए, तो इस पर, **आयरियाह**—आचार्य कहते है, **इत्थीणं**—स्त्रियो के साथ की हुई, **पुव्वरयं**—पूर्वरति, **पुव्वकीलियं**—पूर्वक्रीडा का, **अणुसरमाणस्स**—अनुस्मरण करने वाले, **निग्गन्थस्स बम्भयारिस्स**—निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**—ब्रह्मचर्य में, **संका**—शका, **वा**—अथवा, **कंखा**—काक्षा, **वा**—अथवा, **विइगिच्छा**—सन्देह, **वा**—अथवा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होवे, **वा**-अथवा, **भेद**—सयम का भेद, **वा**—समुच्चयार्थ मे, **लभेज्जा**—प्राप्त करे, **उम्मायं**—उन्माद को, **पाउणिज्जा**—प्राप्त करे, **वा**—अथवा, **दीहकालियं**—दीर्घकालिक, **रोगायंक**—रोगातक, **हवेज्जा**—होवे, **वा**—अथवा, **केवलिपण्णत्ताओ**—केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**—धर्म से, **भंसेज्जा**—भ्रष्ट होवे। **तम्हा**—इसलिए, **खलु**—निश्चय से, **नो**—नहीं, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ, **इत्थीणं**—स्त्रियों के, **पुव्वरयं**—पूर्वगृहस्थावास मे स्त्री के साथ किए हुए विषय-विलास को, **पुव्वकीलियं**-पूर्व—स्त्री क साथ हुई क्रीडा को, **अणुसरेज्जा**—स्मरण करे।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थ साधु स्त्रियो की पूर्वरति और पूर्वक्रीडा का स्मरण न करे, क्योंकि स्त्रियों के पूर्वरति और पूर्वक्रीडा का स्मरण करने वाले निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा अथवा सन्देह आदि दोष उत्पन्न होने की संभावना रहती है, संयम का नाश एवं उन्माद की प्राप्ति होती है तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता

है एवं केवलि-प्रतिपादित धर्म से वह पतित हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्रियों की पूर्वरति और पूर्वक्रीडा का स्मरण न करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु के लिए पूर्वभुक्त स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के स्मरण का निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई साधु विवाह-संस्कार के अनन्तर दीक्षित हुआ हो तो वह अपनी पहली अवस्था में स्त्री के साथ हुई रतिक्रीडा एवं भोग-विलासों का स्मरण न करे। ऐसा करने से उसके ब्रह्मचर्य में शका, आकाक्षा, सन्देह आदि अनेक दोष उत्पन्न होने की संभावना रहती है, दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं परिणाम-स्वरूप वह केवलि-प्रतिपादित धर्म से पतित हो जाता है। इसलिए विचारशील निर्ग्रन्थ को गृहस्थावस्था में सेवन किए गए काम-भोगों का कदापि स्मरण न करना चाहिए तथा विवाह से प्रथम ही दीक्षित होने वाले साधु को तो काम-जन्य वार्ता का श्रवण करके उसके स्मरण करने का निषेध है, अर्थात् कुमार अवस्था से ही दीक्षित होने वाला साधु काम-जन्य वार्ता को सुनकर उसका स्मरण कभी न करे, क्योंकि इस स्मरण से उसके ब्रह्मचर्य में पूर्व कहे दोषों के आगमन का ही भय रहता है।

अब सातवें समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह— निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा ॥ ७ ॥

नो प्रणीतमाहारमाहर्ता भवेत् स निर्ग्रन्थः । तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु प्रणीतमाहारमाहरतो, ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत् । तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः प्रणीतमाहारमाहरेत् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—नो—नहीं, **पणीयं**—प्रणीत, **आहारं**—आहार, **आहारित्ता**—करने वाला, **हवइ**—होवे, **से**—वह, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ है। **तं कहमिति चे**—वह कैसे ? यदि इस प्रकार कहा जाए तो, **आयरियाह**—आचार्य कहते हैं, **निग्गन्थस्स**—निर्ग्रन्थ के, **खलु**—निश्चय से, **पणीयं**—प्रणीत, **आहारं**—आहार, **आहारेमाणस्स**—करते हुए, **बम्भयारिस्स**—ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**—ब्रह्मचर्य में, **संका**—शंका, **कंखा**—कांक्षा, **वा**—अथवा, **विइगिच्छा**—सन्देह, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होवे, **भेदं**—संयम का भेद, **वा**—अथवा, **लभेज्जा**—प्राप्त करे, **उम्मायं**—उन्माद रोग को, **वा**—अथवा,

पाउणिज्जा—प्राप्त करे, **वा**—अथवा, **दीहकालियं**—दीर्घकालिक, **रोगायंकं**—रोग का आतंक, **हवेज्जा**—होवे, **केवलिपण्णत्ताओ**—केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**—धर्म से, **भंसेज्जा**—भ्रष्ट होवे, **तम्हा**—इसलिए, **खलु**—निश्चय से, **नो**—नहीं, **निग्गन्थे**—निर्ग्रन्थ, **पणीयं**—प्रणीत, **आहारं**—आहार को, **आहारेज्जा**—करे।

मूलार्थ—जो साधु प्रणीत आहार करने वाला नहीं, वह निर्ग्रन्थ है। ऐसा क्यों? इस पर आचार्य कहते हैं कि प्रणीत—स्निग्ध—आहार करने से ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा के उत्पन्न होने की संभावना रहती है, संयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है, एवं केवलि-प्रतिपादित धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु प्रणीत आहार न करे।

टीका—जो आहार गलद्बिन्दु—अतिस्निग्ध है, वह पौष्टिक एवं धातुवर्द्धक होने से ब्रह्मचारी के ग्रहण करने योग्य नही होता, क्योंकि उससे ब्रह्मचर्य की सुरक्षा नही रह सकती। पौष्टिक आहार काम वृद्धि का कारण होता है, कामवासना की वृद्धि होने पर संयम-विनाश आदि पूर्वोक्त दोषों के उत्पन्न होने की संभावना रहती है, अतः ब्रह्मचारी को स्निग्ध आहार का सेवन नही करना चाहिए।

इसी प्रकार अर्थात् भक्तपान की तरह खादिम और स्वादिम पदार्थो के विषय मे भी जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस आहार से इन्द्रियां विषयोन्मुखी होती हों और कामाग्नि प्रचड होती हो, उस आहार को साधु न करे।

अब आठवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा ॥ ८ ॥

नो अतिमात्रया पानभोजनमाहर्ता भवति, स निर्ग्रन्थः। तत् कथमिति चेत्? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खल्वतिमात्रया पानभोजनमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थोऽतिमात्रया पानभोजनमाहरेत् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वय:-नो-नहीं, **अइमायाए**-अतिमात्रा मे, **पाणभोयणं**-पानी और भोजन, **आहारेत्ता**-करने वाला, **हवइ**-होता है, **से**-वह, **निग्गन्थे**-निर्ग्रन्थ है, **तं कहमिति चे**-यह कैसे ? इस पर, **आयरियाह**-आचार्य कहते हैं, **निग्गन्थस्स**-निर्ग्रन्थ के, **खलु**-निश्चय से, **अइमायाए**-अतिमात्रा से, **पाणभोयणं**-पान और भोजन, **आहारेमाणस्स**-करते हुए, **बम्भयारिस्स**-ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**-ब्रह्मचर्य मे, **संका**-शका, **कंखा**-काक्षा, **वा**-अथवा, **विइगिच्छा**-सन्देह, **समुप्पज्जिज्जा**-उत्पन्न होवे, **भेदं**-संयम का भेद, **वा**-अथवा, **लभेज्जा**-प्राप्त करे, **उम्मायं**-उन्माद रोग को, **वा**-अथवा, **पाउणिज्जा**-प्राप्त करे, **दीहकालियं**-दीर्घकालिक, **रोगायंकं**-रोग का आतंक, **हवेज्जा**-होवे, **केवलिपण्णत्ताओ**-केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**- धर्म से, **भंसेज्जा**-भ्रष्ट होवे, **तम्हा**-इसलिए, **खलु**-निश्चय से, **नो**-नही, **निग्गन्थे**-निर्ग्रन्थ, **अइमायाए**-अति मात्रा से, **पाणभोयणं**-पान और भोजन, **आहारेज्जा**-ग्रहण करे।

मूलार्थ-जो प्रमाण से अधिक पानी पीने वाला और भोजन करने वाला नहीं वही निर्ग्रन्थ साधु है। ऐसा क्यों ? तब आचार्य कहते हैं कि प्रमाण से अधिक पानी पीने और भोजन करने से ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, संदेह के उत्पन्न होने की संभावना रहती है, संयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलि-प्रतिपादित धर्म से वह पतित हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ अतिमात्रा से पान और भोजन न करे।

टीका-इस गाथा मे निर्ग्रन्थ साधु को अधिक प्रमाण में भोजन-पान करने का निषेध किया गया है। प्रमाण से अधिक किया हुआ भोजन रोग और विकृति का कारण होता है, अधिक भोजन करने पर अपच हो जाता है, अत: नीद नही आती, निद्रा के अभाव में साधक के मन मे नानाविध विकार उत्पन्न होने लगते है जिससे ब्रह्मचारी साधु के ब्रह्मचर्य में शंका आदि पूर्वोक्त दोषों की उत्पत्ति होती है, इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को प्रमाण से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए।

शास्त्रों में पुरुष के ३२, स्त्री के २८ और नपुंसक के २४ कंवल अर्थात् ग्रास लिखे हैं, इससे अधिक प्रमाण में साधु को भोजन नहीं करना चाहिए।

अब नवम समाधि-स्थान की चर्चा करते हैं-

नो विभूसाणुवाई हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह-विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा

रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई हविज्जा ॥ ९ ॥

नो विभूषानुपाती भवति स निर्ग्रन्थः। तत् कथमिति चेत् ? आचार्य आह–विभूषावर्तिको विभूषितशरीरः स्त्रीजनस्याभिलषणीयो भवति। ततस्तस्य स्त्रीजनेनाभिलष्यमाणस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थो विभूषानुपाती भवेत् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–नो–नही, **विभूसाणुवाई**–शरीर को विभूषित करने वाला, **हवइ**–होवे, **से**–वह, **निग्गन्थे**–निर्ग्रन्थ है, **तं कहमिति चे**–वह कैसे? **आयरियाह**–इस पर आचार्य कहते है **विभूसावत्तिए**–विभूषा में वर्तने वाला, **विभूसियसरीरे**–विभूषित शरीर, **इत्थिजणस्स**–स्त्रीजन को, **अभिलसणिज्जे**–अभिलषणीय–प्रार्थनीय, **हवइ**–हाता है, **तओ**–तदनन्तर, **णं**–वाक्यालंकार में है, **तस्स**–उस, **इत्थिजणेणं**–स्त्रीजन के द्वारा, **अभिलसिज्जमाणस्स**–चाहे हुए, **बम्भचारिस्स**–ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**–ब्रह्मचर्य मे, **संका**–शंका **कंखा**–काक्षा, **वा**–अथवा, **विइगिच्छा**–सन्देह, **समुप्पज्जिज्जा**–उत्पन्न होवे, **भेदं**–संयम का भेद, **वा**–अथवा, **लभेज्जा**–प्राप्त करे, **उम्मायं**–उन्माद रोग को, **वा**–अशवा, **पाउणिज्जा**–प्राप्त करे, **वा**–अथवा, **दीहकालियं**–दीर्घकालिक, **रोगायंकं**–रोग का आतक, **हवेज्जा**–होव, **केवलिपण्णत्ताओ**–केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**–धर्म मे, **भंसेज्जा**–भ्रष्ट हो, **तम्हा**–इसलिए, **खलु**–निश्चय स, **नो**–नही, **निग्गन्थे**–निर्ग्रन्थ, **विभूसाणुवाई**–शरीर को विभूषित करने वाला, **हविज्जा**–होवे।

मूलार्थ–जो विभूषा को करने वाला नहीं वह निर्ग्रन्थ है। कैसे ? तब आचार्य कहते है कि विभूषा करने वाला और विभूषित शरीर स्त्रीजन को अभिलषणीय होता है। तत्पश्चात् स्त्रीजन द्वारा अभिलषित होने पर उस ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, संदेह के उत्पन्न होने की मभावना रहती है, संयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलि-प्रतिपादित धर्म से वह पतित हो जाता है, इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ विभूषा न करे।

टीका–इस गाथा मे निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के लिए विभूषा–स्नान तथा श्रृगार आदि करने का निषेध किया गया है, क्योकि शृंगार आदि करने अर्थात् अनक प्रकार से शरीर को विभूषित करने वाला साधु स्त्रियो को प्यारा लगने लगता है, फिर स्त्रिया जब उससे प्रेम करने लगती हैं, तो उनके हाव-भावो से उसके ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाले नाना प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते है, वह संयम का विराधक बनता हुआ धर्म से भी पतित हो जाता है, इसलिए ब्रह्मचारी पुरुष कभी विभूषा न करे।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि प्रस्तुत गाथा में शरीर को विभूषित अर्थात् अलकृत करने का निषेध है, किन्तु शौच का निषेध नही अर्थात् शरीर को पवित्र–साफ रखने का निषेध नहीं किया गया, इसलिए साधु की शरीर सम्बन्धी जितनी भी क्रियाएं है, वह सब शौच के निमित्त भले ही हों, परन्तु विभूषा के लिए नही होनी चाहिएं। जिस प्रकार चारित्रशील विधवा स्त्री शरीर की रक्षा करती है, उसे पवित्र रखती है, किन्तु शृंगार की इच्छा उसके मन मे नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष शरीर को सुरक्षित एवं स्वस्थ रखने के लिए शौचादि कर्म करे, किन्तु श्रृंगार के लिए न करे, तभी उसकी समाधि स्थिर रह सकती है।

कहा भी है–"**उज्ज्वलवेषं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते**" अर्थात् उज्ज्वल वेष रखने वाले पुरुष को स्त्री चाहती है, अतएव जो पुरुष शरीर को विभूषित करते हुए भी ब्रह्मचर्य रखने का साहस करते है, वे भूल करते है।

अब दशवे समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं, यथा–

नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह–निग्गन्थस्स खलु सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाइस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई भवेज्जा से निग्गन्थे। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ ॥ १० ॥

नो शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह–निर्ग्रन्थस्य खलु शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपातिनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद्, धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवेत् स निर्ग्रन्थः। दशमं ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं भवति ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–नो–नहीं, **सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई**–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला, **हवइ**–होवे, **से**–वह, **निग्गन्थे**–निर्ग्रन्थ है, **तं कहमिति चे**–वह कैसे ? इस पर, **आयरियाह**–आचार्य कहते हैं, **निग्गन्थस्स**–निर्ग्रन्थ, **खलु**–निश्चय, **सद्दरूवरसगन्धफासाणु-वाइस्स**–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाले, **बम्भयारिस्स**–ब्रह्मचारी के, **बम्भचेरे**–ब्रह्मचर्य में, **संका**–शंका, **वा**–अथवा, **कंखा**–आकांक्षा, **विइगिच्छा**–संशय, **समुप्पज्जिज्जा**–उत्पन्न हो जाते हैं, **भेदं**–संयम का भेद, **लभेज्जा**–प्राप्त होता है, **उम्मायं**–उन्माद को, **पाउणिज्जा**–प्राप्त होता है, **वा**–अथवा, **दीहकालियं**–दीर्घकालीन, **रोगायंकं**–रोग और आतंक, **हवेज्जा**–होता है,

केवलिपण्णत्ताओ–केवलि-प्रतिपादित, **धम्माओ**–धर्म से, **भंसेज्जा**–भ्रष्ट हो जाता है, **तम्हा**–इसलिए, **खलु**–निश्चय से, **नो**–नहीं, **सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई**–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला, **भवेज्जा**–हो, **से**–वह, **निग्गन्थे**–निर्ग्रन्थ है, यह, **दसमे**–दशवा, **बम्भचेर**–ब्रह्मचर्य, **समाहिठाणे**–समाधिस्थान, **हवइ**–है।

मूलार्थ–जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का भोगने वाला न हो वह निर्ग्रन्थ है। कैसे ? आचार्य कहते हैं कि शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाले निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में निश्चय ही शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, सन्देह उत्पन्न हो जाता है, संयम का भेद हो जाता है, उन्माद की प्राप्ति हो जाती है, दीर्घकालीन रोग और आतंक की प्राप्ति होती है और केवली भगवान् के द्वारा प्रतिपादन किए हुए धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला न होवे। यह दशवां ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान है।

टीका–इस सूत्र में निर्ग्रन्थ के लिए शब्दादि विषयों के भोगोपभोग का निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि निर्ग्रन्थ साधु, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सुभाषितादि शब्द, चित्रगत स्त्री आदि का रूप, मधुराम्लादि रस, सुरभि गन्ध और सुकोमल स्पर्श, इनके भोगने वाला न हो, क्योंकि ये पाचो इन्द्रियो के पाचों विषय समाधि मे विघ्न करने वाल होते है, इन पाचो विषयों से निवृत्त होने पर ही समाधि में स्थिरता हो सकती है।

इसके विपरीत जो पुरुष इन विषयों का सेवन करते हैं, वे विभ्रमयुक्त होकर समाधि से पतित हो जाते है, इसलिए जो पदार्थ समाधि मे विघ्न डालने वाला हो, उसका ब्रह्मचारी को अवश्यमेव त्याग कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उक्त पांचों विपयो का सेवन करने वाले उनके वशवर्ती होते हुए अपमृत्यु को भी प्राप्त हो सकते है, अतः इन पाचों का त्याग करके समाधि मे स्थित होना ही ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है।

यदि कोई कहे कि मन की दृढता होने पर इन विषयो का सेवन भयावह नहीं हो सकता, तो इसका समाधान यह है कि मन की चचलता अपार है और सभी जीव समानकोटि के नही होते, परन्तु यह उपदेश सर्वसाधारण के लिए है, अतः ब्रह्मचारी के लिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है।

हवन्ति य इत्थ सिलोगा । तं जहा–

भवन्ति चात्र श्लोकाः। तद्यथा–

पदार्थान्वयः–हवंति–है, **य**–और, **इत्थ**–यहां पर, **सिलोगा**–श्लोक, **तं जहा**–जैसे कि ।

मूलार्थ–और यहां पर श्लोक भी हैं, जैसे कि–

टीका—उक्त पाठ मे बताया गया है कि ब्रह्मचर्य के इन दश समाधि स्थानो का प्रतिपादन करने वाले पद्यरूप श्लोक भी हैं। तात्पर्य यह है कि प्रथम दश समाधि-स्थानों का वर्णन गद्य में किया गया है और अब उनका वर्णन पद्यरूप मे करते हैं। यद्यपि प्राकृत के पद्यों को गाथा ओर काव्य के नाम से कहा गया है, तथापि मागधी भाषा में पद्यरूप वाक्य को श्लोक भी कहते हैं।

अब उक्त प्रतिज्ञान के अनुसार वर्णन करते हैं, यथा—

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं इत्थिजणेण य ।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥ १ ॥

यं विविक्तमनाकीर्णं, रहितं स्त्रीजनेन च ।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थम्, आलयं तु निषेवेत ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—जं—जो, **विवित्तं**—विविक्त स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित, **अणाइन्नं**—आकीर्णता स रहित, **य**—और, **इत्थिजणेण**—स्त्रीजन से, **रहियं**—रहित, **बम्भचेरस्स**—ब्रह्मचर्य की, **रक्खट्ठा**—रक्षा के लिए, **आलयं**—स्थान—उपाश्रय का, **निसेवए**—सेवन करे, **तु**—पादपूर्ति मे।

मूलार्थ—जो स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित हो तथा आकीर्णता अर्थात् स्त्रियों की भीड़भाड़ से रहित हो, साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उसी स्थान का सेवन करे।

टीका—इस गाथा मे साधु को ऐसे विविक्त एकान्त स्थान मे निवास करने का आदेश दिया गया है कि जहा पर स्त्री, पशु और नपुंसक का निवास न हो तथा भीड़-भाड से रहित एवं जिसमे स्त्री आदि का पुनः-पुनः तथा असमय मे आवागमन न हो, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु इस प्रकार के एकान्त उपाश्रय आदि मे ही निवास करे।

यहा पर 'आलय' सामान्य वसति का बोधक है, अर्थात् कोई भी स्थान हो, वह उक्त दोषों से रहित तथा एकान्त होना चाहिए, तभी साधु समाहित चित्त से वहां रह सकता है। अन्यथा पूर्व वर्णन किए गए शंका और संयमभेद आदि दोषो की संभावना को टाला नहीं जा सकता है।

अब द्वितीय समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी ।
बम्भचेरओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥ २ ॥

मनःप्रह्लादजननीं, कामरागविवर्धनीम् ।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, स्त्रीकथां तु विवर्जयेत् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—मणपल्हायजणणी—मन को आनन्द देने वाली, **कामराग-विवड्ढणी**—कामराग को बढ़ाने वाली, **बम्भचेररओ**—ब्रह्मचर्य में रत, **भिक्खू**—भिक्षु, **थीकहं**—स्त्री-कथा को, **विवज्जए**—त्याग दे, **तु**—पादपूर्ति मे।

मूलार्थ—मन को आह्लाद देने वाली और काम तथा राग को बढ़ाने वाली स्त्री-कथा को ब्रह्मचर्यरत भिक्षु त्याग दे।

टीका—इस गाथा मे कामवर्द्धक स्त्री-कथा का ब्रह्मचारी भिक्षु के लिए निषेध किया गया है, तात्पर्य यह है कि जिस कथा से मन मे वेकारिक आनन्द पैदा हो, कामोत्तेजना बढ़े और राग की वृद्धि हो, ऐसी स्त्री-कथा को ब्रह्मचारी भिक्षु सदा के लिए त्याग दे, किन्तु जिस कथा से राग की निवृत्ति और मन मे वैराग्य की उत्पत्ति हो, यदि ऐसी स्त्री-कथा हो तो उसका निषेध नही। जैसे कि सवेगनी आदि कथाएं हैं तथा सीता आदि सतियों की कथाएं है। सारांश यह है कि धर्म-विवर्द्धक कथाओं के कहने मे कोई आपत्ति नही है।

अब तीसरे समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ ३ ॥

समं च संस्तवं स्त्रीभिः, संकथां चाभीक्ष्णम् ।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—सम—साथ, **च**—ओर, **संथवं**—संस्तव, **थीहिं**—स्त्रिया से, **च**—ओर, **संकहं**—साथ बैठकर कथा करना, **अभिक्खणं**- बारम्बार, **बम्भचेररओ**- ब्रह्मचर्य म रत, **भिक्खू**—भिक्षु, **निच्चसो**- सदा ही, **परिवज्जए**- छोड दवे।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य की साधना में लीन भिक्षु स्त्रियों के संस्तव—अधिक परिचय और एक आसन पर बैठकर कथा करना सदा के लिए छोड दे।

टीका—स्त्रियो के साथ एक आसन पर बैठकर कथा करना तथा उनके साथ अधिक परिचय करना और पुनः-पुनः उनक साथ सप्रेम सभापण करना, इत्यादि बातों को ब्रह्मचारी भिक्षु सदा के लिए त्याग दे, अन्यथा उसकी समाधि मे विघ्न उपस्थित करने वाले पूर्वोक्त अनेक दोप उत्पन्न होंगे। तात्पर्य यह है कि साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त स्त्रियो का ससर्ग कभी न करे।

अब चतुर्थ समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बम्भचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥ ४ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं, चारूल्लपितप्रेक्षितम् ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—अंग—मस्तक आदि अंग, **पच्चंग**—प्रत्यंग—स्तन आदि, **संठाणं**—आकार विशेष वा कटि आदि, **चारु**—सुन्दर, **ल्लविय**—बोलना, **पेहियं**—देखना, **बम्भचेर**—ब्रह्मचर्य में, **रओ**—रत, **थीणं**—स्त्रियों के, **चक्खुगिज्झं**—चक्षुग्राह्य विषय, **विवज्जए**—छोड दे।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी भिक्षु स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग और संस्थान आदि का निरीक्षण करना तथा उनके साथ सुचारु भाषण और कटाक्ष-पूर्वक देखना इत्यादि बातों को एवं चक्षु-ग्राह्य विषयों को त्याग दे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भिक्षु के लिए स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग आदि के निरीक्षण का तथा संभाषण और कटाक्ष-पूर्वक देखने का निषेध है, जैसे कि—स्त्रियों के मस्तक आदि अंग, कुच कक्षा आदि प्रत्यग और कटिसस्थानों आदि का निरीक्षण करना एवं उनके साथ मनोहर भाषण तथा कटाक्ष-पूर्वक देखना इत्यादि बातो को और चक्षुग्राह्य विषयों को ब्रह्मचारी भिक्षु छोड दे।

यद्यपि रूप का स्वभाव आखों में प्रवेश करना और आंखों का स्वभाव उसे ग्रहण करना है, परन्तु उस पर किसी प्रकार का राग-द्वेष न करना, यही सयमशील आत्मा की दृढता है, क्योकि चक्षु इन्द्रिय रूप मे प्रवेश न करे ऐसा तो हो ही नही सकता, किन्तु उस पर राग-द्वेष न करना, यही समाधि की स्थिरता का मूल कारण है।

जो ब्रह्मचारी अपनी आंखों को कामराग-वर्द्धक रूप को देखने से हटा नहीं सकता, उसकी समाधि कभी स्थिर नहीं रह सकती, अतः ब्रह्मचारी पुरुष को चाहिए कि वह अपनी आंखों को हर प्रकार से वश में रखने का प्रयत्न करे।

अब पंचम समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकन्दियं ।
बम्भचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥ ५ ॥

कूजितं रुदितं गीतं, हसितं स्तनितक्रन्दितम् ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, श्रोत्रग्राह्यं विवर्जयेत् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—कूइयं—कूजित, **रुइयं**—रुदित, **गीयं**—गीत, **हसियं**—हसित—हास्य, **थणिय**—स्तनित, **कन्दियं**—क्रन्दित शब्द, **बम्भचेर**—ब्रह्मचर्य में, **रओ**—रत, **थीणं**—स्त्रियों के, **सोयगिज्झं**—श्रोत्रग्राह्य शब्द को, **विवज्जए**—त्याग दे।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य में प्रीति रखने वाला भिक्षु स्त्रियों के श्रोत्रग्राह्य कूजित, रुदित, गीत, हसित, स्तनित और क्रंदित शब्दों को त्याग दे अर्थात् न सुने।

टीका–इस गाथा में भिक्षु के लिए स्त्रियों के कूजित आदि श्रोत्रग्राह्य शब्दों के श्रवण करने का निषेध किया गया है। यद्यपि शब्दों का स्वभाव श्रोत्रेन्द्रिय में प्रविष्ट होने का है और श्रोत्र का स्वभाव सुनने का है, तथापि उन शब्दो को सुनकर राग-द्वेष के वशीभूत न होना ही यहां पर उपदिष्ट तत्व का सार है तथा स्त्रियों के हास्य, गीत आदि के श्रवण करने से कामचेष्टा उत्तेजित होती है और उसका परिणाम तो संयम का विनाश और धर्म-भ्रष्टता आदि ऊपर बतलाया जा चुका है। इसलिए भिक्षु को इनका सदा त्याग कर देना चाहिए।

अब छठे समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं–

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहभुत्तासियाणि य ।
बम्भचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइवि ॥ ६ ॥

हास्यं क्रीडां रतिं दर्पं, सह भुक्तासितानि च ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, नानुचिन्तयेत् कदापि च ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–हासं–हास्य, **किड्डं**–क्रीड़ा, **रइं**–रति, **दप्पं**–दर्प, **सह**–स्त्री के साथ, **भुत्ता**–भोजन आदि किया, **य**–और, **आसियाणि**–एक आसन पर बैठना, **बम्भचेर**–ब्रह्मचर्य में, **रओ**–रत, **थीणं**–स्त्रियो के–पूर्वसस्तव, **कयाइवि**–कदाचित् भी, **नाणुचिन्ते**–चिन्तन न करे।

मूलार्थ–स्त्रियों के साथ हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प और साथ बैठकर किया हुआ भोजन, इत्यादि बातों का ब्रह्मचारी भिक्षु कभी स्मरण न करे।

टीका–इस गाथा मे स्त्रियों के साथ किए हुए हास्यादि का स्मरण व चिन्तन करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध बताया गया है। जैसे कि स्त्री के साथ हास्य किया हुआ, क्रीड़ा की हुई, प्रीति से बर्ताव किया हुआ तथा स्त्री के गर्व का नाश करने के लिए दर्प किया हुआ और साथ मे बैठकर भोजन किया हुआ इत्यादि पूर्व बातों का ब्रह्मचारी पुरुष कदापि स्मरण–चिन्तन न करे। कारण कि इनके चिन्तन से मन में काम-जन्य विकृति के पैदा हाने की सभावना रहती है, इसलिए पूर्वानुभूत क्रीड़ा आदि का भिक्षु कदापि स्मरण न करे।

वृत्ति मे इस गाथा का दूसरा पाद इस प्रकार से देकर उसका निम्नलिखित अर्थ किया गया है। तथाहि–

"**सहसावत्तासियाणि य–सहसाऽवत्रासितानि च। वृत्तिः–पराङ्मुखदयितादेः झपदि त्रासोत्पादकानि अक्षिस्थगनमर्मघट्टनादीनि,**" अर्थात् स्त्री का अकस्मात् त्रास के कारण अक्षि आदि का ढांपना तथा मर्मयुक्त वचनों का बोलना, इत्यादि पूर्वानुभूत बातों का स्मरण साधु न करे तथा जो व्यक्ति अविवाहित ही भिक्षु हो गए हैं, उनको इन बातों की ओर ध्यान ही न देना चाहिए।

अब सातवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं-

पणीयं भत्तपाणं च, खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ ७ ॥

प्रणीतं भक्तपानं च, क्षिप्रं मदविवर्धनम् ।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः-पणीयं-प्रणीत, **भत्त**-भात, **च**-और, **पाणं**-पानी, **खिप्पं**-शीघ्र, **मयविवड्ढणं**-मद बढ़ाने वाला, **बम्भचेररओ**-ब्रह्मचर्य में रत, **भिक्खू**-भिक्षु, **निच्चसो**-सदैव काल, **परिवज्जए**-छोड दे।

मूलार्थ-स्निग्ध अन्न और पानी जो कि शीघ्र ही मद को बढ़ाने वाला हो, ब्रह्मचर्य साधना में लीन भिक्षु सदा के लिए ऐसे भोजन को त्याग दे।

टीका-जो आहार अति स्निग्ध और कामवासना को शीघ्र ही बढ़ाने वाला है, उसको ब्रह्मचारी साधु, कदापि ग्रहण न करे, क्योंकि इससे साधु के ब्रह्मचर्य में क्षति पहुचती है। इसके साथ ही कामवर्द्धक-बलप्रद औषधियो का निषेध भी समझ लेना चाहिए।

अब आठवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं-

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बम्भचेररओ सया ॥ ८ ॥

धर्मलब्धं मितं काले, यात्रार्थं प्रणिधानवान् ।
नाऽतिमात्रं तु भुञ्जीत, ब्रह्मचर्यरतः सदा ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः-धम्मलद्धं-धर्म से प्राप्त हुआ, **मियं**-मित-स्वल्प, **काले**-प्रस्ताव में, **जत्तत्थं**-सयम यात्रा के लिए, **पणिहाणवं**-चित्त की स्वस्थता के साथ, **अइमत्तं**-प्रमाण से अधिक, **न भुंजिज्जा**-न खाए, **बम्भचेररओ**-ब्रह्मचर्य में रत, **सया**-सदा।

मूलार्थ-ब्रह्मचर्य व्रतधारी साधु चित्त की स्वस्थता और संयम-यात्रा के भली प्रकार निर्वाह के लिए समय के अनुसार धर्म-मर्यादा के अनुकूल परिमित भोजन करे, प्रमाण से अधिक भोजन न करे।

टीका-इस गाथा में ब्रह्मचारी के लिए प्रमाण से अधिक भोजन करने का निषेध किया गया है, धर्मयुक्त-आचार-पूर्वक, एषणीय-निर्दोष आहार, जो कि गृहस्थ के घर से प्राप्त हुआ है, वह भी परिमित और समय पर साधु को खाना चाहिए। किन्तु प्रमाण से अधिक आहार साधु न

करे। प्रमाण से अधिक आहार करने पर कामाग्नि के प्रदीप्त होने तथा विषूचिका आदि रोगों के होने का भय रहता है तथा उक्त निर्दोष आहार भी स्वस्थ चित्त से करना चाहिए, इसके विपरीत व्याकुल चित्त से किए गए आहार का परिणमन ठीक रूप मे नहीं होता और उससे समाधि की स्थिरता भी नहीं रहती, इमलिए संयमशील ब्रह्मचारी प्रमाण से अधिक आहार न करे। यदि गाथा के भाव को और भी सक्षेप में कहें तो इतना ही कह सकते हैं कि साधु को आगमोक्त विधि के अनुसार ही भोजन करना चाहिए।

अब नवम समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं–

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमण्डणं।
बम्भचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥ ९ ॥

विभूषां परिवर्जयेत्, शरीरपरिमण्डनम् ।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, शृङ्गारार्थ न धारयेत् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–विभूसं–विभूषा को, **परिवज्जेज्जा**–सर्व प्रकार से त्याग दे, **सरीर- परिमण्डण**–शरीर का मडन–अलंकार करना, **बम्भचेररओ**–ब्रह्मचर्य मे रत, **भिक्खू**–भिक्षु, **सिंगारत्थं**–शृगार के लिए, **न धारए**–न धारण करे।

मूलार्थ–ब्रह्मचारी भिक्षु विभूषा और शरीर का मण्डन करना छोड़ दे तथा श्रृंगार के लिए कोई भी वस्तु धारण न करे।

टीका–इस गाथा मे ब्रह्मचारी के लिए शरीर को विभूषित करने का निषेध किया गया है। ब्रह्मचर्य में अनुरगग रखन वाला साधु शरीर की विभूषा को त्याग दे, अर्थात् श्रृगार के निमित्त वस्त्रादि का उत्तम सस्कार करना और शरीर का मडन करना, केश-श्मश्रु आदि का संवारना छोड़ दे। कारण यह है कि शृंगार से मन में विकार के उत्पन्न होने की अधिक संभावना रहती है, अतः सयमशील भिक्षु को सर्व प्रकार से शरीर की विभूषा और मंडन का त्याग कर दना चाहिए। "सर्व प्रकार से" अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए ही उक्त गाथा में "परिवज्जेज्जा" क्रिया मे 'परि' उपसर्ग का ग्रहण किया गया है।

अब दशम समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं–

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥ १० ॥

शब्दान् रूपांश्च गन्धांश्च, रसान् स्पर्शास्तथैव च ।
पञ्चविधान् कामगुणान्, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–**सद्दे**–शब्दो को, **य**–और, **रूवे**–रूपो को, **य**–और, **गन्धे**–गन्धो को, **रसे**–रसों को, **य**–और, **फासे**–स्पर्शों को, **तहेव**–उसी प्रकार, **पंचविहे**–पांच प्रकार के, **कामगुणे**–कामगुणों को, **निच्चसो**–सदा के लिए, **परिवज्जए**–त्याग दे।

मूलार्थ–इसी प्रकार शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श इन पांच प्रकार के कामगुणों को भिक्षु सदा के लिए छोड़ दे।

टीका–ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इस दशवें समाधि-स्थान में इस बात की चर्चा की गई है कि ब्रह्मचारी भिक्षु शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श–इन पाच प्रकार के कामगुणों का सदा के लिए परित्याग कर दे, क्योकि ये पांचो ही विषय काम-वासना की वृद्धि मे कारणभूत हैं, अर्थात् कामोत्तेजना मे सहायक हैं। जैसे कि–**शब्द**–मधुर स्वर और नृत्य आदि में काम-वर्द्धक शब्दों का सुनना, **रूप**–कामदृष्टि से रूप का देखना, **गन्ध**–पुष्पमाला आदि का पहनना, **रस**– मधुर आदि रसो का सेवन करना, **स्पर्श**–कोमल स्पर्श का भोगना, इत्यादि कामगुणो के सेवन का ब्रह्मचारी पुरुष के लिए निषेध है।

इसके अतिरिक्त अपने आपको ब्रह्मचारी कहलाते हुए भी जो पुरुष इन विषयो का सेवन करते है, वे समाधि-स्थान से अवश्य च्युत हो जाते हे, अतः ब्रह्मचारियो को इनसे पूरे तौर पर सावधान रहना चाहिए।

अब प्रस्तुत विषय का ही दृष्टान्त-पूर्वक फिर से वर्णन करते हैं, यथा–

आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इन्दियदरिसणं ॥ ११ ॥

आलयः स्त्रीजनाकीर्णः, स्त्रीकथा च मनोरमा ।
संस्तवश्चैव नारीणां, तासामिन्द्रियदर्शनम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–**आलओ**–स्थान, **थीजणाइण्णो**–स्त्रीजन से आकीर्ण, **य**–और, **थीकहा**-स्त्रीकथा, **मणोरमा**–मन को आनन्द देने वाली, **संथवो**–संस्तव, **च** - और, **एव**–अवधारणार्थ मे है, **नारीणं**–नारियो से, **तासिं**–उनकी, **इंदियदरिसणं**–इन्द्रियो का दर्शन।

मूलार्थ–जहां स्त्रियों का आवागमन अधिक हो ऐसा स्थान, स्त्रियों की मनोरम कथा, स्त्रियों से अधिक परिचय और उनकी इन्द्रियों का दर्शन, ये आत्म-गवेषी पुरुष के लिए तालपुटविष के समान हैं (यह तेरहवीं गाथा के उत्तरार्द्ध के साथ सम्बन्ध होने से अर्थ होता है)।

टीका–इस गाथा में पूर्व कहे हुए समाधि-स्थानों को अब एक-एक पद मे वर्णन करके दिखाते हैं। जैसे कि–१ स्त्रीजनों से आकीर्ण स्थान, २ स्त्रीकथा जो मन को हरने वाली है, और

३. स्त्रियों से संस्तव अर्थात् परिचय तथा ४. उनकी इन्द्रियों को देखना—ये चारों कारण ब्रह्मचर्य के संरक्षक नहीं हैं, किन्तु उसके विनाश के हेतु हैं।

सूत्रकर्त्ता ने "थीजणाइण्णो" पद दिया है, इस कथन से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि केवल स्त्रीजन से ही आकीर्ण स्थान त्याज्य है, इसलिए पुरुष के न होने के कारण वह स्थान ब्रह्मचारी के लिए अयोग्य है। यदि पुरुषो से आकीर्ण हो तो उस स्थान का निषेध नहीं है।

साध्वी के विषय मे भी इसी प्रकार जानना चाहिए, अर्थात् वह स्थान उसके लिए निवसनीय है जो पुरुषों से आकीर्ण न हो। स्त्री का सतीत्व सिद्ध करने के लिए स्त्री-कथा करने का निषेध नहीं है, इसी कारण से सूत्रकर्त्ता ने गाथा के द्वितीय भाग में स्त्री-कथा के साथ 'मनोरमा' पद दिया है- जो कथा काम-जन्य हो, उसके करने का निषेध है। इसी प्रकार अन्य दो पदों के अर्थ के विषय मे स्वबुद्धि से अनुभव कर लेना चाहिए।

पुनः फरमाते हैं—

कूइयं रुइयं गीयं, हासभुत्तासियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥ १२ ॥

कूजितं रुदितं गीतं, हास्यभुक्तासितानि च ।
प्रणीतं भक्तपानं च, अतिमात्रं पानभोजनम् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—कूइयं—कूजित, **रुइयं**—रुदित, **गीयं**—गीत, **य**—और, **हास**—हास्य, **भुत्ता**—खाया हुआ, **आसियाणि**—एक आसन पर बैठना, **पणीयं**—प्रणीत, **भत्तपाणं**—भात-पानी, **च**—पुनः, **अइमायं**—प्रमाण से अधिक, **पाणभोयणं**—पानी और भोजन।

मूलार्थ—स्त्रियों के कूजित, रुदित, गीत और हास्य आदि शब्दों का सुनना, उनके साथ बैठकर खाए हुए स्निग्ध भोजन आदि का तथा भोगे हुए विषय-विकारों का स्मरण करना एवं प्रमाण से अधिक भोजन करना (ये सब आत्म-गवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान हैं)।

टीका—इस गाथा में मोहोत्पादक शब्दादि विषयो का वर्णन किया गया है। जैसे कि काम-क्रीड़ा के समय कूजित शब्द, विरह के होने से अथवा किसी प्रकार के दुख का अनुभव होने से रुदित शब्द और मन प्रसन्न होने से गीत शब्द, हास्य, साथ बैठकर खाया हुआ स्निग्ध अन्न और पेय, प्रमाण से अधिक पानी और भोजन, इत्यादि कृत्य ब्रह्मचारी पुरुष न करे। कारण कि मोहोत्पादक शब्द, पूर्व विषयो की स्मृति इत्यादि ये क्रियाएं ब्रह्मचारी के लिए लाभप्रद नहीं हैं।

सूत्रकर्त्ता ने जो "**भुत्तासियाणि**" यह पद दिया है, इसके दो अर्थ लिए जा सकते है, जैसे

कि एक तो स्त्रियो के साथ बैठना वा बैठकर खाना, दूसरा विषय सेवन करना। ये दोनो स्मृतियां ब्रह्मचारी के लिए अत्यन्त हानिप्रद है।

इस पद से यह भी भली-भाति सिद्ध हो जाता है कि पूर्वकाल में पति-पत्नी एकत्र बैठकर भोजनादि भी करते थे, इसीलिए सूत्रकार ने इसकी स्मृति करने का निषेध किया है।

गाथा के प्रत्येक पद जो कामोत्पादक थे, उनके प्रतिकूल वैराग्योत्पादक अर्थ मे लिए गए है। इनका ठीक ज्ञान स्वानुभव से ही हो सकता है।

आगे फरमाते हैं—

गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ १३ ॥

गात्रभूषणमिष्टञ्च, कामभोगाश्च दुर्जयाः ।
नरस्यात्मगवेषिणः, विषं तालपुटं यथा ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः-**गत्त**-शरीर का, **भूसण**-शृंगार, **च**-और, **इट्ठं**-इष्टपना, **य**-पुन, **कामभोगा**-शब्दादि विषय, जो, **दुज्जया**-दुर्जय हैं, **अत्तगवेसिस्स**-आत्मगवेषी, **नरस्स**-नर के लिए, **विस**-विष, **तालउडं**-तालपुट, **जहा**-जैसे है।

मूलार्थ-शरीर का शृंगार और इष्टपना तथा दुर्जय काम-भोग एवं शब्दादि विषय ये आत्म-गवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान त्याज्य हैं।

टीका-इन तीनो गाथाओ मे पूर्वोक्त सभी गाथाओ के भाव को संकलित कर दिया गया है। स्त्रीजनाकीर्ण स्थान से लेकर दुर्जय काम-भोगो तक जितने भी विषय निर्दिष्ट किए गए है (जो कि सख्या मे दस होते है) वे सब आत्मा की गवेषणा करने वाले पुरुष के लिए तालपुटविष-अत्युग्र-शीघ्र मारने वाले जहर के समान हैं, अर्थात् जैसे जीवन की इच्छा रखने वाला कोई भी पुरुष विष का ग्रहण नही करता, किन्तु उससे सर्वथा अलग रहता है, उसी प्रकार आत्मशुद्धि की आकांक्षा रखने वाला साधु इन पूर्वोक्त विषयो को विष के समान समझकर इनसे सर्वथा पृथक् रहे।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की शुद्धि मे ब्रह्मचर्य की नितान्त आवश्यकता है। बिना ब्रह्मचर्य के आत्मशुद्धि का होना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है और उक्त विषय-दशस्थान-ब्रह्मचर्य के विघातक हैं। अतः ब्रह्मचर्य मे अनुराग रखने वाले साधु को इनका किसी समय में भी संसर्ग नही करना चाहिए।

यहा पर सूत्रकार ने जो तालपुट विष का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यह है कि

उक्त विष बड़ा ही उग्र होता है। यहां तक कि होठों के भीतर जाते ही वह मनुष्य को मार देता है। यदि समय का ख्याल करें तो जितना समय तालवृक्ष से उसके फल के गिरने में लगता है, उतना समय उक्त विष को प्राणी के प्राणों को हरने में लगता है। (वैज्ञानिक खोज में पोटाशियम-साइनामाइड को ही तालविष कहा जा सकता है, क्योंकि पोटाशियमसाइनामाइड का स्वाद भी आज तक कोई बता नहीं सका)। जिस प्रकार यह तालपुटविष जीवन का संहारक है, उसी प्रकार ये पूर्वोक्त दश स्थान सयमरूप जीवन के विघातक है, इसलिए सयमशील ब्रह्मचारी पुरुष इनका कभी भी सेवन न करे, इसी में उसका श्रेय है।

इस पूर्वोक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि इन दुर्जय काम-भोगों का ब्रह्मचारी पुरुष सर्वथा त्याग कर दे। अब इसी बात का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥ १४ ॥

दुर्जयान् कामभोगांश्च, नित्यशः परिवर्जयेत् ।
शंकास्थानानि सर्वाणि, वर्जयेत् प्रणिधानवान् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—दुज्जए—दुर्जय, **कामभोगे**—कामभोगों को, **य**—पादपूर्ति मे, **निच्चसो**—सदा ही, **परिवज्जए**—त्याग दे, **संकाठाणाणि**—शंका के स्थान, **सव्वाणि**—सब, **वज्जेज्जा**—त्याग दे, **पणिहाणवं**—एकाग्र मन वाला।

मूलार्थ—इसलिए एकाग्रमन वाला साधु दुर्जय काम-भोगों और सर्व प्रकार के शंका-स्थानो का सदा के लिए परित्याग कर दे।

टीका—जब कि ये कामभोगादि विषय तालपुट विष के समान है तो इनका त्याग करना ही कल्याण के देन वाला है, इसलिए शास्त्रकार कहते है कि एकाग्र मन वाला साधु समाधि की दृढता के लिए इन दुर्जय--दुख पूर्वक जीत जाने वाले—काम-भोगों का तथा शका के स्थानो को (जहा पर कि शका उत्पन्न होती हो) छोड दे, क्योंकि शका-स्थान ही ब्रह्मचर्य में शका आदि दोषों के उत्पादक हैं और इनका अन्तिम फल धर्म से पतित होना ही बताया गया है।

जैसे यह उपदेश ब्रह्मचारी पुरुष के लिए है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य मे पूर्णनिष्ठा रखने वाली स्त्री के लिए भी समझ लेना चाहिए।

इन उक्त दोषों का परित्याग कर देने के बाद ब्रह्मचारी साधु का जो कर्त्तव्य है, अब उसके विषय में कहते हैं—

धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही ।
धम्मारामरए दन्ते, बम्भचेरसमाहिए ॥ १५ ॥
धर्मारामे चरेद् भिक्षुः, धृतिमान् धर्मसारथिः ।
धर्मारामे रतो दान्तः, ब्रह्मचर्यसमाहितः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—धम्मारामे—धर्म के आराम में—बगीचे मे, **भिक्खू**—भिक्षु, **चरे**—विचरे, **धिइमं** —धृतिमान्, **धम्मसारही**—धर्म का सारथी, **धम्मारामरए**—धर्म मे रत, **दन्ते**—दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला, **बम्भचेर**—ब्रह्मचर्य मे, **समाहिए**—समाहितचित्त—समाधि वाला।

मूलार्थ—जो ब्रह्मचर्य में समाहित है, धैर्यशील है, धर्मसारथी है, धर्म मे अनुराग रखने वाला और दान्त—इंद्रियों को दमन करने वाला है, वह भिक्षु धर्म के आराम अर्थात् बगीचे में विचरण करे।

टीका—जिस प्रकार उद्यान सतप्त-हृदय प्राणियो के सन्ताप को दूर करने वाला होता है, ठीक उसी प्रकार इस ससार में दुष्कर्म-संतप्त जीवों को शान्ति प्राप्त करने के लिए धर्मरूप उद्यान है। उसी में समाहितचित्त, उपशान्त, धैर्यशील, धर्मसारथी और धर्मानुरागी बनता हुआ सयमशील भिक्षु विचरण करे।

तात्पर्य यह है कि धर्माराम मे रमण करने वाले को परम शांति की प्राप्ति होती है, वही धर्म सारथी बनकर अनेक भव्य जीवो को सन्मार्ग पर लाता हुआ उनको ससार के जन्म-मरण रूप अगाध समुद्र से पार कर देता है।

यह सब वर्णन ब्रह्मचर्य की रक्षा और विशुद्धि के लिए किया गया है। अब ब्रह्मचर्य के माहात्म्य के विषय में कहते हैं—

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बम्भयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करन्ति तं ॥ १६ ॥
देवदानवगन्धर्वाः, यक्षराक्षसकिन्नराः ।
ब्रह्मचारिणं नमस्कुर्वन्ति, दुष्करं यः करोति तत् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—देवदाणवगन्धव्वा—देव, दानव और गन्धर्व, **जक्खरक्खसकिन्नरा**—यक्ष, राक्षस और किन्नर, **बम्भयारिं**—ब्रह्मचारी को, **नमंसंति**—नमस्कार करते हैं, **दुक्करं**—दुष्कर, **जे**—जो, **करंति**—करता है—पालन करता है, **तं**—उस ब्रह्मचर्य को।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये सब नमस्कार करते हैं, क्योंकि वह दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है।

टीका–इस गाथा में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन किया गया है। ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी नमस्कार करते हैं, क्योंकि जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह बड़ा ही दुष्कर कार्य कर रहा है। देवों मे–वैमानिक देव, ज्योतिष्क देव, भवनपति–दानवसंज्ञा वाले देव और स्वरविद्या के जानने वाले गन्धर्व देव, यक्ष–व्यन्तर जाति के देव (जिनका निवास-स्थान प्रायः वृक्षों में होता है), राक्षस–मास की इच्छा रखने वाले और किन्नर ये सब ही व्यन्तर जाति के देव हैं। ये सब के सब ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करना कुछ साधारण सी बात नही, कायर पुरुष इस ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते। इसका पालन करने वाला तो बडा ही शूरवीर पुरुष होना चाहिए। इसलिए ब्रह्मचर्य का पालन करना बडा ही दुष्कर है और जो इसका पालन करता है, वह अवश्य ही देव, दानव और गन्धर्वादि के द्वारा पूजनीय और वन्दनीय है।

इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचर्य रूप धर्म सर्वोत्तम धर्म है, अतः इसको अवश्यमेव धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि देवता लोग ब्रह्मचारी पुरुष को केवल नमस्कार मात्र ही नही करते, किन्तु ब्रह्मचारियो की यथासमय रक्षा भी करते है। जैसे कि सती शिरोमणि सीता की परीक्षा के समय अग्निकुण्ड का जलकुण्ड बन जाना प्रसिद्ध है।

अब प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते है–

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहा वरे ॥ १७ ॥
त्ति बेमि ।
इति बम्भचेरसमाहिठाणअज्झयणं समत्तं ॥ १६ ॥

एष धर्मो ध्रुवो नित्यः, शाश्वतो जिनदेशितः ।
सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथा परे ॥ १७ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानमध्ययनं समाप्तम् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–एस–यह, **धम्मे**–धर्म, **धुवे**–ध्रुव है, **निच्चे**–नित्य है, **सासए**–शाश्वत है, **जिणदेसिए**–जिनप्रतिपादित है, **अणेण**–इसके द्वारा, **सिद्धा**–पहले सिद्ध हुए, **च**–और, **सिज्झंति**–वर्तमान मे सिद्ध होते है, **सिज्झिस्संति**–भविष्य-काल मे सिद्ध होंगे, **तहा**–तथा, **वरे**–अनागत काल मे।

मूलार्थ–जिनदेशित यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है, इसके द्वारा भूतकाल में सिद्ध हुए, वर्तमानकाल में होते हैं और आगामी काल में होंगे।

टीका—इस गाथा मे यह बताया गया है कि जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिपादन किया हुआ यह ब्रह्मचर्य रूप धर्म ध्रुव है, नित्य है और शाश्वत है। ध्रुव इसलिए है कि इसको परवादियों ने भी स्वीकार किया है, नित्य इसलिए है कि यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सदैव एक स्वभाव होन से स्थिर है और इसको शाश्वत इसलिए कहते हैं कि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भी इसका पर्याय-परिवर्तन नहीं होता।

यद्यपि ध्रुव, नित्य और शाश्वत ये तीनों शब्द समान अर्थ के वाचक हैं, तथापि नाना प्रकार के शिष्यों के हित और सुगमता से बोध के लिए इनका यहां पर प्रयोग किया गया है।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकार इस धर्म का त्रैकालिक फल बताते हुए कहते है कि इस धर्म क अनुष्ठान द्वारा भूतकाल मे अनन्त आत्मा सिद्ध गति को प्राप्त हुए तथा वर्तमान में महाविदेहादि क्षेत्रों मे सिद्ध होते है और आगामी काल में होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि यह धर्म मुक्ति के साधन का एक मुख्य अग है, अत: इसका पालन करना प्रत्येक भव्य आत्मा का कर्त्तव्य है। **'त्ति बेमि'** का अर्थ पूर्व की भाति ही समझ लेना चाहिए।

षोडशमध्ययनं सम्पूर्णम्

अह पावसमणिज्जं सत्तदहं अज्झयणं

अथ पापश्रमणीयं सप्तदशमध्ययनम्

गत सोलहवे अध्ययन मे ब्रह्मचर्य की गुप्तियो का वर्णन किया गया है, परन्तु वे गुप्तियां उसी समय ठीक रह सकती है जब कि पापस्थानो को छोड़ दिया जाए। अत: इस सोलहवे अध्ययन के अनन्तर अब 'पापश्रमण'* नामक सत्रहवें अध्ययन का आरम्भ किया जाता है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है–

जे केइ उ पव्वइए नियण्ठे, धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने ।
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं, विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ॥ १ ॥

यः कश्चित्तु प्रव्रजितो निर्ग्रन्थः, धर्मं श्रुत्वा विनयोपपन्नः ।
सुदुर्लभं लब्ध्वा बोधिलाभं, विहरेत् पश्चाच्च यथासुखं तु ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–**जे**–जो, **केइ**–कोई एक, **उ**–पादपूर्ति मे, **पव्वइए**–प्रव्रजित, **नियण्ठे**–निर्ग्रन्थ, **धम्मं**–धर्म को, **सुणित्ता**–सुनकर, **विणओववन्ने**–विनय से युक्त, **सुदुल्लहं**–अति दुर्लभ, **लहिउं**–प्राप्त करके, **बोहिलाभं**–बोधिलाभ को, **विहरेज्ज**–विचरता है, **पच्छा**–पीछे से, **य**–पुनः, **जहासुहं**–जैसे सुख हो, **तु**–एव के अर्थ मे है।

मूलार्थ–कोई एक प्रव्रजित निर्ग्रन्थ, धर्म को सुनकर विनय से युक्त अतिदुर्लभ बोधिलाभ को प्राप्त करके, पीछे से यथारुचि विचरता है, अर्थात् स्वच्छन्दता-पूर्वक जैसे सुख प्रतीत हो वैसे चलने लगता है।

टीका–कोई जीव धर्म को सुनकर दीक्षा ग्रहण करके निर्ग्रन्थ बन गया और ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप विनय से भी युक्त हो गया तथा परम दुर्लभ बोधिलाभ (जिनप्रणीत-धर्म) की प्राप्ति

* जो काम साधुओ के करने योग्य नहीं हैं, उन्हे करने वाले साधु को पापश्रमण कहते है।

भी उसने कर ली, परन्तु पीछे से वह अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने लगा, अर्थात् शास्त्रविहित मर्यादा की उपेक्षा करके अपने को जैसे सुख हो उस प्रकार से आचरण करने लगा, यों कहिए कि प्रथम सिंह की भांति घर से निकलकर फिर श्रृगाल की वृत्ति को स्वीकार कर लिया। (ऐसा साधु पाप-श्रमण कहलाता है।)

यहां पर **'सुदुल्लहं'** इस वाक्य में **'सु'** उपसर्ग अत्यन्त अर्थ का वाचक है, क्योंकि संसार-भ्रमण में प्रत्येक वस्तु सुलभता से प्राप्त हो सकती है, परन्तु बोधिलाभ का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। फिर भी अनेक जीव ऐसे हैं कि इस दुर्लभ बोधिलाभ के प्राप्त हो जाने पर भी उसका यथावत सरक्षण नही करते, अर्थात् सयम लेकर भी उसका आराधन नहीं करते, किन्तु अकरणीय कार्यो मे लग जाते हैं, उन्हें ही शास्त्रकार पाप-श्रमण कहते है।

जब कोई साधु दीक्षित होकर यथारुचि विचरने लगा, तब गुरुओं ने उसको हित-बुद्धि से अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया, इस पर शिष्य ने गुरु को जो उत्तर दिया है, अब उसका वर्णन करते हैं–

सिज्जा दढा पाउरणं मि अत्थि, उप्पज्जई भोत्तु तहेव पाउं ।
जाणामि जं वट्टइ आउसुत्ति, किं नाम काहामि सुएण भन्ते ॥ २ ॥

शय्या दृढा प्रावरणं मेऽस्ति, उत्पद्यते भोक्तुं तथैव पातुम् ।
जानामि यद्वर्तत आयुष्मन्निति, किं नाम करिष्यामि श्रुतेन भगवन् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–**सिज्जा**–शय्या, **दढा**–दृढ, **पाउरणं**–वस्त्र, **मि**–मेरे, **अत्थि**–है, **उप्पज्जई**–उत्पन्न हो जाता है, **भोत्तु**–खाने के लिए, **तहेव**–तथैव, **पाउ**–पीने के लिए, **जाणामि**–जानता हू, **ज वट्टइ**–जो वर्त रहा है, **आउसु**–हे आयुष्मन्। **त्ति**–इस कारण से, **किं नाम**–क्या, **काहामि**–करूगा, **भन्ते**–पूज्य, **सुएण**–श्रुत के पठन से।

मूलार्थ–हे आयुष्मन्! दृढ़ निवास स्थान उपलब्ध है, वस्त्र मेरे पास हैं, खाने और पीने के लिए अन्न और जल मिल जाता है तथा वर्तमान में जो हो रहा है उसे मैं जानता हूं, अतः हे भगवन्! शास्त्र स्वाध्याय करके मैं क्या करूंगा?

टीका–इस गाथा मे पापश्रमण के लक्षण और श्रुत के विषय मे उसके जो विचार है, उनका दिग्दर्शन कराया गया है। गुरुओं ने जब शिष्य को श्रुत के पठन का उपदेश दिया, तब उत्तर मे शिष्य ने कहा–"भगवन्! शय्या–दृढ़ निवास स्थान है, अर्थात् प्राप्त निवास-स्थान शीत, आतप और वर्षा आदि के उपद्रवों से रहित है तथा शीतादि की निवृत्ति के लिए वस्त्र भी मेरे गास विद्यमान है एवं खाने के लिए अन्न–भोजन और पीने के लिए स्वच्छ पानी मिल जाता है तथा वर्तमान काल मे जो कुछ हो रहा है उसे मै भली-भांति जानता हू, अतः श्रुत के पढने से मुझे क्या लाभ है?

आपने तो श्रुत का अध्ययन किया है, आपको भी केवल वर्तमान के पदार्थों का ही ज्ञान है और मुझको भी, जिसने श्रुत को पढा है उसे भी वर्तमान के पदार्थो का बोध है और जिसने नही पढा उसे भी वर्तमान के पदार्थो का ही ज्ञान है, अत· आपके और मेरे ज्ञान मे कोई विशेषता नही है तो फिर श्रुताध्ययन के निमित्त व्यर्थ ही हृदय, कण्ठ और तालु को सुखाने से क्या लाभ? क्योकि श्रुत के द्वारा आप अतीन्द्रिय पदार्थो को तो जानत ही नही, जिससे कि उसकी आवश्यकता प्रतीत हो। अत: श्रुत के अध्ययन से कोई विशेष लाभ प्रतीत नही होता।

अब फिर इसी विषय में कहते है–

जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ३ ॥

यः कश्चित् तु प्रव्रजितः, निद्राशीलः प्रकामशः ।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–जे -जो, **केइ** -कोई, **उ**–वितर्क मे, **पव्वइए**–प्रव्रजित हो गया है, **निद्दासीले**–निद्राशील, **पगामसो**–अत्यन्त निद्रालु, **भुच्चा**–खाकर, **पिच्चा**–पीकर, **सुहं**–सुखपूर्वक, **सुवई** सो जाता है, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–जो व्यक्ति प्रव्रजित होकर–दीक्षित होकर अत्यन्त निद्राशील है और खा-पीकर सुख से सो जाता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका–इस गाथा म पाप श्रमण क लक्षण वर्णन किए गए ह, अर्थात् पाप- श्रमण किसको कहते ह इसकी चर्चा की गई हे। जेमे कोई पुरुप दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर भी अत्यन्त निद्रालु बना हुआ ह, तथा दधि ओदनादि का खाकर और तक्र आदि को पीकर अर्थात् नानाविध भाज्य ओर पय पदार्थो का मेवन करके खूब आनन्द-पूर्वक सोता हुआ अपनी आवश्यक क्रियाओ की भी उपेक्षा कर देता है, उसे पाप-श्रमण कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि पापरूप क्रियाओ क द्वारा जिसकी पहचान की जाए, वह पाप-श्रमण है।

यद्यपि यहा पर कवल **'निददासीले**–निद्राशील' का प्रयोग ही पर्याप्त था तथापि **'पगामसो–प्रकामश.'** का प्रयोग अत्यन्त निद्रालुता का बोध कराने के लिए किया गया है। जैसे कि उठाने पर भी जल्दी नही उठता तथा उठने पर भी आखे मीचे रहता है।

ऐसा नहीं कि अनपढ़ ही पाप-श्रमण होते हैं, किन्तु पढ़े हुए भी पाप-श्रमण कहे अथवा माने जाते हैं, जैसे कि–

आयरियउवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसई बाले, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ४ ॥

आचार्योपाध्यायैः, श्रुतं विनयं च ग्राहितः ।
तांश्चैव खिंसति बालः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–आयरियउवज्झाएहिं– आचार्य और उपाध्याय के द्वारा, **सुयं**– श्रुत, **च**–और, **विणयं**–विनय, **गाहिए**– सिखाया गया, **ते**–उनकी, **चेव**–निश्चय ही, **खिंसई**–निन्दा करता है, **बाले**–विवेकहीन, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–आचार्य और उपाध्याय के द्वारा श्रुत और विनय से शिक्षित किया हुआ जो शिष्य विवेकहीन होकर फिर उन्हीं की निन्दा करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका–आचार्य एव उपाध्याय ने जिसको श्रुत और विनय रूप धर्म की भली प्रकार शिक्षा दी है तथा उसे योग्य भी बना दिया है, परन्तु वह विवेक विकल—मूर्ख शिष्य यदि उन्ही की निन्दा करने लग जाए तो उसे पापश्रमण कहते है, क्योंकि जिनसे श्रुत का ग्रहण किया जाए, उनकी तो मन, वचन और काया से सदा ही विनय करनी चाहिए। इसके विपरीत जो उनकी निन्दा करता हे, वह पढा-लिखा होने पर भी विवेक विकल होन से मूर्ख है।

उक्त गाथा मे आए हुए **'खिंसई'** पद का अर्थ है, **'निन्दति'**-निन्दा करता है। इसका अर्थ 'खिझाता हे' भी हो सकता है।

इस प्रकार ज्ञानाचार की अवहेलना से पाप-श्रमण का उल्लेख किया गया है। दर्शनाचार की अवहेलना से जो पाप-श्रमण होता है अब उसके विषय में फरमाते हैं–

आयरियउवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पई ।
अप्पडिपूयए थद्धे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ५ ॥

आचार्योपाध्यायानां, सम्यग् न परितृप्यति ।
अप्रतिपूजकः स्तब्धः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–आयरिय–आचार्य, **उवज्झायाणं**- उपाध्याय की, **सम्मं**–जो सम्यक् प्रकार से, **नो पडितप्पई**–सेवा नहीं करता, **अप्पडिपूयए** उनकी पूजा नही करता, **थद्धे**–अहकारयुक्त, **पावसमणि त्ति**–इस प्रकार पापश्रमण, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–जो शिष्य अहंकार-युक्त होकर आचार्य और उपाध्याय की भली प्रकार से सेवा नहीं करता और न ही उनकी पूजा करता है वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका–ज्ञानाचार के पश्चात् अब सूत्रकार दर्शनाचार के विषय में कहते है। दर्शनाचार के भेदो में एक गुरु-वात्सल्य नाम का भेद है, जो शिष्य उसकी सम्यक् प्रकार से आराधना नही करता, वह पाप-श्रमण कहलाता है। जैसे कि आचार्य और उपाध्याय आदि गुरुजनो की सेवा-पूजा न करना, उनकी इच्छा के अनुसार उनके कार्यो मे उपयोग न रखना तथा अर्हतादि के गुणानुवाद

से पराङ्मुख रहना और अहंकारी होना, ये सब पाप-श्रमण के लक्षण है। इसी प्रकार दर्शनाचार के अन्य भेदों की अवहेलना के विषय मे भी समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार दर्शनाचार को लेकर पाप-श्रमणता का वर्णन किया गया है। अब चारित्राचार के विषय में कहते हैं—

सम्मर्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ६ ॥

सम्मर्दयमानः प्राणिनः, बीजानि हरितानि च ।
असंयतः संयतंमन्यमानः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—सम्मद्दमाणे—समर्दन करता हुआ, **पाणाणि**—प्राणियो का, **बीयाणि**—बीजो, **य**—और, **हरियाणि**--हरी वनस्पतियो का, **असंजए**—असयत होने पर भी, **संजयमन्नमाणे**—संयत मानता हुआ, **पावसमणि त्ति**--पाप-श्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—प्राणी, बीज और वनस्पति का संमर्दन करता हुआ तथा असंयत होने पर भी अपने आपको संयत मानने वाला "पापश्रमण" कहलाता है।

टीका—चारित्राचार मे पहले ईर्या-समिति का प्रयोग किया जाता है, अतः सूत्रकर्त्ता ने प्रथम उसी का उल्लेख किया है। जैसे कि द्वीन्द्रियादि प्राणी, शाल्यादि बीज और दूर्वादि हरी घास। इसी प्रकार सर्व एकेन्द्रिय जीव जान लेने चाहिएं। जो चलते समय इन सबका मर्दन करता हुआ चलता हे और असयत होता हुआ भी अपने आप को सयत मानता है, वह पाप-श्रमण है, क्योंकि वह ईर्या-समिति विषय मे सर्वथा विवेकरहित हो रहा है और जीवों के समर्दन के कारण उसका हृदय दया-शून्य हो रहा हे।

वास्तव मे साधु की मुख्य परीक्षा उसके चलने से ही की जाती है, जब कि चलने मे ही उसे विवेक नही तो उसके अन्य कार्य भी विवेक-शून्य ही होगे। जिस प्रकार बीजादि के विषय मे कहा गया है उसी प्रकार पृथ्वी-काय, अप्काय, तेजस्काय ओर वायुकाय के विषय मे भी जान लेना चाहिए। यहा गाथा मे आए हुए "**सम्मद्दमाणे**"-समर्दन शब्द का तात्पर्य अतिनिर्दयपन की सूचना करना हे।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकम्बलं ।
अप्पमज्जियमारुहई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ७ ॥

संस्तारं फलकं पीठं, निषद्यां पादकम्बलम् ।
अप्रमृज्यारोहति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः–संथारं–कम्बलादि, **फलगं**–पट्टादि, **पीढं**–आसन, **निसिज्जं**–स्वाध्यायभूम्यादि, **पायकम्बलं**–पादपुंछन, **अप्पमज्जियं**–बिना प्रमार्जन किए जो, **आरुहई**–आरोहण करता है–बैठता है, वह, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–संस्तारक (बिछौना) फलक, पीठ, पादपुंछन और स्वाध्याय-भूमि, इन पर जो बिना प्रमार्जन किए बैठता है, उसे पापश्रमण कहा जाता है।

टीका–इस गाथा मे यह बताया गया है कि प्रमार्जन किए बिना जो किसी वस्तु पर बैठना अथवा किसी वस्तु को उठाना है, यह भी असंयम का हीं कारण है। अत: इस प्रकार का आचरण करने वाला भी पाप-श्रमण ही कहलाता है। कम्बल आदि ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र, चौकी, पट्टा, स्वाध्याय-भूमि और पादपुंछन इत्यादि उपकरणो को बिना प्रमार्जन किए उपयोग मे लाने वाला पाप-श्रमण है, क्योंकि प्रमार्जन किए बिना इन उपकरणो का उपयोग करते समय यदि इन पर कोई जीव चढा हुआ हो तो उसकी हिंसा हो जाने की संभावना होती है तथा प्रमाद के बढने का भी इससे भय रहता है जो कि सयम का विघातक है। इसलिए सयमशील साधु को चाहिए कि वह यत्न-पूर्वक और प्रमार्जन किए हुए वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो को अपने उपयोग में लाए।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं–

दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं ।
उल्लंघणे य चण्डे य, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ८ ॥

द्रुतं द्रुतं चरति, प्रमत्तश्चाभीक्ष्णम् ।
उल्लंघनश्च चण्डश्च, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–दवदवस्स–शीघ्र-शीघ्र, **चरई**–चलता है, **पमत्ते**–प्रमत्त होकर, **य**–फिर, **अभिक्खणं**–बार-बार, **उल्लंघणे**–साधु मर्यादाओ का उल्लंघन करता है, **य**–और, **चण्डे**–क्रोध से युक्त, **य**–पादपूर्ति में है, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–जो साधु शीघ्र-शीघ्र चलता हो, प्रमाद-युक्त हो और बार-बार साधु-मर्यादा का उल्लंघन करता हो और क्रोधी हो, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका–जो साधु गोचरी आदि क्रियाओ मे अति शीघ्रता से चलता है और प्रमादवश होकर बार-बार साधु मर्यादाओं का उल्लंघन करता है और यदि कोई शिक्षा दे तो उस पर भी क्रोध करता है, वह पाप-श्रमण है, अर्थात् ये लक्षण पाप-श्रमण के हैं। तात्पर्य यह है कि ईर्या-समिति मे अनुपयोगता, प्रमाद के वशीभूत होकर अनुचित उल्लंघनादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करना तथा शिक्षा देने वाले पर क्रोध करना ये सब अविनीतता के लक्षण हैं। इन्हीं लक्षणों से युक्त हुए साधु को **"पापश्रमण"** कहा जाता है।

यहां पर जो "**अभिक्खणं**" पद पढा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि किसी कारण विशेष से यदि यत्न-पूर्वक शीघ्र भी चलना पडे तो वह प्रत्यवाय-जनक नहीं, किन्तु सदैव बिना विधि से चलना दोषावह है।

अब फिर उक्त विषय में ही कहते हैं–

पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकम्बलं ।
पडिलेहणाअणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ९ ॥

प्रतिलेखयति प्रमत्तः, अपोज्झति पादकम्बलम् ।
प्रतिलेखनायामनायुक्तः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–पडिलेहेइ–प्रतिलेखना करता है, **पमत्ते**–प्रमत्त होकर, **अवउज्झइ**–यत्र-तत्र रख देता है, **पायकम्बलं**–पात्र और कम्बल, **पडिलेहणा**–प्रतिलेखना मे, **अणाउत्ते**–अनुपयुक्त है वह, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–जो प्रमत्त होकर प्रतिलेखना करता है, पात्र और कम्बल जहां-तहां रख देता है और प्रतिलेखना मे अनुपयुक्त है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका–जो साधु वसति आदि स्थानों को प्रमत्त होकर प्रत्यपेक्षण करता है, तथा पात्र कम्बलादि वस्तुओं को जहां-तहां रख देता है अथवा जिसका भाण्डोपकरण बिना ही प्रतिलेखना किए बिखरा हुआ पड़ा रहता है, इतना ही नहीं किंतु जिसका प्रतिलेखना में बिल्कुल ही उपयोग नहीं है, वह पाप-श्रमण है, क्योंकि उक्त क्रियाओं का यदि उपयोग और यत्न-पूर्वक अनुष्ठान किया जाएगा, तभी संयम की भली प्रकार से आराधना हो सकेगी, अन्यथा उसका विघात होगा।

उक्त गाथा मे जो "**पायकम्बल**" शब्द है, उसके दो अर्थ होते है–एक तो पात्र और कम्बल, दूसरा पांव पोछने का वस्त्रखण्ड। ये दोनो ही अर्थ यहां पर ग्राह्य है।

अब फिर इसी विषय की आलोचना करते हैं–

पडिलेहेइ पमत्ते, से (जं) किंचि हु निसामिया ।
गुरुपरिभावए निच्चं, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १० ॥

प्रतिलेखयति प्रमत्तः, सःकिञ्चित्खलु निशम्य ।
गुरुपरिभावको नित्यं, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १० ॥

पदार्थान्वय.–पडिलेहेइ–प्रतिलेखना करता है, **पमत्ते**–प्रमत्त होकर, **से**–वह, **किंचि**–किंचित्, **हु**–भी, **निसामिया**–सुनकर, **गुरुपरिभावए**–गुरुजनों का परिभव अर्थात् अपमान करता है, **निच्चं**–वह सदा ही, **पावसमणि त्ति**–पाप-श्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–जो इधर-उधर की कुछ बातों को सुनता हुआ प्रमत्त होकर प्रतिलेखना करता है, गुरुजनों द्वारा सावधान करने पर सदैव उनका तिरस्कार करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका–इस गाथा में यह बताया गया है कि जो साधु प्रतिलेखना मे प्रमाद करता है, अर्थात् सावधान होकर प्रतिलेखना नही करता और इधर-उधर की बाते सुनता रहता है, अत: गुरुजनों के उपदेश की ओर ध्यान नही देता और जब गुरुओं ने कहा कि "**वत्स! प्रमादरहित होकर काम करो, इस क्रिया में और कोई कार्य नहीं करना चाहिए**" तब उसी समय उनका तिरस्कार करने लग जाता है और कहता है कि "इसमे मेरा क्या दोष है, आपने जैसा सिखाया है वैसा ही तो करता हूं, यदि यह ठीक नही तो आप स्वय कर लो, मै तो इसी प्रकार करूंगा।" इस प्रकार का आचरण करने वाला साधु पाप-श्रमण कहलाता है।

कही-कही पर "**गुरुं परिभासए निच्चं–गुरुपरिभाषको नित्यम्**" ऐसा पाठ भी है। तब इसका यह अर्थ होगा कि सदैव गुरुजनों के सामने बोलने वाला अर्थात् असभ्य बर्ताव करने वाला अथवा उनकी शिक्षा को विपरीत समझने वाला।

अब फिर उक्त विषय में ही कहते हैं–

बहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अवियत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ११ ॥

बहुमायी प्रमुखरः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः ।
असंविभाग्यप्रीतिकः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–बहुमाई–बहुत छल करने वाला, **पमुहरी**–बिना सम्बन्ध प्रलाप करने वाला, **थद्धे**–अहकारी, **लुद्धे**–लोभी, **अणिग्गहे**–इन्द्रियो के पराधीन, **असंविभागी**–समविभाग न करने वाला, **अवियत्ते**–प्रीति न करने वाला, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–विविध प्रकार के छल करने वाला, बिना विचारे बोलने वाला, अहंकारी, लोभी, इन्द्रियों को वश में न रखने वाला, और जो भिक्षा में प्राप्त वस्तुओं का समविभाग नहीं करता तथा गुरुजनों एवं वृद्ध तथा रोगी आदि के प्रति प्रीति नहीं रखता वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका–इस गाथा मे भी पाप-श्रमण के लक्षणों का वर्णन किया गया है, जैसे कि विविध प्रकार के छल कपट करना, असम्बद्ध प्रलाप करना, मन में अहकार और लोभ रखना, इन्द्रियों के वशीभूत होना, गुरुजनो एव वृद्ध और ग्लान आदि से प्रेम न रखना और लाए हुए आहार

का सबके साथ समविभाग न करना—ये सब पाप-श्रमण के लक्षण हैं अर्थात् इन लक्षणों वाला साधु पाप-श्रमण कहलाता है।

यहा पर इतना और समझ लेना चाहिए कि प्रीति से ही मनुष्य मे संविभागित्व आता है और तभी वह बाल, वृद्ध और ग्लान आदि की सेवा में प्रवृत्त होता है, अतः जो साधु अपने में प्रीति गुण को नहीं रखता, वह आत्मपोषक, उद्धत और लोभी बनता हुआ **''पापश्रमण''** हो जाता है।

अब फिर इसी विषय को पल्लवित किया जाता है—

विवायं च उदीरेइ, अधम्मे अत्तपन्नहा ।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १२ ॥

विवादं चोदीरयति, अधर्म आत्मप्रज्ञाहा ।
व्युद्ग्रहे कलहे रक्तः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १२ ॥

पदार्थान्वय.—विवायं—विवाद को, **च**—और, **उदीरेइ**—उदीरता है—उभारता है, **अधम्मे**—सदाचार से रहित है, **अत्तपन्नहा**—आत्म—आप्त—प्रज्ञा का हनन करता है, **वुग्गहे**—युद्ध में, **कलहे**—कलह मे, **रत्ते**—रत है, **पावसमणि त्ति**—पाप-श्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो विवाद को पुनः-पुनः उभारता है, सदाचार से रहित है और आप्तप्रज्ञा अथवा आत्मप्रज्ञा—की हानि करने वाला है जो युद्ध एवं कलह में प्रवृत्त रहता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका-जो विवाद शान्त हो चुका हो उसको फिर स उत्पन्न करने वाला और सदाचार से रहित जो साधु है, उसे पापश्रमण कहते हे। **अत्तपन्नहा**—यदि किसी आत्मा को आप्त पुरुषो के उपदश स इस लोक तथा परलोक के निर्णय की बुद्धि प्राप्त हो गई है तो उसको जो अपने कुतर्क जाल से हनन करने वाला हो, वह पाप-श्रमण है, अथवा जो आत्म प्रश्नहा—आत्माविषयक प्रश्नों का नाश करन वाला है—आत्मा के अस्तित्व और उसके परलोक गमन सम्बन्धी तथ्य विचारो का विघात करने वाला हे, वह पाप-श्रमण है। जो लड़ाई करने और वाणी के द्वारा कलह करने मे प्रवृत्त है, वह पाप-श्रमण है।

इसके अतिरिक्त **''अत्तपन्नहा''** का आत्मप्रज्ञहा प्रतिरूप बनाकर उसकी आत्मप्रज्ञा—स्वकीय बुद्धि का विनाश करने वाला अर्थ भी युक्तिसगत है। तात्पर्य यह है कि जो कुतर्को के द्वारा अपनी बुद्धि को मलिन किए हुए है वह पाप-श्रमण है।

और भी कहते हैं—

अथिरासणे कुक्कुइए, जत्थ तत्थ निसीयई ।
आसणम्मि अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १३ ॥

अस्थिरासनः कुत्कुचः, यत्र तत्र निषीदति ।
आसनेऽनायुक्तः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–अथिरासणे–अस्थिरासन, **कुक्कुइए**–कुचेष्टायुक्त, **जत्थ**–जहां, **तत्थ**–तहा, **निसीयई**–बैठ जाता है, **आसणम्मि**–आसन में, **अणाउत्ते**–उपयोग से रहित, **पावसमणि त्ति**–पाप श्रमण, इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–जिसका आसन स्थिर नहीं है, जो कुचेष्टाओं से युक्त है और जहां-तहां बैठ जाता है तथा जो आसन पर बैठते समय उपयोग नहीं रखता, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका–जो साधु अपने आसन पर स्थिरता-पूर्वक नही बैठता और यदि बैठता है तो भी अनेक प्रकार की जीव-विराधक कुचेष्टाए करता है और जहां-तहां अर्थात् सचित्त-अचित्त का कुछ भी विचार न करता हुआ बैठ जाता है एवं आसन पर बैठते समय भी उपयोग से शून्य रहता है, तात्पर्य यह है कि वह यह विचार बिल्कुल नहीं करता कि मेरे पांव आदि सचित्त रज अथवा कीचड आदि से युक्त है वा नही, इत्यादि लक्षणो वाला जो साधु है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

इसके विपरीत जो विचारशील साधु है, उसका आसन स्थिर होगा तथा वह शरीर से किसी प्रकार की कुचेष्टा नही करता है और बिना यतना के जहां-तहा हर एक स्थान पर उसका बैठना नही होता एव आसन पर भी वह उपयोग पूर्वक ही बैठता है, इसलिए पाप-श्रमणता के कारणभूत उक्त लक्षणों को योग्य साधु कभी अंगीकार न करे।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में कहते हैं–

ससरक्खपाए सुवई, सेज्जं न पडिलेहई ।
संथारए अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १४ ॥

सरजस्कपादः स्वपिति, शय्यां न प्रतिलेखयति ।
संस्तारकेऽनायुक्तः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः–ससरक्खपाए–रज से भरे हुए पांव होने पर भी, **सुवई**–सो जाता है, **सेज्जं**–शय्या का, **न पडिलेहई**–प्रतिलेखन नही करता, **संथारए**–सस्तारक पर, **अणाउत्ते**–उपयोगशून्य होकर सोता वा बैठता है, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–रज से भरे हुए पांव होने पर भी जो उसी तरह सो जाता है और शय्या की

प्रतिलेखना भी नहीं करता तथा बिछौने पर बिना ही उपयोग के जो बैठता अथवा सोता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका–जो साधु पाव साफ किए बिना ही अपने आसन पर बैठता अथवा सोता है एव शय्या आदि की प्रतिलेखना वा प्रमार्जना भी नहीं करता तथा बिछौने पर अनुपयुक्त होकर–आगम विधि की अवहेलना करके सोता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है, क्योंकि शास्त्रो मे साधु के लिए मुर्गी की तरह चारो आर मे अपने आपको ममेटकर शयन करने का विधान है।

इस पूर्वोक्त सारे कथन से सिद्ध होता है कि साधु जिस वसति मे रहे, उसकी वह यतनापूर्वक प्रतिलेखना और प्रमार्जना कर तथा शय्या पर सोत अथवा बैठते समय उसके पाव में किसी प्रकार की धूलि अथवा कीचड न लगा हो और शयन भी उसका आगमोक्त विधि के अनुसार ही होना चाहिए, क्याकि शास्त्र-मर्यादा-पूर्वक यतना मे आचरण करने पर ही संयम का सम्यक् रूप से पालन हो सकता है, अन्यथा नही।

इस प्रकार चारित्र को लेकर पाप-श्रमण के स्वरूप का वर्णन हुआ। अब आचार के अतिक्रमण करने से जिस प्रकार पाप-श्रमण होता है उसका उल्लेख करते हैं–

दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १५ ॥

दुग्धदधिविकृती, आहारयत्यभीक्ष्णम् ।
अरतश्च तपः कर्मणि, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–दुद्ध–दुग्ध, **दही**–दधि, **विगईओ**–जो विकृतियां है उनका, **आहारेइ**–आहार करता है, **अभिक्खणं**–बार-बार, **अरए**–रति-रहित, **य**–और, **तवोकम्मे**–तप: कर्म मे, **पावसमणि त्ति**-पापश्रमण, इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–जो दुग्ध और दधि रूप विकृतियों का बार-बार आहार करता है और तप-कर्म में जिसकी प्रीति नही, वह पाप-श्रमण है।

टीका–दुग्ध, दधि और घृत आदि पदार्थो का विकृति कहत है, क्योंकि य विकार उत्पन्न करन वाले पदार्थ है, अत: जो साधु इन विकृतियों को छोडने के बदल इनका बार-बार संवन करता हे, परन्तु तपकर्म के अनुष्ठान मे अरुचि रखता हे, तात्पर्य यह कि दुग्ध, घृत आदि बलप्रद पदार्थो के खाने म तो सबसे आगे रहता है और जब तपस्या करने का समय उपस्थित होता है तब पीछे हट जाता है, वह **'पापश्रमण'** कहलाता है।

यहा पर विकृति शब्द स उन्ही पदार्थो का ग्रहण अभीष्ट है, जो कि अपने पहले पर्याय को छोडकर दूसरे पर्याय को प्राप्त हो गये है। जैस–दुग्ध, दधि आदि। ऐसे पदार्थ यदि प्रमाण से

अधिक सेवन किए जाए तो विकार को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं, इसलिए ये विकृति के नाम से प्रसिद्ध हैं। संयमशील साधु को इनका निरन्तर सेवन करना योग्य नहीं, यही इस गाथा का सारांश है।

अब फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं–

अत्थन्तम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं ।
चोइओ पडिचोएइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १६ ॥

अस्तमयति च सूर्ये, आहारयत्यभीक्ष्णम् ।
नोदितः प्रतिनोदयति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–अत्थन्तम्मि–अस्त होने तक, **सूरम्मि**–सूर्य के, **य**–पादपूर्ति में है, **अभिक्खणं**–बार-बार, **आहारेइ**–आहार करता है, **चोइओ**–प्रेरणा करने पर, **पडिचोएइ**–प्रेरणा करने वाले को प्रत्युत्तर देता है, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–जो सूर्य के अस्त होने तक बार-बार आहार करता रहता है और ऐसा न करने की प्रेरणा करने वाले पर उलटे आक्षेप करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका–जो साधु सूर्योदय से लेकर संध्या समय तक बराबर खाने में ही लगा रहता है, अथवा जिसका मन सदैव आहार का ही चिन्तन करता रहता है और यदि किसी भव्य साधु ने उसे कहा कि ''आयुष्मन् ! इस प्रकार सदा आहार की ही लालसा नही रखनी चाहिए और न इस तरह बार-बार आहार करना चाहिए, यह साधु का आचार नहीं है। साधु को तो मनुष्य-जन्म, श्रुति, श्रद्धा और सयम में वीर्य–इन चारों अगों की दुर्लभता का विचार करते हुए अधिकतया तप-कर्म के अनुष्ठान मे ही पुरुषार्थ करना चाहिए।'' तो गुरुजनों की इस उपदेशपूर्ण प्रेरणा का वह उत्तर देता है कि 'आप तो परोपदेश मे ही पंडित हो, यदि आपको ये उक्त चारों अंग दुर्लभ प्रतीत होते है तो आप ही किसी विकट तपस्या के अनुष्ठान में लग जाओ ! मुझे समझाने की आपको क्या आवश्यकता है?' इस प्रकार का बर्ताव करने वाला **'पापश्रमण'** कहलाता है। किसी के मत में **'अत्थन्तम्मि'–'अस्तमयति'** इसका ''प्रतिदिन आहार करता है''–यह अर्थ भी है।

इससे सिद्ध हुआ कि संयमशील साधु को कभी-कभी मर्यादित आहार का भी त्याग करना चाहिए ताकि उसे तप-कर्म उपार्जन करने का भी अवसर प्राप्त होता रहे।

अब फिर कहते हैं–

आयरियपरिच्चाई, परपासण्डसेवए ।
गाणंगणिए दुब्भूए, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १७ ॥

आचार्यपरित्यागी, पर-पाषण्ड-सेवकः ।
गाणंगणिको दुर्भूतः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–आयरिय–आचार्य के, **परिच्चाई**–त्याग करने वाला, **परपासण्ड**–परपाषंड के, **सेवए**--सेवन करने वाला, **गाणंगणिए**–छह-छह मास मे गच्छ संक्रमण करने वाला, **दुब्भूए**--निन्दित, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण, इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–आचार्य का परित्याग करने वाला और परपाखंड का सेवन करने वाला तथा छह मास के अनन्तर ही गच्छ का परिवर्तन करने वाला पाप-श्रमण होता है।

टीका–कोई निकृष्ट साधु इस बात का विचार करता है कि ये आचार्य जो सदैव तप करने का ही उपदेश करते रहते है तथा आहार आदि में जो कुछ सुन्दर पदार्थ आता है, वह बाल, वृद्ध और ग्लानादि का दे देते है, इसलिए इनका त्याग करके जहां खाने को अच्छा मिले वहीं चल जाना अच्छा है, क्योंकि वहा पर खाने-पीने की भी अधिक सुविधा रहेगी और तपस्या की बाध्यता भी नही होगी। इस विचार से वह साधु आचार्य का परित्याग कर देता है और पाखड का अनुयायी बन जाता है। इस हेतु से उसको 'पापश्रमण' कहते है।

शास्त्र म लिखा है कि नूतन शिष्य की छह मास तक विशेष सेवा–सार सभाल करनी चाहिए, इसी मर्यादा को ध्यान मं रखकर अपनी सेवा के निमित्त जो साधु छह मास के अनन्तर ही गच्छ का परिवर्तन कर देता है, अर्थात् एक गच्छ को छोडकर दूसरे गच्छ मे चला जाता है, वह भी पाप-श्रमण है, क्योकि इन उक्त दोनो ही प्रकार के विचारो में स्वार्थ और आचार-शून्यता की ही अधिक मात्रा विद्यमान है। वेष से तो यद्यपि वह श्रमण ही दिखाई देता है, परन्तु मन उसका दुराचार की ओर ही प्रवृत्त रहता है, अतः उसको 'पापश्रमण' कहते हैं।

इसी प्रकार वीर्याचार से जो रहित है, वह भी पाप-श्रमण है, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है–

सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि वावरे ।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १८ ॥

स्वकीयं गृहं परित्यज्य, परगृहे व्याप्रियते ।
निमित्तेन व्यवहरति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–सयं–अपना घर, **परिच्चज्ज**–छाड़कर, **परगेहंसि**–पर घरो में, **वावरे**–आहार के लिए जाकर उनका कार्य करे, **य**–और, **निमित्तेण**–शुभाशुभ निमित्त से, **ववहरई**–व्यवहार करता है, **पावसमणि त्ति**–पापश्रमण इस प्रकार, **वुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ—जो साधु अपना घर छोड़कर दूसरों के घरों में जाकर उनका काम करता है और निमित्त शास्त्र से—शुभाशुभ बताकर जीवन-व्यवहार चलाता है वह पाप-श्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु अपना घर छोड़कर अर्थात् दीक्षा ग्रहण करके भिक्षा के लिए दूसरों के घरो में जाकर उनका काम करने लगता है, अथवा भिक्षा देने वाले गृहस्थो के लिए क्रय-विक्रय रूप व्यवहार करता है, या उनसे करवाता है, अथच निमित्त के द्वारा—शुभाशुभ कथन के द्वारा धन उपार्जन करता है, उपलक्षण से गृहस्थों के ही कामो में लगा रहता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जब गृहस्थ के आचार-व्यवहार को छोडकर संन्यासी हुआ और फिर भी गृहस्थों के ही कामो मे लिप्त रहे तो साधु और गृहस्थ में विशेषता ही क्या रही? इसलिए जो श्रेष्ठ एवं संयमशील साधु है, वे गृहस्थ-सम्बन्धी कार्यो तथा क्रय-विक्रय रूप व्यापारो से सदा और सर्वथा अलग रहते हैं, ताकि उनमें पाप-श्रमण की जघन्य प्रवृत्ति उदित होने न पाए।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में कहते हैं—

सन्नाइपिण्डं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं ।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १९ ॥

स्वज्ञातिपिण्डं भुङ्क्ते, नेच्छति सामुदानिकम् ।
गृहिनिषद्यां च वाहयति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—सन्नाइपिण्डं—अपनी जाति--अपने ज्ञातिजनों के आहार को, **जेमेइ**—भोगता है, **नेच्छई**—नहीं चाहता, **सामुदाणियं**—बहुत घरो की भिक्षा, **च**—और, **गिहिनिसेज्जं**—गृहस्थ की शय्या पर, **वाहेइ**—चढ़ जाता है—बैठ जाता है, **पावसमणि त्ति**—पापश्रमण, इस प्रकार, **वुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो अपने ज्ञातिजनों के आहार को भोगता है, बहुत घरों की भिक्षा को नहीं चाहता और गृहस्थ की शय्या पर बैठता है वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु अपने सम्बन्धी जनो के घरो से ही आहार लाकर खाता है, किन्तु सामुदायिक गोचरी नहीं करता, अर्थात् अन्य सामान्य घरों से भिक्षा लाने की इच्छा नहीं करता तथा गृहस्थो के घरो में जाकर उन्ही के बिस्तरो पर आराम से लेटता है, वह पापश्रमण है।

इसका आशय यह है कि साधु का आचार प्रतिदिन किसी अमुक परिचित दो-चार घरों से भिक्षा लाकर खाने का नही है तथा केवलमात्र अपने किसी सम्बन्धी के ही घर से भिक्षा लाकर खाने की उसके लिए आज्ञा नही और न किसी गृहस्थ की शय्या पर बैठने की उसे आज्ञा है,

परन्तु इसके विपरीत जो साधु अपने परिचितों के घर से भिक्षा लाता है और गृहस्थों के घर में जाकर उनके बिछौने आदि पर बैठता या सोता है, वह शास्त्राज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से पाप-श्रमण कहलाता है। अत: अपने परिचित और सम्बन्धी-जनो के घरों से सरस ओर स्निग्ध आहार लाकर खाने तथा गृहस्थों के पात्र, वस्त्र और शय्या आदि का उपयोग करने में जिन दोषों के उत्पन्न होने कि सम्भावना है उनका विचार करते हुए संयमशील साधु को इनके सम्पर्क से सर्वथा अलग रहना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए, उक्त दोषों के सेवन और त्याग का जो फल है, अब शास्त्रकार उसी विषय का वर्णन करते हैं–

एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे, रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे ।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए, न से इहं नेव परत्थ लोए ॥ २० ॥

एतादृशः पञ्चकुशीलसंवृतः, रूपधरो मुनिप्रवराणामधोवर्ती ।
अस्मिल्लोके विषमिव गर्हितः, न स इह नैव परत्र लोके ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–एयारिसे–एतादृश, **पंचकुसीलसंवुडे**–पाच कुशीलो से सवृत–युक्त, **रूवंधरे**–साधु के वेष को धारण करने वाला, **मुणिपवराण**–प्रधान मुनियो के मध्य मे, **हेट्ठिमे**–अधोवर्ती है, **अयंसि लोए**–इस लोक में, **विसमेव**–विष की तरह, **गरहिए**–निन्दनीय है, **न से**–न वह, **इहं**–इस लोक मे, **नेव**- और नही, **परत्थ लोए**–परलोक मे।

मूलार्थ–उक्त कहे हुए पांच कुशीलों से युक्त, संवर से रहित और केवल साधु के वेष को धारण करने वाला साधु प्रधान मुनियों के मध्य में अधोवर्ती और इस लोक में विष के समान निन्दनीय है तथा उसके यह लोक और परलोक दोनों ही नहीं सुधरते।

टीका–इस प्रकार साधु जो कि पार्श्वस्थ, उसन्न, कुशील, ससक्त और स्वच्छन्द, इन पाच प्रकार के कुशीलो का अनुसरण करने वाला है, संवर से रहित अर्थात् आस्रवों का निरोध न करने वाला है और मुनि का मुख-वस्त्रिका और रजोहरण आदि जो वेष है, उसको जिसने धारण कर रक्खा है परन्तु प्रधान मुनियो के सयमस्थान से अधोवर्ती अर्थात् जघन्य संयमस्थान के धरने वाला मात्र वेषधारी है, वह इस लाक में विष के समान गर्हित है–निन्दा के योग्य है। तात्पर्य यह है कि जैसे ससार मे विष निन्दनीय एव त्याज्य समझा जाता है, उसी प्रकार उसकी भी लोगो में निन्दा होती है और वह साधुत्व की दृष्टि से हेय समझा जाता है। इस प्रकार वह न तो इस लाक का रहता है और न उसका परलोक ही सुधर पाता है, अत: वह दोनो से ही भ्रष्ट हो जाता है। सारांश यह है कि यह लोक और परलोक ये दोनों गुणो के उपार्जन से ही सुधरा करते हैं, केवल वेषमात्र धारण कर लेने से नही।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त दोषों के सेवन करने का फल बताकर अब उनके त्याग का जो फल है उसका वर्णन करते हैं–

जे वज्जए एए सया उ दोसे, से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे ।
अयंसि लोए अमयं व पूइए, आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ २१ ॥
त्ति बेमि ।

इति पावसमणिज्जं सत्तदहं अज्झयणं समत्तं ॥ १७ ॥

यो वर्जयेदेतान् सदा तु दोषान्, स सुव्रतो भवति मुनीनां मध्ये ।
अस्मिल्लोकेऽमृतमिव पूजितः, आराधयति लोकमिमं तथा परम् ॥ २१ ॥
इति ब्रवीमि ।

इति पापश्रमणीयं सप्तदशमध्ययनं समाप्तम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–जे–जो, **वज्जए**–वर्जता है, **एए**–कहे हुए उक्त, **दोसे**–दोषो को, **सया**–सदैव, **से**–वह, **सुव्वए**–सुव्रत, **होइ**–होता है, **मुणीण मज्झे**–मुनियो के मध्य में, **अयंसि**–इस, **लोए**–लोक मे, **अमयं व**–अमृत की भांति, **पूइए**–पूजित है, **आराहए**–आराधन कर लेता है, **इणं**–इस, **लोगं**–लोक को, **तहा**–तथा, **परं**–परलोक को, **उ**–वितर्क, **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ–जो साधु उक्त दोषों को त्याग देता है, वह मुनियों के मध्य में सुन्दर व्रत वाला होता है और लोक में अमृत के समान पूजनीय–अभिलषणीय हो जाता है तथा इस प्रकार वह दोनों लोकों की आराधना कर लेता है।

टीका–इस गाथा में, जिस साधु ने उक्त दोषों का परित्याग कर दिया है उसके गुणों का वर्णन है, अर्थात् उक्त दोषो के त्याग का फल प्रतिपादन किया गया है। तात्पर्य यह है कि उक्त दोषों से रहित पुरुष सदा के लिए भाव मुनियों की कोटि में गिना जाता है तथा निरतिचार चारित्र का आराधक होने से लोक मे वह अमृत के समान वन्दनीय होता है। जैसे अमृत सब को प्रिय है, उसी प्रकार वह भी सबके लिए श्रद्धेय होता है तथा परलोक मे सद्‌गति का भाजन होने से उसका वह लोक भी सुधर जाता है और इस प्रकार वह दोनों लोको का आराधक बन जाता है। इससे प्रमाणित हुआ कि विचारशील साधु को उक्त दोषों के त्याग और सद्‌गुणों के धारण करने में ही सदा प्रयत्नशील होना चाहिए, जिससे कि आत्मशुद्धि के द्वारा उसका दुर्लभ मनुष्य जन्म सदा के लिए सफल हो जाए।

इसके अतिरिक्त **'त्ति बेमि'** का अर्थ पहले की तरह ही जान लेना चाहिए।

सप्तदशमध्ययनं सम्पूर्णम्

अह संजइज्जं अट्ठारहमं अज्झयणं

अथ संजयीयमष्टादशमध्ययनम्

गत सत्रहवें अध्ययन में पाप-जनक कार्यों के त्याग करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि पापो को छोड़ने से ही साधक सयत होता है तथा पापों का त्याग करने के लिए समृद्धि और भागा के त्याग की नितान्त आवश्यकता है, अतः इस अठारहवे अध्ययन मे समृद्धि और भोगो का परित्याग करने वाल सजय नाम के महाराज का वर्णन किया जाता है। यह इन दोनों अध्ययनो का परस्पर सम्बन्ध है।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है–

कम्पिल्ले नयरे राया, उदिण्णबलवाहणे ।
नामेणं संजओ नामं, मिगव्वं उवणिग्गए ॥ १ ॥

काम्पिल्ये नगरे राजा, उदीर्णबलवाहनः ।
नाम्ना संजयो नाम, मृगव्यामुपनिर्गतः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–कम्पिल्ले–कांपिल्यपुर, **नयरे**–नगर में, **राया**–राजा, **उदिण्णबलवाहणे**–उदय हुआ है बल-सेना, वाहन–अश्व रथादि जिसके, **नामेणं**–नाम से, **संजओ नामं**–संजय नाम वाला, **मिगव्वं**–मृगया–शिकार के लिए, **उवणिग्गए**–नगर से निकला।

मूलार्थ–काम्पिल्यपुर नगर का संजय नाम वाला राजा सेना और वाहनादियुक्त होकर शिकार के लिए नगर से बाहर निकला।

टीका–काम्पिल्यपुर नगर मे सजय नाम का एक राजा राज्य करता था। पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से उसके यहां सेना, हाथी, घाड़े और वाहनादि सभी कुछ विद्यमान थे। वह एक दिन शिकार खेलने के लिए नगर से बाहर निकला।

अब प्रथम उसके प्रस्थान का वर्णन करते हैं, यथा–

हयाणीए गयाणीए, रहाणीए तहेव य ।
पायत्ताणीए महया, सव्वओ परिवारिए ॥ २ ॥

हयानीकेन गजानीकेन, रथानीकेन तथैव च ।
पदात्यनीकेन महता, सर्वतः परिवारितः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–हयाणीए–घोड़ों के अनीक–समूह से, **गयाणीए**–गजो के अनीक से, **य**–और, **तहेव**–उसी प्रकार, **रहाणीए**–रथों के अनीक से, **पायत्ताणीए**–पदातियों के अनीक से, **महया**–बड़े प्रमाण से, **सव्वओ**–सर्व प्रकार से, **परिवारिए**–घिरा हुआ।

मूलार्थ–वह राजा अश्व, गज, रथ और पदाति आदि के महान् समूह से सर्व ओर से घिरा हुआ था।

टीका–जब वह राजा शिकार के लिए निकला तब उसके साथ घोड़ों की सेना, हाथियो की सेना, रथों की सेना और पैदल सेना, बहुत बडे प्रमाण में विद्यमान थी। उसके द्वारा वह चारों आर से घिरा हुअ। था।

नगर से बाहर निकलने के बाद राजा ने क्या किया, अब इस विषय में कहते हैं–

मिए छुहित्ता हयगओ, कम्पिल्लुज्जाणकेसरे ।
भीए सन्ते मिए तत्थ, वहेइ रसमुच्छिए ॥ ३ ॥

मृगान् क्षिप्त्वा हयगतः, काम्पिल्योद्यानकेसरे ।
भीतान् श्रान्तान् मृगान् तत्र, विध्यति रसमूर्च्छितः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–मिए–मृगों को, **छुहित्ता**–प्रेरित करक, **हयगओ**–घोडे पर चढा हुआ, **कम्पिल्लुज्जाण**–कांपिल्यपुर के उद्यान मे, **केसरे**–केसर नाम वाले मे, **भीए**–डरते हुए, **सन्ते**–थके हुए, **मिए**–मृगो को, **तत्थ**–उस वन मे, **वहेइ**–व्यथित करता है, **रसमुच्छिए**–रस मे मूर्च्छित हुआ।

मूलार्थ–रसों में मूर्च्छित हुआ, अर्थात् मांस के लोभ से वह राजा घोड़े पर चढ़ कर काम्पिल्यपुर के केसरी नाम के उद्यान में थके और डरे हुए मृगों को प्रेरित करके मारने लगा।

टीका–पूर्वोक्त सेना–समूह के साथ वह राजा काम्पिल्यपुर के केसर उद्यान में पहुंचा और वहां पर रहने वाले मृगो का उसने शिकार किया, क्योंकि वह रसमूर्च्छित–जिह्वालोलुप अर्थात्

मास खाने वाला था। जो पुरुष मांस के लिप्सु होते हैं तथा मृगया में रत रहते हैं, उनका हृदय दया से सर्वथा शून्य होता है, अतएव उसने थके और भयभीत हुए मृगों को भी मारने में तनिक संकोच नहीं किया।

सूत्र में पढ़े गए 'मिए' शब्द का सस्कृत में 'मितान' अनुवाद भी होता है। ऐसे अनुवाद मे उक्त पद का यह अर्थ करना कि उस जंगल में परिमित मृग थे, जिनका राजा ने वध किया।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसका वर्णन करते हैं–

अह केसरम्मि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे ।
सज्झायज्झाणसंजुत्तो, धम्मज्झाणं झियायइ ॥ ४ ॥

अथ केसर उद्याने, अनगारस्तपोधनः ।
स्वाध्यायध्यानसंयुक्तः, धर्मध्यानं ध्यायति ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–अह–अथ, **केसरम्मि**–केसर, **उज्जाणे**–उद्यान मे, **अणगारे**–अनगार, **तवोधणे**–तपोधन, **सज्झाय**–स्वाध्याय, **ज्झाण**–ध्यान से, **संजुत्तो**–युक्त, **धम्मज्झाणं**–धर्मध्यान, **झियायइ**–ध्यान– धर्मध्यान कर रहे थे।

मूलार्थ–उस समय केसरी उद्यान में स्वाध्याय-ध्यान से युक्त परम तपस्वी एक अनगार धर्म-ध्यान कर रहे थे।

टीका–उस वन मे एक परम तपस्वी अनगार–साधु स्वाध्याय-ध्यान से युक्त होकर धर्म-ध्यान कर रह थे। इस कथन स केसराद्यान मे मुनि के निवास और मुनि-वृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया हे। वास्तव मे मुनि-वृत्ति का उद्देश्य तपस्वी होना, स्वाध्याय और ध्यान से युक्त होना ही है। इसके विपरीत जो लोग साधु बनकर विकथा मे निमग्न स्वाध्याय-ध्यान से रहित होते हुए धर्म-ध्यान को छाडकर केवल आर्त्त और रौद्र ध्यान मे निमग्न रहते हैं, वे मुनि-वृत्ति के लक्ष्य से कोसो दूर हो जाते हे।

अप्फोवमण्डवम्मि, झायइ क्खवियासवे ।
तस्सागए मिगे पासं, वहेइ से नराहिवे ॥ ५ ॥

अप्फोवमण्डपे, ध्यायति क्षपितास्त्रवः ।
तस्यागतान् मृगान् पार्श्वं, विध्यति स नराधिपः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–अप्फोवमण्डवम्मि–द्राक्षा आदि लताओ के कुञ्जो में, **झायइ**–ध्यान करता है, **क्खवियासवे**–क्षय किए है आश्रव जिसने, **तस्स**–उसके, **पासं**–समीप, **आगए**–आए हुए, **मिगे**–मृगो का, **वहेइ**–मारता है, **से**–वह, **नराहिवे**–राजा।

मूलार्थ—वह मुनि अप्फोव—द्राक्षा और नागवल्ली आदि लताओं के मण्डपों के नीचे ध्यान कर रहे थे, उन्होंने आश्रवों का क्षय कर दिया था, ऐसे उस मुनि के समीप आए हुए मृगों को उस राजा ने मारा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मुनि का ध्यान-स्थान और उसकी आत्म-शुद्धि का प्रसंगवश दिग्दर्शन कराया गया है। आत्म-ध्यान के लिए कितना विविक्त और शान्त स्थान होना चाहिए, यह इसमें भली-भांति वर्णित है।

'**अप्फोव**' शब्द '**वृक्षगुच्छ-गुल्मलतासंछन्न**' स्थान का बोधक है। यहां '**ध्यायति**' क्रिया का दो बार प्रयोग करना ध्यान की निरन्तरता—सततचिन्तन का सूचक है।

इसके बाद फिर क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

अह आसगओ राया, खिप्पमागम्म सो तहिं ।
हए मिए उ पासित्ता, अणगारं तत्थ पासई ॥ ६ ॥

अथाश्वगतो राजा, क्षिप्रमागम्य स तस्मिन् ।
हतान् मृगान् तु दृष्ट्वा, अनगारं तत्र पश्यति ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—अह—तदनन्तर, **आसगओ**—घोड़े पर चढा हुआ, **राया**—राजा, **खिप्पं**—शीघ्र, **आगम्म**—आकर, **सो**—वह राजा, **तहिं**—उस मडप के पास, **हए**—मारे हुए, **मिए उ**—मृगो को, **पासित्ता**—देखकर, **तत्थ**—वहा पर, **अणगारं**—साधु को, **पासई**—देखता है।

मूलार्थ—तत्पश्चात् घोड़े पर चढ़े हुए राजा ने शीघ्र ही वहां आकर उन मारे हुए मृगों को देखने के अनन्तर, वहीं पर एक साधु को भी देखा।

टीका—उन मृगो पर बाण चला कर उनको वेधन करने के अनन्तर घोड़े पर सवार हुआ वह राजा वहां आया जहां कि उसके बाणों से मरे हुए मृग पड़े थे। वहां आकर उसने मरे हुए मृगो के अतिरिक्त एक साधु मुनिराज को देखा। तात्पर्य यह है कि अपने शिकार को देखने के लिए गए हुए राजा की वहां पर ठहरे हुए एक तपस्वी महात्मा पर भी दृष्टि पडी। यहां पर 'तु' शब्द 'एव' अर्थ में आया हुआ है।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

अह राया तत्थ संभन्तो, अणगारो मणाहओ ।
मए उ मन्दपुण्णेणं, रसगिद्धेण घत्तुणा ॥ ७ ॥

अथ राजा तत्र संभ्रांतः, अनगारो मनाग् हतः ।
मया तु मन्दपुण्येन, रसगृद्धेन घातुकेन ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः-अह-तत्पश्चात्, **राया**-राजा, **तत्थ**-उस स्थान पर, **संभन्तो**-भयभीत सा हुआ, **अणगारो**-साधु भी, **मणा**-थोड़ा सा, **आहओ**-अभिहनन किया, **मए**-मैंने, **उ**-वितर्क मे, **मन्दपुण्णेणं** -मन्दभागी ने, **रसगिद्धेण**-रसमूर्च्छित ने और, **घत्तुणा**-घातक ने।

मूलार्थ-तदनन्तर वह राजा वहां पर मुनि को देखकर संभ्रान्त अर्थात् भयभीत सा हो गया और मन में कहने लगा कि-"मुझ हतभागी ने, रसासक्त होकर निरपराध जीवों का घात करते हुए इस मुनि को भी आहत-सा कर दिया है।"

टीका-जिस समय राजा ने वहां पर एक ध्यानारूढ तपस्वी मुनि को देखा, उस समय वह भयभीत सा हो गया। फिर अपने मन में विचार करने लगा कि "अहो! मै बडा ही मन्दभागी हू, जो कि मैने इन मृगों के साथ इस मुनि को भी घायल कर दिया है" अर्थात् थोड़े से काम क वास्ते मैने इस मुनि का बडा भारी अपराध किया है जो कि इनकी उपस्थिति मे मृगों का वध किया है। यह मेरी रसगृद्धि-मांस-लोलुपता और घातकता का सजीव चित्र है, जो कि मैने इस महात्मा के मृगों का घात करके इनको कष्ट पहुचाया है।

तात्पर्य यह है कि इन मृगों के विनाश से इस महात्मा के चित्त को जो खेद पहुचा है, वह एक तरह से मुनि जी का ही घात है।

इसके अनन्तर उस राजा ने क्या किया, अब इसी विषय में कहते हैं-

आसं विसज्जइत्ता णं, अणगारस्स सो निवो ।
विणएण वन्दए पाए, भगवं एत्थ मे खमे ॥ ८ ॥

अश्वं विसृज्य, अनगारस्य स नृपः ।
विनयेन वन्दते पादौ, भगवन्नत्र मे क्षमस्व ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः-आसं-घोडे को, **विसज्जइत्ता**-छोड करके, **अणगारस्स**-अनगार के, **सो**-वह, **निवो**-नृप, **विणएणं**-विनय से, **वन्दए**-वन्दना करता है, **पाए**-पांवो को, **भगवं**-हे भगवन्। **एत्थ**-इस मृग-वध के सम्बन्ध में, **मे**-मेरा-अपराध, **खमे**-क्षमा कीजिए।

मूलार्थ-तदनन्तर वह राजा अश्व को छोड़कर मुनि के चरण-कमलों की वन्दना करता है और कहता है कि "हे भगवन्! मेरे इस अपराध को क्षमा कीजिए।"

टीका-इसके अनन्तर वह राजा तुरत ही घोड़े से उतरकर उस मुनि के चरणों में गिरकर क्षमा मागने लगा और कहने लगा "हे भगवन्! मैने अज्ञानता से आपके इन मृगो का जो वध किया है, इसके लिए मै आपसे क्षमा चाहता हूं।"

इसके अतिरिक्त इस गाथा से यह भी शिक्षा मिलती है कि अज्ञानवश यदि किसी से किसी

का कोई अपराध हो जाए तो वह उससे अवश्य क्षमा की प्रार्थना करे, जिससे कि कर्मों के बन्ध टूट जाएं अथवा शिथिल हो जाएं।

राजा के द्वारा स्व-कृत अपराध की क्षमा-याचना के अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है-

अह मोणेण सो भगवं, अणगारो झाणमस्सिओ ।
रायाणं न पडिमन्तेइ, तओ राया भयद्दुओ ॥ ९ ॥

अथ मौनेन स भगवान्, अनगारो ध्यानमाश्रितः ।
राजानं न प्रतिमन्त्रयते, ततो राजा भयद्रुतः ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः-अह-तदनन्तर, **मोणेण**-मौन भाव से, **सो**-वह, **भगवं**-भगवान्, **अणगारो**-अनगार, **झाणं**-ध्यान के, **अस्सिओ**-आश्रित हुआ, **रायाणं**-राजा को, **न पडिमन्तेइ**-प्रत्युत्तर नहीं देता है, **तओ**-उसके पश्चात्, **राया**-राजा, **भयद्दुओ**-अति भयभीत हुआ।

मूलार्थ-(गर्द्धभाली नाम से प्रसिद्ध) उस अनगार भगवान् ने मौनभाव से ध्यानारूढ़ होने के कारण उस राजा को कोई भी प्रत्युत्तर नहीं दिया, अतः राजा अत्यन्त भयभीत हो गया।

टीका-जिस समय राजा ने मुनि से अपने अपराध की क्षमा मांगने के लिए प्रार्थना की, उस समय मुनि आत्म-समाधि मे निमग्न हो रहे थे, इसलिए उन्होंने क्षमा-प्रार्थना के उत्तर मे राजा क प्रति कुछ न कहा, परन्तु राजा ने यह सोचा कि मुनि ने क्रोध मे आकर उसको उत्तर नहीं दिया। इस कारण वह अति भयभीत हो उठा।

भयभीत हुए राजा ने मुनि से जिस प्रकार कहा अब उसी का वर्णन करते हैं-

संजओ अहमम्मीति, भगवं ! वाहराहि मे ।
कुद्धे तेएण अणगारे, डहेज्ज नरकोडिओ ॥ १० ॥

संजयोऽहमस्मीति, भगवन् ! व्याहर माम् ।
क्रुद्धस्तेजसाऽनगारः, दहेत नरकोटीः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः-संजओ-संजय नाम वाला, **अहं**-मैं, **अम्मीति**-हू, इस हेतु से, **भगवं**-हे भगवन! **वाहराहि**-बोलिए, **मे**-मुझसे, **कुद्धे**-कुपित हुआ, **अणगारे**-अनगार, **तेएण**-तेज से, **डहेज्ज**-भस्म कर देता है, **नरकोडिओ**-करोड़ों मनुष्यो को।

मूलार्थ-हे भगवन् ! मैं संजय नामक राजा हूं, कृपया! मुझे उत्तर दीजिए, क्योंकि

मैं जानता हूं कि कुपित हुआ अनगार–साधु अपने तप-तेज से करोड़ों मनुष्यों को भस्म कर सकता है।

टीका–राजा ने मुनि से कहा–"भगवन्! मैं संजय नाम का राजा हूं। आप मुझसे कुछ तो बोले, अर्थात् मेरी प्रार्थना की अभिभाषण द्वारा स्वीकृति देने की कृपा करें, क्योकि कुपित हुआ तपस्वी अपने तेज से करोड़ो मनुष्यो को भस्म कर देने की सामर्थ्य रखता है।"

राजा ने अपना परिचय देते हुए जो कुछ कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि राजा कहता है कि "मे कोई नीच पुरुष नहीं, किन्तु सजय नाम का इस नगर का राजा हूं, अत: मुझसे आप अवश्य सभाषण करे। नीच पुरुषों से सभाषण करना भले ही अच्छा न हो, परन्तु मैं तो वैसा नहीं हूं, मे ता स्वकृत अपराध की क्षमा देने की आपसे प्रार्थना कर रहा हू।

'**मे**' यहा पर '**सुप्**' का व्यत्यय हुआ है।

राजा की इस अभ्यर्थना के उत्तर में मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं–

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥ ११ ॥

अभयं पार्थिव! तव, अभयदाता भव च ।
अनित्ये जीवलोके, किं हिंसायां प्रसजसि ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–पत्थिवा–हे पार्थिव! **तुब्भं**–तुझे, **अभओ**–अभय है, **अभयदाया**–अभय देने वाला, **भवाहि**–तू हो, **य**–पुन:, **अणिच्चे**–अनित्य, **जीवलोगम्मि**–जीवलोक मे, **किं**–क्यो, **हिसाए**–हिसा मे, **पसज्जसि**–आसक्त हो रहा है?

मूलार्थ–हे पार्थिव! तुझे अभय है, तू भी अभय देने वाला बन! इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है?

टीका–जब राजा ने मुनि के समक्ष अपने हार्दिक भाव को प्रकट किया, तब समाधि से उठते ही मुनि ने राजा को अभयदान देते हुए कहा "हे पार्थिव! तू मुझसे किसी प्रकार का भय मत कर और तू भी वन के इन जीवो को अभयदान दे," अर्थात् जिस प्रकार तू मुझसे भय मान रहा है, उसी प्रकार ये वन के जीव भी तुझसे भयभीत हो रहे हैं। जैसे मैंने तुझे अभयदान दिया है, वैसे ही वन के इन जीवों को तू भी अभयदान देकर निर्भय बना दे, क्योकि यह ससार अनित्य है, इसकी कोई भी वस्तु नित्य नही है। तब इस क्षण-भंगुर जीवन के लिए तू क्यो इस हिसा जैसे क्रूर कर्म में प्रवृत्त हो रहा है ? अर्थात् तेरे जैसे बुद्धिमान् राजा के लिए इस प्रकार की जघन्य प्रवृत्ति किसी प्रकार से भी उचित नही है।

इस प्रकार हिंसक प्रवृत्ति के त्याग का उपदेश करने के अनन्तर अब राज्य के त्याग का उपदेश करते हुए मुनि कहते हैं–

जया सव्वं परिच्चज्ज, गन्तव्वमवसस्स ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि ॥ १२ ॥

यदा सर्वं परित्यज्य, गन्तव्यमवशस्य ते ।
अनित्ये जीवलोके, किं राज्ये प्रसजसि ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–जया–जब कि, **सव्वं**–सब कुछ, **परिच्चज्ज**–छोड़ कर, **अवसस्स**–परवश हुए, **ते**–तेरे को, **गन्तव्वं**–जाना है, तो फिर, **अणिच्चे**–अनित्य इस, **जीवलोगम्मि**–जीव लोक मे, **किं**–क्यों तू, **रज्जम्मि**–राज्य में, **पसज्जसि**–आसक्त हो रहा है ?

मूलार्थ–जब कि मृत्यु के वश में पड़कर तूने यह सब कुछ छोड़कर ही जाना है तो फिर इस अनित्य संसार में तू राज्य में क्यों आसक्त हो रहा है?

टीका–मुनि कहते है–''हे राजन्! यह बात अनुभव-सिद्ध है कि यह संसार अनित्य है, इसकी कोई वस्तु भो स्थिर नहीं, यह सारा कोश और अन्तःपुर आदि सब कुछ छोड़ कर तूने परलोक मे अवश्य जाना है, इसमे तुम्हारा कोई वश चलने का नही, अर्थात् इस सारे राज्य-वैभव को छोडकर तू न जाए, ऐसा भी नही हो सकता और जाते हुए किसी वस्तु को साथ ले जाए यह भी नहीं हो सकता, तो फिर इस राज्य मे तू क्यो आसक्त हो रहा है?''

तात्पर्य यह है कि यह सब कुछ यहां पर ही रह जाने की वस्तु है। इसमे से कोई भी पदार्थ तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं है और तुम भी सदा स्थिर नहीं रह सकते, इसलिए इन पदार्थो में आसक्ति को छोडकर आत्म-चिन्तन में प्रवृत्त होना ही तेरे लिए श्रेयस्कर है।

इस प्रकार राज्य के त्याग का उपदेश करने के अनन्तर अब जीवलोक की अनित्यता का दिग्दर्शन कराते हुए मुनि कहते हैं–

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसी रायं! पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥ १३ ॥

जीवितं चैव रूपं च, विद्युत्सम्पातचञ्चलम् ।
यत्र त्वं मुह्यसि राजन् ! प्रेत्यार्थं नावबुध्यसे ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–जीवियं–जीवन, **च**–समुच्चय में, **एव**–पादपूर्ति में है, **च**–और, **रूवं**–रूप, **विज्जुसंपाय**–बिजली के चमत्कार के समान, **चंचलं**–चचल है, **जत्थ**–जिसमे, **तं**–तू,

मुज्झसी–मूर्च्छित हो रहा है, **रायं**–हे राजन्! **पेच्चत्थं**–परलोक के प्रयोजन को तू, **नावबुज्झसे**–नहीं जानता।

मूलार्थ–हे राजन्! यह जीवन और रूप बिजली की चमक के समान अति चंचल हैं! फिर भी तू इनमें मूर्च्छित हो रहा है और परलोक का तुझको बोध नहीं है।

टीका–ससार की अनित्यता को बताते हुए मुनि कहते हैं–"हे राजन्! यह जीवन और रूप जिनमें कि तू मूर्च्छित हो रहा है, बिजली की चमक के समान अति चचल हैं, अर्थात् इसमें स्थिरता बिलकुल नहीं है। तब इसमें आसक्त होना कोई बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। इसी हेतु से तू परलोक के प्रयोजन को भी नहीं समझ पा रहा, अर्थात् इन लौकिक विभूतियों को छोड कर परलोक मे गमन करने वाले जीव को किस वस्तु को सचय करने की आवश्यकता है, इस ओर तुम्हारा ध्यान नही है।"

यहां पर बिजली की चमक का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि जैसे बिजली की चमक चचल होने के साथ-साथ मनोहर होती है, उसी प्रकार यह जीवन और रूप भी मनोहर होने के साथ-साथ अति चंचल है। अभिप्राय यह है कि इन पदार्थो की अनित्यता का विचार करते हुए विचारशील पुरुष को परलोक में काम आने वाले धर्मादि पदार्थो का ही सचय करना चाहिए और उन्हीं के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अब मोह त्याग के विषय में कहते हैं–

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥ १४ ॥

दाराश्च सुताश्चैव, मित्राणि च तथा बान्धवाः ।
जीवन्तमनुजीवन्ति, मृतं नानुव्रजन्ति च ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः–दाराणि–स्त्रियां, **य**–और, **सुया**–पुत्र, **च**–पुनः, **एव**–पादपूर्ति में, **मित्ता**–मित्र, **य**–और, **तह**–तथा, **बन्धवा**–बान्धव, **जीवंतं**–जीते के साथ, **अणुजीवंति**–जीते हैं-उसके उपार्जन किए हुए द्रव्य से जीते है, **य**–और, **मयं**–मरे हुए के साथ, **नाणुव्वयन्ति**–नही जाते।

मूलार्थ–स्त्रियां, पुत्र, मित्र और बान्धव सब जीते के साथ ही जीते हैं–उसके उपार्जन किए हुए धन से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, किन्तु मरने पर ये साथ नहीं जाते।

टीका–इसमें राजा को मुनि ने जो उपदेश किया है, उसका आशय राजा के मोह को दूर करना है। मुनि का कथन है कि स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धवादि जितने भी जीव है, वे सब मानव के जीते हुए के ही साथी हैं। मरन पर इनमें से कोई भी मृतक का साथ देने वाला नहीं होता।

जीते हुए भी जब तक यह जीव उनका पालन-पोषण कर रहा है तभी तक उसके सगी हैं। निर्धन होने पर वे जीते जी भी इसका साथ छोड़ देते हैं। तब ऐसे सम्बन्धियों के लिए दिन-रात अनर्थ करना और उनको अपने जीवन का आधार समझना बुद्धिमान् पुरुष के लिए कहां तक उचित है, इसका तुम्हें स्वयं विचार करना चाहिए।

यहां पर '**च**' अप्यर्थक है और '**दाराणि**' यह प्राकृत के कारण नपुंसक है।

अब इनके परस्पर सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराते हैं—

नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया ।
पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे ॥ १५ ॥

निःसारयन्ति मृतं पुत्राः, पितरं परमदुःखिताः ।
पितरोऽपि तथा पुत्रान्, बन्धवो राजन् ! तपश्चरेः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—नीहरंति—निकाल देते हैं, **मयं**—मरे हुए, **पियरं**—पिता को, **पुत्ता**—पुत्र, **परमदुक्खिया**—परम दुखी होकर, **पियरो वि**—पिता भी, **तहा**—उसी प्रकार, **पुत्ते**—पुत्रों को, **बन्धू**—भाई-भाई को, अतः, **रायं**—हे राजन् ! **तवं**—तप, **चरे**—कर।

मूलार्थ—हे राजन्! पुत्र मरे हुए पिता को परम दुखी होकर घर से निकाल देते हैं और इसी प्रकार मरे हुए पुत्र को पिता तथा भाई को भाई निकाल देता है, अतः तू तप का आचरण कर।

टीका—मुनि कहते हैं—"हे राजन् ! जब पिता की मृत्यु हो जाती है, तब उसके पुत्र उसे बाहर ले जाते हैं और उसको जलाकर घर आ जाते हैं। इसी प्रकार पुत्र के मरने पर पिता और भाई की मृत्यु पर भाई करता है। तात्पर्य यह है कि एक मरता है और दूसरा उसको ले जाकर जला आता है, यही ससार के सम्बन्धों की अवस्था है, अर्थात् यहा कोई किसी का साथ नहीं देता।" ऐसी दशा में तो इनका मोह छोड कर तप के अनुष्ठान से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म-मल को जलाकर आत्मशुद्धि करने के अतिरिक्त मुमुक्षु पुरुष का और कोई भी कर्त्तव्य नही होना चाहिए।

इसके अनन्तर क्या होता है, अब इसी का वर्णन करते हैं—

तओ तेणऽज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए ।
कीलन्तऽन्ने नरा रायं, हट्ठतुट्ठमलंकिया ॥ १६ ॥

ततस्तेनार्जिते द्रव्ये, दारेषु च परिरक्षितेषु ।
क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन् ! हृष्टतुष्टाऽलंकृताः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–तओ–तत्पश्चात्, **तेण**–उसके द्वारा, **अज्जिए**–उपार्जन किए हुए, **दव्वे**–द्रव्य मे, **य**–और, **दारे**–स्त्रियो मे, **परिरक्खिए**–सर्व प्रकार से रक्षित की हुई, **कीलन्ति**–क्रीड़ाएं करते है, **अन्ने**–और, **नरा**–मनुष्य, **रायं**–हे राजन्! **हट्ठतुट्ठमलंकिया**–हृष्ट, तुष्ट और अलकृत होते हुए।

मूलार्थ–हे राजन्! तदनन्तर उस मृत पुरुष के द्वारा उपार्जन किए हुए द्रव्य और उसकी सर्व प्रकार से सुरक्षित की हुई स्त्रियों का अन्य पुरुष जो कि हृष्ट-पुष्ट और विभूषित होते हैं उपभोग करते हैं।

टीका–मुनि ने राजा से कहा–"हे राजन्। जीवन-काल में इस पुरुष ने जिस धन को बड़े कष्टो म उपार्जन किया था और जिन स्त्रियों को अपने अन्तःपुर मे हर प्रकार से सुरक्षित रखा था, मरन के बाद उसके उपार्जन किए हुए धन को तथा अन्तःपुर मे सुरक्षित रहने वाली स्त्रियों का कोई दूसरे ही पुरुष अपन उपभोग मे लाते हुए देखे जाते है।" तात्पर्य यह है कि जिन स्त्रियो की उसने जीवन-काल मे हर प्रकार से रक्षा की थी, वे ही फिर अन्य पुरुषो के साथ रमण करती हैं और अन्य पुरुष उनको अपनी क्रीडाओ का केन्द्र बना लेते है। राजन्! यही ससार की परिस्थिति है, जिसके लिए तू इतना उत्कठित हो रहा है। वास्तव मे ससार की स्वार्थ-परायणता प्रतिक्षण विस्मय उत्पन्न करने वाली हे। जो पुरुष स्त्रियो के बिना और स्त्रियां पुरुषो के बिना अपना जीवित रहना असभव कहत थे, वे ही एक दूसरे को सर्वथा भूल जाते है। स्त्री को अपने पति और पति को अपनी स्त्री के वियोग का स्वप्न भी नहीं आता। इसलिए इस स्वार्थान्ध ससार म विचारशील पुरुष को कभी आसक्त नही होना चाहिए।

अब मृत्यु के अनन्तर जो कुछ इस जीव के साथ जाता है, उसका वर्णन करते हैं–

तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥ १७ ॥

तेनापि यत् कृतं कर्म, शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
कर्मणा तेन संयुक्तः, गच्छति तु परं भवम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–तेणावि–उसने भी, **जं**–जो, **सुहं**–शुभ सुखरूप, **वा**–अथवा, **जइ वा**–यदि वा, **दुहं**–अशुभ-दुःखरूप, **कम्मं**–कर्म, **कयं**–किया है, **तेण**–उस, **कम्मुणा**–कर्म से, **संजुत्तो**–सयुक्त, **परं भवं**–पर भव को, **उ**–तु–निश्चय ही, **गच्छई**–जाता है।

मूलार्थ–उसने शुभ अथवा अशुभ–सुखरूप व दुःखरूप जो भी कर्म किया है, उस कर्म से संयुक्त हुआ जीव परलोक को चला जाता है।

टीका–मुनि कहत है कि "राजन्। मृत्यु होने के बाद इस जीव ने जो अच्छा या बुरा कर्म

किया है, वही इसके साथ परलोक में जाता है और कोई वस्तु इसके साथ नहीं जाती।'' इससे सिद्ध हुआ कि संसार में स्त्री, पुत्र आदि जितने भी सम्बन्धी हैं, वे सब यहीं पर रह जाने वाले जीव हैं। साथ में जाने वाला इनमें से एक भी नही। इसलिए इन अचिरस्थायी पदार्थो से मोह करना या इनमें आसक्त होना विवेकी पुरुष के लिए कदापि उचित नहीं तथा साथ मे जाने वाले शुभाशुभ कर्मो में से मनुष्य को अशुभ का त्याग और शुभ का आचरण करना चाहिए और जीवन को तपोमय बनाकर कर्मो की निर्जरा के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

मुनि के इस सार-गर्भित उपदेश के बाद फिर क्या हुआ, अब इसी विषय का उल्लेख करते हैं—

सोऊण तस्स सो धम्मं, अणगारस्स अन्तिए ।
महया संवेगनिव्वेयं, समावन्नो नराहिवो ॥ १८ ॥

श्रुत्वा तस्य स धर्मम्, अनगारस्यान्तिके ।
महान्तं संवेगनिर्वेदं, समापन्नो नराधिपः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—सोऊण—सुन करके, **सो**—वह राजा, **तस्स**—उस मुनि के, **धम्मं**—धर्म को, **अणगारस्स**—अनगार के, **अन्तिए**—समीप में, **महया**—महान्, **संवेग**—संवेग—मोक्षाभिलाषा, **निव्वेयं**—निर्वेद—विषयविरक्ति—विषयों से उपरामता को, **समावन्नो**—प्राप्त हुआ, **नराहिवो**—नराधिप राजा।

मूलार्थ—उस अनगार मुनि के द्वारा उपर्युक्त धर्म-चर्चा को सुन कर वह राजा उस अनगार के सान्निध्य में ही महान् संवेग और निर्वेद को प्राप्त हो गया।

टीका—राजा ने जिस समय मुनि से धर्मोपदेश को सुना उसी समय उसमें संवेग ओर निर्वेद अर्थात् मोक्षविषयिणी अभिलाषा और ऐहिक काम-भोगो से विरक्ति के भाव उत्पन्न हो गए। जब कि उपदेशक योग्य और उपदेश समयोचित हो तथा अधिकारी भी उत्तम हो तो फिर उसको सफल होते देर नही लगती। इसीलिए मुनि के उपदेश को सद्यः सफलता प्राप्त हुई। कारण कि इधर राजा भी स्वकृत अपराध की क्षमा-याचना मे प्रवृत्त होने से अनुकम्पित हृदय था और उधर मुनि भी आदर्श जीवी थे, इसलिए मुनि ने जिस समय ससार की अस्थिरता और स्वार्थ-परायणता का चित्र राजा के सामने खीचा, उसी समय वह राजा के स्वच्छ हृदय-पटल पर अंकित हो गया, अर्थात् वह संसार से विरक्त हो गया।

यहां '**महया**' यह सुप्-व्यत्यय से जानना।

इसके अनन्तर अर्थात् वैराग्य होने के बाद राजा ने क्या किया, अब इसी विषय में कहते हैं—

संजओ चइउं रज्जं, निक्खन्तो जिणसासणे ।
गद्दभालिस्स भगवओ, अणगारस्स अन्तिए ॥ १९ ॥

संजयस्त्यक्त्वा राज्यं, निष्क्रान्तो जिनशासने ।
गर्दभालेर्भगवतः, अनगारस्यान्तिके ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**सजओ**—सजय राजा, **चइउं**—छोड करके, **रज्जं**—राज्य को, **निक्खन्तो**—दीक्षित हुआ, **जिणसासणे**- जिन-शासन म, **भगवओ**—भगवान्, **गद्दभालिस्स**—गर्दभाली, **अणगारस्स**—अनगार के, **अन्तिए**—समीप म।

मूलार्थ—राजा संजय राज्य को छोड़ कर भगवान् गर्दभाली अनगार के समीप जिनशासन—जिन-धर्म में दीक्षित हो गया।

टीका—मुनि क उपदेश का सुनकर ससार स विरक्त हुआ वह राजा गर्दभाली नाम के उस अनगार के पास जिनशासन मे दीक्षित हो गया। यहा पर जिनशासन का नाम लेने से अर्थात् जैन-दर्शन का उल्लेख करने स सुगतादि अन्य दर्शनो की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योकि बौद्ध-ग्रन्थो म बहुत सी जैन-कथाओ का बुद्ध क नाम से सग्रह किया हुआ देखा जाता है। जैसे कि भृगु पुरोहित की कथा का बौद्ध जातको म ज्यो का त्यो उल्लेख मिलता है। इसलिए उक्त गाथा में **'निक्खतो जिणसासणे—निष्क्रान्तो जिनशासने'** यह कहा गया है। इस पर बृहद्वृत्तिकार लिखत ह कि—**'न तु सुगतादिदेशिते असद्दर्शने एव'** अर्थात् सजय ऋषि जिनशासन मे ही दीक्षित हुआ था, किन्तु बौद्धादि असद्दर्शनो मे नही।

इस सार सन्दर्भ म, एक कामभोगासक्त सम्राट् को ससार स सर्वथा विरक्त होकर मोक्ष-मार्ग के पथिक बनने का सुअवसर किस प्रकार प्राप्त हुआ, इस विषय का दिग्दर्शन कराया गया है। इसक अनन्तर गुरुओ के पास दीक्षित होकर, हेयोपादेय के स्वरूप को समझ कर और दशविध समाचारी को ग्रहण करके वह मुनि नियत-विहारी होकर विचरन लगा। किसी समय वह विचरता हुआ एक ग्राम मे चला गया, वहा पर उसकी एक क्षत्रिय मुनि से भेट हुई।

उस समय उनका आपस में जो वार्तालाप हुआ अब उसका वर्णन करते हैं—

चिच्चा रट्ठं पव्वइए, खत्तिओ परिभासई ।
जहा ते दीसई रूवं, पसन्नं ते तहा मणो ॥ २० ॥

त्यक्त्वा राष्ट्रं प्रव्रजितः, क्षत्रियः परिभाषते ।
यथा ते दृश्यते रूपं, प्रसन्नं ते तथा मनः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–चिच्चा–छोड़ करके, **रट्ठं**–राष्ट्र को, **पव्वइए**–प्रव्रजित हुआ, **खत्तिओ**–क्षत्रिय–उसको, **परिभासई**–कहता है, **जहा**–जैसे, **ते**–तेरा, **रूवं**–रूप, **दीसई**–दीखता है, **तहा**–उसी प्रकार, **ते**–तेरा, **मणो**–मन भी, **पसन्नं**–प्रसन्न प्रतीत होता है।

मूलार्थ–अपने राष्ट्र–राज्य वा देश को छोड़कर दीक्षित हुए एक क्षत्रिय ऋषि, संजय ऋषि से कहते हैं कि जिस प्रकार तुम्हारा बाहर से रूप दीखता है, उसी प्रकार तुम्हारा मन भी प्रसन्न ही प्रतीत होता है।

टीका–जिस समय संजय ऋषि विचरते हुए किसी ग्राम में पहुचते हैं, उस समय उनकी एक क्षत्रिय मुनि से भेंट हुई, जिनका कि नाम प्रसिद्ध नही है। वह क्षत्रिय मुनि पूर्व जन्म मे वैमानिक जाति के देव थे। वहा से च्युत होकर वे क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुए थे। किसी निमित्त-विशेष से उनको वहा ग्र जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसके प्रभाव से वे संसार से विरक्त होकर जैन भिक्षु बन गए। उन्होंने संजय मुनि को देखा ओर कहने लगे कि जैसे आपका रूप–विकार-रहित आकृति शान्त और प्रसन्न देखने में आता है, उसी प्रकार से आपका मन भी प्रसन्न प्रतीत होता है, क्याकि मन की प्रसन्नता पर ही बाहर के स्वरूप–आकृति की प्रसन्नता निर्भर है। बिना मन की प्रसन्नता के बाह्य स्वरूप मे प्रसन्नता नहीं आ सकती। इससे प्रतीत होता है कि आप अन्दर ओर बाहर दोनों दृष्टियों से प्रसन्न है, इसी हेतु से मैं भी प्रसन्न हूं।

इसके अनन्तर वे क्षत्रिय ऋषि फिर कहते हैं कि–

किं नामे किं गोत्ते, कस्सट्ठाए व माहणे ।
कहं पडियरसी बुद्धे, कहं विणीए त्ति वुच्चसी ॥ २१ ॥

किं नाम किं गोत्रम्, कस्यार्थ वा माहनः ।
कथं प्रतिचरसि बुद्धान्, कथं विनीत इत्युच्यसे ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–किं नामे–क्या नाम है, **किं गोत्ते**–क्या गोत्र है, **व**–अथवा, **कस्सट्ठाए**–किस प्रयोजन के लिए, **माहणे**–माहन हुए हो, **कहं**–किस प्रकार से, **बुद्धे**–बुद्धो की, **पडियरसी**–परिचर्या–सेवा करते हो, **कहं**–किस प्रकार तुमको, **विणीए**–विनयवान्, **वुच्चसी**–कहा जाता है, **त्ति**–ऐसे प्रश्न किए।

मूलार्थ–आपका नाम क्या है ? आपका गोत्र कौन सा है? किसलिए आप माहन हुए हो ? किस प्रकार बुद्धों की परिचर्या करते हो? तथा किस प्रकार से आप विनयशील कहे जाते हो?

टीका–क्षत्रिय ऋषि ने सजय ऋषि से पांच प्रश्न किए। जैसे कि–(१) आपका नाम क्या

है ? नाम-विषयक, (२) आपका गोत्र क्या है ? गोत्र-विषयक, (३) आप किस प्रयोजन के लिए साधु हुए हो ? साधु होने के सम्बन्ध में, (४) आप किस प्रकार आचार्य प्रभृति गुरुजनों की सेवा करते हैं ? गुरुओ के विषय मे और (५) आप विनयशील कैसे है ? विनय-विषयक ऐसे पाच प्रश्न किए।

माहन शब्द का यौगिक अर्थ है—मा=मत, हन=मार। अर्थात् मन, वचन और शरीर से किसी भी जीव क मारने का भाव जिसमे नहीं, उसे माहन (साधु) कहते है। यद्यपि 'माहन' शब्द गृहस्थ—श्रावक के लिए भी प्रयुक्त होता है, तथापि इस स्थान में यह शब्द साधु का ही वाचक है।

अब संजय ऋषि उक्त प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देते हैं, यथा—

संजओ नाम नामेणं, तहा गुत्तेण गोयमो ।
गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा ॥ २२ ॥

संजयो नाम नाम्ना, तथा गोत्रेण गौतमः ।
गर्दभालयो ममाचार्याः, विद्याचरणपारगाः ॥ २२ ॥

पदार्थान्वय·—**संजओ**—सजय, **नाम**—प्रसिद्ध, **नामेणं**—नाम से, **तहा**—उसी प्रकार, **गुत्तेण**—गोत्र स, **गोयमो**-गौतम, **गद्दभाली**—गर्द्धभालि, **मम**-मेरे, **आयरिया**—आचार्य है, **विज्जा**—विद्या—ज्ञान, **चरण**—चारित्र के, **पारगा**—पारगामी।

मूलार्थ—मेरा सजय नाम है, गौतम मेरा गोत्र है और गर्द्धभालि मेरे आचार्य हैं जो कि विद्या और चारित्र के पारगामी है।

टीका- क्षत्रिय ऋषि के प्रश्नो का सजय ऋषि ने इस प्रकार से उत्तर दिया—(१) मेरा नाम सजय है, (२) मेरा गोत्र गोतम हे, (३) मेरे आचार्य गर्द्धभालि मुनि है जो कि विद्या और चारित्र मे परिपूर्ण है, (४) मै विद्या ओर चारित्र की प्राप्ति के लिए साधु हुआ हू जिसका कि अन्तिम फल मोक्ष है, (५) मै अपने गुरुजनो की सेवा करता हू और उन्ही का उपदेश सुनने और तदनुसार आचरण करने स मुझे विनय-धर्म की प्राप्ति हुई है, अर्थात् मै विनीत बना हू। यद्यपि नीच के दोनो उत्तर मल गाथा मे उपलब्ध नही है, तथापि तीसरे प्रश्न के उत्तर मे ही इन दोनों का समावेश हो जाता है।

तात्पर्य यह कि अपन आचार्य गर्द्धभालि मुनि के विद्या और चारित्र की परिपूर्णता के वर्णन मे ही उनकी सेवा और उनसे पाप्त होने वाले विनयधर्म का भी अर्थतः उल्लेख हो जाता है, इसलिए सेवा और विनय के लिए पृथक् उत्तर नही दिया गया।

इस प्रकार संजय मुनि के उत्तर से प्रसन्न हुए क्षत्रिय ऋषि फिर संजय मुनि से इस प्रकार कहने लगे–

किरियं अकिरियं विणयं, अन्नाणं च महामुणी ।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं, मेयन्ने किं पभासई ॥ २३ ॥

क्रियामक्रियां विनयः, अज्ञानं च महामुने ।
एतेषु चतुर्षु स्थानेषु, तत्त्वज्ञाः किं प्रभाषन्ते ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः–**किरियं**–क्रिया-वादी, **अकिरियं**–अक्रिया-वादी, **विणयं**–विनय-वादी, **च**–और, **अन्नाणं**–अज्ञान-वादी, **महामुणी**–हे महामुने! **एएहिं**–इन, **चउहिं**–चार, **ठाणेहिं**–स्थानो मे जीव बसते है, **मेयन्ने**–तत्वज्ञ, **किं पभासई**–क्या-क्या बोलते हैं ?

मूलार्थ–हे महामुने ! क्रिया-वादी, अक्रिया-वादी, विनय-वादी और अज्ञान-वादी इन चार स्थानों में रहते हुए जीव अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार क्या-क्या बोलते हैं।

टीका–क्षत्रिय ऋषि कहते है कि हे महामुने । इस ससार में मेयज्ञ अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थो के जानने वाले लोग, चार प्रकार से भाषा का व्यवहार करते है। यद्यपि वे अपने आप का मयज्ञ कहते है, परन्तु वास्तव मे वे मेयज्ञ नहीं होते, क्योकि उनका कथन युक्ति-युक्त न होने स असमजस मे डालने वाला होता है। वे मेयज्ञ क्रिया-वादी, अक्रिया-वादी, विनय-वादी और अज्ञान-वादी इन भेदो से चार प्रकार के है–

(१) **क्रिया-वादी**–क्रियाविशिष्ट आत्मा को मानते हुए साथ ही–विभु अविभु, कर्ता अकर्ता, क्रियावान्-अक्रियावान्, मूर्त और अमूर्त भी मानते हैं, परन्तु उनका यह कथन एकान्त रूप से ता सिद्ध नही हो सकता, क्योकि यदि आत्मा को विभु माना जाए तब तो शरीर के अतिरिक्त स्थलो म भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, परन्तु आत्मा का चैतन्य लिग तो शरीर में ही उपलब्ध होता है, उसको छोड़कर अन्यत्र कही पर भी उसकी चेतना प्रतिभासित नहीं होती तथा सुख-दुःख का भान भी शरीर मे ही होता है। शरीर के अतिरिक्त प्रदेशो में सुख-दुख की उपलब्धि नही होती। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा विभु–व्यापक नहीं है।

यदि आत्मा को अविभु अर्थात् अगुष्ठ-प्रमाणमात्र माने, जैसे कि अन्यत्र लिखा है–'**अंगुष्ठमात्रः पुरुषः**' तो यह पक्ष भी युक्ति-सगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आत्मा शरीर के किसी एक देश मे ही होगा, तब वहीं पर सुख-दुःख की उपलब्धि होगी, परन्तु सुख-दुःख का अनुभव सर्वत्र होता है, एवं शरीर के किसी विभाग में लगे हुए शस्त्र के घाव से दुःख की अनुभूति भी नहीं हो सकेगी, इसलिए अविभु अर्थात् अंगुष्ठ प्रमाण भी नहीं मान सकते।

इसी प्रकार आत्मा में सर्वदा कर्तृत्व का मानना भी युक्ति-संगत नही है, क्योंकि यदि उसमें सर्वदा क्रियाशीलता स्वीकार की जाए तो मोक्ष का ही अभाव हो जाएगा।

(२) **अक्रिया-वादी**–ये आत्मा में क्रिया का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, परन्तु उनका यह मन्तव्य प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योकि आत्मा की क्रियाशीलता प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

(३) **विनय-वादी**–ये विनय को ही सर्वरूप से प्रधानता देते हैं, उनके मत में 'सबकी विनय करना' यही धर्म है, परन्तु यह कथन भी कुछ समीचीन प्रतीत नही होता, क्योंकि इसमे योग्यायोग्य की परीक्षा का कोई स्थान उपलब्ध नही होता।

(४) **अज्ञान-वादी**–ये अज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ मानते है। उनके सिद्धांत में जितना भी कष्ट होता है वह सब ज्ञानी-ज्ञानवान् को ही होता है, अज्ञानी को नही। परन्तु यह पक्ष भी असगत है, क्योकि ज्ञान के बिना अज्ञान की प्रतीति का होना ही सम्भव नहीं, अत: एकमात्र अज्ञान को श्रेष्ठ मानना किसी प्रकार भी उचित प्रतीत नही होता।

अब क्षत्रिय ऋषि अपने इस उक्त कथन को प्रमाणित करते हुए फिर कहते हैं–

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिणिव्वुए।
विज्जाचरणसंपन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे ॥ २४ ॥

इति प्रादुःकरोति बुद्धः, ज्ञातकः परिनिर्वृतः ।
विद्या–चारित्रसंपन्नः, सत्यः सत्यपराक्रमः ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः–**इइ**–इस प्रकार, **पाउकरे**–प्रकट करते हुए, **बुद्धे**–तत्त्ववेत्ता, **नायए**–ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर, **परिनिव्वुडे**–परिनिर्वृत, **विज्जाचरणसंपन्ने**–विद्या और चारित्र से युक्त, **सच्चे**–सत्यवादी **सच्चपरक्कमे**–सत्य पराक्रम वाले।

मूलार्थ–विद्या और चारित्र से युक्त, सत्यवादी, सत्यपराक्रम वाले, तत्त्ववेत्ता, परम निर्वृत्त–निर्वाणप्राप्त ज्ञातपुत्र भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने इस तत्त्व को इस प्रकार प्रकट किया है।

टीका–क्षत्रिय ऋषि सजय मुनि से कहते है कि "हे मुने। क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन चारो का विवरण ज्ञातपुत्र भगवान् श्रीवर्द्धमान स्वामी ने स्वय दिया है जो कि कषाय रूप अग्नि के सर्वथा शान्त होन से परमनिर्वृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त हो गए है। वे महावीर विद्याचरण से युक्त अर्थात् क्षायक ज्ञान और चरित्र से सपन्न थ, सत्यवक्ता और सत्यपरमार्थ से भाव-शत्रुओ पर आक्रमण करने वाले थे, अतएव तत्त्ववेत्ता थे।

यहा पर '**बुद्ध**' शब्द भगवान् महावीर-ज्ञातपुत्र का विशेषण है तथा उक्त गाथा के

पर्यालोचन से यह भी प्रतीत होता है कि उक्त दोनों ऋषि महावीर स्वामी के अति-निकट कालवर्ती थे।

अब धर्माधर्म की फलश्रुति का वर्णन करते हैं, यथा—

पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्ममारियं ॥ २५ ॥

पतन्ति नरके घोरे, ये नराः पापकारिणः ।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति, चरित्वा धर्ममार्यम् ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**नरए**—नरक, **घोरे**—घोर में, **पडंति**—पड़ते हैं, **जे**—जो, **नरा**—नर, **पावकारिणो**—पाप करने वाले हैं, **च**—और, **दिव्वं**—देव, **गइं**—गति को, **गच्छंति**—प्राप्त होते हैं, **आरियं**—आर्य, **धम्मं**—धर्म को, **चरित्ता**—आचरण करके।

मूलार्थ—जो पुरुष पापकर्म करने वाले हैं, वे घोर नरक में पड़ते हैं और आर्य-धर्म का अनुष्ठान करने वाले देवगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि जो जीव असत् की प्ररूपणा करते है तथा हिसादि पापकर्मो मे प्रवृत्त है, वे घोर नरक के अतिथि होते हैं। तात्पर्य यह है कि असत् प्ररूपणा और पापकर्म मे प्रवृत्ति इन दोनो का फल नरक की प्राप्ति ही है। परन्तु जो जीव असत् प्ररूपणा और हिसा आदि पापकर्मो से पराङ्मुख होकर श्रुत-चारित्र रूप आर्य-धर्म का आराधन करते है व देवलोक मे जाते हैं। यद्यपि सत् की प्ररूपणा और श्रुतचारित्र रूप आर्य-धर्म का सम्यग् आराधन, इनका फल मोक्ष की प्राप्ति कथन किया गया है, तथापि यदि इस धर्माराधक जीव के समस्त कर्म क्षय न हुए हों, अर्थात् कुछ शेष रह गए हों तो उसका फल देवलोक की प्राप्ति ही शास्त्रो में बताया गया है। इसलिए असत् प्ररूपणा और असत्—पाप कर्म का त्याग तथा सत् की प्ररूपणा और आर्य-धर्म का अनुसरण करना ही विचारशील पुरुष के लिए सर्वथा कल्याणप्रद है।

इसके अनन्तर क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से फिर कहते हैं—

मायावुइयमेयं तु, मुसा भासा निरत्थिया ।
संजममाणोऽवि अहं, वसामि इरियामि य ॥ २६ ॥

मायोदितमेतत् तु, मृषा भाषा निरर्थिका ।
संयच्छन्नप्यहम्, वसामि ईर्यायां च ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**माया**—माया से, **वुइयं**—कहा हुआ, **एयं**—यह, **तु**—वितर्क में तथा निश्चय मे

हे, **मुसा**–मृषा, **भासा**–भाषा, **निरत्थिया**–निरर्थक, **संजममाणोऽवि**–सयम में रहा हुआ भी, **अहं**–मै, **वसामि**–बसता हू, **य**–और, **इरियामि**–गोचरी आदि के लिए जाता हूं।

मूलार्थ–हे मुने ! क्रियावादी आदि लोग माया से बोलते हैं, उनकी भाषा मिथ्या अतएव निरर्थक होती है, मैं उनकी भाषा को सुनता हुआ भी संयम में रहता हूं, उपाश्रय में निवास करता हूं और यत्नपूर्वक गोचरी आदि के लिए जाता हूं।

टीका–क्षत्रिय ऋषि सजय मुनि से कहते है कि ''हे मुने। ये जो क्रियावादी आदि लोग है, वे सब माया–कपट से बोलते है। इनकी भाषा मिथ्या और निरर्थक होती है, अतः इनकी बाते सुनने मे मै विशेष सयम रखता हूं। इसीलिए उपाश्रय आदि मे बसता रहता हू और गोचरी के लिए यत्न-पूर्वक जाता हू।'' इसका अभिप्राय यह है कि मै इन क्रियावादियो की कपटमयी भाषा का सुनने मे सावधानी रखता हू, अर्थात् अपने ध्यान से च्युत नही होता, परन्तु जो सर्वथा असत् की प्ररूपणा करते है, उनके कथन का तो मै सुनता भी नही और सुनना चाहता भी नहीं, क्योकि असत्-प्ररूपणा के श्रवण से मनुष्य का पापकर्मो का बन्ध होता है, जिसके कारण वह दुर्गति मे जाने का अधिकारी हो जाता है।

'निरर्थिका' का अर्थ है कि जिसके सुनने से आत्मा को बोध न हो।

अब फिर इन्हीं के विषय में कुछ और विशेष कहते हैं–

सव्वे ते विइया मज्झं, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परे लोए, सम्मं जाणामि अप्पयं ॥ २७ ॥

सर्वे ते विदिता मया, मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
विद्यमाने परे लोके, सम्यग् जानाम्यात्मानम् ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–**सव्वे**–सब, **ते**–वे, **विइया**–जान लिए, **मज्झ**–मैने, **मिच्छादिट्ठी**–मिथ्यादृष्टि, **अणारिया**–अनार्य है, **विज्जमाणे**–विद्यमान होने से, **परे लोए**–परलोक के, **सम्मं**–सम्यक्–भली प्रकार, **जाणामि**–जानता हू, **अप्पयं**–आत्मा का।

मूलार्थ–मैने उन सर्व वादियों के सिद्धान्तों को सम्यक् प्रकार से जान लिया है, वे सब मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं, परलोक के विद्यमान होने से मैं आत्मा को जानता हूं।

टीका–क्षत्रिय ऋषि कहते है कि मैने इन क्रियावादी और अक्रियावादी प्रभृति मतों को अच्छी तरह से समझ लिया है। इनके प्ररूपक सब मिथ्यादृष्टि और अनार्य है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व मे प्रवृत्त होने से वे मिथ्यादृष्टि और अनार्योचित कर्मो का आचरण करने के कारण अनार्य कहे वा माने जा सकते है। कारण कि इन लोगों ने ऐहिक सुख को ही सर्वोपरि मान रखा

है, अतएव परलोक का अस्तित्व इनकी दृष्टि से ओझल हो रहा है। आत्मा के सद्भाव और उसकी भव परम्परा पर इनको विश्वास नहीं होता, जिससे कि ये ऐहिक काम-भोगों में आसक्त होकर नाना प्रकार के अनर्थोत्पादक कर्मो में प्रवृत्त हो रहे हैं, परन्तु मैं परलोक की सत्ता और आत्मा की भव-परम्परा को भली-भांति जानता हूं।

आप किस प्रकार जानते हैं? इसका उत्तर क्षत्रिय राजर्षि निम्नलिखित दो गाथाओं के द्वारा देते हैं, यथा–

अहमासी महापाणे, जुइमं वरिससओवमे ।
जा सा पालीमहापाली, दिव्वा वरिससओवमा ॥ २८ ॥
से चुए बम्भलोगाओ, माणुस्सं भवमागए ।
अप्पणो य परेसिं च, आउं जाणे जहा तहा ॥ २९ ॥

अहमासं महाप्राणे, द्युतिमान् वर्षशतोपमः ।
या सा पालिर्महापालिः, दिव्या वर्षशतोपमा ॥ २८ ॥
स च्युतो ब्रह्मलोकात्, मानुष्यं भवमागतः ।
आत्मनश्च परेषां च, आयुर्जानामि यथा तथा ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः–**अहं**–मैं, **आसि**–था, **महापाणे**–महाप्राण विमान मे, **जुइमं**–द्युति वाला, **वरिससओवमे**–सौ वर्ष की उपमा वाला, **जा**–जो, **सा**–वह, **पालि**–पल्योपम वा, **महापाली**–सागरोपम वाली, **दिव्वा**–देवसम्बन्धी स्थिति, **वरिस**–वर्ष, **सओवमा**–सौ की उपमा वाली। **से**–वह अब, **चुए**–च्युत होकर, **बंभलोगाओ**–ब्रह्मलोक में, **माणुस्सं**–मनुष्य-संबधी, **भव**–भव में, **आगए**–आ गया, **अप्पणो**–अपने, **य**–और, **परेसिं**–पर के जन्म का, **आउं**–आयु को, **जहा**–जैसे है, **तहा**–उसी प्रकार, **जाणे**–जानता हू।

मूलार्थ–मैं महाप्राण विमान में अतिप्रकाशवान् शतोपम आयु वाला देव था, जो कि सौ वर्ष की यह देवसम्बन्धी स्थिति पल्योपम वा सागरोपम संज्ञा वाली है। अब मैं वहां से च्यव कर–ब्रह्मलोक से च्युत होकर मनुष्य-भव में आया हूं तथा मैं अपनी और दूसरों की आयु को जैसे है, वेसे ही जानता हूं।

टीका–इस गाथा-युगल मे राजर्षि ने अपने जाति-स्मरण ज्ञान का परिचय देते हुए परलोक और आत्मा की भव-परम्परा के अस्तित्व को प्रमाणित किया है। राजर्षि ने कहा "हे मुने! मै ब्रह्मदेवलोक के महाप्राण विमान में देव था तथा देवों की प्रभा से युक्त था। जैसे इस लोक मे सौ वर्ष की उत्कृष्ट आयु मानी गई है उसी प्रकार मैं देवलोक में उत्कृष्ट आयु से युक्त था अर्थात्

मेरी आयु दस सागर प्रमाण थी। इन देवलोको मे पल्योपम और सागरोपम संज्ञा वाली आयु बताई गई है, इसलिए देव-सम्बन्धी सौ वर्ष की उत्कृष्ट आयु का मान दस सागर प्रमाण होता है।

शास्त्रों में पल्योपम और सागरोपम की व्याख्या इस प्रकार से की गई है—एक योजन लंबा और एक योजन चौडा कूप, युगलियो के सूक्ष्म केशों से इस प्रकार भरा जाए कि एक बाल के असख्यात खड करके उन खडो से उस कूप को भरपूर करना चाहिए। फिर जब वह कूप भर जाए तो उसमे से सौ-सा वर्ष के बाद एक-एक खड निकालते हुए जितने काल में वह कूप खाली हा जाए उतना काल एक पल्योपम हाता है। इसी की पालि सज्ञा भी है। इसी प्रकार जब दश कोटाकोटि कूप खाली हो जाए तो उसका एक सागरोपम काल होता है। इसी को महापालि कहा जाता है।

फिर राजर्षि कहते हैं कि उस ब्रह्मलोक से च्यव कर अर्थात् अपनी देव-सम्बन्धी आयु को समाप्त करक मै इस मनुष्य-जन्म का प्राप्त हुआ हू। इस विषय का मुझे जाति-स्मरण ज्ञान के द्वारा अनुभव हुआ है और इसी ज्ञान के द्वारा मे अपनी तथा दूसरो की भव-परिस्थिति को भली-भाति जान सकता हू, इसलिए वादियो का जो परलोक-पुनर्जन्म के विषय में अविश्वास है वह सर्वथा अज्ञान-मूलक ह। कारण कि जिस प्रकार मै अपन पूर्व जन्म के वृत्तान्त को जानकर उस पर पूर्ण विश्वास करता हू उसी प्रकार दूसरो की जन्म-परम्परा को भी मै स्वीकार करता हू, अत. परलोक का अस्तित्व अबाधित है तथा क्रिया काड की सप्रयोजनता भी परलोक के अस्तित्व पर ही निर्भर हे।

अट्ठाईसवीं गाथा म जो '**वरिससओवमा**' '**वर्ष शतोपमाः**' पद पढा गया है, उसमे मध्यम-पदलोपी तत्पुरुष समास है। यथा-'**वर्षा शत जीवितं उपमा येषां ते वर्ष-शतोपमाः**'।

क्षत्रिय राजर्षि अब साधु के कुछ विशेष कर्त्तव्यो का वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

नाणारुइं च छन्दं च, परिवज्जेज्ज संजओ।
अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥ ३० ॥

नानारुचिं च छन्दश्च, परिवर्जयेत् संयतः ।
अनर्था ये च सर्वार्थाः, इति विद्यामनुसंचरे ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**णाणा**—नाना प्रकार, **रुइं**—रुचि, **च**—और, **छन्दं**—अभिप्राय, **च**—समुच्चय में, **परिवज्जेज्ज**—छोड दे, **संजओ**—साधु, **अणट्ठा**—हिंसादि अनर्थ, **जे**—जो, **य**—पुनः, **सव्वत्था**—सर्व क्षेत्रादि के विषय व्यापार, **इइ**—इस प्रकार, **विज्जां**—सम्यक्ज्ञान, **अणु**—अंगीकार करके, **संचरे**—विचरण कर।

मूलार्थ–क्रियावादी आदि लोगों की नाना प्रकार की रुचियों और अभिप्रायों का साधु सर्वथा त्याग कर दे तथा सर्व स्थानों में जो अनर्थकारी क्रियाएं हैं उन्हें भी छोड़ दे, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान को अंगीकार करके साधु विचरण करे अथवा तू विचरण कर।

टीका–इस गाथा में क्षत्रिय ऋषि ने सजय मुनि को उपदेश करने के उद्देश्य से संयमशील साधु-मात्र के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण बाते कही हैं। राजर्षि कहते है "हे मुने ! इस संसार मे जितने भी क्रियावादी आदि मत है, उनकी नाना प्रकार की रुचि और भिन्न-भिन्न प्रकार के अभिप्राय है, उन सब को छोड़कर अर्थात् उन सबकी उपेक्षा करके तू केवल संयम-मार्ग में ही विचरण कर, क्योंकि इनमें कोई तो नास्तिक है और कोई आस्तिक है, तथा कोई क्रियावाद का स्थापक है और कोई उत्थापक है। अत: किसी की ओर भी तुझे ध्यान नहीं देना चाहिए। तथा हिंसा आदि जो अनर्थ के कार्य हैं और सर्व प्रकार के जो गृह, क्षेत्रादि विषयक व्यापार हैं, उन सबका परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान को अगीकार करके तू केवल संयम-मार्ग म ही विचरण कर।" तात्पर्य यह है कि इन वादियों के सम्पर्क से विचलित होने की आशंका रहती है, इसलिए इनकी बातों को सुनना अनावश्यक ही नही अपितु अनर्थकारी भी है।

इसके अनन्तर राजर्षि फिर कहते हैं–

पडिक्कमामि पसिणाणं, परमंतेहिं वा पुणो ।
अहो उट्ठिओ अहोरायं, इइ विज्जा तवं चरे ॥ ३१ ॥

प्रतिक्रमामि प्रश्नेभ्यः, परमन्त्रेभ्यो वा पुनः ।
अहो उत्थितोऽहोरात्रम्, इति विद्वान् तपश्चरेत् ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः–पडिक्कमामि–निवृत्त हो गया हूं, **पसिणाणं**–प्रश्नो से, **परमंतेहिं**–तथा गृहो के कार्यों से, **वा**–समुच्चय अर्थ में है, **पुणो**–फिर, **अहो**–विस्मय है, **उट्ठिओ**–उत्थित हो गया हूं, **अहोरायं**–अहोरात्र–रात-दिन धर्म-कार्यो मे, **इइ**–इस प्रकार, **विज्जा**–विद्वान् अथवा जानकार, **तवं**–तप को, **चरे**–आचरण करे।

मूलार्थ–मैं सावद्य प्रश्नों से तथा गृहस्थों के कार्यो से निवृत्त हो गया हूं और रात-दिन धर्म-कार्यो के लिए उद्यत रहता हूं, इस प्रकार जानकर आप भी तप का आचरण करें।

टीका–क्षत्रिय राजर्षि संजय मुनि से कहते हैं कि मैं गृहस्थों के सावद्य प्रश्न तथा गृह-सम्बन्धी कार्यो से निवृत्त हो गया हूं, अर्थात् जो गृहस्थ मुझ से कोई सावद्य प्रश्न पूछत है अथवा मेरे पास अपने व्यापारादि सम्बन्धी दु:खो का वर्णन करते हैं तथा विवाहादि विषयक चिन्ताओं

का प्रकाश करते हैं, मै उनसे किसी प्रकार का वार्तालाप ही नही करता, क्योंकि मैं इन बातों को छोड चुका हूं। मैं तो अब रात-दिन धर्म-कार्यो में ही तल्लीन रहता हू। इस प्रकार जानकर आप भी सदा तप का ही आचरण करे।

प्रस्तुत गाथा मे राजर्षि ने साधु का कर्त्तव्य, अपनी क्रिया तथा संजय मुनि को शिक्षा इन तीनो बातों का उपदेश दिया है तथा यहा पर इतना और भी स्मरण रहे कि शुभाशुभ फल-दर्शक प्रश्नों के विषय मे ही निषेध समझना, परन्तु धर्म-सम्बन्धी प्रश्नों का निषेध नहीं एवं गृहस्थों के कार्यो का निषेध है, उनको योग्य शिक्षा देने का निषेध नही है।

तथा च–

जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा।
ताइं पाउकरे बुद्धे, तं नाणं जिणसासणे ॥ ३२ ॥

यच्च मां पृच्छसि काले, सम्यक् शुद्धेन चेतसा ।
तत् प्रादुरकरोद् बुद्धः, तज्ज्ञानं जिनशासने ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः-**जं**-जो, **च**-और, **मे**-मुझसे, **पुच्छसी**-तू पूछता है, **काले**-प्रस्ताव मे, **सम्म**-सम्यक्, **सुद्धेण**-शुद्ध, **चेयसा**-चित्त से, **ताइं**-वह बुद्ध ने, **पाउकरे**-प्रकट कर दिया है, (अथवा बुद्ध रूप मै प्रकट करता हू), **तं**-वह, **नाणं**-ज्ञान, **जिणसासणे**-जिन-शासन मे विद्यमान है।

मूलार्थ–हे मुने ! सम्यग् शुद्ध चित्त से इस समय पर जो आप मुझसे पूछ रहे हैं वह ज्ञान ज्ञानी ने प्रकट कर दिया है, अथवा बुद्ध रूप मैं प्रकट करता हूं, वह सब ज्ञान जिन-शासन में विद्यमान है।

टीका–क्षत्रिय मुनि, सजय मुनि स कहते है कि शुद्ध चित्त होकर जो कुछ तुम मुझसे पूछते हो वह सब ज्ञान जिन-शासन में विद्यमान है और बुद्ध ने–भगवान् महावीर ने उसे प्रकट कर दिया है। अथवा जो कुछ आप मुझसे पूछते है वह सब मैं तुम्हारे समक्ष प्रकट करता हू, क्योकि वह सब ज्ञान जिन-शासन मे विद्यमान है और जिन-शासन म सम्यक् प्रकार से स्थित होने से मैं बुद्ध हू, इसलिए मै तुमसे कहता हूं।

ऋषि के कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मानात्म विषयक ऐसा कोई प्रश्न नही जिसका बुद्ध ने अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी ने समाधान न किया हो तथा जो जिन-शासन मे विद्यमान न हो, अतः उसी के आधार पर मै तुम्हारे सारे प्रश्नों का उत्तर दे सकता हूं। अथवा जिन-शासन में सम्यक् प्रवृत्ति होने से—तदनुसार सम्यक् आचरण करने से मुझे उस ज्ञान की प्राप्ति हो गई

है जिस से कि बुद्ध होता हुआ मैं तुम्हारे सारे प्रश्नों का उत्तर दे सकता हूँ और तुम भी इसी प्रकार–जिन-शासन में आरूढ़ होते हुए बुद्ध हो सकते हो।

यहां पर **'ताइं'** तत्–यह सुप् व्यत्यय से हुआ है और किसी-किसी प्रति में **'सम्मं सुद्धेण'** के स्थान में **'सम्मं बुद्धेण'** ऐसा पाठ भी देखने में आता है, परन्तु इससे अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

अब फिर श्रमणोचित कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं–

किरियं च रोअए धीरो, अकिरियं परिवज्जए ।
दिट्ठीए दिट्ठिसम्पन्नो, धम्मं चर सुदुच्चरं ॥ ३३ ॥

क्रियां च रोचयेद् धीरः, अक्रियां परिवर्जयेत् ।
दृष्ट्या दृष्टिसंपन्नः, धर्मं चर सुदुश्चरम् ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः–**किरियं**–क्रिया में, **रोअए**–रुचि करे, **धीरो**–धीर पुरुष, **च**–पुनः, **अकिरियं**–अक्रिया को, **परिवज्जए**–त्याग दे, **दिट्ठीए**–दृष्टि से, **दिट्ठिसंपन्नो**–दृष्टिसंपन्न होकर, **धम्मं**–धर्म को, **चर**–आचरण कर जो, **सुदुच्चरं**–अति दुश्चर है।

मूलार्थ–हे मुने ! धीर पुरुष क्रिया में रुचि करे और अक्रिया का परित्याग कर दे तथा सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर धर्म का आचरण करे जो कि अति दुष्कर है, अथवा आप धर्म का आचरण करें।

टीका–क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि हे मुने। जो धीर पुरुष होते हैं उनकी रुचि क्रियावाद अर्थात् आस्तिकता मे ही होती है, किन्तु अक्रिया अर्थात्, नास्तिकता की ओर उनका ध्यान बिलकुल नहीं होता, अतः सम्यग्-दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर बुद्धिमान् पुरुष को सदा धर्म का ही आचरण करना चाहिए।

यहां पर इस विचार को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि सम्यग्-दर्शन-सम्पन्न पुरुष ही धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो सकता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सब से प्रथम अन्तरात्मा में आस्तिकता के भाव पैदा करने की नितान्त आवश्यकता है। इमी दृष्टि को लेकर क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से कहते हैं कि तुम सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न–ज्ञान-सम्पन्न होकर केवल धर्म का ही आचरण करो, क्योंकि धर्म का आचरण अति दुष्कर है।

अब प्रस्तुत विषय में कतिपय महापुरुषों के उदाहरण देते हैं–

एयं पुण्णपयं सुच्चा, अत्थधम्मोवसोहियं ।
भरहो वि भारहं वासं, चिच्चा कामाइं पव्वए ॥ ३४ ॥

एतत् पुण्यपदं श्रुत्वा, अर्थधर्मोपशोभितम् ।
भरतोऽपि भारतं वर्षं, त्यक्त्वा कामान् प्राव्राजीत् ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः–**एयं**–यह, **पुण्णपयं**–पुण्यपद, **सुच्चा**–सुनकर, **अत्थ**–अर्थ, **धम्म**–धर्म से जो– **उवसोहियं**–उपशोभित, **भरहो वि**–भरत भी, **भारहं वासं**–भारतवर्ष को, **चिच्चा**–छोड़कर तथा, **कामाइं**–कामभोगों को छोडकर, **पव्वए**–दीक्षित हो गए थे।

मूलार्थ–अर्थ और धर्म से उपशोभित इस पुण्यपद अर्थात् धर्मोपदेश को सुनकर महागज भरत भी भारतवर्ष और कामभोगों को छोड़कर दीक्षित हो गए थे।

टीका–मुमुक्षु पुरुषो को धर्म मे दृढ बनाने के लिए क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से कहते हैं कि इस अवसर्पिणी काल में होने वाले प्रथम चक्रवर्ती राजा भरत इस पुण्य-पद का श्रवण करके–जो कि अर्थ–दिव्य एवं परम सुख और उसके उपायभूत धर्म से उपशोभित है (ऐसे पुण्यपद का सुनकर) परम रमणीय भारतवर्ष और कामभोगादि पदार्थो का परित्याग करके प्रव्रजित हो गए–दीक्षित हो गए थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि वे इसी भव में मोक्ष को प्राप्त हो गए और उन्ही के नाम से यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रख्यात हुआ। सम्राट् भरत भगवान् श्री ऋषभदेव के पुत्र थे, इनकी दिग्विजय का विस्तृत वर्णन श्री जम्बू प्रज्ञप्ति सूत्र के भारतालापक प्रकरण मे है तथा उत्तराध्ययन की टीकाओ मे से भी इसका विस्तृत वर्णन देख लेना चाहिए।

अब दूसरे चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं–

सगरोऽवि सागरन्तं, भारहवासं नराहिवो ।
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे ॥ ३५ ॥

सगरोऽपि सागरान्तं, भारतवर्ष नराधिपः ।
ऐश्वर्य केवलं त्यक्त्वा, दयया परिनिर्वृतः ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः–**सगरोऽवि**–महाराज सगर भी, **सागरन्तं**–समुद्र-पर्यन्त, **इस्सरियं**–ऐश्वर्य, **केवलं**–सम्पूर्ण, **हिच्चा**–छोड कर, **दयाए**–दया से, **परिनिव्वुडे**–निर्वृति को प्राप्त हुए, **नराहिवो**–नरो के अधिपति।

मूलार्थ–महाराजा सगर भी भारतवर्ष के सागर-पर्यन्त ऐश्वर्य का परित्याग करके, दया भाव से, परम निवृत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त हुए।

टीका–इसी प्रकार सगर नाम के दूसरे चक्रवर्ती राजा भी सागर-पर्यन्त पृथ्वी (–जो कि भारतवर्ष की तीन दिशाओ की सीमा है और जिसकी चौथी दिशा में चुल्ल (क्षुल्लक) हैमवन्त

पर्वत है, के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को छोड़कर संयमाराधन के द्वारा आठों कर्मो का क्षय करके मोक्ष को चले गए। कहते हैं कि इस सम्राट् के ६० हजार पुत्र गंगा को लाने के प्रयास में संहार को प्राप्त हुए थे, उनके वियोग से विरक्त होकर उन्होंने संसार-सागर से पार करने वाली जिन-दीक्षा को ग्रहण किया, जिसके प्रभाव से वह चारों कषायों का समूल घात करके परम कल्याण स्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त हो गए।

इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चक्रवर्ती पद को प्राप्त करने पर भी मनुष्य को संयोग-वियोग रूप कर्मों के रस का अनुभव करना पड़ता है, फिर सामान्य मनुष्य की तो गणना ही क्या है । इसलिए विचारशील पुरुष को कर्म-बन्धन से मुक्त होने का ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि-व्याख्या-प्रज्ञप्ति में लिखा है कि-**'दुक्खीणं भंते दुक्खेण फुडे'** इत्यादि-अर्थात् कर्मा-वशिष्ट जीवों को ही दुख होता है इत्यादि।

अब तृतीय चक्रवर्ती के नाम का प्रस्तुत विषय में उल्लेख करते हैं-

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
पव्वज्जमब्भुवगओ, मघवं नाम महाजसो ॥ ३६ ॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
प्रव्रज्यामभ्युपगतः, मघवा नाम महायशाः ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः-चइत्ता-छोडकर, **भारहं वासं**-भारतवर्ष को, **चक्कवट्टी**-चक्रवर्ती, **महिड्ढिओ**-महाऋद्धि वाला, **पव्वज्जं**-दीक्षा को, **अब्भुवगओ**-प्राप्त हुआ, **मघवं नाम**-मघवा नाम वाला और, **महाजसो**-महान् यश वाला।

मूलार्थ-महान् यश और महा समृद्धि वाला मघवा नाम का चक्रवर्ती सम्पूर्ण भारतवर्ष के राज्य को छोड़कर प्रव्रजित हो गया, अर्थात् उसने अपने महान् राज्य-वैभव को छोड़कर दीक्षा अंगीकार कर ली।

टीका-इस गाथा में तीसरे चक्रवर्ती के राज्य त्याग का वर्णन है। महान् यशस्वी और महान् समृद्धिशाली मधवा नाम के चक्रवर्ती इन सांसारिक विषय-भोगों को छोड़कर दीक्षित हो गए थे। तात्पर्य यह है कि विषय-भोगो को दुःख और घोर कर्म-बन्ध का कारण समझकर इनका त्याग करके मोक्ष की साधनभूत जो प्रव्रज्या है उसको उन्होंने स्वीकार किया था।

अब चतुर्थ चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं-

सणंकुमारो मणुस्सिन्दो, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ता णं, सोऽवि राया तवं चरे ॥ ३७ ॥

सनत्कुमारो मनुष्येन्द्रः, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा, सोऽपि राजा तपोऽचरत् ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः—**सणंकुमारो**—सनत्कुमार, **मणुस्सिन्दो**—मनुष्यो का राजा, **चक्कवट्टी**—चक्रवर्ती, **महिड्ढिओ**—महती ऋद्धि वाला, **रज्जे**—राज्य में, **पुत्तं**—पुत्र को, **ठवित्ता**—स्थापित करके, **सोऽवि**—वह भी, **राया**—राजा, **तवं**—तप को, **चरे**—आचरण करने लगा।

मूलार्थ—महासमृद्धिशाली सम्राट् सनत्कुमार भी पुत्र को राज्य में सिंहासन पर स्थापित करके तप का आचरण करने लगा।

टीका—कहते है कि चक्रवर्ती सनत्कुमार का रूप लावण्य बहुत ही अद्भुत था, शक्रेन्द्र न भी उनके रूप की प्रशसा की थी। अन्य देवता लोग इन्द्र महाराज के उक्त कथन में विश्वास न रखते हुए इस लोक मे वृद्ध ब्राह्मणों का रूप धारण करके उक्त चक्रवर्ती के दर्शन करने को आए। इससे चक्रवर्ती को अपने रूप का कुछ विशेष गर्व हो गया, उन्होने दर्शनार्थ आए हुए देव-विप्रो से कहा कि आप मेरे दर्शन राजसभा में करें, अभी तो मैं स्नानागार में हूं। उन्होने (देवों ने) इस बात को स्वीकार किया। स्नानादि आवश्यक कार्यो से निवृत्त होकर जब वह सम्राट् अपने सिहासन पर आकर बैठे और उन देव-ब्राह्मणो को बुलाया तब पूर्वोक्त अशुभ कर्मो के प्रभाव से चक्रवर्ती को १६ रोग उत्पन्न हो गए। शरीर की इस दशा पर विचार करते हुए वे ससार के सारे वैभव को छोडकर दीक्षित हो गए और अन्त मे सारे कर्मो का समूल घात करके मोक्ष को प्राप्त हुए।

अब पांचवें चक्रवर्ती का वर्णन करते हैं—

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
सन्ती सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ३८ ॥
त्यक्त्वा भारतं वर्ष, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
शान्तिः शान्तिकरो लोके, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**चइत्ता**—छोडकर, **भारहं वासं**—भारतवर्ष को, **चक्कवट्टी**—चक्रवर्ती, **महिड्ढिओ**—महती समृद्धि वाले, **सन्ती**—शान्तिनाथ, **सन्तिकरे**—शान्ति के देने वाले, **लोए**—लोक में, **अणुत्तरं**—प्रधान, **गइं**—गति को, **पत्तो**—प्राप्त हुए।

मूलार्थ—शान्ति के देने वाले शान्तिनाथ नामक महासमृद्धिशाली चक्रवर्ती इस लोक में भारतवर्ष को छोड़ कर अर्थात् अति रमणीय कामभोगों का परित्याग करके प्रधान गति (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

टीका–इस गाथा में शान्तिनाथ नामक पांचवे चक्रवर्ती और सोलहवें तीर्थंकर देव का उल्लेख है। श्री शान्तिनाथ भगवान् भी भारतवर्ष को छोड़कर और अपनी चक्रवर्ती की लोकोत्तर समृद्धियों का त्याग करके संयम का आराधन करते हुए मुक्त हो गए, इनका संक्षिप्त जीवन इस प्रकार है।

श्री शान्तिनाथ भगवान् के जीव ने मेघरथ नामक राजा के भव में एक कपोत की रक्षा की थी और फिर दीक्षित होकर तीर्थकर-नाम-कर्म का उपार्जन किया था। वहां से अपनी आयु की स्थिति को पूर्ण करके वे सर्वार्थसिद्ध देवलोक में जाकर उत्पन्न हुए। वहां से च्यव कर वे विश्वसेन राजा की अचिरा नाम की पट्टरानी की कुक्षि से उत्पन्न हुए।

उस समय कुरुदेश और हस्तिनापुर नगर में अपस्मार–मृगी का भयंकर रोग व्याप्त हो रहा था। श्री शान्तिनाथ भगवान् के जीव के गर्भ में आने पर एकदा भगवान् की माता प्रासाद पर खडी होकर नगर की ओर देख रही थीं, तब उनके शरीर से स्पर्शित होकर जो वायु उस देश व नगर में फैल गई उसके प्रभाव से उस नगर और देश का वह रोग शान्त हो गया। इस कारण से महाराजा विश्वसेन ने जन्म के पश्चात् उस दिव्यपुत्र का 'श्री शान्तिनाथ' यह नामकरण किया। फिर वे चक्रवर्ती की पदवी को भोगकर तीर्थंकर देव हुए और मोक्ष को प्राप्त हो गए।

अब छठे चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं–

इक्खागुरायवसभो, कुन्थू नाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती धिइमं, मुक्खं गओ अणुत्तरं ॥ ३९ ॥

इक्ष्वाकुराजवृषभः, कुन्थुनामा नरेश्वरः ।
विख्यातकीर्तिर्धृतिमान्, मोक्षं गतोऽनुत्तरम् ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः–**इक्खागु**–इक्ष्वाकु, **राय**–राज्य–वश मे, **वसभो**–वृषभ के समान, **कुन्थू नाम**–कुथु नाम वाले, **नरेसरो**–नरेश्वर, **विक्खायकित्ती**–विख्यातकीर्ति, **धिइमं**–धृतिमान्, **मुक्खं**–मोक्ष को, **गओ**–प्राप्त हुए, **अणुत्तरं**–जो प्रधान है।

मूलार्थ–इक्ष्वाकु-वंश में वृषभ के समान विख्यात कीर्ति वाले छठे चक्रवर्ती सत्रहवें तीर्थकर भगवान् कुंथुनाथ भी संयम का आराधन करके मोक्षरूप प्रधान गति को प्राप्त हुए।

टीका–इस गाथा में छठे चक्रवर्ती और सत्रहवें तीर्थकर भगवान् कुंथुनाथ का उल्लेख किया गया है। भगवान् कुंथुनाथ इक्ष्वाकु-वंश में वृषभ के समान अर्थात् सर्वोत्तम महापुरुष हुए हैं। वे भी दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और चक्रवर्ती की पदवी से अलंकृत होते हुए तीर्थंकर-पद को प्राप्त करके सर्वप्रधान मोक्ष गति को प्राप्त हुए थे।

सर्वार्थसिद्धि के कर्ता ने उक्त गाथा के उत्तरार्द्ध का पाठ इस प्रकार माना है–**'विक्खायकित्ती भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं, विख्यातकीर्तिर्भगवान्, प्राप्तो गतिमनुत्तराम्'**। तथा अन्य वृत्तिकारों को भी यही पाठ अभिमत है, परन्तु वृहद्वृत्ति के कर्त्ता को तो ऊपर का पाठ ही स्वीकृत है। अस्तु, दोनो ही पाठो के अर्थ मे कोई अन्तर नहीं है।

अब सातवें चक्रवर्ती के सम्बन्ध में कहते हैं–

सागरन्तं जहित्ता णं, भरहवासं नरेसरो ।
अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥

सागरान्तं त्यक्त्वा, भारतवर्ष नरेश्वरः ।
अरश्चारजः प्राप्तो, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः–**सागरन्तं**–सागर-पर्यन्त पृथ्वी को, **जहित्ता**–छोडकर और, **भरहवासं**–भारतवर्ष को, **नरेसरो**-नरेश्वर, **य**–पुन., **अरो**–अरनामा चक्रवर्ती, **अरयं***–विषय-विकारों को त्यागकर अथवा अरत होकर–कर्मरज मे रहित होकर, **पत्तो**–प्राप्त हो गए, **अणुत्तरं**–प्रधान, **गइं**–गति का, **णं**–वाक्यालकार मे।

मूलार्थ–नरेश्वर अर नामा चक्रवर्ती सागर पर्यन्त पृथ्वी और भारतवर्ष को छोड़कर विषय-विकारों से रहित होकर, अथवा कर्मरज से रहित होकर मोक्षगति को प्राप्त हो गए।

टीका–सातवे चक्रवर्ती अरनाथ के नाम से प्रसिद्ध थे। वे चक्रवर्ती की पदवी को भोगकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के साम्राज्य का परित्याग करके अठारहवे तीर्थकर-पद को प्राप्त करते हुए सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त हुए। तात्पर्य यह है कि विषय-कषायों से सर्वथा मुक्त होकर केवलज्ञान को प्राप्त करके संसार मे धर्म का शासन चलाते हुए परम कल्याणरूप निर्वाण-पद को प्राप्त हुए।

ये तीर्थकरो में अठारहव तीर्थकर और चक्रवर्तियो मे सातवें चक्रवर्ती हुए है, इसलिए ये उक्त दोनो ही शुभ नामो से स्मरण किए जाते है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा के पूर्वार्द्ध को अन्य वृत्तिकारो ने इस प्रकार पढा है यथा–**'सागरंतं चइत्ताणं भरहं नरवरीसरो'**।

अब नवमें चक्रवर्ती के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
चिच्चा य उत्तमे भोए, महापउमे तवं चरे ॥ ४१ ॥

---

* 'अरय' त्ति–रत्तम्य रजसोवाऽभावरूपमरत्तमरजो वा पाठान्तरत्तोऽरस वा श्रृगारादिरसाभावमिति वृत्तिकार ।

त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
त्यक्त्वा च उत्तमान् भोगान्, महापद्मस्तपोऽचरत् ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः–चइत्ता–छोड़कर, **भारहं वासं**–भारतवर्ष को, **चक्कवट्टी**–चक्रवर्ती, **महिड्ढिओ**–महती ऋद्धि वाले, **य**–फिर, **चिच्चा**–छोड़ कर, **उत्तमे**–उत्तम, **भोए**–भोगों को, **महापउमे**–महापद्म, **तवं**–तपश्चर्या, **चरे**–करते हुए।

मूलार्थ–भारतवर्ष के राज्य को छोड़कर महती समृद्धि वाले महापद्म नामक चक्रवर्ती, उत्तम भोगों का परित्याग करके तप का आचरण करते हुए मुक्त हो गए।

टीका–यद्यपि सातवें चक्रवर्ती के पश्चात् अनुक्रम से आठवें चक्रवर्ती का वर्णन आना चाहिए था, परन्तु संभूत नामा आठवें चक्रवर्ती का वर्णन इसलिए छोड दिया गया है कि वह ससार से विरक्त नहीं हुआ, किन्तु संसार के विषय-भोगों मे अत्यन्त आसक्त होने के कारण घोर कर्मो के उपार्जन से वह सातवें नरक में गया। प्रस्तुत प्रकरण में प्रायः मोक्षगामी आत्माओं के अधिकार का वर्णन अभिप्रेत होने से उसका उल्लेख नहीं किया गया।

महापद्म नामा नवमा चक्रवर्ती भारतवर्ष के उत्तमवास और लोकोत्तर भोगों का परित्याग करके तप के आचरण मे प्रवृत्त हो गया, जिस कारण वह समस्त कर्मो के बन्धन को तोडकर सर्वप्रधान मोक्ष पद को प्राप्त हुआ। महापद्म चक्रवर्ती का प्रधानमंत्री नमुचि महानास्तिक था, उसने जैन-धर्मानुयायियों को अपने राज्य से बाहर निकल जाने का आदेश दे रखा था। उस समय श्री विष्णुकुमार मुनि ने ही नमुचि से श्रीसघ को निर्भय किया था, महापद्म चक्रवर्ती भी विष्णुकुमार मुनि की अद्भुत शक्ति से तथा वैराग्य भरे उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षित हुए तथा तपश्चर्या मे प्रवृत्त होते हुए अन्त में मुक्त हो गए। इसका विस्तृत वर्णन देखना हो तो अन्य वृत्तियों में से देख लेना चाहिए।

ये वे ही विष्णुकुमार हैं जो महापद्म चक्रवर्ती के अग्रज हुए हैं।

अब दशवें चक्रवर्ती का वर्णन करते हैं–

एगच्छत्तं पसाहित्ता, महिं माणनिसूरणो ।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४२ ॥

एकच्छत्रां प्रसाध्य, महीं माननिषूदनः ।
हरिषेणो मनुष्येन्द्रः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः–एगच्छत्तं–एक छत्र, **महिं**–पृथ्वी को, **पसाहित्ता**–वश करके, **माणनिसूरणो**–वैरियो के मान का विनाश करने वाला, **हरिसेणो**–हरिषेण, **मणुस्सिन्दो**–मनुष्यो का इन्द्र–राजा, **अणुत्तरं**–प्रधान, **गइं**–गति को, **पत्तो**–प्राप्त हुआ।

मूलार्थ–वैरियों के मान का मर्दन करने वाला और पृथ्वी पर एकच्छत्र राज्य करके हरिषेण नामा चक्रवर्ती अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुआ।

टीका–हरिषेण नामक चक्रवर्ती ने प्रथम छः खड पृथ्वी का साधन किया, उसमें अहंकार युक्त जितने भी राजा थे उन सबका मान-मर्दन करके समस्त भारतवर्ष मे एकछत्र राज्य स्थापित किया। इसके अनन्तर उस भाग्यवान् ने अपने समस्त राज्य-वैभव का परित्याग करके तप और सयम का आराधन करते हुए मोक्ष-पद का प्राप्त कर लिया।

एकछत्र कहने का तात्पर्य यह है कि ३२ हजार देशों के राजा उसकी आज्ञा का पालन करते थे, उनम जो अहकार युक्त थे उनका भी अहकार जाता रहा। इस प्रकार की समृद्धि के होने पर भी उन्होंने इस ससार का परित्याग करके जिनदीक्षा धारण की और तप-संयम के आराधन से मोक्ष को प्राप्त किया।

मृत्र मे आए हुए '**अनुत्तरगति**' शब्द से मोक्ष ही अभिप्रेत है, क्योंकि मोक्षगति से प्रधान अन्य कोई गति नही। इसी अभिप्राय से बार-बार अनुत्तर गति शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।

अब ग्यारहवें चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं–

अन्निओ रायसहस्सेहिं, सुपरिच्चाई दमं चरे ।
जयनामो जिणक्खायं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४३ ॥

अन्वितो राजसहस्रैः, सुपरित्यागी दममचारीत् ।
जयनामा जिनाख्यातां, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः–**रायसहस्सेहिं**–हजारो राजाओ से, **अन्निओ**–युक्त, **सुपरिच्चाई**–भली प्रकार म ससार को छाडकर, **दमं**–इन्द्रिय दमन, **चरे**–करके, **जयनामो**–जय नामा चक्रवर्ती, **जिणक्खायं**–जिनेन्द्रदेव की कही हुई, **अणुत्तरं**-प्रधान, **गइ**–गति को, **पत्तो**–प्राप्त हुआ।

मूलार्थ–हजारों राजाओं से युक्त और सम्यक् प्रकार से राज्यादि वैभव का परित्याग करने वाला जय नामा चक्रवर्ती मंयम-धर्म का आचरण करके जिनभाषित सर्वप्रधान मोक्षगति को प्राप्त हुआ।

टीका–जय नाम स विख्यात ग्यारहवे चक्रवर्ती ने हजारों राजाओं के साथ ससार के विनाशशील विषय-भागो का परित्याग करके तप के अनुष्ठान द्वारा आत्म-शुद्धि करते हुए अविनाशी मोक्ष-सुख का प्राप्त किया। इस कथन का तात्पर्य यह है कि संसार के विषय-भोगों को तुच्छ समझ कर अपने मन को विपय-वासनाओं से हटाकर केवल परम कल्याणरूप और विनाश रहित जो मोक्षपद है उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रत्येक विचारशील पुरुष को उद्यत रहना चाहिए। यही उसका परम ध्येय है।

यहां पर वृत्तिकारों ने '**चरे**' के दो प्रतिरूप दिए हैं। एक '**अचारीत**' दूसरा '**चरित्वा**' अर्थात् एक लुङ् का दूसरा 'क्त्वा' प्रत्यय का प्रयोग है। इसमे पाठकों को जैसा अर्थ करना अभीष्ट हो वैसे ही वे प्रयोग कर सकते हैं, क्योंकि तात्पर्य में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

इस प्रकार दश चक्रवर्ती राजाओं का उदाहरण देने के अनन्तर अब एक दर्पयुक्त राजा का उदाहरण देते हैं–

दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ता णं मुणी चरे ।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो, सक्खं सक्केण चोइओ ॥ ४४ ॥

दशार्णराज्यं मुदितं, त्यक्त्वा मुनिरचरत् ।
दशार्णभद्रो निष्क्रान्तः, साक्षाच्छक्रेण नोदितः ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः–**दसण्ण**–दशार्ण देश का, **रज्जं**–राज्य, **मुइयं**–प्रमोद वाला-उसको, **चइत्ता**–छोडकर, **मुणी**–मुनिवृत्ति मे, **चरे**–विचरता हुआ, **दसण्णभद्दो**–दशार्णभद्र राजा, **निक्खंतो**–धर्म के लिए संसार से निकला, **सक्खं**–साक्षात्, **सक्केण**–शक्रेन्द्र के द्वारा, **चोइओ**–प्रेरित किया हुआ।

मूलार्थ–दशार्ण देश के प्रमोदयुक्त राज्य को छोड़कर दशार्णभद्र नामक राजा साक्षात् इन्द्र के द्वारा प्रेरित किया गया धर्म के लिए संसार से निकला, अर्थात् प्रमोदपूर्ण राज्यवैभव को त्यागकर धर्म में दीक्षित हो गया।

टीका–एक समय महाराजा दशार्णभद्र की राजधानी से बाहर के किसी उद्यान में भगवान् महावीर स्वामी पधारे, तब उनको वन्दनार्थ जाने का विचार करते हुए उक्त राजा के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि मै आज इस प्रकार के समारोह के साथ जाकर भगवान् को वन्दना करूं कि जिस प्रकार से आज तक किसी ने न की हो। तदनुसार महाराज दशार्णभद्र बड़े समारोह से अपनी चतुरंगिणी सेना को साथ लेकर बडे अभिमान से भगवान् के दर्शन को प्रस्थित हुआ।

इधर शक्रेन्द्र ने भी राजा दशार्णभद्र के भावों का उपयोग देकर अपने ज्ञान में देखा और विचारा कि भगवान् तो इन्द्रादि देवों के भी पूज्य हैं तो फिर इसने अपनी समृद्धि का व्यर्थ ही अभिमान क्यों किया? अस्तु, मैं आज इसके अभिमान को चूर करूंगा।

तब शक्र ने वैक्रिय लब्धि के द्वारा अनेकानेक हस्तियो पर अनेक प्रकार की रचनाये करके राजा को व्यामोहित कर दिया।

परन्तु महाराजा दशार्णभद्र भी बड़ा ही दृढ़प्रतिज्ञ था, उसने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण कर ली, तब इन्द्र ने उनके चरणों में वन्दना की और अपने अपराध की क्षमा मागी। तदनन्तर तप और संयम का भली-भांति आराधन करते हुए दशार्णभद्र मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार से

दशार्णदेश के राज्य को छोड़कर इन्द्र द्वारा प्रेरित किए जाने पर महाराजा दशार्णभद्र दीक्षित हुए थे।

अब प्रत्येकबुद्धों के विषय में कहते हैं–

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।
जहित्ता रज्जं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥ ४५ ॥

नमिर्नामयत्यात्मानं, साक्षाच्छक्रेण नोदितः ।
त्यक्त्वा राज्यं वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः–**नमी**–नमि राजा ने, **अप्पाणं**–आत्मा को, **नमेइ**–नम्र किया, **सक्खं**–प्रत्यक्ष, **सक्केण**–शक्र के द्वारा, **चोइओ**–प्रेरित किए जाने पर, **जहित्ता**–छोड़ कर, **वइदेही**–विदेह देश के, **रज्जं**–राज्य को, **सामण्णे**–श्रमण भाव मे–सयम भाव मे, **पज्जुवट्ठिओ**–सावधान हुआ।

मूलार्थ–नमि राजा ने इन्द्र के द्वारा प्रत्यक्षरूप से प्रेरित किए जाने पर विदेह देश के राज्य का परित्याग करके सयमवृत्ति को धारण किया और अन्त में वह मोक्ष को गए।

टीका–इस गाथा मे राजर्षि नमि का उल्लेख किया गया है। इसका सम्पूर्ण वृत्तान्त अर्थात् अन्तःपुर मे होने वाले ककणो के शब्दो को सुनकर वैराग्य उत्पन्न होना तथा जाति स्मरण ज्ञान के अनन्तर दीक्षा के लिए तैयार होने पर ब्राह्मण के वेष मे आकर इन्द्र द्वारा सम्भाषण करना इत्यादि समस्त वर्णन प्रस्तुत सूत्र के नवमे अध्ययन मे आ चुका है।

राजर्षि नमि भी अपने समय के सम्राट्-समूह में मुख्य थे। उन्होंने सासारिक वैभव को छोडकर सयमवृत्ति को धारण किया और आत्मलिप्त कर्ममल को धोकर कैवल्य-प्राप्ति द्वारा मोक्षस्थान को अलकृत किया।

अन्य प्रतियो मे प्रस्तुत गाथा के तृतीय पाद के–'**जहित्ता रज्जं**' के स्थान पर–'**चइऊण गेहं**' ऐसा पाठ देखने मे आता है और वर्तमान में प्रायः यही पाठ मान्य सा हो गया है।

अब प्रसंगवशात् चारों प्रत्येकबुद्धों के विषय में कहते हैं–

करकंडू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो ।
नमी राया विदेहेसु, गन्धारेसु य नग्गई ॥ ४६ ॥

करकण्डुः कलिंगेषु, पंचालेषु च द्विमुखः ।
नमी राजा विदेहेषु, गन्धारेषु च निर्गतिः ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–**करकंडू**–करकडू राजा, **कलिंगेसु**–कलिंगदेश में हुआ, **य**–और, **पंचालेसु**–

पचाल देश में, **दुम्मुहो**–द्विर्मुख राजा हुआ, **नमी राया**–नमि राजा, **विदेहेसु**–विदेह देश में, **य**–और, **गंधारेसु**–गन्धार देश में, **नग्गई**–निग्गति–निर्गति राजा हुआ।

मूलार्थ–कलिंगदेश में करकंडू, पंचालदेश में द्विर्मुख, विदेहदेश में नमि और गन्धार देश में नग्गति नाम का राजा हुआ। (ये सब राजपाट को छोड़कर जैनधर्म में दीक्षित हुए।) और संयम को पालकर मोक्ष को प्राप्त हो गए।

टीका–इस गाथा में चारों प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख किया गया है। इनमें कलिंगदेश के करकडू को वृद्धवृषभ के दर्शन से वैराग्य उत्पन्न हुआ था, पंचालदेश के द्विर्मुख को इन्द्रस्तम्भ के देखने से वैराग्य हुआ तथा नमि राजा ने चूड़ियों के शब्दों को सुनकर संसार का परित्याग कर दिया और गन्धार देश के नग्गति राजा आम्रवृक्ष को देखकर वैराग्यवश दीक्षित हो गए। इस प्रकार ये चारो ही प्रत्येकबुद्ध सयम-वृत्ति मे आरूढ़ होते हुए अन्त में मोक्ष को प्राप्त हो गए।

इनके विषय का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रस्तुत सूत्र की वृहद् टीकाओं में देखा जा सकता है।

उक्त गाथा में दिया हुआ सप्तमी का बहुवचन एक वचन के स्थान पर समझना, परन्तु वृहद् वृत्तिकार ने उक्त गाथा के पाठ का इस प्रकार से स्वीकार किया है तथा–

'करकंडू कलिंगाणं, पंचालाणं च दुम्मुहो ।
णमी राया विदेहाणं, गंधाराणं च नग्गई ।

यहा पर सभी पद षष्ठ्यन्त दिखाए गए है। इसके अतिरिक्त वृहद्वृत्ति में ४५वीं गाथा को प्रक्षिप्त कहा है, क्योंकि उसके भाव का वर्णन नवमें अध्ययन मे स्पष्ट और विस्ताररूप से आ चुका है।

अब इनके विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

एए नरिन्दवसभा, निक्खंता जिणसासणे ।
पुत्ते रज्जे ठवित्ता णं, सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥ ४७ ॥

एते नरेन्द्रवृषभाः. निष्क्रान्ता जिनशासने ।
पुत्रान् राज्ये स्थापयित्वा, श्रामण्ये पर्युपस्थिताः ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः–**एए**–ये सब, **नरिंदवसभा**–नरेन्द्रों में वृषभ के समान श्रेष्ठ, **निक्खंता**–संसार को छोड़कर दीक्षित हुए, **जिणसासणे**–जिन-शासन मे, **पुत्ते**–पुत्रो को, **रज्जे**–राज्य में, **ठवित्ता**–स्थापित करके, **सामण्णे**–श्रमणता में, **पज्जुवट्ठिया**–सावधान हुए, **णं**–वाक्यालकार में।

मूलार्थ–नरेन्द्रों में वृषभ के समान–(श्रेष्ठ) ये समस्त नृपति संसार को छोड़कर

जिनशासन में दीक्षित हुए और पुत्रों को राज्य का भार सौंप कर स्वयं श्रमणवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करके मोक्ष को प्राप्त हो गए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में वैराग्य होने के पश्चात् विचारशील पुरुष को क्या करना चाहिए इस बात का दिग्दर्शन नमि आदि राजाओं के उदाहरण द्वारा कराया गया है। तात्पर्य यह है कि वैराग्य होने के अनन्तर जिस प्रकार इन्होने अपने-अपने राज्य सिंहासन पर पुत्रों को बिठला कर श्रमण-वृत्ति को स्वीकार करके आत्मशुद्धि के द्वारा कैवल्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया, उसी प्रकार प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि वह वैराग्य होने पर अपनी सांसारिक विभूति को अपने किसी उत्तरा-धिकारी को अर्पित करके स्वयं साधुवृत्ति का अनुसरण करता हुआ सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्ग का ही पथिक बनने का प्रयत्न करे।

इस प्रकार इन चारों प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख करके अब सिंधु सौवीर के अधिपति महागजा उदायन के विषय में कहते हैं—

सोवीररायवसभो, चइत्ता णं मुणी चरे ।
उद्दायणो पव्वइओ, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४८ ॥

सौवीरराजवृषभः, त्यक्त्वा मुनिरचरत् ।
उदायनः प्रव्रजितः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः—**सोवीररायवसभो**—सिंधु सौवीर देश का राज-वृषभ—राजाओ मे श्रेष्ठ, **चइत्ता**—राज्य को छोड कर, **मुणी**—मुनिवृत्ति मे, **चरे**—विचरता हुआ, **उद्दायणो**—उदायन राजा, **पव्वइओ**—प्रव्रजित होकर, **अणुत्तरं**—प्रधान, **गइं**—गति को, **पत्तो**—प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—सौवीर देश का राज-वृषभ महाराजा उदायन अपने राज्य-वैभव को त्यागकर और प्रव्रजित होकर मुनिवृत्ति में आरूढ़ होता हुआ सर्वश्रेष्ठ मोक्षगति को प्राप्त हो गया।

टीका—सिधु सोवीर देश का राजा उदायन जा कि उस समय के राजाओं में वृषभ के समान महा बलवान् था, अपने राज्य-पाट को छोड़कर जिन-धर्म मे दीक्षित हो गया। तात्पर्य यह है कि ससार से विरक्त होकर मुनिवृत्ति का आचरण करता हुआ ज्ञान और चरित्र-सम्पन्न होकर मोक्षगति को प्राप्त हुआ।

उदायन राजा भगवान् महावीर स्वामी का परम भक्त और तत्कालीन राजाओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वीतभय-पत्तन इसकी राजधानी थी। एक समय भगवान् महावीर स्वामी विचरते हुए इसकी राजधानी के बाहर एक उद्यान में पधारे। भगवान् के आने का समाचार पाते ही राजा उदायन बड़ी श्रद्धा से भगवान् के दर्शनार्थ गया और वहां पर उनके उपदेशामृत का पान करने से उसको वैराग्य हो गया, अतः राज्य को पाप का हेतु समझकर उसने पुत्र को राज्य न देकर

अपने भागिनेय–भाणजे को राजगद्दी पर बिठलाकर स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली और शुद्ध चरित्र का पालन करके मोक्ष को प्राप्त किया।

अब बलदेव आदि के सम्बन्ध में कहते हैं–

तहेव कासिरायावि, सेओ सच्चपरक्कमो ।
कामभोगे परिच्चज्ज, पहणे कम्ममहावणं ॥ ४९ ॥

तथैव काशिराजोऽपि, श्रेयः सत्यपराक्रमः ।
कामभोगान् परित्यज्य, प्राहन् कर्ममहावनम् ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वयः–तहेव–उसी प्रकार, **कासिरायावि**–काशिराज भी, **सेओ**–श्रेष्ठ, **सच्च**–संयम मे, **परक्कमो**–पराक्रम करने वाला, **कामभोगे**–कामभोगों को, **परिच्चज्ज**–सर्व प्रकार से छोड़कर, **पहणे**–हनता हुआ, **कम्ममहावणं**–कर्मरूप महा वन को।

मूलार्थ–इसी प्रकार काशिराज भी पवित्र संयम में पराक्रम करता हुआ काम-भोगों को त्यागकर कर्म रूप महावन का विनाश करने वाला हुआ, अर्थात् कर्मो का विनाश करके मोक्ष को प्राप्त हुआ।

टीका–इस गाथा में नन्दन नाम के सातवें बलदेव का इतिहास वर्णन किया गया है। काशी नगरी मे अग्निशिख नाम का एक राजा राज्य करता था। उसकी जयंती नाम की एक महारानी थी। उसकी कुक्षि से नन्दन नामा सातवा बलदेव उत्पन्न हुआ। वह अपने छोटे भाई वासुदेव के साथ बहुत काल तक राज्य का सुख भोगकर और दक्षिणार्द्ध भारत का राज्य करके फिर दीक्षित हो गया। दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर उसने अति प्रचण्ड तप का अनुष्ठान करके कर्मरूप महावन को जला डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्षगति को प्राप्त हुआ।

तात्पर्य यह है कि जो प्राणी तप और संयम के अनुष्ठान में पराक्रम करते हैं और काम-भोगो से सर्वथा विमुख हो जाते हैं वे ही पवित्रात्मा कर्मरूप महावन को जड़ से उखाड कर परे फैंकने में समर्थ होते है, जैसे कि नन्दन नामक सातवें बलदव ने कर्मरूप महावन को समूल घात करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया।

अब दूसरे बलदेव के विषय में कहते हैं–

तहेव विजओ राया, अणट्ठाकित्ति पव्वए ।
रज्जं तु गुणसमिद्धं, पयहित्तु महायसो ॥ ५० ॥

तथैव विजयो राजा, आनष्टाकीर्तिः प्राव्राजीत् ।

राज्यं गुणसमृद्धं, प्रहाय महायशाः ॥ ५० ॥

पदार्थान्वयः–**तहेव**–उसी प्रकार, **विजओ राया**–विजय राजा, **अणट्ठाकित्ति**–जिसकी अकीर्ति सर्व प्रकार से नष्ट हो चुकी है, **पव्वए**–दीक्षित हो गया, **रज्जं**–राज्य को, **तु**–जो, **गुणसमिद्धं**–सर्व गुणो से युक्त था उसको, **पयहित्तु**–छोडकर, **महायसो**–महान् यश वाला।

मूलार्थ–इसी प्रकार से उत्तमकीर्ति और महान् यश वाला विजय नामक राजा भी सर्व-गुण-सम्पन्न राज्य को छोड़कर प्रव्रजित हो गया, अर्थात् राज्य को छोड़कर संयम ग्रहण करके केवलज्ञान को प्राप्त करता हुआ मुक्त हो गया।

टीका–इस गाथा में विजय नाम के दूसरे बलदेव की प्रव्रज्या का उल्लेख किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए उसने भी सासारिक विषय-भोगो का परित्याग करके सयम को धारण किया, जिसके फलस्वरूप वह मोक्ष को प्राप्त हुआ।

उक्त गाथा मे जो '**अणट्ठाकित्ति**' पद दिया गया है उसका अर्थ करते हुए वृत्तिकार लिखते है–

'आर्षत्वात्–अनार्तः–आर्तध्यानविकलः, कीर्त्यादीनानाथादिदानोत्थया प्रसिद्धोपलक्षितः सन्। यद्वा अनार्ता–सकलदोषविगमतो अबाधिता कीर्तिरस्येत्यनार्त्तकीर्तिः सन् पठ्यते च 'आणट्ठाकिइपव्वइत्ति' आज्ञा–आगमोऽर्थशब्दस्य हेतुवचनस्यापि दर्शनादर्थो–हेतुरस्याः सा तथा विधा आकृतिरर्थान्मुनिवेषात्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृतिः।'

अर्थात् आर्त्तध्यान से रहित वा आगमोक्त आज्ञा के पालने वाला तथा दीनादि की रक्षा करने से जिसकी कीर्ति सर्व प्रकार से विस्तृत हो रही है इत्यादि।

अब महाबल राजा का चरित्र वर्णन करते हैं यथा–

तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा ।

महब्बलो रायरिसी, अद्दाय सिरसा सिरिं ॥ ५१ ॥

तथैवोग्रं तपः कृत्वा, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।

महाबलो राजर्षिः, आदाय शिरसा श्रियम् ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः–**तहेव**–उसी प्रकार, **उग्गं**–प्रधान, **तवं**–तप, **किच्चा**–करके, **अव्वक्खित्तेण**–अव्याक्षिप्त, **चेयसा**–चित्त से, **महब्बलो**–महाबल, **रायरिसी**–राजर्षि, **अद्दाय**–ग्रहण करके, **सिरसा**–शिर से, **सिरिं**–मोक्षरूप लक्ष्मी को।

मूलार्थ–इसी प्रकार महाबल नामक राजर्षि ने उग्र तप करके अनाकुल चित्त से मोक्षरूप लक्ष्मी को प्राप्त किया।

टीका–प्रस्तुत गाथा में महाबल नाम के राजर्षि का उग्र-तप के अनुष्ठान द्वारा मोक्षरूप लक्ष्मी को प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है, अर्थात् उसने आत्मलिप्त कर्ममल को दूर करने के लिए स्वतः प्राप्त कामभोगादि विषयो का परित्याग करके बडा उग्र तप किया और अन्त में सर्वोत्तम मोक्षश्री को अपने मस्तक पर धारण किया। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के कर्म-बन्धनों को तोड़कर वह मोक्ष को गया।

यहा पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह सब कथन भावी उपचार नैगमनय के मत से किया गया है, क्योंकि महाबल कुमार का वर्णन भगवती–व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के एकादशवे शतक के दशवें उद्देशक में किया गया है, जो सुदर्शन सेठ के पूर्वभव का ही कथन है।

उक्त गाथा में दिया हुआ '**अद्दाय**' यह आर्ष प्रयोग है जो कि '**आदित**' पद के स्थान पर ग्रहण किया गया है तथा यदि '**आदाय**' पद पढ़ा जाए तो उसका '**गृहीत्वा**' यह क्त्वा प्रत्ययान्त प्रतिरूप होगा।

'**सिरसासिरिं**' का तात्पर्य यह है कि उसने सिर देकर मोक्ष लिया अर्थात् सर्वोत्तम केवलज्ञान रूप लक्ष्मी को प्राप्त करके ही छोडा।

इस प्रकार पूर्वोक्त १७ गाथाओं के द्वारा इन महापुरुषों के संयम धारण-विषयक उदाहरण देकर अब दूसरे ज्ञातव्य विषय का वर्णन करते हैं–

कहं धीरो अहेऊहिं उम्मत्तो व महिं चरे ।
एए विसेसमादाय, सूरा दढपरक्कमा ॥ ५२ ॥

कथं धीरोऽहेतुभिः, उन्मत्त इव महीं चरेत् ।
एते विशेषमादाय, शूरा दृढपराक्रमाः ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वयः–**कहं**–कैसे, **धीरो**–धैर्यवान्, **अहेऊहिं**–कुहेतुओं से, **उम्मत्तो**–उन्मत्त, **व**–की तरह, **महिं**–पृथ्वी पर, **चरे**–विचरे, **एए**–ये पूर्व कहे गए (भरतादि राजा), **विसेसं**–विशेषता को, **आदाय**–ग्रहण करके, **सूरा**–शूरवीर, **दढपरक्कमा**–दृढ़ पराक्रम वाले हुए।

मूलार्थ–हे मुने! धैर्यवान् पुरुष, कुहेतुओं से उन्मत्त की तरह क्या पृथ्वी पर विचर सकता है ? अर्थात् नहीं विचर सकता, ये पूर्वोक्त भरतादि महापुरुष इसी विशेषता को लेकर शूरवीर और दृढ़ पराक्रम वाले हुए हैं।

टीका–क्षत्रिय राजर्षि कहते है कि हे मुने ! धैर्यवान् जीव किस प्रकार कुहेतुओ से उन्मत्त

की तरह पृथ्वी पर विचर सकता है ? वह कभी नहीं विचर सकता, अर्थात् विचारशील पुरुष उन्मत्त की तरह कदापि असम्बद्ध भाषण नहीं कर सकता। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे उन्मादग्रस्त जीव के शब्द अर्थ-शून्य होते हैं उसी प्रकार इन क्रियावादी मतो के विचार भी तत्त्व से शून्य हैं तथा मोक्ष-मार्ग के प्रतिकूल है। इसी बात को जानकर इन पूर्वोक्त भरतादि महापुरुषों ने इन मतो की उपेक्षा करके जिन-शासन में जो विशेषता थी उसको समझा और तदनुसार आचरण करते हुए वे शूरवीर और दृढ पराक्रमी हुए, अर्थात् सयम का भली-भांति आराधन करके मोक्ष को गए।

हे मुने ! जैसे उन्होने जिन-शासन मे अपने चित्त को स्थिर करके अभीष्ट पद को प्राप्त किया, उसी प्रकार तृ भी उक्त शासन मे अपने चित्त को स्थिर करके विचरता हुआ अभीष्ट पद को प्राप्त करने का यत्न कर।

साराश यह है कि सयम-वृत्ति को ग्रहण करके बड़ी सावधानी से विचरना चाहिए, किन्तु उन्मत्त की तरह विचरना ठीक नही, तथा जिस प्रकार उन्मत्त का कथन प्रामाणिक नहीं होता उसी प्रकार इन प्रवादियो के विचार भी विश्वास करने के योग्य नही होते।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अच्चन्तनियाणखमा, एसा मे भासिया वई ।
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्सन्ति अणागया ॥ ५३ ॥

अत्यन्तनिदानक्षमा, एषा मया भाषिता वाक् ।
अतारीषुस्तरन्त्येके, तरिष्यन्त्यनागताः ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वयः—अच्चन्त—अत्यन्त, **नियाण**—कारण से, **खमा**—क्षमा-समर्थ, **एसा**—यह, **मे**—मैने, **वई**—वाणी, **भासिया**—भाषण की, **अतरिंसु**—भूतकाल मे तर गए, **एगे**—कई एक, **तरिस्सन्ति**—तरेंगे, **अणागया**—अनागतकाल मे, **तरंतेगे**—और कई एक वर्तमान काल में तर रहे हैं।

मूलार्थ—कर्म-मल के शोधन में अत्यन्त समर्थ यह वाणी मैंने तुम्हारे प्रति कही है, इस वाणी के द्वारा भूतकाल में अनेक जीव तर गए, भविष्यकाल में अनेक तरेंगे और वर्तमान में अनेक तर रहे हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा का निर्देश जिन-शासन की महिमा बताने के निमित्त से किया गया है और अपने कथन को प्रामाणिक सिद्ध करन के लिए भी उक्त गाथा का उल्लेख हुआ है। क्षत्रिय ऋषि कहते है कि हे मुने ! मैने जिस वाणी का उपदेश आपके समक्ष किया है वह कर्ममल के शोधन की अत्यन्त सामर्थ्य रखने वाली है, अर्थात् कर्ममल को आत्मा से पृथक् करने में वह

विशेष शक्ति रखती है। अधिक क्या कहें जिन-शासन की सर्व प्रकार से अनुकूलता रखने वाली इस वाणी के प्रभाव से अनेक जीव तर गए, अनेक तरेंगे और वर्तमान में अनेक तर रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि दुस्तर संसार-समुद्र से पार करने के लिए इस वाणी रूप नौका का जो भी कोई जीव आश्रय लेता है उसके पार होने में कोई भी सन्देह नहीं।

इसके अतिरिक्त इस गाथा के दूसरे पाद में आए हुए **'एसा'** पद के स्थान में किसी-किसी प्रति में **'सव्वा'** और **'सच्चा'** यह दो पाठान्तर भी देखने में आते है जिनका क्रम से ''सबका हित करने वाली'', और ''सच्ची वाणी'' यह अर्थ है। तथा–जिन वाणी ही आत्मलिप्त कर्ममल को दूर करने में समर्थ है और कोई नहीं, यही इस गाथा का ध्वनित अर्थ है।

इसलिए उक्त अर्थ का निगमन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–

कहं धीरे अहेऊहिं, अद्दाय परियावसे ।
सव्वसंगविनिम्मुक्को, सिद्धे भवइ नीरए ॥ ५४ ॥
त्ति बेमि ।
इति संजइज्जं समत्तं ॥ १८ ॥

कथं धीरोऽहेतुभिः, आदाय पर्यावासयेत् ।
सर्वसंगविनिर्मुक्तः, सिद्धो भवति नीरजः ॥ ५४ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति संयतीयं समाप्तं ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–कहं–कैसे, **धीरे**–धैर्यवान, **अहेऊहिं**–कुहेतुओं को, **अद्दाय**–ग्रहण करके, **परियावसे**–उनमें–कुहेतुओं में–बसे ? अपितु नहीं, किन्तु, **सव्व**–सर्व, **संग**–सग से, **विनिम्मुक्को**–विनिर्मुक्त होकर, **सिद्धे**–सिद्ध, **भवइ**–होता है, **नीरए**–कर्ममल से रहित, **त्ति**–इस प्रकार, **बेमि**–कहता हूँ। यह संयताध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ–बुद्धिमान् पुरुष इन कुहेतुओं में–क्रियावादादिमतों में किस प्रकार रह सकता है, अर्थात् नहीं रह सकता, किन्तु सर्व प्रकार के संग से रहित हुआ पुरुष कर्ममलों से रहित होकर सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका–प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य यह है कि जो विचारशील पुरुष हैं वे क्रियावादी आदि मतो के कुहेतुओं को ग्रहण नहीं करते और न ही उनके विशेष परिचय में आते हैं, किन्तु सर्व प्रकार के संसर्ग से मुक्त होकर ज्ञान-पूर्वक चरित्र का सम्यक् आराधन करके कर्म-मल से सर्वथा रहित होते हुए सिद्धगति को प्राप्त हो जाते है।

उक्त गाथा के दूसरे पाद का **'अत्ताणं परियावसे'** ऐसा पाठ भी है **आत्मानं पर्यावासयेत्**–अर्थात् कौन बुद्धिमान् पुरुष कुहेतुओं से अपनी आत्मा को अहित–अनिष्ट स्थान में निवास करने के लिए प्रेरित करेगा? अपितु कोई भी बुद्धिमान् पुरुष ऐसा नहीं कर सकता।

तात्पर्य यह है कि जो विचारशील पुरुष होते हैं वे अपनी आत्मा के अहित में कभी प्रवृत्त नही होते, किन्तु जिस स्थान में आत्मा का हित हो उसी में वे आत्मा को रखते हैं। इसी आशय से उक्त गाथा में **'सव्वसंगविनिमुक्को'** यह पढ़ा गया है, अर्थात् विचारशील पुरुष सर्व प्रकार के संग से मुक्त होकर सिद्धपद को प्राप्त हो जाते हैं। द्रव्यसंग माता-पिता आदि का है और भावसग मिथ्यात्वादि का है। तथा यहां पर पुनः-पुनः जो अहेतु पद दिया है उसका अभिप्राय यह है कि अहेतु अज्ञान का कारण है और हेतु से सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है।

इस प्रकार संजयमुनि को उपदेश देकर क्षत्रिय ऋषि तो विहार कर गए और सजयमुनि तप-संयम के अनुष्ठान द्वारा आत्मशुद्धि करते हुए अन्त मे मोक्षगति को प्राप्त हो गए।

सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि जिस प्रकार मैने भगवान् से सुना उसी प्रकार मैंने तेरे प्रति कह दिया है।

अष्टादशमध्ययनं सम्पूर्णम्

अह मियापुत्तीयं एगूणवीसइमं अज्झयणं

मृगापुत्रीयमेकोनविंशतितममध्ययनम्

गत अठारहवें अध्ययन में भोग और ऋद्धि के त्याग के विषय मे कहा गया है। यद्यपि भोग और ऋद्धि के त्याग से श्रमणभाव की उत्पत्ति तो हो जाती है, परन्तु साधुवृत्ति में जो शरीर का प्रतिक्रम नहीं करता वह और भी प्रशंसनीय होता है, अत: इस उन्नीसवें अध्ययन में शरीर का प्रतिक्रम न करने वाले एक महान् मुनीश्वर की चर्या का वर्णन किया जाता है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है, यथा--

सुग्गीवे नयरे रम्मे, काणणुज्जाणसोहिए ।
राया य बलभद्दे त्ति, मिया तस्सग्गमाहिसी ॥ १ ॥

सुग्रीवे नगरे रम्ये, काननोद्यानशोभिते ।
राजा च बलभद्र इति, मृगा तस्याग्रमहिषी ॥ १ ॥

पदार्थान्वय::--**सुग्गीवे**--सुग्रीवनामक, **नयरे**--नगर, **रम्मे**--रमणीय जो, **काणण**--स्वभावत: उत्पन्न वृक्षों से, **उज्जाण**--क्रीडा-आरामों से, **सोहिए**--सुशोभित--उसमें, **राया**--राजा, **बलभद्दे**--बलभद्र, **त्ति**--इस नाम वाला, **मिया**--मृगा नाम वाली, **तस्स**--उसकी, **अग्गमाहिसी**--पट्टराणी थी।

मूलार्थ--अनेकविध काननों और उद्यानादि से सुशोभित सुग्रीव नामक नगर में बलभद्र नाम का राजा था और मृगा नाम की उसकी पट्टरानी थी।

टीका--इस गाथा में बलभद्र नाम के राजा की सुग्रीव नामक राजधानी और उसकी मृगा नाम की अग्रमहिषी का उल्लेख किया गया है। सुग्रीव नगर अनेक प्रकार के वनों-उपवनो से

सुशोभित था और नानाविध क्रीड़ा के उद्यानों से युक्त था। जो उद्यान नागरिकों की क्रीड़ा के लिए निर्माण किए जाते हैं उन्हें 'आराम' कहते हैं। सुग्रीव नगर बलभद्र राजा की राजधानी थी। वह राजा बडा ही न्याय-सम्पन्न और प्रजाप्रिय था, उसकी मृगा नाम्नी परमसुशीला और पतिव्रता भार्या थी।

अब सन्तति के विषय में कहते हैं–

तेसिं पुत्ते बलसिरी, मियापुत्ते त्ति विस्सुए ।
अम्मापिऊण दइए, जुवराया दमीसरे ॥ २ ॥

तयोः पुत्रो बलश्रीः, मृगापुत्र इति विश्रुतः ।
अम्बापित्रोर्दयितः, युवराजो दमीश्वरः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–**तेसिं**–उन दोनो का, **पुत्ते**–पुत्र, **बलसिरी**–बलश्री नामक, **मियापुत्ते**–मृगापुत्र, **त्ति**–इस प्रकार, **विस्सुए**–विख्यात हुआ, **अम्मापिऊण**–माता-पिता को, **दइए**–प्यारा था, **जुवराया**–युवराज था, **दमीसरे**–दमीश्वर था।

मूलार्थ–उन दोनों का 'बलश्री' नाम का एक पुत्र था, किन्तु लोगों में वह 'मृगापुत्र' के नाम से विख्यात था, वह माता-पिता को बहुत प्यारा था, वह युवराज तथा दमीश्वर अर्थात् शत्रु-दमन में कुशल था।

टीका– इन दोनों के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'बलश्री' रखा गया, परन्तु संसार मे वह 'मृगापुत्र' के नाम से विख्यात हुआ, क्योंकि महाराज बलभद्र रानी के स्नेह के कारण जब उसे 'मृगा-पुत्र' कहकर पुकारने लगे तब लोगों मे भी वह उसी नाम से प्रसिद्ध हो गया।

मृगापुत्र अपने माता-पिता को अतीव प्रिय था और युवराज की पदवी से वह अभिषिक्त किया गया था तथा जो राजा लोग उद्धत थे उनके दमन करने में समर्थ होने से वह दमीश्वर कहलाता था।

इसके अतिरिक्त भावी नैगमनय के अनुसार इन्द्रियों का दमन करन वाले जो साधु महात्मा हें उनका भी ईश्वर अर्थात् उनसे भी बढ़कर इन्द्रियो का दमन करने वाला होने से वह दमीश्वर कहलाया। इस कथन से मृगापुत्र क आत्मा की विशिष्टता ध्वनित होती है।

अब मृगापुत्र की सुख-सम्पत्ति के विषय में कहते हैं–

नन्दणे सो उ पासाए, कीलए सह इत्थिहिं ।
देवो दोगुन्दगो चेव, निच्चं मुइयमाणसो ॥ ३ ॥

नन्दने स तु प्रासादे, क्रीडति सह स्त्रीभिः ।
देवो दोगुन्दकश्चेव, नित्यं मुदितमानसः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**नन्दणे**—नन्दन नाम के, **पासाए**—प्रासाद में, **स**—वह मृगापुत्र, **उ**—वितर्क अर्थ में है, **कीलए**—क्रीड़ा करता है, **इत्थिहिं**—स्त्रियों के, **सह**—साथ, **दोगुन्दगो**—दोगुन्दक, **देवो**—देव, **इव**—की तरह, **च**—पादपूर्ति में, **निच्चं**—सदा, **मुइय**—प्रसन्न, **माणसो**—मन मे।

मूलार्थ—जैसे दोगुन्दक देव स्वर्ग में सुखों का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार वह मृगापुत्र भी अपने नन्दन नामक सर्व लक्षणोपेत प्रासाद में स्त्रियों के साथ सदैव प्रसन्नचित्त होकर क्रीड़ाएं करता था।

टीका—इस गाथा में मृगापुत्र के भोग-विलास-जन्य सुख का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे दोगुन्दक संज्ञा वाले देव स्वर्ग के विलक्षण सुखों का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार मृगापुत्र भी प्रसन्नचित्त से सासारिक विषय-भोगों का सम्पूर्ण रूप से अनुभव कर रहा था।

दोगुन्दक देवों में सुखो के अनुभव के समय मे किसी प्रकार के विघ्न की आशंका नहीं रहती, क्योंकि वे इन्द्र के गुरु स्थान में होते हैं, अतः उन पर किसी का शासन नहीं चल सकता, किन्तु उनसे प्रार्थना ही की जाती है। तथाहि—**'दोगुन्दगाश्च त्रायस्त्रिंशाः। तथा च वृद्धाः—'त्रायस्त्रिंशा देवा नित्यं भोगपरायणा दोगुन्दगा इति भणंति'** अर्थात्—सदा भोगपरायण जो त्रायस्त्रिंशत् देव है उनकी दोगुन्दग सज्ञा है।

यहा पर गाथा में आया हुआ प्रासाद का विशेषण जो 'नन्दन' शब्द है वह राजभवन की विलक्षणता का द्योतक है और **'मुदितमानसः'** के कहने से सातावेदनीय कर्म के फल का प्रदर्शन होता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

मणिरयणकुट्टिमतले, पासायालोयणे ठिओ ।
आलोएइ नगरस्स, चउक्कत्तियचच्चरे ॥ ४ ॥

मणिरत्नकुट्टिमतले, प्रासादालोकनस्थितः ।
आलोकयति नगरस्य, चतुष्कत्रिकचत्वरान् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**मणिरयण**—मणिरत्न, **कुट्टिमतले**—कुट्टिमतल से युक्त, **पासाय**—प्रासाद के, **आलोयणे**—खिड़की में, **ठिओ**—स्थित होकर, **आलोएइ**—देखता है, **नगरस्स**—नगर के, **चउक्क**—चतुष्पथ को, **त्तिय**—त्रिपथ को और, **चच्चरे**—बहुपथो को।

मूलार्थ—किसी समय वह मृगापुत्र मणिरत्नादि से युक्त प्रासाद की खिड़की में स्थित होकर नगर के चतुष्पथ (चौराहे) त्रिपथ और बहुपथों को कौतूहल से देख रहा था।

टीका–किसी समय मृगापुत्र अपने निवास-भवन की खिडकी में खड़ा होकर नगर का अवलोकन करने लगा। उसका निवास-भवन चन्द्रकान्त आदि मणियो तथा गोमेद आदि रत्नों से पूर्णतया शोभायमान था।

जहा पर चार मार्ग आकर मिलें उसको चतुष्क (चौंक) और जहा पर तीन मार्ग मिलें उसे त्रिक एवं जहां पर अनेक मार्ग इकट्ठे हो उसको चत्वर कहते है। साराश यह है कि वह राजकुमार अपने रमणीय भवन पर से नगर के हर एक विभाग को भली प्रकार से देखता था। प्रस्तुत गाथा मे राज भवन के सौन्दर्य और पुण्यात्मा के निवास का प्रासंगिक दिग्दर्शन कराया गया है।

राज-भवन से नगर को देखने के अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय का वर्णन करते हैं–

अह तत्थ अइच्छन्तं, पासई समणसंजयं ।
तवनियमसंजमधरं, सीलड्ढं. गुणआगरं ॥ ५ ॥

अथ तत्रातिक्रामन्तं, पश्यति संयतश्रमणम् ।
तपोनियमसंयमधरं, शीलाढ्यं गुणाकरम् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–अह–तदनन्तर, **तत्थ**–वहां पर, **अइच्छन्तं**–चलते हुए, **समण**–श्रमण, **संजयं**–सयत को, **पासई**–देखता है जो, **तव**–तप, **नियम**–नियम, **संजम**–सयम के, **धरं**–धरने वाला, **सीलड्ढं**–शीलयुक्त और, **गुणआगरं**–गुणो की खान है।

मूलार्थ–तदनन्तर वहां पर उसने एक संयमशील श्रमण–साधु को देखा जो कि तप-नियम और संयम को धारण करने वाला शीलयुक्त और गुणों की खान था।

टीका–जिस समय वह राजकुमार अपने निवास-भवन की खिडकी मे खडा होकर नगर को देख रहा था उस समय उसने राजमार्ग मे चलत हुए एक सयमशील साधु को देखा। वह साधु परम तपस्वी था, अर्थात् द्वादशविध तप के आचरण करने वाला तथा अभिग्रहादि नियमों का पालक, सत्रहभेदी सयम का धारक एवं शील-सम्पन्न और ज्ञानादि गुणो का आकर था।

इसके अतिरिक्त सूत्र मे जो 'श्रमण' शब्द के साथ 'सयत' विशेषण दिया है उसका तात्पर्य बौद्धादि भिक्षुओं की निवृत्ति से है, क्योंकि सामान्यरूप से श्रमण शब्द का बौद्ध भिक्षुओं मे भी व्यवहार होता है, इसलिए श्रमण शब्द के साथ सयत विशेषण लगा दिया गया है ताकि श्रमण शब्द से यहा पर जैन साधुओ का ही ग्रहण हो और उनके गुणों का भी प्रदर्शन हो सके।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं–

तं पेहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाइ उ ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥ ६ ॥

तं पश्यति मृगापुत्रः, दृष्ट्याऽऽनिमेषया तु ।
क्व मन्य ईदृशं रूपं, दृष्टपूर्वं मया पुरा ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—तं—उस मुनि को, **पेहई**—देखता है, **मियापुत्ते**—मृगापुत्र, **अणिमिसाइ**—अनिमेष, **दिट्ठीए**—दृष्टि से, **उ**—एवार्थक, **कहिं**—कहा, **मन्ने**—मैं जानता हूं, **एरिसं**—इस प्रकार का, **रूवं**—आकार, **दिट्ठपुव्वं**—पूर्वदृष्ट है, **मए**—मैंने, **पुरा**—पूर्वजन्म में देखा है।

मूलार्थ—उस मुनि को वह मृगापुत्र निर्निमेष दृष्टि से देखने लगा और मन में सोचने लगा कि मैं मानता हूं कि इस प्रकार का रूप मैंने पहले कहीं पर अवश्य देखा है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे ध्यान से स्मृति-ज्ञान की उत्पत्ति अथवा प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान से पूर्वजन्म की स्मृति के होने का दिग्दर्शन कराया गया है। अपनी मुनिवृत्ति के अनुसार गमन करते हुए उस मुनि को मृगापुत्र ने निरन्तर एकटक होकर देखा और मुनि के वेष को देखकर उसके मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार का वेष तो मैंने पहले भी कहीं देखा है, ऐसा मुझे इस वेष के देखने से प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि साधु के वेष को देखकर उसे पूर्वदृष्ट साधुवेश की स्मृति हो आई

वास्तव मे एकान्तचित्त होकर प्रत्यभिज्ञाज्ञान से जो विचार किया जाता है वह प्रायः सफल ही होता है, परन्तु इसमें भावशुद्धि की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। सालम्बन ध्यान मे दृष्टि की अनिमेषता ही सबसे अधिक आवश्यक है, यह भाव उक्त गाथा से स्पष्ट व्यक्त होता है।

किसी-किसी प्रति में **'पेहई'** के स्थान में **'देहई'** ऐसा पाठ भी देखने में आता है जो कि **'पश्यति'** के स्थान पर आदेश किया हुआ है।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी के सम्बन्ध में कहते हैं—

साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणंमि सोहणे ।
मोहं गयस्स सन्तस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं ॥ ७ ॥

साधोर्दर्शने तस्य, अध्यवसाने शोभने ।
गतमोहस्य सतः, जातिस्मरणं समुत्पन्नम् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—साहुस्स—साधु के, **दरिसणे**—दर्शन होने पर, **तस्स**—उस मृगापुत्र के, **सोहणे**—शोभन, **अज्झवसाणंमि**—अध्यवसान होने पर, **मोहं गयस्स**—मैने कहीं पर इसको देखा है इस

प्रकार की चिन्ता से निर्मोहता को, **संतस्स**—प्राप्त हो जाने पर, **जाईसरणं**—जाति-स्मरण-ज्ञान, **समुप्पन्नं**—उत्पन्न हो गया।

मूलार्थ—साधु के दर्शन होने के अनन्तर मोह-कर्म के कुछ दूर होने पर तथा अन्तःकरण में सुन्दर भावों के उत्पन्न होने से मृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

टीका—साधु मुनिराज के दर्शन करने के अनन्तर मृगापुत्र के आंतरिक परिणामों में बहुत शुद्धि हो गई। उसके कारण मृगापुत्र को जो मोह उत्पन्न हो रहा था—'कि मैंने इसको प्रथम कही पर देखा है'—उसमे क्षयोपशमभाव उत्पन्न होने से उसको जाति-स्मरण-ज्ञान उत्पन्न हो गया।

तात्पर्य यह है कि जब उसने एकाग्रचित से विचार किया तब पूर्वजन्म को आवरण करने वाले कर्म-दल क्षयोपशमभाव मे आ गए और जाति-स्मरण ज्ञान को उन्होने उत्पन्न कर दिया। जब एकाग्रचित्तवृत्ति से ध्यान किया जाए तब बहुत से कर्म क्षय अथवा क्षयोपशमभाव को प्राप्त हो जात है जिसके परिणामस्वरूप आत्मगुणो का विकास होता है।

जातिस्मरण ज्ञान होने पर मृगापुत्र ने क्या देखा, अब इसी विषय में कहते हैं—

देवलोगचुओ संतो, माणुसं भवमागओ ।
सन्निनाणसमुप्पन्ने, जाइं सरइ पुराणयं ॥ ८ ॥

देवलोकच्युतः सन्, मानुषं भवमागतः ।
संज्ञिज्ञानसमुत्पन्नो, जातिं स्मरति पौराणिकीम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—देवलोग—देवलोक से, **चुओ**—च्युत, **संतो**—होकर, **माणुसं**—मनुष्य के, **भवं**—भव मे, **आगओ**—आ गया हूं, **सन्निनाण**—संज्ञीज्ञान के, **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हो जाने पर, **जाइं**—जाति की, **सरइ**—स्मृति करने लगा, **पुराणयं**—पूर्वजन्म की।

मूलार्थ—मैं देवलोक से च्युत होकर मनुष्य के भव में आ गया हूं ऐसा संज्ञीज्ञान हो जाने पर मृगापुत्र पूर्वजन्म का स्मरण करने लगा।

टीका—मृगापुत्र का जब जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया तब उसने ज्ञान में देखा कि मै देवलाक से च्युत होकर अब मनुष्य के जन्म मे आ गया हूं, क्योंकि सज्ञी ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर पूर्व-जन्म की स्मृति ठीक हो जाती है, सज्ञी ज्ञान जातिस्मरण ज्ञान का ही अपर नाम है। इस ज्ञान के द्वारा सज्ञी-(मनवाले) जन्मो की बातों की स्मृति हो जाती है। वृद्ध आम्नाय मे कहते है कि—इस ज्ञान वाला अपने उत्कृष्ट नौ सौ सज्ञी जन्मों को देख सकता है।

यहा इतना और समझ लेना चाहिए कि जो जन्म गर्भज है उन्हें तो वह देख सकता है, परन्तु जो समूर्च्छिम है उनको नही देख सकता। हां, समूर्च्छिम को छोडकर वह संज्ञी जन्मो को

देखता चला जाएगा। बहुत से जीवों को यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इसका कारण प्रत्यभिज्ञान ही है।

बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को प्रक्षिप्त माना है।

जाति-स्मरण ज्ञान के उत्पन्न होने पर मृगापुत्र ने अपने ज्ञान में क्या देखा, अब इसका वर्णन करते हैं–

जाइसरणे समुप्पन्ने, मियापुत्ते महिड्ढिए ।
सरइ पोराणियं जाइं, सामण्णं च पुराकयं ॥ ९ ॥

जातिस्मरणे समुत्पन्ने, मृगापुत्रो महर्द्धिकः ।
स्मरति पौराणिकीं जातिं, श्रामण्यं च पुराकृतम् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–जाइसरणे–जातिस्मरण के, **समुप्पन्ने**–उत्पन्न हो जाने पर, **मियापुत्ते**–मृगापुत्र, **महिड्ढिए**–महान् समृद्धि वाला, **सरइ**–स्मरण करता है, **पोराणियं**–पूर्व, **जाइं**–जाति को, **च**–और, **सामण्णं**–श्रमण भाव को, जो, **पुराकयं**–पुराकृत है।

मूलार्थ–महती समृद्धि वाला वह मृगापुत्र, जाति-स्मरण ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्व की जाति और पूर्वकृत संयम का स्मरण करता है।

टीका–जातिस्मरण ज्ञान होने पर मृगापुत्र को अपने पूर्वजन्म के कृत्यों का स्मरण होने लगा, क्योंकि इस ज्ञान वाला पुरुष अपने ज्ञान में जिस समय अपने पूर्वजन्म को देखता है, उस समय उसको उस जन्म के सभी कृत्यो का भान होने लगता है। इसलिए मृगापुत्र ने जिस समय मुनि के रूप को देखा और उसके देखने से उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी समय उसको अपने पूर्वजन्म के ज्ञान के साथ ही ग्रहण किए हुए मुनिवेष का भी भान हो गया, अतः पूर्वजन्म की स्मृति के साथ ही उसको अपने श्रमण-भाव का भी ज्ञान हो गया, जिसको कि उसने पूर्वजन्म मे स्वीकार किया था।

पूर्वजन्म की धारण की हुई श्रमणता का ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसने क्या किया, अब इसी विषय का वर्णन किया जाता है–

विसएसु अरज्जंतो, रज्जंतो संजमम्मि य ।
अम्मापियरमुवागम्म, इमं वयणमब्बवी ॥ १० ॥

विषयेष्वरज्यन्, रज्यन् संयमे च ।
अम्बापितरावुपागम्य, इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**विसएसु**—विषयों में, **अरज्जंतो**—राग न करता हुआ, **य**—और, **संजमम्मि**—संयम मे, **रज्जंतो**—राग करता हुआ, **अम्मापियरं**—माता-पिता के पास, **उवागम्म**—आकर, **इमं**—यह, **वयणं**—वचन, **अब्बवी**—कहने लगा।

मूलार्थ—मृगापुत्र विषयों से विरक्त और संयम में अनुरक्त होता हुआ, माता-पिता के पास आकर वक्ष्यमाण वचन कहने लगा।

टीका—जाति-स्मरण ज्ञान होने के अनन्तर जब मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्म में ग्रहण किए हुए श्रमण-भाव को देखा तो उसे सांसारिक विषय-भोगों से उपरामता हो गई और सयम मे अनुराग पैदा हो गया। तात्पर्य यह है कि विषयो से उपरति होने के साथ ही संयम-ग्रहण मे अभिरुचि बढ गई और माता-पिता के पास आकर वह इस प्रकार कहने लगा।

उक्त गाथा में जो विषय वर्णित किया गया है उससे यह स्पष्ट व्यक्त हो जाता है कि इस जीव को जब विषयों से विरक्ति हो जाती है तब उसका चित्त मोक्ष के साधनभूत दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सम्पादन की ओर बढ़ने लगता है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषों के हृदय से विषयवासना का समूल नाश हो जाता है।

मृगापुत्र ने माता-पिता के पास जाकर जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं—

सुयाणि मे पंच महव्वयाणि, नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु ।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ, अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो! ॥ ११ ॥

श्रुतानि मया पंच महाव्रतानि, नरकेषु दुःखं च तिर्यग्योनिषु ।
निर्विण्णकामोऽस्मि महार्णवात्, अनुजानीत प्रव्रजिष्यामि मातः! ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**सुयाणि**—सुने है, **मे**—मैने, **पंच महव्वयाणि**—पांच महाव्रत, **नरएसु**—नरको के, **दुक्खं** -दुःख, **च**—और, **तिरिक्खजोणिसु**—तिर्यग् योनियो के दुःख अतः, **महण्णवाओ**—ससाररूप समुद्र से, **निव्विण्णकामो मि**—मै निवृत्त होने की कामना वाला हो गया हूं, अतः **अम्मो**—हे माता! **पव्वइस्सामि**—मै दीक्षित होऊंगा, **अणुजाणह**—मुझे आज्ञा दो।

मूलार्थ—हे मात ! मैंने पांच महाव्रतों को तथा नरक और तिर्यग्-योनि के दुःखों को सुना है, अतः मैं इस संसार रूपी समुद्र से निवृत्त होने का अभिलाषी हो गया हूं, मुझे आज्ञा दीजिए ताकि मैं दीक्षित हो जाऊं।

टीका—माता-पिता के पास आकर मृगापुत्र ने कहा कि मैंने पूर्वजन्म मे पालन किए हुए पांच महाव्रतो को जान लिया है तथा नरको मे अनुभव किए हुए दुःखों और पशुयोनि में भोगे हुए कष्टो को—उपलक्षण से देव और मनुष्य योनि के सयोग-वियोग-जन्य दुःखो को अच्छी तरह

से स्मरण कर लिया है, अतः मै इस संसार से निवृत्त होने की अभिलाषा रखता हूं। आप मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं दीक्षा ग्रहण करके संयम का आराधन करता हुआ इन सांसारिक दुःखों से सदा के लिए छूटने का प्रयत्न करूं।

उक्त गाथा में जो माता का सम्बोधन दिया है, उसका तात्पर्य माता की पूज्यता प्रकट करना है और 'श्रुतानि' यह पूर्व जन्म की अपेक्षा से जानना, अर्थात् पूर्वजन्म में मैने पांच महाव्रतों का श्रवण किया है, तथा संसार में जो किंचिन्मात्र सुख भी है वह भी वस्तुतः दुःखरूप ही है। यही गाथा का फलितार्थ है।

प्रव्रज्या का हेतु वैराग्य है, अतः वैराग्य के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए प्रथम सांसारिक सम्बन्ध का निरूपण करते हैं–

अम्मताय ! मए. भोगा, भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबन्धदुहावहा ॥ १२ ॥

अम्ब ! तात ! मया भोगाः, भुक्ता विषफलोपमाः ।
पश्चात् कटुकविपाकाः, अनुबन्धदुःखावहाः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–**अम्म**–हे माता । **ताय**–हे तात ! **मए**-मैने, **विसफलोवमा**–विषफल की उपमा वाले, **भोगा**–भाग, **भुत्ता**–भोग लिए, **पच्छा**–पश्चात्, **कडुय**–कटुक, **विवागा**–विपाक है इनका, **अणुबंध**–अनुबन्ध, **दुहावहा**–दुःखों के देने वाला है।

मूलार्थ–हे माता और हे पिता! मैंने उन भोगों को भोग लिया है जो विषफल के समान हैं ओर पीछे से जिनका विपाक अत्यन्त कटु एवं निरन्तर दुःखों को देने वाला है।

टीका–मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते है कि मैंने कामभोगों को भली-भांति भोग लिया है। ये समस्त कामभोग विषफल के समान देखने मे सुन्दर और खाने मे मधुर तथा परिणाम मे दुःख के देने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे विषफल देखने में तो सुन्दर होता है और खाने में भी स्वादु होता है, परन्तु खाने के अनन्तर उसका फल मृत्यु होता है अर्थात् खाने वाले के प्राण ले लेता है उसी प्रकार ये कामभोग भी भोगने के समय तो अत्यन्त प्रिय लगते हैं, परन्तु परिणाम में अधिक-से-अधिक दुःख के देने वाले हैं, अर्थात् इनका विपाक बहुत कटु और अनिष्टप्रद है, इसलिए ये कामभोग बाल जीवो के लिए ही प्रियकर हो सकते है, विज्ञ जीवो के लिए नही।

विचारशील पुरुष तो इनके परिणाम-फल को भली-भांति जानते हैं, अतएव वे इनसे सर्वथा दूर रहते है। इसके विपरीत जो बाल जीव इन विषय-भोगो का सेवन करते है, वे जीव चारों गतियो के दुःखों का निरन्तर अनुभव करते हैं। इसलिए हे माता! मैं इन विषयभोगों के सेवन की

अभिलाषा को सर्वथा त्याग बैठा हू। आपसे पुनः मैं यही प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे संयम ग्रहण करने की आज्ञा दीजिए, ताकि मैं इन उपस्थित दुःखों से छूटने का प्रयत्न करूं।

वास्तव में ये कामभोगादि विषय ही अनित्य एवं दुःखदायी नहीं, अपितु यह शरीर भी अनित्य और दुःखों की खान है, अब इस विषय का वर्णन करते हैं, यथा–

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥ १३ ॥

इदं शरीरमनित्यम्, अशुच्यशुचिसंभवम् ।
अशाश्वतावासमिदं, दुःखक्लेशानां भाजनम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वय :–इमं–यह, **सरीरं**–शरीर, **अणिच्चं**-अनित्य है, **असुइं**–अपवित्र है और, **असुइसंभव**–अशुचि से उत्पन्न हुआ है, **असासयावासं**–इसमे जीव का निवास अशाश्वत ही हे, **इणं**–यह शरीर, **दुक्खकेसाण**–दुःख और क्लेशो का, **भायण**–भाजन है।

मूलार्थ–यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है और अशुचि पदार्थो से इसकी उत्पत्ति होती है तथा इसमें जीव का निवास भी अशाश्वत ही है एवं यह शरीर दुःख और क्लेशों की खान है।

टीका–मृगापुत्र ने अपने माता-पिता के प्रति इस शरीर की अनित्यता, अशुचिता और दु.ख-भाजनता का वर्णन करते हुए इसकी असारता का अच्छा चित्र खीचा है। वे कहते है कि यह शरीर अनित्य अर्थात् क्षणभगुर है और स्वभाव से अपवित्र है, क्योकि इसकी उत्पत्ति शुक्र, शोणित आदि अपवित्र पदार्थो से ही देखी जाती हैं। इस शरीर की अपेक्षा से इसमें निवास करने वाला जीव भी अशाश्वत ही है, अथवा इसमे जीवात्मा का निवास भी अशाश्वत कहा गया है जो कि व्यवहारनयसम्मत औपचारिक कथन है। इसके अतिरिक्त यह शरीर नाना प्रकार के दुःख और क्लशो का भाजन है, क्याकि जितने भी शारीरिक अथवा मानसिक दुःख अथवा क्लेश है, वे सब शरीर के आश्रय से ही होते है। इसलिए यह शरीर अनेक प्रकार के दुःखो और क्लेशो का स्थान हे। यहा पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि उक्त गाथा मे शरीर को अनित्य बतलाया गया है, किन्तु मिथ्या नहीं कहा गया, क्योंकि अनेकान्तवाद के सिद्धान्तानुसार पर्यायदृष्टि से सब पदार्थ अनित्य माने गए हैं, मिथ्या नही। मिथ्यापना और अनित्यपना ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ है । इनकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न है, अतः शरीरादि को अनित्य कहने से उनको कोई सज्जन मिथ्या न समझें। इस विषय पर प्रसगानुसार कही अन्यत्र प्रकाश डाला जाएगा।

यथा च–

असासए सरीरंमि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे ॥ १४ ॥
अशाश्वते शरीरे, रतिं नोपलभेऽहम् ।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये, फेनबुद्बुदसंनिभे ॥ १४ ॥

पदार्थान्वय :–असासए–अशाश्वत, **सरीरंमि**–शरीर मे, **अहं**–मैं, **रइं**–रति–प्रसन्नता, **न**–नहीं, **उवलभाम**–प्राप्त करता हूं क्योंकि, **पच्छा**–पीछे–अथवा, **पुरा**– पहले, **चइयव्वे**–छोड़ने वाले, **फेणबुब्बुय**–फेन क बुलबुले के, **सन्निभे**–समान।

मूलार्थ–इस अशाश्वत शरीर में मैं प्रसन्नता प्राप्त नहीं करता, क्योंकि फेन के बुलबुले के समान यह शरीर है जो कि पहले अथवा पीछे अवश्य विनष्ट होने वाला है।

टीका–मृगापुत्र अपने माता-पिता से फिर कहते है कि यह शरीर अशाश्वत है, फेन के बुलबुले के समान क्षणभगुर है, अत: मुझे इसमे कोई आनन्द नही मिल रहा, क्योकि दो दिन आगे अथवा पीछे इसको अवश्य छोडना पडेगा, फिर इसमे आसक्ति कैसी ?

इस कथन का तात्पर्य यह है कि इस शरीर का विनाश-वियोग अवश्यभावी है। यदि इसके द्वारा कुछ समय तक शब्दादि विषयो का उपभाग किया जाए तो भी इसने विनष्ट हो ही जाना है, अथवा किसी उपक्रम के द्वारा बाल्यादि अवस्थाओ मे बिना उपभोग किये भी इसके विनाश की सभावना हो सकती है। तात्पर्य यह है कि उपभुक्त अथवा अनुपभुक्त दोनो ही दशाओं मे इसकी विनश्वरता निश्चित है, फिर ऐसे विनाशशील पदार्थ मे काम-भोगों के लिए आसक्त होना किसी प्रकार से भी बुद्धिमत्ता का काम नहीं।

इसक अतिरिक्त इस शरीर मे जो सौन्दर्य दृष्टिगोचर हो रहा है वह भी जल के बुलबुल क समान मात्र क्षणभर स्थायी रहने वाला है, इसलिए हे माता ! इस शरीर के प्रति मेरे मन मे किचिन्मात्र भी स्नह नही है।

अब संसार के निर्वेद विषय में कहते हैं–

माणुसत्ते असारम्मि, वाहीरोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि, खणंपि न रमामहं ॥ १५ ॥
मनुष्यत्वे असारे, व्याधिरोगाणामालये ।
जरामरणग्रस्ते, क्षणमपि न रमेऽहम् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–असारम्मि–असार, **माणुसत्ते**–मनुष्यभव मे, **वाही**–व्याधि, **रोगाण**–रोगों के, **आलए**–स्थान में, **जरा**–बुढापा, **मरण**–मृत्यु से, **घत्थंमि**–ग्रसे हुए, **खणंपि**–क्षणमात्र भी, **अहं**–मै, **न रमाम**–रति–आनन्द नही पाता हूं।

मूलार्थ—व्याधि और रोगों के घर, जरा और मृत्यु से ग्रसे हुए इस असार मनुष्यजन्म में मैं क्षणमात्र भी प्रसन्न नहीं होता हूं।

टीका—मृगापुत्र फिर अपनी माता से कहते हैं कि यह मनुष्य-जन्म बिलकुल असार है, क्योकि यह सदा स्थिर रहने वाला नहीं तथा आधि-व्याधियो का घर है, जरा और मृत्यु का चक्र हर समय इस पर घूम रहा है, अत· ऐसे मनुष्य-जन्म मे मुझे किसी प्रकार की भी प्रीति नहीं है। अर्थात् इस प्रकार क क्षण-भगुर और जराग्रस्त रोगालय मे आसक्त होकर, विपय-भोगों का सेवन करना, मुझे किसी प्रकार से भी अभीष्ट नही है।

यहा पर इतना स्मरण रहे कि सूत्र मे मनुष्य-जन्म को जो असार बताया गया है, वह शरीर का लेकर केवल पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से ही कहा गया है। जीव तो शाश्वत है, कर्मो के मम्बन्ध स वह नवीन-नवीन पर्याय अर्थात् शरीर धारण कर रहा है और उन्हीं पर्यायो मे वह नाना प्रकार के दु:खो का अनुभव कर रहा है।

उक्त सूत्र मे कराया गया शारीरिक दु.खो का दिग्दर्शन, मानसिक दु:खो का भी उपलक्षण समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार मनुष्य-भव सम्बन्धी दु:खों का वर्णन करने के अनन्तर अब उसकी प्रत्येक दशा के दु.ख का दिग्दर्शन कराते हैं—

जम्मदुक्खं जरादुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ॥ १६ ॥

जन्मदु:खं जरादु:खं, रोगाश्च मरणानि च ।
अहो दु:खः खलु संसारः, यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वय.—**जम्मदुक्खं**—जन्म का दु:ख, **जरादुक्खं**—बुढापे का दु:ख, **रोगा**—रोग, **य**—और, **मरणाणि**-मरण का दु.ख, **य**—पुन:, **अहो**—आश्चर्य है, **हु**—निश्चय ही, **दुक्खो**—दु:खरूप, **मसारो**—ससार, **जत्थ**—जहा पर, **कीसंति**—क्लश पाते है, **जंतुणो**—जीव।

मूलार्थ—जन्म का दु:ख, जरा का दु:ख, रोग और मृत्यु का दु:ख, आश्चर्य है कि इस दु:खमय संसार में लीन होकर जीव नाना प्रकार के दु:ख और क्लेशों को प्राप्त हो रहे हैं।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे माता। यह देखकर मुझ बडा आश्चर्य होता है कि इस दु:खमय ससार मे जन्म, जरा, रोग और मृत्यु से जकडे हुए जीव अनेक प्रकार के क्लेश पा रहे हे। तात्पर्य यह है कि किसी के पीछे एक दु:ख पड जाता है तो उसको किसी प्रकार से भी शांति

नहीं मिलती, परन्तु इस जीव के पीछे तो जन्म, जरा, रोग और मृत्यु तथा उपलक्षण से अनिष्टसंयोग और इष्टवियोगजन्य अनेक प्रकार के अति भयंकर दुःख लगे हुए हैं, ऐसी दशा मे भी ये अज्ञानी जीव इस ससार में निमग्न हो रहे हैं, किन्तु इससे छूटने के उपायों का उन्हे तनिक भी ख्याल नहीं, कितने आश्चर्य की बात है!

इसके अतिरिक्त संसार-निमग्न प्राणी दुःखों के उपस्थित होने पर उनसे छूटने का जो उपाय करते हैं, वह भी दुःखों को कम करने के बदले उनको बढ़ाने वाला ही होता है, अर्थात् दुःख-निवृत्ति का जो सम्यक् उपाय है, उससे यह सर्वथा भिन्न और विपरीत है। जैसे प्रचण्ड अग्नि को शान्त करने के लिए जल के उपयोग के स्थान मे तेल का उपयोग करना अग्नि को शान्त करने की अपेक्षा उसको बढ़ाने वाला होता है, ठीक उसी प्रकार से विपरीत बुद्धि रखने वाले इन संसार-निमग्न जीवों की दशा है, अर्थात् हिंसा आदि पापकर्मो के आचरण से उत्पन्न होने वाले दुःखों की निवृत्ति के लिए दशविध यतिधर्म का सेवन करने के बदले हिसा आदि अशुभ व्यवहार में ही ये प्रवृत्त हो रहे हैं। इनकी इस मूर्खता पर मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बन्धवा ।
चइत्ता णं इमं देहं, गन्तव्वमवसस्स मे ॥ १७ ॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च, पुत्रदारांश्च बान्धवान् ।
त्यक्त्वेमं देहं, गन्तव्यमवशस्य मे ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–**खेत्तं**–क्षेत्र, **वत्थुं**–घर, **च**–और, **हिरण्णं**–सुवर्णादि पदार्थ, **पुत्त**–पुत्र, **दारं**–स्त्री, **च**–और, **बंधवा**–भाइयो को, **चइत्ता**–छोड़कर तथा, **इमं**–इस, **देहं**–शरीर को, **मे**–मैंने, **अवसस्स**–अवश्य ही, **गंतव्वं**–जाना है परलोक में। **णं**–वाक्यालकार में।

मूलार्थ–क्षेत्र, गृह, सुवर्ण, पुत्र, स्त्री और बान्धव तथा इस शरीर को छोड़ कर मैंने अवश्यमेव परलोक में गमन करना है।

टीका–क्षेत्र–धान्यादि बीज बोने के स्थान तथा आराम आदि सुन्दर स्थान, वास्तु–गृह, प्रासादादि स्थान, हिरण्य–सोना, चांदी आदि धातु पदार्थ, पुत्र और स्त्री तथा भ्रातृवर्ग, इतना ही नहीं, किन्तु यह शरीर भी इस जीव के साथ जाने वाला नहीं है, अर्थात् इन सब पदार्थो को छोड़कर परवश हुआ यह जीव परलोक मे चला जाता है और ये सब पदार्थ–जिनके लिए यह जीव अनेक प्रकार के छल-प्रपंच करता है–यहीं पर पड़े रह जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस आत्मा का इन पदार्थो से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं हैं, अतः कर्मो की पराधीनता से यह जीव इनको यहीं पर छोड़कर परलोक मे गमन कर जाता है। जब कि ऐसी

अवस्था है, तब कौन बुद्धिमान् इन पदार्थों में आसक्त होकर अपनी आत्मा को दुखों के अगाध सागर में डुबाने का जघन्य प्रयास करेगा? अतएव मैं इन पदार्थों में मूर्च्छित होकर अपनी आत्मा का अध:पतन नही करना चाहता, किन्तु इनसे सर्वथा उपराम होकर केवल मोक्षमार्ग का पथिक बनना चाहता हूं। यही प्रस्तुत गाथा का भावार्थ है।

इस प्रकार संसार के निर्वेदविषय का वर्णन करके अब भोगों के कटुविपाक का वर्णन करते हैं, यथा–

जहा किम्पागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥ १८ ॥

यथा किपाकफलानां, परिणामो न सुन्दरः ।
एवं भुक्तानां भोगानां, परिणामो न सुन्दरः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः--**जहा**–जैसे, **किंपागफलाणं**–किम्पाक वृक्ष के फलो का, **परिणामो**–परिणाम, **न सुंदरो**–सुन्दर नही है, **एवं**–इसी प्रकार, **भुत्ताण**–भोगे हुए, **भोगाणं**--भोगो का, **परिणामो**–परिणाम, **न सुंदरो**--सुन्दर नही है।

मूलार्थ–जैसे किम्पाक वृक्ष के फलों का परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता।

टीका- इस गाथा म विषय-भोगों के कटु परिणाम का दृप्टान्त द्वारा दिग्दर्शन कराया गया है। जेसे कि किम्पाक वृक्ष के फल देखने में सुन्दर, खाने मे मधुर और स्पर्श म भी सुकोमल हाते हैं, किन्तु उनका परिणाम सुन्दर नही होता, अर्थात् भक्षण करने वाले पर उनका प्रभाव यह होता है कि वह खाने के अनन्तर शीघ्र ही अपने प्राणो का त्याग कर देता है। जिस प्रकार किम्पाक फल देखने और खाने मे सुन्दर तथा स्वादु होता हुआ भी भक्षण करने वाले के प्राणो का शीघ्र ही सहार कर देता है, ठीक उसी प्रकार इन विषय-भोगों की दशा है। ये आरम्भ के समय (भोगत समय) तो बड ही प्रिय और चित्त को आकर्पित करने वाले लगते हैं, परन्तु भोगने के पश्चात् इनका बडा ही भयकर परिणाम होता है।

तात्पर्य यह है कि आरम्भिक काल में इनकी सुन्दरता ओर मनोज्ञता चित्त को बड़ी ही लुभाने वाली ओर प्रसन्न करने वाली होती है, इनके आकर्षण का प्रभाव सांसारिक जीवों पर इतना अधिक पडता है कि वे प्राण देकर भी इनको प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उत्तरकाल में जब कि इनका उपभोग कर लिया जाए, इनका जो कटुफल जीवो को भोगना पड़ता हे, उसकी तो कल्पना करते हुए भी रोमाञ्च हो उठता है। नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक

क्लेश तथा नरक निगोदादि स्थानों की भयंकर यातनाएं सब इन्हीं के कटुफल है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को इनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

अब मृगापुत्र अपने अभिप्राय को दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शित करते हैं–

अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो दुही होइ, छुहातण्हाइ पीडिओ ॥ १९ ॥

अध्वानं यो महान्तं तु, अपाथेयः प्रव्रजति ।
गच्छन् स दुःखी भवति, क्षुधातृष्णया पीडितः ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–**जो**–जो पुरुष, **महंतं**–महान्, **अद्धाणं**–मार्ग को, **तु**–वितर्क में, **अपाहेओ**–पाथेयरहित, **पव्वज्जई**–अंगीकार करता है, **गच्छन्तो**–चलता हुआ, **सो**–वह, **दुही**–दुःखी, **होइ**–होता है, **छुहा**–भूख, **तण्हाइ**–पिपासा से, **पीडिओ**–पीडित होने पर।

मूलार्थ–जो व्यक्ति बिना पाथेय के किसी विशाल मार्ग पर चल पड़ता है वह मार्ग में चलता हुआ क्षुधा और तृष्णा से पीड़ित होकर जैसे दुःखी होता है (वैसे ही धर्म से रहित मनुष्य परलोक में दुःखी होता है) इस प्रकार अग्रिम श्लोक से अन्वय करके अर्थ करना चाहिए।

टीका–मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते है कि जैसे कोई लम्बे सफर पर जाने वाला पुरुष पाथेय के बिना ही चल पड़ता है, अर्थात् मार्ग में काम आने योग्य खर्चे के बिना ही सफर करने लग जाता है और रास्ते में जब उसे भूख और प्यास लगे तब उसको शान्त करने के लिए उसके पास कुछ भी न हो, तो जैसे वह पुरुष उस मार्ग मे अत्यन्त दुःखी होता है, इसी प्रकार धर्माचरण के बिना परलोक का सफर करने वाले इस जीव को अनेक प्रकार के असह्य कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसके विपरीत जिस पथिक के पास मार्ग में लगने वाली क्षुधा और तृषा की निवृत्ति के लिए पाथेय विद्यमान है और उससे वह अपने क्षुधा और पिपासाजन्य कष्ट को दूर करके सुखी हो जाता है, उसी प्रकार इस लोक में धर्म का आचरण करने वाला पुरुष परलोक की यात्रा में उपस्थित होने वाले कष्टो से बचा रहता है, अतः बुद्धिमान् पुरुष को परलोक में काम आने लायक पाथेय रूप धर्म का अवश्य सचय कर लेना चाहिए।

अब इसी अभिप्राय को स्फुट करने के लिए कहते हैं कि–

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहिरोगेहिं पीडिओ ॥ २० ॥

एवं धर्ममकृत्वा, यो गच्छति परं भवम् ।
गच्छन् स दुःखी भवति, व्याधिरोगैः पीडितः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इसी प्रकार, **धम्मं**–धर्म को, **अकाऊणं**–न करके, **जो**–जो जीव, **गच्छइ**–जाता है, **पर भवं**–पर भव को, **सो**–वह, **दुही**–दुःखी, **होइ**–होता है, **वाहि**–व्याधि, **रोगेहिं**–रोगों से, **पीडिओ**–पीडित हुआ।

मूलार्थ–इसी प्रकार धर्म का आचरण किए बिना जो जीव परलोक में जाता है, वह जाता हुआ व्याधि और रोगादि से पीड़ित होने पर अत्यन्त दुःखी होता है।

टीका–अब उक्त दृष्टान्त की दार्ष्टान्त मे योजना करते हैं, तात्पर्य यह है कि जैसे पाथेय के बिना यात्री मार्ग मे क्षुधा और तृषादि से व्यथित हुआ अत्यन्त कष्ट पाता है, उसी प्रकार धर्म का आचरण किए बिना ही जो प्राणी परलोक की यात्रा मे प्रवृत्त होते है, वे व्याधि और शारीरिक रोगो से पीडित हुए अत्यन्त दुःखी होते हे, कारण यह है कि धर्म के प्रभाव से ही व्याधि और रोगों की निवृत्ति होती है। जब कि धर्म ही छूट गया अथवा धर्म का आचरण ही नहीं रहा तब व्याधि और रोगादि का निरन्तर आगमन हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है? यहां पर व्याधि से शारीरिक व्यथा और राग से मानसिक कष्ट का ग्रहण करना चाहिए। यही अर्थ सूत्रकार को सम्मत है।

अब इसी विषय का दूसरे रूप से वर्णन करते हैं, यथा–

अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥ २१ ॥

अध्वानं यो महान्तं तु, सपाथेयः प्रव्रजति ।
गच्छन् स सुखी भवति, क्षुधातृष्णाविवर्जितः ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–**जो**–जो पुरुष, **महंतं**–महान्, **अद्धाणं**–मार्ग को, **तु**–वितर्क अर्थ मे, **सपाहेओ**–पाथेय-सहित, **पवज्जई**–गमन करता है, **गच्छंतो**–जाता हुआ, **सो**–वह, **सुही**–सुखी, **होइ**–होता हे, **छुहा**-भूख, **तण्हा**–प्यास से, **विवज्जिओ**–रहित होकर।

मूलार्थ–जो पुरुष पाथेययुक्त होकर विशाल मार्ग की यात्रा करता है, वह मार्ग में क्षुधा और तृषा की बाधा से रहित होता हुआ सुखी रहता है।

टीका–जो पुरुष दीर्घ मार्ग की यात्रा मे पर्याप्त पाथेय लेकर प्रवृत्त होता है, वह मार्ग में सुखी रहता है, अर्थात् उसको मार्ग मे भूख अथवा प्यास आदि का कोई भी कष्ट नहीं सताता, क्योंकि उसके पास मार्ग के कष्ट का निवृत्त करने की पर्याप्त सामग्री होती है। यद्यपि मार्ग मे क्षुधा और तृषा के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के कष्ट उपस्थित हो सकते हैं, तथापि समस्त

कष्टों में क्षुधा और तृषा का कष्ट सबसे अधिक प्रबल माना जाता है। इसलिए सूत्रकार ने उन्हीं का विशेष निर्देश किया है।

अब उक्त दृष्टान्त का निगमन करते हुए कहते हैं कि–

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥ २२ ॥

एवं धर्ममपि कृत्वा, यो गच्छति परं भवम् ।
गच्छन् स सुखी भवति, अल्पकर्माऽवेदनः ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः–एवं–इसी प्रकार, **पि**–सभावना मे, **धम्मं**–धर्म को, **काऊणं**–करके, **जो**–जो जीव, **गच्छइ**–जाता है, **परं भवं**–परभव को, **गच्छंतो**–जाता हुआ, **सो**–वह, **सुही**–सुखी, **होइ**–होता है, **अप्पकम्मे**–अल्प कर्म वाला, **अवेयणे**–वेदना से रहित होता है।

मूलार्थ–इसी प्रकार जो जीव धर्म का संचय करके परलोक को जाता है, वह वहां जाकर सुखी हो जाता है और असातावेदनीय कर्म के अल्प होने से विशेष वेदना को भी प्राप्त नहीं करता।

टीका–मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार पाथेय को साथ लेकर यात्रा करने वाला यात्री मार्ग मे दुःखी नहीं होता, उसी प्रकार इस लोक मे धर्म को संचित करके परलोक में साथ ले जाने वाला पुरुष भी किसी प्रकार के कष्ट को प्राप्त नही होता।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पाथेय-युक्त यात्री मार्ग मे सुखी रहता है, उसी प्रकार धर्म-रूप पाथेय को साथ में लेकर परलोक की यात्रा करने वाला जीव भी सब प्रकार से सुखी रहता है। असातावेदनीय कर्म के स्वल्प होने से उसको वहां पर किसी प्रकार की विशेष वेदना नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि–'**हिंसापसूयाणि दुहाणि मत्ता**' अर्थात् हिंसा से सभी प्रकार के दुःखो का उद्भव होता है। इस कथन के अनुसार हिसा–क्रूरता को अधर्म और अहिसा–दया को धर्म कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि अहिंसा अर्थात् दया रूप धर्म का पालन करने से यह जीव दुःखों से छूट जाता है। इसी आशय को लेकर सूत्रकार ने धर्म के आचरण करने का फल अल्प कर्म और अवेदन बताया है।

तात्पर्य यह है कि असातावेदनीय कर्म के अल्प होने से वेदना का अनुभव नही होता, यदि होता भी है तो बहुत स्वल्प, जो कि नहीं के समान होता है।

इस सारे कथन से यह सिद्ध होता है कि मुमुक्षु व्यक्ति के लिए एकमात्र आचरणीय धर्म है, जो कि सर्व प्रकार के दुःखों का समूलघात करने में सबसे अधिक शक्तिमान है। उस धर्म

का आचरण यदि वीतरागभाव से किया जाए तब तो उसका फल मोक्ष है और यदि सरागभाव से उसका अनुष्ठान किया जाए तब उसका फल ऊंचे से ऊंचे देवलोक की प्राप्ति है।

अब प्रस्तुत विषय में अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि–

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू ।
सारभंडाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥ २३ ॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य ।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥ २४ ॥

यथा गृहे प्रदीप्ते, तस्य गृहस्य यः प्रभुः ।
सारभाण्डानि निष्कासयति, असारमपोज्झति ॥ २३ ॥
एवं लोके प्रदीप्ते, जरया मरणेन च ।
आत्मानं तारयिष्यामि, युष्माभ्यामनुमतः ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **गेहे**–घर के, **पलित्तम्मि**–प्रज्वलित होने पर, **तस्स**–उस, **गेहस्स**–घर का, **जो**–जो, **पहू**–प्रभु है, वह–**सारभंडाणि**–सार वस्तुओं को, **नीणेइ**–निकाल लेता है, **असारं**–असार वस्तुओं को, **अवउज्झइ**–छोड़ देता है।

एवं- इसी प्रकार, **लोए**–लोक के, **पलित्तम्मि**–प्रदीप्त होने पर, **जराए**–जरा से, **य**–और, **मरणेण**–मृत्यु से, **अप्पाणं**- आत्मा को, **तारइस्साम्मि**–तारूंगा, अतः, **तुब्भेहिं**–आपसे, **अणुमन्निओ**–अनुज्ञा मांगता हूं।

मूलार्थ–जिस प्रकार घर के प्रज्वलित होने पर उस घर का स्वामी उस घर में रही हुई सार वस्तुओं को निकाल लेता है और असार को छोड़ देता है, उसी प्रकार जरा और मरण से प्रदीप्त होने वाले इस लोक में मैं अपनी आत्मा को तारूंगा, अतः आप मुझे इसके लिए अनुमति प्रदान करें।

टीका–मृगापुत्र कहते हैं कि घर के जलने पर उस घर का स्वामी उस घर में रहे हुए सार पदार्थों–रत्नसुवर्णादि–को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है और असार अर्थात् जीर्णवस्त्र, खाट, बिछौना आदि तुच्छ तथा अल्पमूल्य पदार्थों को वहीं पर छोड़ देता है, उसी प्रकार यह लोक भी जन्म, जरा और मृत्यु की आग से प्रज्वलित हो रहा है, तात्पर्य यह है कि लोक में जरा और मृत्यु से संसारी जीव व्याकुल हो रहे हैं। जैसे घर का स्वामी घर को आग लग जाने पर सब से प्रथम उस घर में रहे हुए सार पदार्थों को ही निकालने का प्रयत्न करता है, ठीक उसी प्रकार मैं भी शरीर रूपी घर के जन्म, जरा और मृत्यु से दग्ध होने से पहले ही इस लोक में

सारभूत अपनी आत्मा को इससे बाहर निकाल लेना चाहता हूं, अतः आप मुझे इसके लिए आज्ञा प्रदान करें जिससे कि मैं अपनी आत्मा का उद्धार कर सकूं।

यहां पर जो आज्ञा की प्रार्थना की गई है, वह युवराज पदवी की अपेक्षा से ही जाननी चाहिए। द्विवचन के स्थान पर '**तुब्भेहिं**' पद, जिसमें बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह माता-पिता के प्रति अधिक पूज्यभाव दिखाने के अभिप्राय से किया गया है। लोक शब्द से—स्वर्ग, पाताल और मर्त्य इन तीनों का ही ग्रहण अभीष्ट है, क्योंकि यह अग्नि इन तीनों लोकों में व्याप्त हो रही है।

युवराज मृगापुत्र के इस कथन को सुनकर उसके माता-पिता ने उसके प्रति जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तं बिन्तम्मापियरो, सामण्णं पुत्त ! दुच्चरं ।
गुणाणं तु सहस्साइं, धारेयव्वाइं भिक्खुणा ॥ २५ ॥

तं ब्रूतोऽम्बापितरौ, श्रामण्यं पुत्र ! दुश्चरम् ।
गुणानां तु सहस्राणि, धारयितव्यानि भिक्षुणा ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**तं**—उस—मृगापुत्र को, **अम्मापियरो**—माता-पिता, **बिंत**—कहने लगे, **पुत्त**—हे पुत्र! **सामण्णं**—श्रमणभाव—साधुवृत्ति, **दुच्चरं**—दुश्चर है, **गुणाणं**—गुणों का, **सहस्साइं**—सहस्र अर्थात् हजारों गुण, **तु**—वितर्क में, निश्चय में है, **धारेयव्वाइं**—धारण करने चाहिएं, **भिक्खुणा**—भिक्षु को।

मूलार्थ—यह सुनकर उसके माता-पिता ने उससे कहा—हे पुत्र! संयम-वृत्ति का पालन करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि भिक्षु को हजारों गुण अर्थात्, संयम-मर्यादा के नियम धारण करने पड़ते हैं।

टीका—पुत्र के इस प्रकार के कथन को सुनकर उसके माता-पिता ने कहा कि हे पुत्र। श्रमण-भाव—साधुवृत्ति का पालन करना बहुत ही कठिन काम है, क्योंकि संयम-वृत्ति में सहायता देने वाले सहस्रों गुण साधु को धारण करने पड़ते हैं, तात्पर्य यह है कि शील आदि अनेक गुण हैं जो कि संयम-मर्यादा के संरक्षक हैं और जिनका साधु में विद्यमान होना परम आवश्यक है।

कहने का साराश यह है कि जीव के लिए एक गुण का धारण करना भी कठिन होता है तो संयम-वृत्ति के निर्वाहार्थ क्षमा आदि हजारो गुणों को अपनी आत्मा मे स्थान देना कितना कठिन होगा इसकी कल्पना तो सहज ही में हो सकती है। अतः संयमवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करना बहुत ही कठिन है।

यहां पर '**भिक्खुणा**' यह तृतीयान्त पद षष्ठी के स्थान में ग्रहण किया गया है तथा '**ब्रूतः**' के स्थान में '**बिंत**' और '**अम्बा**' के स्थान में '**अम्मा**' यह आदेश अपभ्रंश भाषा के नियमानुसार किए गए हैं।

यहा इतना और भी स्मरणीय है कि मृगापुत्र के माता-पिता ने सयम के विषय मे असद्भाव प्रकट नहीं किया, किन्तु उसकी दुष्करता बताई है जो कि सर्वथा समुचित है।

अब संयम की दुश्चरता को प्रमाणित करने के लिए साधु के आचरण करने योग्य मुख्यतया जो पांच महाव्रत हैं, उनका क्रमशः वर्णन करते हैं। यथा—

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे ।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥ २६ ॥

समता सर्वभूतेषु, शत्रुमित्रेषु वा जगति ।
प्राणातिपातविरतिः, यावज्जीवं दुष्करा ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**समया**—समता, **सव्वभूएसु**—सर्वभूतों मे, **सत्तु**—शत्रु और, **मित्तेसु**—मित्रो में, **जगे**—लोक मे, **पाणाइवायविरई**—प्राणातिपात से निवृत्ति, **जावज्जीवाए**—जीवनपर्यन्त, **दुक्करं**—दुष्कर है।

मूलार्थ—हे पुत्र ! संसार के सभी प्राणियों—अर्थात् शत्रु, मित्र आदि सभी जीवों में समभाव रखना और जीवन-पर्यन्त प्राणातिपात से निवृत्त होना रूप महाव्रत अत्यन्त दुष्कर है—अत्यन्त कठिन है।

टीका—संयमवृत्ति का पालन करना क्यो दुष्कर है? इस कथन के समर्थन में मृगापुत्र के माता-पिता ने मुनिवृत्ति के मूलस्तम्भ रूप पांच महाव्रतों का उसके समक्ष वर्णन करते हुए अपने कथन को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इन पाच महाव्रतो मे से पहले महाव्रत का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं कि हे पुत्र! संसार के सर्व प्राणियो पर—चाहे उनमें अपना कोई शत्रु हो अथवा मित्र—सदा के लिए समभाव रखना बहुत कठिन है तथा मन, वचन और शरीर से जीवन-पर्यन्त किसी भी प्राणी की हिसा न करना और भी दुष्कर है। कारण कि जो भी प्राणी अपना अपकार करे, उस पर क्रोध का हो जाना अस्वाभाविक नही है, एव उपकार करने वाले पर राग का होना भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिए सामान्य कोटि के जीवों का इस ससार म शत्रु और मित्र पर समान भाव रहना अत्यन्त कठिन है। मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचाना, यह भी कोई साधारण सी बात नहीं है, इसलिए हे पुत्र! संयम-वृत्ति का आराधन करना बहुत दुष्कर है।

इस प्रकार प्रथम महाव्रत के पालन को दुष्कर बताने के अनन्तर अब द्वितीय महाव्रत की दुष्करता का वर्णन करते हैं–

निच्चकालप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥ २७ ॥

नित्यकालाप्रमत्तेन, मृषावादविवर्जनम् ।
भाषितव्यं हितं सत्यं, नित्यायुक्तेन दुष्करम् ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–**निच्चकाल**–सदैव, **अप्पमत्तेणं**–अप्रमाद से, **मुसावाय**–मृषावाद का, **विवज्जणं**–त्याग करना, **भासियव्वं**–भाषण करना, **हियं**–हितकारी और, **सच्चं**–सत्य, **निच्च**–सदा, **आउत्तेण**–उपयोग के साथ, **दुक्करं**–दुष्कर है।

मूलार्थ–हे पुत्र ! सदैव अप्रमत्तभाव से रहना, मृषावाद अर्थात् झूठ का त्याग करना, हितकारी और सत्य वचन कहना तथा सदैव उपयोग के साथ बोलना यह व्रत भी दुष्कर है, अर्थात् इस व्रत का जीवन-पर्यन्त यथावत् रूप से पालन करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका–पूर्व गाथा मे प्रथम व्रत के पालन को दुष्कर बताया गया हे। अब इस दूसरी गाथा मे दूसरे व्रत के आचरण को दुष्कर बताते हैं। मृगापुत्र के माता-पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! जीवन-पर्यन्त अप्रमत्तभाव से झूठ को त्यागना, हितकारी और सत्यरूप भाषण करना और सदैव उपयोग-पूर्वक बोलना, यह साधु का दूसरा व्रत है जो कि आचरण करने मे अत्यन्त कठिन है।

यहा पर अप्रमत्त शब्द निद्रा आदि प्रमादों के वशीभूत होकर झूठ बोलने के त्याग का सूचक है तथा उपयोग-पूर्वक बोलने की आज्ञा देने का तात्पर्य यह है कि उपयोगशून्य भाषण में विवेक नहीं रहता और विवेकविकल भाषण में सत्य का अंश बहुत कम होता है। कारण यह है कि विवेक-शून्य भाषण में भाषण करने वाले को यह भी ज्ञान नही रहता कि उसने प्रथम क्या कहा था और अब क्या कह रहा है। अतः प्रमाद से युक्त और उपयोग से शून्य जो भी भाषण है, वह सत्य का पोषक होने के बदले उसका सर्वप्रकार से विघातक होता है। अतवए उक्त गाथा में दो बार नित्य शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि द्वितीय व्रत का पालन करने वाले को सदैव अप्रमत्त और उपयोग सहित होकर भाषण करना चाहिए, जो कि सामान्य जीवों के लिए बहुत ही कठिन है।

अब तृतीय व्रत की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं–

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥ २८ ॥

दन्तशोधनादेः, अदत्तस्य विवर्जनम् ।
अनवद्यैषणीयस्य, ग्रहणमपि दुष्करम् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः–**दंतसोहणं**–दंतशोधनमात्र, **आइस्स**–आदि पदार्थ भी, **अदत्तस्स**–बिना दिए, **विवज्जणं**–वर्जन करने, तथा, **अणवज्ज**–निरवद्य और, **एसणिज्जस्स**–निर्दोष पदार्थों का, **गिण्हणाअवि**–ग्रहण करना भी, **दुक्करं**–दुष्कर है।

मूलार्थ–दन्तशोधनमात्र पदार्थ का भी बिना दिए ग्रहण न करना, किन्तु सदैव निरवद्य और निर्दोष पदार्थों का ही ग्रहण करना यह तीसरा महाव्रत भी दुष्कर है।

टीका–सयमशील साधु के तीसरे व्रत का नाम है अदत्तादान-विरमण, इसका अर्थ है बिना दिए कुछ भी ग्रहण नही करना। तात्पर्य यह हे कि यदि साधु को दन्तशोधन के लिए किसी तृण आदि पदार्थ की आवश्यकता पडे तो उसको भी वह बिना उसके स्वामी की आज्ञा के ग्रहण नहीं कर सकता। यदि साधु बिना आज्ञा के एक तृणमात्र भी ग्रहण कर लेता है तो उसके उक्त व्रत म त्रुटि आ जाती है। इसलिए ऐसे नियम का जीवन-पर्यन्त पालन करना सहज कार्य नही है, किन्तु बहुत कठिन है। सदैव निरवद्य ओर निर्दोष भिक्षा मिले, तभी उसको ग्रहण करने का नियम भी अत्यन्त कठिन है, कारण कि सदैव आज्ञा लेना ओर सदैव निर्दोष आहार ग्रहण करना ये दोनों तत्त्व इस व्रत क मूल आधार है। पहल म ता हर एक छोटी-बडी वस्तु को मांगकर लेने का विधान है ओर दूसरे मे सचित्त भाजन क त्याग का निर्देश है, क्योकि उसके प्रथम व्रत मे एकेन्द्रिय स लकर पचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हे, उन सबकी हिसा से निवृत्त होने का आदेश है। अतः साधु के लिए सचित्त आहार के ग्रहण का मर्वथा निषेध है।

यहा पर मकार अलाक्षणिक है।

अब चतुर्थ व्रत की दुष्करता के विषय में कहते हैं–

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥ २९ ॥

विरतिरब्रह्मचर्यस्य, कामभोगरसज्ञेन ।
उग्रं महाव्रतं ब्रह्मचर्य, धारयितव्यं सुदुष्करम् ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः **विरई**–विरति, **अबंभचेरस्स**–अब्रह्मचर्य की, **कामभोगरसन्नुणा**–कामभोगो के रस को जानने वाले को, **उग्गं**–उग्र प्रधान, **महव्वयं**–महाव्रत, **बंभं**–ब्रह्मचर्य, **धारेयव्वं**–धारण करना, **सुदुक्करं**–अतिदुष्कर हे।

मूलार्थ–काम-भोगों के रस को जानने वाले पुरुष के लिए मैथुन से निवृत्त होकर सर्व प्रधान ब्रह्मचर्य रूप महाव्रत का पालन करना भी अतीव दुष्कर है।

टीका–मृगापुत्र के माता-पिता चतुर्थ महाव्रत की दुष्करता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे पुत्र ! कामभोगों में आसक्त और उनके क्षण-स्थायी सुखों का अनुभव करने वाले रसज्ञ पुरुष के लिए मैथुन का त्याग करना बहुत कठिन है, क्योकि जो अज्ञानी जीव इनके आपातरमणीय स्वरूप पर मोहित होकर इनमें मूर्च्छित हो गया है, उससे मैथुन रूप अब्रह्मचर्य का परित्याग होना कठिन है।

कहने का तात्पर्य यह है कि तुमने इन काम-भोगो के रसों का न्यूनाधिक रूप में अनुभव किया है, अत: तेरे लिए इनका त्याग दुष्कर है, अर्थात् तेरे जैसे काम-रसज्ञ पुरुष के लिए मन, वचन और काया से आजन्म ब्रह्मचारी रहना नितान्त कठिन है।

अब पांचवें महाव्रत की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं–

धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारम्भपरिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥ ३० ॥

धनधान्यप्रेष्यवर्गेषु, परिग्रहविवर्जनम् ।
सर्वारंभपरित्यागः, निर्ममत्वं सुदुष्करम् ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः–धण–धन, **धन्न**–धान्य, **पेसवग्गेसु**–प्रेष्य दास-वर्ग में, **निम्ममत्तं**–निर्ममत्व ममता का त्याग तथा, **परिग्गह**–परिग्रह का, **विवज्जणं**–त्याग और, **सव्वारम्भ**–सर्व प्रकार के आरम्भ का, **परिच्चाओ**-परित्याग करना, **सुदुक्करं**–अतीव दुष्कर है।

मूलार्थ–हे पुत्र ! धन, धान्य और दास-वर्ग में ममत्व का त्याग करना तथा परिग्रह और सर्व प्रकार के आरम्भ एवं ममता का परित्याग करना अतीव दुष्कर है।

टीका–यद्यपि परिग्रह के अनेक भेद है, परन्तु सब में घटित होने वाला परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा है–'**मुच्छापरिग्गहो वुत्तो**' अर्थात् मूर्च्छा–ममत्व का नाम परिग्रह है। अत: सांसारिक पदार्थों मे मूर्च्छा–ममत्व का जीवन-पर्यन्त त्याग करना बहुत कठिन है। इसीलिए कहा गया है कि धन, धान्य, भृत्य आदि वर्ग मे ममत्व का त्यागना दुष्कर कार्य है, क्योंकि ममत्व का मूल कारण राग है और राग का त्याग करने से ही सांसारिक पदार्थों पर से ममता दूर हो सकती है, परन्तु राग का त्याग करना कितना कठिन है, इसके लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नही है। अतएव परिग्रह का त्याग करना सामान्य कोटि के मनुष्यों के लिए नितान्त कठिन है।

आरम्भ का त्याग भी अतिदुष्कर कार्य है, क्योंकि जितने भी धन के उत्पन्न करने के व्यापार हैं, वे सब आरम्भपूर्वक ही होते हैं, उनका सर्व प्रकार से और सदा के लिए त्याग कर देना कोई साधारण बात नहीं है।

इसी तरह सदा ममता-रहित होना भी अत्यन्त कठिन है, क्योंकि संसार मे जितने भी प्राणी

हैं वे प्राय: सचित्त, अचित्त और मिश्रित पदार्थों के संसर्ग में आकर उनमें ममता बांधे बैठे हैं। ऐसी दशा में उनसे मोह का त्याग करना कितना कठिन है, यह बात सहज ही में समझी जा सकती है।

प्रस्तुत गाथा में धन का प्रथम ग्रहण करना उसकी सर्वप्रधानता का सूचक है, अर्थात् धन के ममत्व में प्राणिमात्र की वृत्ति लगी हुई है, इसी धन के कारण ही अन्य पदार्थों में ममत्व की जागृति होती है।

इस प्रकार पांचों महाव्रतों की दुष्करता का वर्णन करने के अनन्तर अब छठे रात्रि-भोजन की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं–

चउव्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसंचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥ ३१ ॥

चतुर्विधेऽप्याहारे, रात्रिभोजनवर्जना ।
सन्निधिसञ्चयश्चैव, वर्जितव्यः सुदुष्करः ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः–**चउव्विहेवि आहारे**–चार प्रकार का आहार, **राईभोयण**–रात्रिभोजन, **वज्जणा**–वर्जनीय है, **सन्निही**–रात्रि को खाद्य पदार्थो का, **संचओ**–संचय घृतादि पदार्थो का, **च**–पुन: **एव**–निश्चय, **वज्जेयव्वो**–वर्जन करना, **सुदुक्करं**–अति दुष्कर है।

मूलार्थ–रात्रि में चारों प्रकार के आहार का परित्याग करना और किसी पदार्थ का संचय न करना यह काम बड़ा दुष्कर है।

टीका–हे पुत्र। साधु को रात्रि मे अन्न, पानी, खादिम और स्वादिम इन चारो प्रकार के आहारो को सर्वथा त्याग कर देना पडता है, इतना ही नहीं, किन्तु रात्रि मे घृत आदि पदार्थो तथा औषधि आदि द्रव्यों का संग्रह भी नहीं करना चाहिए, अत: आयुपर्यन्त इस व्रत का पालन करना बहुत कठिन कार्य है।

रात्रि-भोजन के परित्याग मे एक तो जीवो की रक्षा होती है, दूसरे तप का संचय होता है तथा रात्रि मे सन्निधि और पदार्थ-संग्रह से ममत्व की जागृति और त्रस जीवों की अवहेलना का होना स्वाभाविक है, अत: इसका भी साधु के लिए निषेध है। यहा पर रात्रि-भोजन के साथ-साथ कालातिक्रान्त और क्षेत्रातिक्रान्त आहार का त्याग भी जान लेना तथा उत्तर गुणों मे अभिग्रहादि को भी समझ लेना। इस कथन से राजा और रानी का साधु-चर्या से सुपरिचित होना भी भली प्रकार से व्यक्त होता है।

इस प्रकार रात्रि-भोजन के त्याग की दुष्करता का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब अन्य परीषहों के सहन की दुष्करता का वर्णन करते हैं, यथा–

छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसमसगवेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥ ३२ ॥
तालणा तज्जणा चेव, वहबन्धपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ॥ ३३ ॥

क्षुधा तृषा च शीतोष्णं, दंश-मशक-वेदना ।
आक्रोशा दुःखशय्या च, तृणस्पर्शा जल्लमेव च ॥ ३२ ॥
ताडना तर्जना चैव, वधबन्धौ परीषहौ ।
दुःखं भिक्षाचर्यायाः, याचना चालाभता ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—**छुहा**—क्षुधा, **य**—और, **तण्हा**—तृषा, **दंसमसग**—दंश, मशक की, **वेयणा**—वेदना, **य**—समुच्चय अर्थ में है, **अक्कोसा**—आक्रोश—गाली आदि, **य**—और, **दुक्खसिज्जा**—दुःखरूपशय्या, **तणफासा**—तृणस्पर्श, **य**—पुनः, **जल्लं**—शरीर का मल, **एव**—निश्चयार्थक है।

तालणा—ताड़ना, **तज्जणा**—तर्जना, **च**—पुनः, **एव**—निश्चय, **वह**—वध, **बन्ध**—बन्धन आदि, **परीसहा**—परीषह, **दुक्खं**—दुःखरूप, **भिक्खायरिया**—भिक्षाचरी का करना, **जायणा**—मांगना, **य**—और, **अलाभया**—मागने पर न मिलना।

मूलार्थ—भूख, प्यास, दंश-मशक की वेदना, आक्रोश, विषम शय्या, तृण-स्पर्श और शरीर का मल तथा ताडना, तर्जना, वध, बन्धन और घर-घर में भिक्षा मांगना तथा मांगने पर न मिलना इत्यादि परीषहों का सहन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

टीका—इन दोनों गाथाओ मे परीषहों के सहन करने की दुष्करता का वर्णन किया गया है। मृगापुत्र के प्रति उसके माता-पिता कहते हैं कि हे पुत्र। साधुवृत्ति का पालन करना इसलिए भी कठिन है क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के परीपहो—कष्टों का सामना करना पड़ता है और इन परीषहरूप शत्रुओ पर विजय प्राप्त करना कोई सहज काम नही है। यथा—क्षुधा के लगने पर चाहे प्राण भले ही चले जाएं, परन्तु साधुवृत्ति के विरुद्ध सचित्त और आधाकर्मी आहार कदापि ग्रहण नहीं करना। इसी प्रकार तृषा के व्याप्त होने पर प्राण जाने तक भी सचित्त जल को अगीकार न करना, शीत के लगने पर भी प्रमाण से अधिक वस्त्र और अग्नि आदि का सेवन न करना, गर्मी की अधिक बाधा होने पर भी स्नान आदि न करना, डास और मच्छर आदि की वेदना को शांति-पूर्वक सहन करना, अन्य पुरुषों के भर्त्सनायुक्त वाक्यों को सुनकर उन पर किसी प्रकार का क्रोध न करना, किन्तु उनके आक्रोश युक्त वाक्यों को शान्ति-पूर्वक सहन कर लेना। विषम—ऊंची-नीची शय्या के मिलने पर भी चित्त मे उद्वेग न लाना, तृणादि के स्पर्श से पीड़ित

होने पर उसकी निवृत्ति का वस्त्रादि के द्वारा कोई उपाय न करना, उष्णता के कारण शरीर पर जमे हुए मल को उतारने के लिए स्नानादि क्रिया में प्रवृत न होना इत्यादि अनेक परीषहों का साधुवृत्ति में सामना करना पड़ता है तथा कुछ लोग साधु को हस्तादि से मारते हैं, कुछ लोग अगुलि आदि द्वारा तर्जना करते हैं, कुछ लोग लकड़ी आदि से भी मार बैठते हैं, तथा कुछ लोग उन्हें बांध ही देते हैं। इनके अतिरिक्त जीवन-पर्यन्त घर-घर में भिक्षा मांगना और मांगने पर भी न मिलना तथा रोगादि के उपस्थित होने पर किसी प्रकार का उपचार अथवा आर्त्त-ध्यान न करना इत्यादि अनेक प्रकार के कष्टों को शान्ति-पूर्वक सहन करने की साधुवृत्ति में आवश्यकता पडती है। इसलिए इस वृत्ति का आचरण करना अतीव दुष्कर है।

इस प्रकार संक्षेप से परीषहों को प्रस्तुत करने के अनन्तर अब साधु के अन्य नियमों का उल्लेख करते हैं, जिससे कि उसे संयम की दुष्करता और भी अधिक रूप से प्रतीत हो सके, यथा–

कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ य दारुणो ।
दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं य महप्पणो ॥ ३४ ॥

कापोती येयं वृत्तिः, केशलोचश्च दारुणः ।
दुःखं ब्रह्मव्रतं घोरं, धर्तु च महात्मना ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः–**कावोया**–कपोत के समान, **जो**–जो, **इमा**–यह, **वित्ती**–वृत्ति है, **य**–और, **केसलोओ**–केशलुंचन भी, **दारुणो**–दारुण है, **दुक्खं**–दुःखरूप, **बंभव्वयं**–ब्रह्मचर्य व्रत है और, **घोरं**–घोर, **धारेउं**–धारण करना, **य**–पुनः, **महप्पणो**–महात्मा को।

मूलार्थ–यह साधुवृत्ति कपोत पक्षी के समान है और केशों का लुंचन करना भी दारुण है तथा ब्रह्मचर्य रूप घोर व्रत का धारण करना भी महात्मा पुरुष के लिए बड़ा कठिन है।

टीका–मृगापुत्र के माता-पिता फिर कहते है कि हे पुत्र। यह मुनिवृत्ति कपोत पक्षी के समान है, अर्थात जैसे कपोत–कबूतर पक्षी अपनी उदरपूर्ति के लिए शंकित होकर ही दाना आदि भक्ष्य पदार्थो का ग्रहण करता है, क्योकि यह जीव बड़ा भीरु होता है और अपने शत्रु विडाल आदि जीवों से सदैव भयभीत सा बना रहता है, ठीक उसी प्रकार की महात्मा जनों की भी आहारादि ग्रहण करने की वृत्ति है, वे भी दोषों से सदैव शकित रहते हैं। इसके अतिरिक्त साधुवृत्ति में जो केशो का लुचन करना है, वह और भी दारुण है। अल्पसत्त्व रखने वाले जीवों के वास्ते तो यह बहुत ही भय-प्रद है।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना तो सबसे कठिन है। इस व्रत के सामने तो बड़े-बड़े महात्मा

पुरुष भी भाग जाते हैं। इसीलिए इस व्रत को घोर बताया गया है। पांच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत की दुष्करता बताने के बाद फिर दूसरी बार इसका उल्लेख भी इसी आशय से किया गया है।

इस गाथा में साधुचर्या की दुष्करता के लिए कापोती वृत्ति, केशलुंचन और शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन ये तीन हेतु दिए गए हैं जो कि सर्वथा समुचित प्रतीत होते हैं।

अब संयम-वृत्ति के पालन में पुत्र की असमर्थता का वर्णन करते हैं–

सुहोइओ तुमं पुत्ता ! सुकुमालो सुमज्जिओ ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता ! सामण्णमणुपालिया ॥ ३५ ॥

सुखोचितस्त्वं पुत्र! सुकुमारश्च सुमज्जितः ।
न खल्वसि प्रभुस्त्वं पुत्र! श्रामण्यमनुपालयितुम् ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः–**पुत्ता**–हे पुत्र! **तुमं**–तू, **सुहोइओ**–सुखोचित है, **सुकुमालो**–सुकुमार है, **सुमज्जिओ**–सुमज्जित है, **तुमं**–तू, **पभू**–समर्थ, **न हु सी**–नहीं है, **पुत्ता**–हे पुत्र, **सामण्णं**–संयम के, **अणुपालिया**–पालन करने को।

मूलार्थ–हे पुत्र! तू सुखोचित है, सुकुमार है और सुमज्जित–भली प्रकार से स्नापित है, अतः हे पुत्र! तू संयम-वृत्ति का पालन करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है।

टीका–युवराज के माता-पिता ने संयम की दुष्करता को बताने के अनन्तर मृगापुत्र को उसके अयोग्य बताते हुए कहा कि पुत्र ! तुमने आज तक ससार में कभी कष्टों का अनुभव नहीं किया तथा तेरा शरीर भी अतिकोमल है, अत: कष्टों को सहन करने के योग्य नहीं। इसके अतिरिक्त तू सदैव अलकृत रहता है, अर्थात् स्नान, विलेपन, वस्त्र और आभूषणादि से सदा सुसज्जित रहता है, इसलिए संयमवृत्ति का पालन करना तेरे लिए बहुत कठिन है, अर्थात् तू सयमवृत्ति का पालन नहीं कर सकता। इस गाथा मे मृगापुत्र की सुखशीलता, सुकुमारता और अलंकृति का दिग्दर्शन कराने का तात्पर्य यह है कि सयमवृत्ति में आरूढ़ होने वाले पुरुष को इन तीनों ही अवस्थाओं का परित्याग करना पडता है, अथवा यों कहिए कि ये तीनों ही बातें संयम की विरोधी हैं, या इस प्रकार समझिए कि सुखशील, सुकुमार और अलकृतिप्रिय मनुष्य संयम के योग्य नहीं होता, अर्थात् जब तक उसकी वृत्ति इनमें लगी हुई है तब तक वह संयम के योग्य नहीं हो सकता।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महब्भरो ।
गुरुओ लोहभारु व्व, जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो ॥ ३६ ॥

यावज्जीवमविश्रामः, गुणानां तु महाभरः ।
गुरुको लोहभार इव, यः पुत्र! भवति दुर्वहः ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः--**जावज्जीवं**--जीवन-पर्यन्त, **अविस्सामो**--विश्राम-रहित होना, **गुणाणं**--गुणों का, **महब्भरो**--बड़ा समूह है, **तु**--पादपूरण मे, **गुरुओ**--भारी, **लोहभारु**--लोहभार की, **व्व**--तरह, **जो**--जो, **पुत्ता**--हे पुत्र! **दुव्वहो**--उठाना दुष्कर, **होइ**--होता है।

मूलार्थ--हे पुत्र! जीवन-पर्यन्त इस वृत्ति मे कोई विश्राम नहीं है तथा लोहभार की तरह गुणों के महान् समूह को उठाना दुष्कर है।

टीका--हे पुत्र! साधु-वृत्ति को ग्रहण करके जीवन-पर्यन्त इसमें कोई विश्राम नहीं तथा सहस्रो गुणो के समूह को लोहभार की भांति उठाना अत्यन्त कठिन है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अल्पसत्त्व वाले जीव गुरुतर भार का उठाने मे समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार साधु वृत्ति मे धारण करने योग्य गुणसमूह के भार को तेरे जैसा सुकुमार प्रकृति का बालक उठा नहीं सकता। साराश यह है कि साधुवृत्ति मे जिन गुणो की आवश्यकता है, उनका सम्पादन तेरे जैसे सुखशील और कोमल-प्रकृति बालक के लिए अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार आकाश मे घूमने वाले सूर्य और चन्द्रमा के लिए कोई विश्राम का स्थान नही, उसी प्रकार इस वृत्ति में आरूढ़ हुए साधु के लिए भी विश्राम का कोई स्थान नही। इसलिए इस वृत्ति के तू योग्य नहीं है।

अब उक्त विषय की पुष्टि के लिए एक और उदाहरण देते हैं, यथा--

आगासे गंगसोउ व्व, पडिसोउ व्व दुत्तरो ।
बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ॥ ३७ ॥

आकाशे गंगास्रोत इव, प्रतिस्रोत इव दुस्तरः ।
बाहुभ्यां सागरश्चैव, तरितव्यो गुणोदधिः ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः--**आगासे**--आकाश मे, **गंगसोउ**--गगा नदी के स्रोत की, **व्व**--तरह, **पडिसोउ**--प्रतिस्रोत, **व्व**--वत्, **दुत्तरो**--दुस्तर है, **बाहाहिं**--भुजाओ से, **सागरो**--सागर, **च**--पुनः, **एव**--निश्चय मे, **तरियव्वो**--तैरना कठिन है, इसी प्रकार, **गुणोदही**--गुणों का समुद्र भी तैरना कठिन है।

मूलार्थ--इस साधुवृत्ति का अनुष्ठान आकाश में गंगास्रोत और प्रतिस्रोत की भांति दुस्तर है तथा जैसे भुजाओं से समुद्र का तैरना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों के समुद्र का पार करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका--प्रस्तुत गाथा में सयम-वृत्ति के पालन को गंगा-प्रवाह के दृष्टान्त से अत्यन्त कठिन बताने का प्रयत्न किया गया है। मृगापुत्र के माता-पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! गंगानदी का स्रोत

हिमालय से निकलकर बहता है, उसकी सौ योजन प्रमाण धारा नीचे गिरती है। उस धारा को पकड़ कर जैसे पर्वत पर चढ़ना दुस्तर है, उसी प्रकार संयमवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करना भी दुस्तर है। तथा जैसे अन्य नदियों के प्रतिस्रोतों में तैरना कठिन है, अर्थात् जहां पर पानी ऊंचे स्थान से नीचे गिरता है और जल का प्रवाह बड़े वेग से बहता है—जैसे उस प्रवाह में ऊपर की ओर तैरना कठिन है, उसी प्रकार संयम-वृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त कठिन है। तथा जैसे भुजाओं से समुद्र पार करना दुस्तर है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणो के समूहरूप समुद्र का पार करना भी नितान्त कठिन है। तात्पर्य यह है कि भुजाओं से समुद्र पार करने की भांति मन, वचन और शरीर से जीवन-पर्यन्त ज्ञानादि गुणों का सम्यक् रूप से आराधन करना निस्सन्देह अधिक से अधिक कठिन है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

बालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे ।
असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥ ३८ ॥

बालुकाकवलश्चैव, निःस्वादस्तु संयमः ।
असिधारा-गमनं चैव, दुष्करं चरितुं तपः ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**बालुया**—बालू के, **कवले**—कवल की, **एव**—तरह, **संजमे**—सयम, **निरस्साए**—स्वादरहित है, **उ**—वितर्क में, **असिधारा**—खड्ग की धारा पर, **गमणं**—गमन की, **एव**—तरह, **दुक्करं**—दुष्कर है, **तवो**—तप का, **चरिउं**—आचरण करना, **च**—समुच्चय अर्थ में, व-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—जैसे बालू के कवल में कोई रस नहीं, उसी प्रकार संयम भी नीरस और स्वाद-रहित है तथा जैसे तलवार की धार पर चलना दुष्कर है, उसी प्रकार तप का आचरण करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका—इस गाथा मे बालू और असि-धारा के दृष्टान्त से सयम-वृत्ति को अत्यन्त नीरस और दुश्चरणीय बताया गया है। जैसे बालू—रेत बिलकुल नीरस और स्वाद से रहित होती है, उसी प्रकार यह संयम भी नीरस और निःस्वाद है। यद्यपि ससार मे ऐसा कोई भी पदार्थ नही जो कि कोई-न-कोई रस अथवा स्वाद न रखता हो, तथापि ग्रहण करने वाले पुरुष को जिस रस की इच्छा हो, उसके प्रतिकूल पदार्थ को वह नीरस ही मानता है। इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषों को यद्यपि संयम में सरसता प्रतीत होती है, तथापि विषयासक्त संसारी पुरुषों की दृष्टि में वह सर्वथा नीरस है। इसी आशय से बालू के समान इसको स्वाद-रहित बताया गया है।

जिस प्रकार असि-धारा पर चलना कठिन है, उसी प्रकार संयमक्रिया का अनुष्ठान करना

भी नितान्त कठिन है, तात्पर्य यह है कि जैसे खड्गधारा पर चलने वाला पुरुष जरा सी असावधानी से मारा जाता है, अर्थात् उसके पांव आदि शरीर के अग-प्रत्यंग के कट जाने का भय रहता है, इसी प्रकार तप के अनुष्ठान मे भी असावधानता करने वाले पुरुष को महान् से महान् अनिष्ट उपस्थित होने की सभावना रहती है, इसीलिए हे पुत्र ! इस संयम का पालन करना तुम्हारे जैसे राजकुमार के लिए अत्यन्त कठिन है।

अब फिर अन्य दृष्टान्त के द्वारा संयम की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं, यथा–

अही वेगन्तदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे ।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥ ३९ ॥

अहिरिवैकान्तदृष्ट्या, चारित्रं पुत्र ! दुश्चरम् ।
यवा लोहमयाश्चैव, चर्वयितव्याः सुदुष्कराः ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वय·–**अही**–साप, **इव**–की तरह, **एगंत**–एकान्त, **दिट्ठीए**–दृष्टि से, **पुत्त**–हे पुत्र!, **चरित्ते**–चारित्र, **दुच्चरे**–दुश्चर है, **च**–पुनः, **एव**–जैसे, **लोहमया**–लोहमय, **जवा**–यव, **चावेयव्वा**–चर्वण करने, **सुदुक्करं**–अति दुष्कर है।

मूलार्थ–हे पुत्र ! जैसे सांप एकाग्र दृष्टि से चलता है, उसी प्रकार एकाग्र मन से संयमवृत्ति में चलना कठिन है, तथा जैसे लोहमय यवों का चर्वण करना दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन करना भी दुष्कर है।

टीका–इस गाथा में चरित्र की दुष्करता बताने के लिए दो दृष्टान्त दिए गए है–पहला सप्र का और दूसरा लोहे के यवो का। जैसे कंटकादियुक्त मार्ग मे सप्र एकाग्र दृष्टि से चलता है, अर्थात् मार्ग मे चलता हुआ सप्र अपनी दृष्टि को इधर-उधर नहीं करता, तात्पर्य यह है कि कांटा आदि लग जाने के भय से वह मार्ग मे सर्वथा सावधान होकर चलता है, जिस प्रकार उसका यह गमन अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार संयममार्ग मे चलना भी अत्यन्त कठिन है, क्योकि कांटो की तरह संयममार्ग में भी अनेक प्रकार के अतिचार आदि दोपो के लग जाने की सभावना रहती है।

जिस प्रकार लोहे के यवो को दांतों स चबाना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है, तात्पर्य यह है कि सयम का पालन करना और लोहे के चने चबाना ये दोनो बाते समान है। जो पुरुष लोहे के चने चबाने का सामर्थ्य रखता हो, उसी का सयम मे प्रवृत्त होना ठीक है अन्य का नही। अतः तुम्हारे जैसे कोमलप्रकृति-बालक इस संयम का पालन नही कर सकते, यही इस गाथा का भाव है।

यहां पर **'एव'** शब्द उपमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अब संयम की दुष्करता के लिए अग्नि का दृष्टान्त देते हैं, यथा–

जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करा ।
तहा दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥ ४० ॥

यथाग्निशिखा दीप्ता, पातुं भवति सुदुष्करा ।
तथा दुष्करं कर्तुं यत्, तारुण्ये श्रमणत्वम् ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः–जहा–जैसे, **अग्गिसिहा**–अग्निशिखा–आग की ज्वाला, **दित्ता**–दीप्त–प्रचंड, **पाउं**–पीना, **सुदुक्करा**–अति दुष्कर, **होइ**–है, **तहा**–उसी प्रकार, **दुक्करं**–दुष्कर है, **जे**–जो, **तारुण्णे**–तरुण अवस्था में, **समणत्तणं**–संयम का पालन, **करेउं**–करना।

मूलार्थ–जिस प्रकार प्रज्वलित अग्निशिखा–अग्निज्वाला का पीना दुष्कर है, उसी प्रकार युवावस्था में संयम का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे तरुण अवस्था मे संयम के पालन को अत्यन्त कठिन बताने के लिए अग्निशिखा का उदाहरण दिया गया है। जैसे प्रचण्ड अग्निज्वाला का मुख से पान करना दुष्कर है, उसी प्रकार तरुण अवस्था मे संयमवृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है। कारण यह है कि इस अवस्था में इन्द्रियों का दमन करना–मन, वचन और शरीर से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना कुछ खेल नहीं, प्रत्युत यह काम इतना ही दुष्कर है, जितना कि अग्नि की प्रदीप्त ज्वाला का मुख से पान करना।

तात्पर्य यह है कि संयम का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य का काम नही, सत्त्व-शाली महापुरुष ही संयम के यथावत् पालन की शक्ति रखते हैं। इसलिए हे पुत्र ! तेरे जैसा सुकुमार बालक इसके योग्य नही हो सकता, क्योंकि तरुण अवस्था में सयमवृत्ति का पालन करना प्रचंड अग्निशिखा को मुख से पीने के समान है।

सूत्र में **'दित्ता'** यह द्वितीया के स्थान पर प्रथमा विभक्ति दी हुई है तथा लिंगव्यत्यय होने से **'कृ'** धातु का प्रयोग भी व्यत्यय रूप में किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

जहा दुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो ।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं ॥ ४१ ॥

यथा दुःखं भर्तुं यो, भवति वायोः कोस्थलः ।
तथा दुष्करं कर्तुं यत्, क्लीवेन श्रामण्यम् ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **दुक्खं**—कठिन, **होइ**—होता है, **भरेउं**—भरना, **वायस्स**—वायु से, **कोत्थलो**—वस्त्र का कोथला—थैला, **तहा**—तैसे, **दुक्खं**—कठिन है, **करेउं**—करना, **कीवेणं**—क्लीव पुरुषो द्वारा, **समणत्तणं**—संयम का पालन करना, **जे**—पादपूर्ति में।

मूलार्थ—जैसे वायु से कोथला—थैला भरना कठिन है, उसी प्रकार क्लीव (हीन सत्त्व वाले) पुरुष के द्वारा संयम का पालन करना कठिन है।

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार वस्त्र की कोथली में भरा हुआ वायु ठहर नही सकता, उसी प्रकार निर्बल आत्मा में संयम-पोषक शीलादि गुणों की स्थिति नही हो सकती। तात्पर्य यह है कि सत्त्वहीन, कम सत्त्व वाले जीव सयमोपयोगी गुणों को धारण करने की शक्ति नहीं रखते। इसके विपरीत जैसे रबड़ की थैली मे भरा हुआ वायु ठहर सकता है, उसी प्रकार सत्त्वशाली वीर पुरुष में संयमवृत्ति टिक सकती है।

यहां पर कपडे के कोथले के समान क्लीवात्मा है और शील आदि गुण वायु के तुल्य कहे गए हैं। तथा '**जे**' शब्द पादपूर्ति मे है और '**वायस्स**' **वातेन**—यह तृतीया विभक्ति के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग किया गया है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करो मंदरो गिरी ।
तहा निहुयं नीसंकं, दुक्करं समणत्तणं ॥ ४२ ॥

यथा तुलया तोलयितुं, दुष्करो मन्दरो गिरिः ।
तथा निभृतं निःशंकं, दुष्करं श्रमणत्वम् ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **तुलाए**—तुला से, **तोलेउं**—तोलना, **दुक्करो**—दुष्कर है, **मंदरो**—मन्दर नामा, **गिरी**—पर्वत, **तहा**—उसी प्रकार, **निहुयं**—निश्चल और, **नीसंकं**—शंका से रहित होकर, **दुक्करं**—दुष्कर है, **समणत्तणं**—साधुवृत्ति का पालन करना।

मूलार्थ—जैसे तुला से मेरु पर्वत का तोलना दुष्कर है, ठीक उसी प्रकार निश्चलचित्त और शंका-रहित होकर साधुवृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका—यहा पर श्रमणत्व को अत्यन्त दुष्कर बताने के लिए जो मेरु पर्वत का दृष्टान्त दिया गया है, वह सर्वथा समुचित है, अर्थात् जिस प्रकार मेरु पर्वत को तराजू पर तोला नहीं जा सकता, उसी प्रकार एकाग्र मन स और सम्यक्त्वादि में सर्वथा शंकारहित होकर साधुवृत्ति का अनुष्ठान भी दुर्बल आत्मा से नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि द्रव्य और भाव से ममत्व का सर्वथा त्याग करके श्रमणवृत्ति के अनुसार तपश्चर्या मे प्रवृत्त होना बहुत ही कठिन है।

द्वितीय पक्ष में, जैसे मेरु पर्वत का माप करना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार श्रमणधर्मोचित गुणों का माप करना और उनको धारण करना भी निर्बल आत्मा के लिए असंभव नहीं तो कठिनतर अवश्य है। मृगापुत्र के माता-पिता के कथन का अभिप्राय यह है कि तू जिस परिस्थिति में इस समय पल रहा है और तेरे शरीर की जो अवस्था है, उससे तू श्रमणवृत्ति के योग्य प्रतीत नही होता, अतः इसकी ओर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिए।

अब फिर उक्त विषय का ही समर्थन करते हुए कहते हैं–

जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो ।
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो ॥ ४३ ॥

यथा भुजाभ्यां तरितुं, दुष्करो रत्नाकरः ।
तथाऽनुपशान्तेन, दुष्करो दमसागरः ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **भुयाहिं**–भुजाओ से, **तरिउं**–तरना, **रयणायरो**–रत्नाकर, **दुक्करं**–दुष्कर है, **तहा**–उसी प्रकार, **अणुवसंतेणं**–अनुपशान्त से–उत्कट कषाय वाले से, **दमसागरो**–इन्द्रिय-दमन रूप समुद्र अथवा उपशम रूप समुद्र का तरना, **दुक्करं**–दुष्कर है।

मूलार्थ–जैसे भुजाओं से समुद्र का तैरना दुष्कर है, उसी प्रकार अनुपशान्त–उत्कट कषाय वाले आत्मा से दम अर्थात् संयम रूप समुद्र का तैरना दुष्कर है।

टीका–मृगापुत्र के माता-पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! जिस प्रकार भुजाओं से समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जिस आत्मा मे कषायों–क्रोध, मान, माया और लोभ–का उदय हो रहा है, इतना ही नही, किन्तु वह उदय भी उत्कट रूप से हो रहा है, वह आत्मा भी उपशमरूप–शान्तिरूप जो समुद्र है उससे पार नहीं हो सकता, कहने का तात्पर्य यह है कि संयमवृत्ति का पालन वही आत्मा कर सकता है, जिसके कषाय उपशमभाव मे रहे, परन्तु तेरे कषाय अभी उत्कट भाव में विद्यमान हैं, इसलिए तू इस श्रमणवृत्तिरूप उपशान्त महासागर को पार करने के योग्य नहीं है। अल्पसत्त्व वाली आत्मा मे इष्टवस्तु के वियोग और अनिष्टवस्तु के संयोग से कषायों का उदय शीघ्र ही हो जाता है, परन्तु श्रमण-वृत्ति मे इनका अभाव ही अपेक्षित है।

यहां पर इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि पूर्व गाथा में गुणों के समुद्र का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत गाथा में दमरूप सागरविशेष का वर्णन किया गया है, इसलिए पुनरुक्तिदोष की आशंका नहीं। इसके अतिरिक्त संयम-वृत्ति में परम शांति की नितान्त आवश्यकता है, यह भी उक्त गाथा में ध्वनित होता है।

अब मृगापुत्र के माता-पिता अपने आन्तरिक भावों को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि–

भुंज माणुस्सए भोए, पंचलक्खणए तुमं ।
भुत्तभोगी तओ जाया ! पच्छा धम्मं चरिस्ससि ॥ ४४ ॥

भुंक्ष्व मानुष्यकान् भोगान्, पंचलक्षणकान् त्वम् ।
भुक्तभोगी ततो जात ! पश्चाद् धर्म चरिष्यसि ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः–**भुंज**–भोगो, **माणुस्सए**–मनुष्यसम्बन्धी, **भोए**–भोगों को, **पंचलक्खणए**–पांच लक्षणो वाले, **तुमं**–तू, **भुत्तभोगी**–भुक्तभोगी होकर, **तओ**–तदनन्तर, **जाया**–हे पुत्र! **पच्छा**–पीछे से, **धम्मं**–धर्म को, **चरिस्ससि**–ग्रहण करना।

मूलार्थ–हे पुत्र ! तू अभी पांच लक्षणों वाले मनुष्य-सम्बन्धी कामभोगों का उपभोग कर। तदनन्तर भुक्तभोगी होकर फिर तुम धर्म का आचरण कर लेना, अर्थात् संयम ग्रहण करके मुनिवृत्ति का पालन करना।

टीका–मृगापुत्र के माता-पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! हमने पहले कहा था कि तरुण अवस्था मे इन्द्रियां का निग्रह करना अत्यन्त कठिन है, इसलिए हमारा वक्तव्य इस समय केवल इतना ही है कि तुम इस समय तो मनुष्य-सम्बंधी कामभोगो का उपभोग करो जो कि शब्द, रूप, गन्ध, रस, और स्पर्श इन पाच गुणो से युक्त है तथा इन विषयो का उपभोग कर चुकने के बाद जब कि तू वृद्धावस्था को प्राप्त होगा, तब अपनी इच्छा के अनुसार धर्म में दीक्षित हो जाना, अर्थात् सयमवृत्ति को ग्रहण करके उसका यथाविधि पालन करना, परन्तु इस समय तू उसके योग्य नही। इसलिए अभी तो संयमवृत्ति की उपेक्षा करके विषयभोगों मे प्रवृत्त होना ही तेरे लिए उचित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय जैन-वानप्रस्थाश्रम और भिक्षु-आश्रम में लोग प्रायः आयु के चतुर्थ भाग में ही प्रविष्ट होते होंगे तथा भुक्तभोगी होने के पश्चात् धर्म में भी अवश्य दीक्षित होते होगे, इसी अभिप्राय से मृगापुत्र के माता-पिता ने उसे युवावस्था मे संयम ग्रहण करने का निषेध और वृद्धावस्था में उसके स्वीकार करने की अनुमति दी है, किन्तु सयम के ग्रहण का निषेध नही किया है।

माता-पिता के इन संयम-सम्बन्धी विचारों को सुनने के बाद युवराज मृगापुत्र ने उनके प्रति क्या कहा, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है–

सो बिंतऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं ।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥ ४५ ॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ, एवमेतद् यथास्फुटम् ।
इह लोके निष्पिपासस्य, नास्ति किंचिदपि दुष्करम् ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः–सो–वह–मृगापुत्र, **बिंत**–कहने लगा, **अम्मापियरो**–माता-पिता को, **एवं**–इसी प्रकार, **एयं**–यह–प्रव्रज्या–आदि का पालन करना, **जहा**–यथा, **फुडं**–स्फुट है–सत्य है–किन्तु, **इह**–इस, **लोए**–लोक में, **निप्पिवासस्स**–निष्पिपास–पिपासारहित को, **किंचिवि**–किंचित् भी, **दुक्करं**–दुष्कर, **नत्थि**–नहीं है।

मूलार्थ–मृगापुत्र ने अपने माता-पिता से कहा–"आपने दीक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, वह सब सत्य है–यथार्थ है, परन्तु जो पुरुष इस लोक में पिपासा-रहित है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।"

टीका–माता-पिता के पूर्वोक्त कथन को सुनकर युवराज मृगापुत्र बोले कि आपने संयमवृत्ति की दुष्करता के विषय मे जो कुछ भी प्रतिपादन किया है, वह सर्वथा यथार्थ है, अर्थात् सयमवृत्ति का यथावत् पालन करना अत्यन्त कठिन है, यह बात निस्सन्देह सत्य है, परन्तु इसमे भी सन्देह नहीं कि जिन साधकों में इस लोक के विषय-भोगों की सर्वथा इच्छा नहीं होती, अर्थात् जो जीव ऐहिक विषय-भोगो से सर्वथा विरक्त हो चुके हैं, उनके लिए इस लोक में कोई भी काम दुष्कर नहीं रह जाता, अर्थात् उन धीर पुरुषों के लिए संयमवृत्ति का पालन करना कुछ भी कठिन नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ऐहिक विषय-भोगों में आसक्त हैं, उनके लिए ही संयमवृत्ति का अनुष्ठान दुष्कर है, परन्तु जो पुरुष इस लोक के विषयभोगजन्य सुखों की अभिलाषा ही नहीं रखते, उनके लिए तो संयमवृत्ति का निर्वाह दुष्कर नहीं, अपितु अत्यन्त सुकर है।

सारांश यह है कि मुझे इस लोक के विषय-भोगों के उपभोग की इच्छा नहीं है, अतः मेरे लिए यह संयमवृत्ति अत्यन्त सुकर है, यही इस गाथा का फलितार्थ है।

अब ऐहिक विषयों से उपरति होने का कारण बताते हैं–

सारीरमाणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो ।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥ ४६ ॥

शारीरमानस्यश्चैव, वेदनास्तु अनन्तशः ।
मया सोढा भीमाः, असकृद् दुःखभयानि च ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–सारीर–शारीरिक, **च**–और, **माणसा**–मानसिक, **एव**–निश्चय में, **वेयणा**–वेदना, **उ**–वितर्क मे, **अणंतसो**–अनन्त बार, **मए**–मैंने, **सोढाओ**–सहन की, **भीमाओ**–

अत्यन्त रौद्र, **असइं**—अनेक बार, **दुक्ख**—दुख, **य**—और, **भयाणि**—भयों को सहन किया।

मूलार्थ—मैंने अनन्त बार अति-भयानक शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन किया है तथा अनेक बार दु:ख और भयों का अनुभव किया है।

टीका—पस्तुत गाथा में मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्मों में अनुभव की हुई दु:ख-यातनाओं का अपने माता-पिता के समक्ष वर्णन किया है जो कि उसकी ऐहिक विषय-भोगों से होने वाली उपरामता का कारण हैं। मृगापुत्र कहते है कि मैने अपने पूर्व-जन्मो मे इन शारीरिक और मानसिक वेदनाओ को अनन्त बार सहन किया है, रोगादि के निमित्त से शरीर मे उत्पन्न होने वाली वेदना शारीरिक, प्रिय पदार्थो के वियोग से उत्पन्न वेदना मानसिक वेदना, लोक और राज-विरुद्ध कार्यो के आचरण से दडित होने पर नाना प्रकार के दु:ख और मृत्युजन्य भयों को भी मैंने पिछले जन्मो में अनेक बार सहन किया है।

मृगापुत्र क कथन का आशय यह है कि जब मैंने असहनीय कष्टो को भी अनेक बार सहन किया है तो फिर सयमवृत्ति मे उपस्थित होने वाले कष्ट मेरे लिए दुष्कर केसे हो सकते है । तथा अनेक जन्मो के अनुभव से यही प्रतीत हुआ है कि कामभोगादि विषयो के सेवन का फल सिवाय दु:ख-यातना के और कुछ नही। इसलिए इनमे मेरी अब सर्वथा रुचि नही रही हे।

यहा पर '**असकृत**' शब्द भी अनन्त बार का ही सूचक है।

अब फिर कहते हैं—

जरामरणकंतारे, चाउरंते भयागरे ।
मए सोढाणि भीमाइं, जम्माइं मरणाणि य ॥ ४७ ॥

जरामरणकान्तारे, चातुरन्ते भयाकरे ।
मया सोढानि भीमानि, जन्मानि मरणानि च ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वय:—**जरा**—जरा, **मरण**—मृत्युरूप, **कंतारे**—कान्तार मे, **चाउरंते**—चार गति रूप खान मे, **भयागरे**—भयो की खान म, **मए**—मैंने, **सोढाणि**—सहन किये, **भीमाइं**—भयंकर, **जम्माइं**—जन्म, **य**—और, **मरणाणि**—मरण के दु:ख।

मूलार्थ—मैंने जरा-मरण रूप कान्तार में और चार गति रूप भयों की खान में जन्म-मरण रूप भयंकर दु:खों को सहन किया है।

टीका—मृगापुत्र अपने माता-पिता से फिर कहते है कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्याघ्र और सर्पादि दुष्ट जन्तुओ से भरा हुआ एक बडा भयानक असूझमहावन होता है, उसी प्रकार यह जरा और मरणरूप महावन है, जिसकी देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक ये चार दिशाएं हैं और

जन्ममरणजन्य अनेक प्रकार के दुःखों की जो खान है। तात्पर्य यह है कि इस संसार में जन्म-मरण-जन्य अनेकविध दुःखों को मैंने सहन किया है जो कि अतीव भयानक हैं और जिनका इस समय भी मेरे को प्रत्यक्ष की भांति अनुभव हो रहा है, अतः मुझे इन सांसारिक विषय-भोगो से किसी प्रकार का भी अनुराग नहीं।

उक्त गाथा में चारों गतियों को दुःखों की खान कहा गया है। अतः अब सब से पहले नरकगति के दुःखों का वर्णन करते हैं–

जहा इहं अगणी उण्हो, इत्तोऽणंतगुणो तहिं ।
नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए ॥ ४८ ॥

यथेहाग्निरुष्णः, इतोऽनन्तगुणस्तत्र ।
नरकेषु वेदना उष्णाः, असाता वेदिता मया ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **इहं**–इस मनुष्यलोक में, **अगणी**–अग्नि, **उण्हो**–उष्ण है, **इत्तो**–इस आग से, **अणंतगुणो**–अनन्तगुणा, **उण्हा**–उष्ण है, **तहिं**–वहां पर, **नरएसु**–नरको में, **वेयणा**–वेदना, **अस्साया**–असातारूप, **वेइया**–अनुभव की, **मए**–मैंने।

मूलार्थ–जैसे इस लोक में अग्नि का उष्ण स्पर्श अनुभव किया जाता है, उससे अनन्त गुणा अधिक उष्णता के स्पर्श का अनुभव वहां (अर्थात् नरकों में) होता है, अतः नरकों में मैंने इस असातारूप वेदना का खूब अनुभव किया है।

टीका–इस गाथा में पहले नरक की उष्ण वेदना का वर्णन किया गया है। जैसे इस लोक में पत्थर और लोहा आदि कठिन धातुओं को द्रवीभूत करने वाला तथा सन्ताप देने वाला अग्नि का उष्ण स्पर्श प्रत्यक्षरूप से अनुभव में आता है, ठीक इस अग्नि के उष्ण स्पर्श से अनन्त गुणा अधिक उष्ण स्पर्श उन नरकादि स्थानो में है, जहां पर कि मैं उत्पन्न हो चुका हूं, अतः नरकादि स्थानों की असातारूप उष्ण वेदना को मैंने अनन्त बार अनुभव किया है। इसी हेतु से मैं इस संसार से विरक्त हो रहा हूं।

यद्यपि नरक में स्थूल अग्नि विद्यमान नही है, तथापि वहां पृथ्वी का स्पर्श ही उसके समान उष्ण है। [**'बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तादृशः स्पर्श इति गम्यते'**] अथवा वहां पर रहने वाले परमाधर्मी देवता लोग, वैक्रिय अग्नि के द्वारा नारकियो को महान् कष्ट देते है। मनुष्य-लोक मे बहुत से जीव, उष्ण स्पर्श से विशेष दुःख का अनुभव करते हैं, इसलिए नरकों में प्रथम उष्णता के ही दुःख का दिग्दर्शन कराया गया है।

अब उष्णता के प्रतिपक्षी शीतस्पर्शजन्य दुःख का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

जहा इहं इमं सीयं, इत्तोऽणन्तगुणो तहिं ।
नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए ॥ ४९ ॥

यथेदमिह शीतम्, इतोऽनन्तगुणं तत्र ।
नरकेषु वेदना शीता, असाता वेदिता मया ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैमे, **इहं**—इस लोक मे, **इमं**—यह प्रत्यक्ष, **सीयं**—शीत है, **इत्तो**—इससे, **अणंतगुणो**—अनन्तगुणा शीत, **तहिं**—वहा पर है, **नरएसु**—नरकों मे, **सीया**—शीत की, **वेयणा**—वेदना, **अस्साया**—असातारूप, **वेइया**—भोगी, **मए**—मैंने।

मूलार्थ—जैसे इस लोक में यह प्रत्यक्ष शीत पड़ रहा है, इससे अनन्त गुणा अधिक शीत वहां पर है, सो नरकों में इस प्रकार के शीत की वेदना मैंने अनन्त बार भोगी है।

टीका—इस गाथा मे शीत की वेदना का दिग्दर्शन कराया गया है। मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते है कि जैसे माघ आदि मासो मे हिमालय आदि पर्वतो पर शीत पडता है, अर्थात् बर्फ के पडने से शीत की अधिकता होती है, उस शीत से अनन्त गुणा शीत उन नरकों में है, जहा पर कि मैं कई बार उत्पन्न हुआ और उस शीत की वेदना को सहन किया। नरक मे शीत तो कल्पनातीत है, परन्तु उसकी निवृत्ति का वहा पर कोई उपाय नहीं, इसलिए वहा शीत की अत्यन्त असह्य वेदना को भोगना पडता है।

यहा पर सूत्र मे जो **'इदम्'** शब्द का प्रयोग किया है, उससे प्रतीत होता है कि मृगापुत्र को शीतकाल म वैराग्य उत्पन्न हुआ होगा, अथवा जिस समय इस विषय की वह अपने माता-पिता से चर्चा करते होंगे, उस समय शीत की अधिकता होगी, क्योकि लिखा है कि—**'इदमः प्रत्यक्षगतं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्॥'** अर्थात् **'इदम्'** शब्द का प्रत्यक्षगत वस्तुविषय मे ही प्रयोग किया जाता है तथा यहां पर वेदना शब्द का केवल शीत के साथ सम्बन्ध है।

अब उक्त विषय के सम्बन्ध में नरक की अन्य यातनाओं का वर्णन करते हैं। यथा—

कंदन्तो कंदुकुंभीसु, उड्ढपाओ अहोसिरो ।
हुयासणे जलन्तंमि, पक्कपुव्वो अणंतसो ॥ ५० ॥

क्रन्दन् कन्दुकुंभीषु, ऊर्ध्वपादोऽधःशिरा ।
हुताशने ज्वलति, पक्वपूर्वोऽनन्तशः ॥ ५० ॥

पदार्थान्वय.—**कंदन्तो**—आक्रन्दन करते हुए, **कंदुकुंभीसु**—कंदुकुम्भी मे, **उड्ढपाओ**—ऊंचे भाव और, **अहोसिरो**—नीचे सिर, **जलन्तंमि**—जलती हुई, **हुयासणे**—अग्नि मे, **पक्कपुव्वो**—पूर्व मुझे पकाया गया है, **अणंतसो**—अनन्त बार।

मूलार्थ—कन्दुकुम्भी में ऊंचे पैर और नीचे सिर करके आक्रन्दन करते हुए प्रज्वलित हुई अग्नि में मुझे अनन्त बार पकाया गया है।

टीका—मृगापुत्र पूर्व-जन्मो में भोगी हुई नरक-यातनाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आक्रन्दन करते हुए—उच्च स्वर से रुदन करते हुए मुझको कन्दुकुम्भी नामक पकाने के पात्र में नीचे सिर और ऊपर पांव डालकर प्रज्वलित की हुई अग्नि द्वारा अनन्त बार पकाया गया, अर्थात् देवमाया से उत्पन्न की हुई प्रचण्ड अग्नि के द्वारा कुम्भी में डालकर उन यमदूतों ने मुझे अनन्त बार पकाया। कारण कि नरकगति के जीव को वे यमदूत अधिक से अधिक पीड़ा पहुंचाने से ही प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस प्राणी ने अपने पूर्वजन्म मे जिस प्रकार के पापकर्मो का बन्ध किया है, उसी के अनुसार उसका फल देने के लिए उनके—यमपुरुषों के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिए मैं नरकों की प्रचण्ड अग्नि में अनेक बार पकाया और तपाया गया हू।

'कंदुकुम्भी' नरक के एक अशुभ भाजन का नाम है, जो कि देवो द्वारा वैक्रियलब्धि से निर्मित होता है तथा गाथा म पढ गए **'पुव्व'** शब्द स, यह उक्त वृत्तान्त पूर्वजन्म का ही समझना, वर्तमान समय का नही। वर्तमान मे तो वह मनुष्य-गति मे विद्यमान है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं, यथा—

महादवग्गिसंकासे, मरुंमि वइरवालुए ।
कलम्बवालुयाए उ, दड्ढपुव्वो अणन्तसो ॥ ५१ ॥

महादवाग्निसंकाशे, मरौ वज्रबालुकायाम् ।
कदम्बबालुकायां च, दग्धपूर्वोऽनन्तशः ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः:—**महादवग्गिसंकासे**—महादवाग्नि के सदृश, **मरुंमि**—मरुभूमि की बालुका क समान, **वइरवालुए**—वज्रबालुका मे, अथवा, **कलम्बवालुयाए**—कदम्बबालुका—नदी मे, **उ**—तु तो, **दड्ढपुव्वो**—पहले मुझे दग्ध किया गया, **अणंतसो**—अनत बार।

मूलार्थ—मैं महादवाग्नि के समान आग में और मरुदेश के समान वज्रमयी बालुका में तथा कदम्बबालुका में अनन्त बार जलाया और तपाया गया हूं।

टीका—नरकगति की भयंकर यातनाओं का दिग्दर्शन कराते हुए मृगापुत्र ने सांसारिक कामभोगो के उपभोग से उत्पन्न होने वाले कटु परिणामो को बडी ही सुन्दरता स व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि मैने पूर्वजन्म में नरक की वज्रबालुका और कदम्बबालुका के सन्तापों को अनेक बार सहन किया है, अर्थात् इनमें मुझे अनेक बार तपाया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रचड दावानल क समान

नरक मे एक भयकर नदी है, उसकी बालुका मरुदेश की अतितीक्ष्ण बालुका के समान अति उष्ण और तीक्ष्ण अतएव वज्रमय है। तथा कदम्ब नदी की तीक्ष्ण बालुका के समान अत्यन्त उष्ण बालुका में मुझे अनक बार तपाया और जलाया गया।

प्रस्तुत गाथा मे महादवाग्नि, मरुवज्रबालुका, और कदम्बबालुका, इन नदियो और देशों की बालुका की उपमा ग्रहण की गई है, परन्तु **'मरुमि–मरौ'** इस सप्तम्यन्त पद से जैसे देशविशेष की बालुका सिद्ध होती हे, ठीक उसी प्रकार **'कदम्बबालुका'** से भी देशविशेष का ही ग्रहण है। जैसे **'कलंबु–कोलंबु'** देश की बालुका बहुत तीक्ष्ण होती है, परन्तु इस देश का अस्तित्व आर्य देश स भिन्न विदेशभूमि मे पाया जाता है तथा साथ ही मरुदेश वा कोलंबु देश के नाम स यह भी भली-भाति सिद्ध हो जाता है कि–आगे भी भूगोल कि शिक्षा पूर्ण उन्नति पर थी और जिस-जिस देश मे जो-जो मुख्य वस्तु होती थी, उसका भी परिचय कराया जाता था।

अब उक्त विषय का पुनः वर्णन करते हैं–

रसंतो कंदुकुंभीसु, उड्ढं बद्धो अबंधवो ।
करवत्तकरकयाईहिं, छिन्नपुव्वो अणन्तसो ॥ ५२ ॥

रसन् कन्दुकुम्भीषु, ऊर्ध्वं बद्धोऽबान्धवः ।
करपत्रक्रकचैः, छिन्नपूर्वोऽनन्तशः ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वय.–रसतो–आक्रन्दन करते हुए, **कंदुकुभीसु**–कदुकुम्भी मे, **उड्ढं**–ऊधा, **बद्धो**–बाध कर, **अबंधवो**–स्वजनो से रहित मुझे, **करवत्त**–करपत्र–आरा, **करकयाईहिं**–क्रकचो–लघुशम्त्रो- से, **छिन्नपुव्वो**–छेदन किया गया पूर्व मे, **अणन्तसो**–अनन्त बार।

मूलार्थ–आक्रन्दन करते हुए स्वजनों से रहित मुझे कंदुकुभी में ऊंचा बांध कर करपत्र और क्रकचों से पूर्व मे अनन्त बार छेदन किया गया है।

टीका–मृगापुत्र कहते है कि जब मैं नरकों मे उत्पन्न हुआ था, तब यम पुरुषो ने मुझे नाना प्रकार के कष्टो से पीडित किया था। जैसे कि–विलाप करते हुए मुझको वृक्ष आदि से बाधकर करपत्र अर्थात् आरे और अन्य शस्त्रो से छेदन किया गया, तथा नीचे कदुकुंभी रखी गई ताकि वृक्षादि से गिरने पर भी उसमे ही पडे, जिससे कि अग्नि के द्वारा भी मुझे तपाया जा सके और मेरी स्थिति उस समय यह थी कि मै अपने बन्धुजनों से सर्वथा रहित था, अर्थात् मेरी सहायता के लिए अथवा मुझे उस वृक्ष वेदना से बचाने के लिए मेरा कोई भी बन्धु वहां पर उपस्थित नही था।

यहा पर गाथा मे दिए गए **'अबांधवः'** शब्द का भी यही तात्पर्य है कि लोक में कष्ट

प्राप्ति के समय पर इनको ही अर्थात् स्वजन और मित्रवर्ग को ही–सहायता करते देखा जाता है, परन्तु नरकगति की यातना के समय इनमे से किसी का भी वहां पर अस्तित्व नही था और न हो सकता है।

अब नरक-सम्बन्धी अन्य यातनाओं का वर्णन करते हुए उक्त विषय का ही समर्थन करते हैं, यथा–

अइतिक्खकंटगाइण्णे, तुंगे सिंबलिपायवे ।
खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ॥ ५३ ॥

अतितीक्ष्णकण्टकाकीर्णे, तुंगे शाल्मलिपादपे ।
क्षेपितं पाशबद्धेन, कर्षणापकर्षणैर्दुष्करम् ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वयः–अइ– अति, **तिक्ख**–तीक्ष्ण, **कंटगाइण्णे**–काटों से आकीर्ण–व्याप्त, **तुंगे**–ऊचे, **सिंबलि**–शाल्मली, **पायवे**–वृक्ष मे–पर, **खेवियं**–क्षेपित करवाया गया, **पासबद्धेणं**–पाशबंध से, **कड्ढोकड्ढाहिं**–कर्षणापकर्षण करके मुझे दु:ख दिया गया, जो कि अति, **दुक्करं**–दुस्सह था।

मूलार्थ–अति तीक्ष्ण कांटों से व्याप्त ऊंचे शाल्मली वृक्ष पर मुझे पाशबद्ध करके कर्मो का फल भुगताया गया तथा कर्षणापकर्षण से मुझे असह्य कष्ट दिया गया।

टीका–मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते है कि अतितीक्ष्ण कांटों स व्याप्त और अति ऊचे शाल्मली वृक्ष पर उन यमदूतो ने मुझे रस्सी मे बांध कर मेरे पूर्वोपार्जित कर्मो का फल भुगताया अर्थात् जिस प्रकार क पाप कर्मो का मेने पूर्वजन्म मे संचय किया था, उसी के अनुसार मुझे फल रूप मे कष्ट दिया गया। अतएव उन तीक्ष्ण काटो पर मुझे इधर-उधर घसीटा गया। तात्पर्य यह है कि उन काटों पर से खीचकर मुझे इतना अत्यन्त कष्ट पहुचाया गया जिसकी कि इस समय कल्पना करते हुए भी अत्यन्त भय लगता है।

'खेवियं–क्षेपितम्' के विषय मे वृत्तिकार लिखते है कि–'**पूर्वोपार्जितं कर्म अनुभूतं मया यानि कर्माणि उपार्जितानि तानि भुक्तानीति शेष:**' अर्थात् जैसे कर्म पूर्वजन्म में किए थे उन्ही कर्मो के अनुसार मैने उनके फल को भोग लिया।

'कर्षणापकर्षण' का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार कृत्य करने से वेदना की उदीर्णा की जा सकती है, अत: उन्होंने वे ही काम किए, जिनसे मुझे विशेष दु:ख प्राप्त हो।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

महाजंतेसु उच्छू वा, आरसंतो सुभेरवं ।
पीलिओमि सकम्मेहिं, पावकम्मो अणन्तसो ॥ ५४ ॥

महायंत्रेष्विक्षुरिव, आरसन् सुभैरवम् ।
पीडितोऽस्मि स्वकर्मभिः, पापकर्माऽनन्तशः ॥ ५४ ॥

पदार्थान्वयः–महाजंतेसु–महायन्त्रो मे, **उच्छू वा**–इक्षु की तरह, **आरसंतो**–आक्रंदन करते हुए, **सुभेरवं**–अतिरौद्र शब्द करते हुए, **पीलिओमि**–मैं पीला गया–पीड़ित किया गया, **सकम्मेहिं**–अपने किए हुए कर्मो के प्रभाव से, **पावकम्मो**–पाप कर्म वाला, **अणन्तसो**–अनन्त बार।

मूलार्थ–पाप कर्म वाला मैं अति भयानक क्रंदन करता हुआ अपने किये हुए कर्मो के प्रभाव से इक्षु की तरह महायंत्रों में अनन्त बार पीला गया हूं।

टीका–इस गाथा मे नारकी जीवो का कोल्हू आदि यत्रो मे पीडित किए जाने का वर्णन है। मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते है कि मैं स्वोपार्जित पाप-कर्मो के प्रभाव से नरकों मे जाकर इक्षु की तरह कोल्हू आदि यंत्रो से पीड़ित किया गया। वहां पर मेरे अतिरौद्र आक्रन्दन को भी किसी ने नही सुना। तात्पर्य यह है कि मैंने नरको की अनेकविध रोमाचकारी यत्रणाओ को स्वकृत पापकर्मो के फलस्वरूप अनन्त बार सहन किया है। यहा पर पापकर्मो के आचरण से नरकगति मे उत्पन्न होने का उल्लेख किया गया है जो कि यथार्थ है, क्योकि महारम्भ, महापरिग्रह, मासभक्षण और पचेन्द्रिय जीवो का वध इत्यादि पाप-कर्मो के द्वारा जीव नरकगति मे उत्पन्न होते हे, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। सो इन्हीं कर्मो के प्रभाव से मुझे नरका की असह्य वेदनाए सहन करनी पडी।

इस कथन से शास्त्रकारों का यह आशय है कि विचारशील पुरुष को अशुभ कर्मो के आचरण से सदा निवृत्त रहना चाहिए और शुभ कर्मो के अनुष्ठान मे प्रवृत्त रहना चाहिए, जिससे कि उसे नरको की उक्त भयकर पीडाओ से दुःखी न होना पड़े। यहां पर '**वा**' शब्द '**इव**' अर्थ मे गृहीत है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं–

कूवंतो कोलसुणएहिं, सामेहिं सबलेहि य ।
पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरन्तो अणेगसो ॥ ५५ ॥

कूजन् कोलशुनकैः, श्यामैः शबलैश्च ।
पातितः स्फाटितः छिन्नः, विस्फुरन्ननेकशः ॥ ५५ ॥

पदार्थान्वयः–कूवंतो -आक्रंदन करता हुआ मै, **कोलसुणएहिं**–कोल–शूकर और श्वानो के द्वारा जो, **सामेहिं**–श्याम, **य**–और, **सबलेहि**–शबल हैं, **पाडिओ**–भूमि पर गिराया गया, **फालिओ**–फाडा गया, **छिन्नो**–छेदा गया, **विप्फुरन्तो**–इधर-उधर भागता हुआ, **अणेगसो**–अनेक बार।

मूलार्थ—आक्रन्दन करते और इधर-उधर भागते हुए मुझको काले चितकबरे शूकरों और कुत्तों द्वारा भूमि पर गिराया गया, फाड़ा गया और (वृक्ष की भांति) छेदा गया।

टीका—मृगापुत्र माता-पिता से कहते है कि नरक में मुझे परमाधर्मी पुरुषो—यमदूतो ने बहुत कष्ट दिए। काले और चितकबरे शूकरों तथा कुत्तों का रुप धारण करके अपनी तीखी दाढो से मुझे भूमि पर गिराया और जीर्णवम्त्र की तरह फाड दिया तथा वृक्ष की भांति छेदन कर दिया। मैं अनेक प्रकार से इधर-उधर भागता हुआ रुदन करता था, परन्तु मेरे इस भागने और रुदन करने का उनके ऊपर कोई प्रभाव नही पडता था। शास्त्रों में १५ प्रकार के परमाधर्मी यमपुरुषो का उल्लेख मिलता है, जिनके द्वारा नारकी जीवों को नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं।

अब नरक की अन्य यातनाओं का उल्लेख करते हैं—

असीहिं अयसिवण्णेहिं, भल्लीहिं पट्टिसेहि य ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य, उववन्नो पावकम्मुणा ॥ ५६ ॥

असिभिरतसीकुसुमवर्णैः, भल्लीभिः पट्टिशैश्च ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नश्च, उत्पन्नः पापकर्मणा ॥ ५६ ॥

पदार्थान्वयः—असीहिं—खड्गों से, **अयसिवण्णेहिं**—अतसीपुष्प के समान वर्ण वालो से, **भल्लीहिं**—भल्लियो से, **य**—और, **पट्टिसेहि**—शस्त्रो से, **छिन्नो**—छेदन किया, **भिन्नो**—भेदन किया—विदारण किया, **विभिन्नो**—सूक्ष्मखड रूप किया, **उववन्नो**—उत्पन्न हुआ—नरक मे, **पाव-कम्मुणा**—पापकर्म से।

मूलार्थ—पापकर्म के प्रभाव से नरक में उत्पन्न होने पर मुझे अतसी पुष्प के समान नील वर्ण वाले खड्गों से, भालों से और पट्टिशों (लोहदण्डों) से काटा गया, चीरा गया और मुझे टुकड़े-टुकड़े कर डाला गया।

टीका—मृगापुत्र ने अपने माता-पिता से कहा कि जब मै पूर्वकृत पापकर्मो के प्रभाव से नरक मे उत्पन्न हुआ तो वहा पर यमदूतो द्वारा अतसीपुष्प क समान नीली चमकवाले खड्ग और त्रिशूल आदि शस्त्रो से मै छेदा गया और भेदा गया, अर्थात् मेरे शरीर के टुकड़े किए गए, मेरे शरीर को चीरा-फाड़ा गया तथा मेरे शरीर के अनेकानेक खण्ड कर दिए गए।

यदि कोई शंका करे कि शरीर का इस प्रकार से छेदन, भेदन और सूक्ष्मखंड रूप कर देने से वह नारकी जीव जीवित कैसे रह सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि नारकी जीव का वैक्रिय शरीर होता है जो कि खंड-खंड कर देने पर भी पारदकणों के समान फिर मिल जाता है।

अब नरक सम्बन्धी अन्य यातनाओं का वर्णन करते हुए उक्त विषय का फिर समर्थन करते हैं-

अवसो लोहरहे जुत्तो, जलंते समिलाजुए ।
चोइओ तुत्तजुत्तेहिं, रोज्झो वा जह पाडिओ ॥ ५७ ॥

अवशो लोहरथे युक्तः, ज्वलति समिलायुते ।
नोदितस्तोत्रयोक्त्रैः, गवयो वा यथा पातितः ॥ ५७ ॥

पदार्थान्वयः-अवसो-परवश हुआ, **लोहरहे**-लोहे के रथ में, **जुत्तो**-जोड़ा हुआ, **जलंते**-जाज्वल्यमान, **समिला**-लोहे की कीली वाले जुए में, **जुए**-जोड दिया, **चोइओ**-प्रेरित किया, **तुत्त**-तात्रा से, **जुत्तेहिं**-चर्ममय योक्त्र गले मे बाधकर-प्राणियो से, **जह**-जैसे, **रोज्झो**-गवय, **पाडिओ**--मारकर भूमि पर गिराया जाता है, **वा**-तद्वत्।

मूलार्थ-परवश हुए मुझको लोहमय रथ के आगे आग के समान जलते हुए लोहे की कीली वाले जूए में जोड़ दिया गया, फिर चाबुकों से मार-मार कर नील गाय के समान भूमि पर गिरा दिया गया।

टीका-हे माता-पिता । मुझे नरको मे यमपुरुषों ने बहुत असह्य कष्ट दिए थे जैसे कि लोहे के एसे विकट रथ मे मेरे को जोता गया जिसका जूआ प्रचड अग्नि के समान जल रहा था। उस जुए के नीचे मेरी गर्दन रखकर बैल की भाति मुझे जोता गया और पीछे से चाबुको की मुझ पर खूब मार पडती थी। परवश हुए मुझको उन निर्दय यमदूतों ने इस तरह मार-मारकर पृथ्वी पर गिरा दिया जैसे कोई अनार्य पुरुष नीलगाय को मारकर भूमि पर गिरा देता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे नीलगाय अत्यन्त सरल और भद्रप्रकृति का पशु होता है, उसी प्रकार मे भी दीन और असहाय था।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा मे लोहरथ मे जोडने आदि की नारकी पुरुषो की जो भयकर वेदना का वर्णन किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष दया-रहित होकर पशुओं को गाडी आदि मे जोतकर उन पर अत्याचार करते है, अर्थात् प्रमाण से अधिक बोझ लादकर उनको ऊपर से और भी मारते हैं, वे ही पुरुष परलोक मे इस प्रकार की नरक-यातनाओं को भोगते हैं, अत: विचारशील पुरुषो को इस प्रकार के अन्याय से सदा अलग रहना चाहिए।

'**तोत्रयोक्त्रैः**' का अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार करते है-'**प्राजनकबन्धनविशेषैर्मर्माघट्ट-नाहननाभ्यामिति गम्यते**' अर्थात् चाबुक आदि से मर्मस्थानो को अभिहनन करके नीचे गिरा दिया, यह भाव है।

अब नरक-सम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हैं–

हुयासणे जलंतम्मि, चियासु महिसो विव ।
दड्ढो पक्को य अवसो, पावकम्मेहिं पाविओ ॥ ५८ ॥

हुताशने ज्वलति, चितासु महिष इव ।
दग्धः पक्कश्चावशः, पापकर्मभिः प्रावृतः ॥ ५८ ॥

पदार्थान्वयः–हुयासणे–हुताशन–अग्नि, **जलंतम्मि**–प्रज्वलित में वा, **चियासु**–चिता मे, **महिसो**–महिष की, **विव**–तरह, **दड्ढो**–दग्ध किया, **य**–और, **पक्को**–पकाया गया, **अवसो**–विवश हुआ, **पावकम्मेहिं**–पापकर्मो से, **पाविओ**–पाप करने वाला मैं।

मूलार्थ–जलती हुई प्रचण्ड अग्नि में और चिता में महिष की तरह डालकर मुझे जलाया गया और पकाया गया। कारण कि मैंने पापकर्म किए थे और उन्हीं पापकर्मो के प्रभाव से परवश हुआ मैं इस दशा को प्राप्त हुआ।

टीका–अब मृगापुत्र अपने उपभोग में आई हुई नरक सम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते है। वे कहते हैं कि मुझे जाज्वल्यमान प्रचंड अग्नि वाली चिता में महिष की भांति जलाया और पकाया गया, क्योकि मैंने पूर्वजन्मों मे जो पापकर्म किए थे उन्ही के प्रभाव से मुझे इस असह्य कष्ट को भोगना पड़ा।

तात्पर्य यह है कि यह जीव किसी भी योनि में चला जाए परन्तु कर्म का फल भोगे बिना उसका छुटकारा नही हो सकता।

यहा पर प्रत्येक गाथा में **'पापकर्म'** शब्द का प्रयोग करने का शास्त्रकारो का अभिप्राय यह है कि नरकगति के दुःखो का मूलकारण पापकर्म ही है, अर्थात् इन्हीं के प्रभाव से नरकगति के भयकर दुःखों को भोगना पड़ता है तथा उक्त गाथा मे जो उपमा के लिए महिष का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि महिप नाम का पशु उष्ण स्थान में अत्यन्त दुःखी होता है, इसलिए नरक गति को प्राप्त होने वाले पापात्मा जीव को भी इस प्रचंड अग्नि में दग्ध होते समय असह्य वेदना का अनुभव करना पड़ता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

बला संडासतुंडेहिं, लोहतुंडेहिं पक्खिहिं ।
विलुत्तो विलवंतोऽहं, ढंकगिद्धेहिंऽणंतसो ॥ ५९ ॥

बलात् संदंशतुण्डैः, लोहतुण्डैः पक्षिभिः ।
विलुप्तो विलपन्नहम्, ढंकगृध्रैरनन्तशः ॥ ५९ ॥

पदार्थान्वयः–बला–बलपूर्वक, **अहं**–मुझे, **संडासतुंडेहिं**–संडासी के समान मुख वाले, **लोहतुंडेहिं**–लोहे के तुल्य कठिन चोंच वाले, **पक्खिहिं**–पक्षियो ने, **विलुत्तो**–विलुप्त किया, **विलवंतो**–विलाप करते हुए मुझे, **ढंक**–ढक और, **गिद्धेहिं**–गृद्धो ने, **अणंतसो**–अनन्त बार।

मूलार्थ–विलाप करते हुए मुझको बलपूर्वक संडासतुंड वाले और लोहतुण्ड अर्थात् लोहे जैसी कठोर चोंच वाले पक्षियों ने तथा चील और गीध पक्षियों ने अनन्त बार मुझे नोच-नोचकर मारा।

टीका–इस गाथा मे भयंकर पक्षियों द्वारा नरक मे दी जाने वाली घोर वेदना का वर्णन किया गया है। मृगापुत्र ने कहा कि मुझको ऐसे पक्षियों के द्वारा भी पीडित कराया गया कि जिनके मुख सडासी के समान जकडने वाले तथा लोहे के समान अत्यन्त कठिन थे। इस प्रकार के चील और गृद्ध–गीध आदि पक्षियों ने अपनी तीक्ष्ण चोचो से मेरे शरीर को बडी निर्दयता से विदीर्ण किया। मेरे द्वारा विलाप करने पर भी उनको दया नहीं आई।

यद्यपि नरको म ऐहिक पक्षियो का अभाव हे, परन्तु वहा पर जिन भयकर पक्षियों का उल्लेख किया गया है, वे सब वैक्रिय शक्ति से उत्पन्न होने वाले हैं।

प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि जो पुरुष निर्दयतापूर्वक दीन, अनाथ पक्षियो का वध करते है, परलोक म वे पक्षीगण भी उनको इसी प्रकार से मारते और नाचते है।

अब नरक-गति में उत्पन्न होने वाले तीव्र पिपासा-जन्य कष्ट का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–

तण्हाकिलंतो धावंतो, पत्तो वेयरणिं नइं ।
जलं पाहिंति चिंतंतो, खुरधाराहिं विवाइओ ॥ ६० ॥

तृष्णाक्लान्तो धावन्, प्राप्तो वैतरणीं नदीम् ।
जलं पास्यामीति चिन्तयन्, क्षुरधाराभिर्व्यापादितः ॥ ६० ॥

पदार्थान्वयः–तण्हा–पिपासा से, **किलंतो**–क्लान्त होकर, **धावंतो**–भागता हुआ, **पत्तो**–प्राप्त हुआ, **वेयरणिं**–वैतरणी, **नइं**–नदी को, **जलं**–जल को, **पाहिंति**–पीऊंगा, इस प्रकार, **चिंतंतो**–चिन्तन करता हुआ, **खुरधाराहिं**–क्षुरधाराओ से, **विवाइओ**–व्यापादित हुआ–विनाश को प्राप्त हुआ।

मूलार्थ–प्यास से अत्यन्त पीड़ित होकर भागता हुआ मैं वैतरणी नदी को प्राप्त हुआ और जल पीऊंगा, इस प्रकार चिन्तन करता हुआ वहां पहुंचा तो क्षुरधाराओं से उस नदी में मैं विनाश को प्राप्त हुआ, अर्थात् उस नदी की धारा उस्तरे की धार के समान अति तीक्ष्ण थी, जिससे कि मैं छेदा गया।

टीका—मृगापुत्र माता-पिता से कहते हैं कि जब मैं भयंकर पक्षियों के द्वारा कदर्थित किया गया, तब मुझको पिपासा ने भी बहुत व्याकुल किया। पिपासा से व्याकुल होकर मैं भागता हुआ जल की अभिलाषा से वैतरणी नाम की नदी के पास पहुचा। मेरा विचार था कि मैं इस नदी के शीतल और निर्मल जल से अपनी असह्य तृषा को मिटा लूँगा, परन्तु जब मैं वहा पहुंचा तो उस नदी का जल उस्तरे की धार के समान प्रतीत होने लगा, तथा जब मै पश्चात्ताप करता हुआ पीछे लौटने लगा, तब यमदूतों ने मुझे बलात् उस नदी में धकेल दिया, जिससे कि उसकी क्षुर (उस्तरे) के समान तीक्ष्ण धाराओं से मेरा शरीर विदीर्ण हो गया।

मृगापुत्र के कथन का अभिप्राय यह भी है कि जब मैने इस प्रकार के भयंकर कष्टों को भी सहन कर लिया है तो संयम-सम्बन्धी कष्टो को सहन करना मेरे लिए कुछ भी कठिन नही है एवं सांसारिक विषय-भोगो में आसक्ति रखने का ही यह भयंकर परिणाम है, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। अत: इन कामभोगादि विषयो के उपभोग मे मुझे तनिक भी रुचि नहीं है।

अब नरक-गति में प्राप्त होने वाली उष्णता की भयंकरता तथा तज्जन्य असह्य वेदना का वर्णन करते हैं—

उण्हाभितत्तो संपत्तो, असिपत्तं महावणं ।
असिपत्तेहिं पडन्तेहिं, छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥ ६१ ॥

उष्णाभितप्तः संप्राप्तः, असिपत्रं महावनम् ।
असिपत्रैः पतद्भिः, छिन्नपूर्वोऽनेकशः ॥ ६१ ॥

पदार्थान्वयः—उण्हाभितत्तो—उष्णता स अभितप्त होकर, **असिपत्तं**—असिपत्र रूप, **महावणं**—महावन को, **संपत्तो**—प्राप्त हुआ, **असिपत्तेहिं**—असिपत्रो के, **पडन्तेहिं**—पडने से, **अणेगसो**—अनेक बार, **छिन्नपुव्वो**—पूर्व में छेदन किया गया।

मूलार्थ—उष्णता से अति संतप्त होकर असि-पत्र महावन को प्राप्त हुआ मैं वहां पर असिपत्रों के ऊपर पड़ने से अनेक बार छेदन को प्राप्त हुआ।

टीका—मृगापुत्र कहते है कि उष्णता के अभिताप से व्याकुल हुआ मै जब शीतल छाया की अभिलाषा से एक सुन्दर दिखने वाले वन की ओर भागा तो असिपत्र नामक महावन मे पहुच गया। उस वन के पत्र खड्ग के समान तीक्ष्ण प्रहार करने वाले थे, अत: उन पत्रो से मै अनेक बार छेदा गया, अर्थात् उन पत्रो के गिरने स मेरा अग-अग छिद गया।

उक्त वन में उत्पन्न होने वाले वृक्षों के पत्र खड्ग के समान तीक्ष्णधार और काटने वाले होने से वह वन असिपत्र-वन कहा जाता है।

मृगापुत्र के कथन का भावार्थ यही है कि मैंने पूर्वजन्म में स्वोपार्जित कर्मों के प्रभाव से इस प्रकार की कठोर नरक-यातनाओं को भी अनेक बार भागा है, जिनके आगे संयम-वृत्ति का कष्ट बहुत ही नगण्य-सा है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं–

मुग्गरेहिं भुसुंडीहिं, सूलेहिं मुसलेहि य ।
गयासंभग्गगत्तेहिं, पत्तं दुक्खं अणन्तसो ॥ ६२ ॥

मुग्दरैर्भुशुंडीभिः, शूलैर्मुशलैश्च ।
गदासंभग्नगात्रैः, प्राप्तं दुःखमनन्तशः ॥ ६२ ॥

पदार्थान्वयः–मुग्गरेहिं–मुग्दरो, **भुसुंडीहिं**–भुशुडियो, **सूलेहिं**–त्रिशूलों, **य**–और, **मुसलेहि**–मूसलो द्वारा, तथा, **गयासंभग्गगत्तेहिं**–गदा से अगों को तोडने पर, **पत्तं**–प्राप्त किया, **दुक्खं**–दुःख को, **अणतसो**–अनन्त बार।

मूलार्थ–मुग्दरों, भुशुडिओं, त्रिशूलों, मूसलों और गदाओं से मेरे शरीर के अंगों को तोड़ने से मैंने अनन्त बार दुःख प्राप्त किया है।

टीका–मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते है कि यम-पुरुषो ने मुग्दरों से, भुशुंडियो अर्थात् बन्दूको से, त्रिशूलों से तथा मूसलों और गदाओं से मेरा शरीर मार-मारकर नष्ट कर दिया और इस प्रकार की यातनाओ से मुझे अनन्त बार दुःखी किया गया। तात्पर्य यह है कि नरकगति में प्राप्त होने वाले जीवो के साथ यमपुरुषो के द्वारा इस प्रकार का कष्टप्रद व्यवहार किया जाता है। वहा पर उनका कोई रक्षक नही होता, उनको स्वकृत पापकर्म के अनुसार भयकर से भयकर यातनाएं भोगनी पडती है।

उक्त गाथा मे आए हुए '**भुशुंडी**' शब्द का अर्थ आजकल के विद्वान् 'बन्दूक' करते हैं तथा '**गयासंभग्गगत्तेहि**' वाक्य मे यदि '**गयासं**' पृथक् कर लेवे तो उसका अर्थ '**गताशं–निराश–आशा से रहित**' करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं–

खुरेहिं तिक्खधारेहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य ।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्किक्तो अ अणेगसो ॥ ६३ ॥

क्षुरैः तीक्ष्णधारैः, क्षुरिकाभिः कल्पनीभिश्च ।
कल्पितः पाटितश्छिन्नः, उत्कृतश्चानेकशः ॥ ६३ ॥

पदार्थान्वयः—तिक्खधारेहिं—तीक्ष्ण धार वाले, **खुरेहिं**—क्षुरों (उस्तरों) से, **छुरियाहिं**—छुरियों से, **य**—और, **कप्पणीहि**—कैंचियों से, **कप्पिओ**—काटा गया—कतरा गया, **फालिओ**—फाडा गया, **छिन्नो**—छेदन किया गया, **अ**—और, **उक्कित्तो**—उत्कर्तन किया गया—मेरी चमडी उतार दी गई, **अणेगसो**—अनेक बार।

मूलार्थ—तीक्ष्ण धार वाले क्षुरों अर्थात् उस्तरों, छुरियों और कतरनियों—कैंचियों से मुझे काटा गया, फाड़ा गया, छिन्न-भिन्न किया गया और मेरी चमड़ी को उधेड़ा गया, वह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार।

टीका—मृगापुत्र यम-पुरुषों द्वारा दिए जाने वाले भयंकर कष्टों का फिर वर्णन करते हुए कहते हैं कि यमपुरुषो ने मुझे तीक्ष्ण धार वाले उस्तरों से काटा, छुरियो से फाड़ा और कतरनियो से छिन्न-भिन्न किया। इनके अतिरिक्त मेरे शरीर की त्वचा—चमडी को भी उधेड़ दिया और इस प्रकार का दुर्व्यवहार मेरे साथ अनेक बार किया गया। तथा **'उक्कित्तो'** का **'उत्क्रान्तः'** प्रतिरूप करने से उसका अर्थ 'आयु को क्षय किया' यह होता है।

अब फिर कहते हैं—

पासेहिं कूडजालेहिं, मिओ वा अवसो अहं ।
वाहिओ बद्धरुद्धो य, बहू चेव विवाइओ ॥ ६४ ॥

पाशैः कूटजालैः, मृग इवावशोऽहम् ।
वाहितो बद्धरुद्धो वा, बहुशश्चैव व्यापादितः ॥ ६४ ॥

पदार्थान्वयः—पासेहिं—पाश और, **कूडजालेहिं**—कूटजालों से, **मिओ वा**—मृग की तरह, **अवसो**—परवश हुआ, **अहं**—मैं, **वाहिओ**—छल से, **बद्ध**—बांधा गया, **य**—और, **रुद्धो**—घेरा गया—रोका गया, **च**—पुनः, **एव**—निश्चय ही, **बहू**—बहुत बार, **विवाइओ**—विनाश को प्राप्त किया गया।

मूलार्थ—मृग की भांति परवश हुआ मैं कूटपाशों से छलपूर्वक बांधा गया और घेरा गया, इस प्रकार निश्चय ही मुझे अनेक बार विनष्ट किया गया।

टीका—मृगापुत्र कहते है कि जिस प्रकार छल-पूर्वक कूटजाल पाशों से मृग को पकडकर बांध लिया जाता है, उसी प्रकार परवश हुए मुझको यमपुरुषो ने पकड़कर बाध लिया और इधर-उधर भागने से रोक लिया। इतना ही नही, किन्तु कूटपाशों से बाधकर मुझे व्यापादित किया—अभिहनन किया, वह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार।

तात्पर्य यह है कि जैसे छल-पूर्वक मृगादि जानवरों को पाश आदि के द्वारा बांधकर मारा जाता है, उसी प्रकार नरकगति मे जाने वाले पापात्मा जीव को भी पाशादि के द्वारा बाध कर यम के पुरुष मारते है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि जो लोग निरपराध अनाथ वन्य जीवों का शिकार करते हैं तथा कौतूहल के लिए जाल बिछाकर उनको पकड़ते हैं और जिह्वा के वशीभूत होकर उनका वध करके उनके मांस से अपने मांस को पुष्ट करने का जघन्य प्रयत्न करते है, उनके लिए नरकगति मे उक्त प्रकार के ही कष्ट उपस्थित रहते हैं। अतः मनुष्य-भव में आए हुए प्राणी को कुछ विवेक से काम लेना चाहिए तथा इन निरपराध मूक प्राणियों पर दया करके अपनी आत्मा को सद्गति का पात्र बनाना चाहिए।

अब फिर कहते हैं–

गलेहिं मगरजालेहिं, मच्छो वा अवसो अहं ।
उल्लिओ फालिओ गहिओ, मारिओ य अणन्तसो ॥ ६५ ॥

गलैर्मकरजालैः, मत्स्य इवावशोऽहम् ।
उल्लिखितः पाटितो गृहीतः, मारितश्चानन्तशः ॥ ६५ ॥

पदार्थान्वयः–गलेहिं–बड़िशो से, **मगरजालेहिं**–मछली पकडने के जालो से, **मच्छो वा**–मत्स्यवत्, **अवसो**–विवश हुआ, **अहं**–मैं, **उल्लिओ**–उल्लिखित किया गया गले मे बडिश के लगन से, **फालिओ**–फाड दिया, **गहिओ**–पकड़ लिया, **य**–फिर पकडकर, **मारिओ**–मार दिया, **अणंतसो**–अनेक बार।

मूलार्थ–बड़िशों और मछलियां पकड़ने के जालों से विवश हुए मुझको अनन्त बार उल्लिखित किया गया, फाड़ा, पकड़ा और पकड़कर मार दिया गया।

टीका–जो लोग बडिश (मछली पकडने का काटा) और जाल से मछलियों को पकडकर उनको मारते और फाड़ते हैं, उन्हें परलोक में जाकर नरकगति की जो वेदना सहन करनी पडती है और मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्म में जिसका अनुभव किया है तथा जिसको वे अपने जातिस्मरण ज्ञान से देखकर माता-पिता के सामने वर्णन करते हैं, उस नरक-यातना का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा मे किया गया है।

मृगापुत्र कहते है कि जैसे मछलियो को पकडने वाले डोरी के अनुभाग में लोहे का काटा लगाकर उसको पानी मे फैक देते है, जब मछली के गले मे वह काटा फस जाता है, तब वह मछली पकडी जाती है, उसके अनन्तर उस मछली को फाड़ा और मारा जाता है। ठीक उसी प्रकार म उन यमदूतों ने मुझे भी बडिश–कुंडी और जाल में फसाकर पकड लिया और पकडन के बाद मत्स्य की तरह फाड़ा और मार दिया। यह बर्ताव मेरे साथ एक बार नही, किन्तु अनेक बार किया गया।

अब फिर उक्त विषय का वर्णन करते हैं–

वीदंसएहिं जालेहिं, लेप्पाहिं सउणो विव ।
गहिओ लग्गो बद्धो य, मारिओ य अणंतसो ॥ ६६ ॥

विदंशकेर्जालैः, लेप्याभिः शकुन इव ।
गृहीतो लग्नो बद्धश्च, मारितश्चाऽनन्तशः ॥ ६६ ॥

पदार्थान्वयः—वीदंसएहिं—बाज नामक पक्षियो के द्वारा, **जालेहिं**—जालों के द्वारा, **लेप्पाहिं**—श्लेषादि द्रव्यों के द्वारा, **सउणो**—शकुन पक्षी, **विव**—की तरह, **गहिओ**—गृहीत किया, **य**—और, **लग्गो**—श्लेषादि के द्वारा पकडा गया—चिपटाया गया, **य**—और, **बद्धो**—जालादि में बांधा गया, **य**—तथा, **मारिओ**—मारा गया, **अणंतसो**—अनन्त बार।

मूलार्थ—बाज नामक पक्षियों द्वारा, जालों द्वारा और श्लेषादि द्रव्यों के द्वारा पक्षी की तरह मैं गृहीत हुआ, चिपटाया गया, बांधा गया और अन्त में मारा गया, एक बार ही नहीं किन्तु अनेक बार।

टीका--जो लोग स्वच्छन्द विचरने वाले निरपराध पक्षियो को पकडने के लिए अनेक प्रकार क उपायो का आयोजन करते है अर्थात् बाज आदि के द्वारा, जाल आदि के द्वारा और लेप आदि के द्वारा पक्षियो को पकडते है, फंसाते है, बाधते और मारते है उन पुरुषो को नरकस्थानो मे जाकर स्वयं भी इसी प्रकार की वेदनाए सहनी पडती हैं, अर्थात् उनको भी इन पक्षियो की तरह वध और बन्धन की कठोर यातनाओ का अनुभव करना पडता है जिसका कि वर्णन मृगापुत्र अपने माता-पिता के समक्ष कर रहे हैं। वे कहते हैं कि—

जिस प्रकार कबूतर आदि भोले पक्षियों को पकड़ने के लिए बाज को पाला जाता है और जाल आदि बिछाए जाते है तथा बुलबुल आदि पक्षियों को पकडने के लिए श्लेषादि द्रव्यो का उपयोग किया जाता है और उन पक्षियो को पकडकर कष्ट पहुंचाया जाता है और उनका वध किया जाता है, ठीक उसी प्रकार नरकस्थान मे यमपुरुषों ने मेरे साथ किया अर्थात् बाज का रूप धारण करके मुझे पकड़ा तथा जालादि में फसाकर मुझे अत्यन्त दु:खी किया और अन्त में मार डाला। वह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार।

यहां पर स्मरण रखने योग्य बात यह है कि जहा मृगापुत्र अपनी अनुभूत नरक-यातनाओं का वर्णन करते हैं, वहां पर उन्होंने मनुष्य-भव मे आए हुए प्राणी के हेय और उपादेय का भी अर्थत: दिग्दर्शन करा दिया है, जिससे कि विचारशील पुरुष अपना सुमार्ग सरलता से निश्चित कर सकें। क्योंकि इस जीव ने सर्वत्र स्वकृत कर्मो के ही फल का उपभोग करना होता है।

अब फिर कहते हैं—

कुहाडफरसुमाईहिं, वड्ढईहिं दुमो विव ।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो, तच्छिओ य अणंतसो ॥ ६७ ॥

कुठारपरश्वादिभिः, वार्धिकैर्द्रुम इव ।
कुट्टितः पाटितश्छिन्नः, तक्षितश्चानन्तशः ॥ ६७ ॥

पदार्थान्वयः–**कुहाड**–कुठार, **फरसुं**–परशु, **आईहिं**–आदि से, **वड्ढईहिं**–बढ़ई–तरखानो के द्वारा, **विव**–जैसे, **दुमो**–वृक्ष काटा जाता है, तद्वत्, **कुट्टिओ**–सूक्ष्म खंड रूप किया, **फालिओ**--फाड दिया, **छिन्नो**–छेदन किया, **य**–और, **तच्छिओ**–तराशा गया, **अणंतसो**–अनन्त बार।

मूलार्थ–जैसे बढ़ई कुठार (कुल्हाड़ा) और परशु आदि शस्त्रों से वृक्षों को चीरते हैं, उनके टुकड़े-टुकड़े करते हैं और तराशते अर्थात् छीलते हैं, उसी प्रकार मुझे भी काटा, चीरा और अनन्त बार तराशा गया।

टीका–इस गाथा मे हरे-भरे वृक्षो को काटना व कटवाना तथा जगल आदि क कटवाने का व्यापार करना इत्यादि काम भी अशुभ कर्मो क बन्ध का कारण हात ह, यह भाव अर्थतः प्रकट किया गया है, क्योकि वनस्पति भी सजीव पदार्थ है। उसके छेदन-भेदन म भी एकेन्द्रिय जीवो का वध होता है। अतएव इस प्रकार के व्यापार को शास्त्रकारो ने आर्य-व्यापार नही कहा। मृगापुत्र इसी पापजनक व्यापार से परलोक मे उत्पन्न होने वाली कष्टपरम्परा का वर्णन करते हुए अपने माता-पिता से कहत है कि जिस प्रकार बढई लोग कुठार आदि शस्त्रो से वृक्ष का काटकर उसके टुकडे-टुकडे कर देत है, तथा चीर कर दो फाक कर दते है, एव ऊपर से उसके छिलके उतार दते है, उसी प्रकार यम-पुरुषो ने मुझे अनेक बार काटा, चीरा, फाडा और तराशा अर्थात् मेरी चमडी उतार दी।

अब नरक-सम्बन्धी अन्य यातनाओं का वर्णन करते हैं–

चवेडमुट्ठिमाईहिं, कुमारेहिं अयं पिव ।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो, चुण्णिओ य अणन्तसो ॥ ६८ ॥

चपेटामुष्ट्यादिभिः, कुमारैरय इव ।
ताडितः कुट्टितो भिन्नः, चूर्णितश्चानन्तशः ॥ ६८ ॥

पदार्थान्वयः : **चवेड**–चपेड (चाटो) और, **मुट्ठिमाईहिं**–मुष्टि (मुक्को) आदि से, **कुमारेहिं**–लोहकारो से, **अयं पिव**–लाह की तरह, **ताडिओ**–ताडा गया, **कुट्टिओ**–कूटा गया, **भिन्नो**–भेदन किया गया, **य**–और, **चुण्णिओ**–चूर्ण किया गया, **अणंतसो**–अनेक बार।

मूलार्थ–जैसे लोहकार लोहे को कूटते हैं, पीटते हैं और चूर्णित करते हैं, उसी प्रकार चांटों और मुक्कों आदि से मुझे भी अनेक बार ताड़ा गया, पीटा गया और टुकड़े-टुकड़े करके मुझे चूर-चूर कर दिया गया।

टीका–मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार से लोहार लोहे को कूटते हैं, उसी प्रकार नरकों में यम-पुरुषों ने मुझे भी चांटों और मुक्कों से खूब मारा और पीटा, यहां तक कि मार-मार कर मेरे शरीर का चूरा बना दिया।

तात्पर्य यह है कि जैसे लोहार लोग लोहे के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार करते है, ठीक उसी प्रकार उन यमदूतो ने मेरे साथ बर्ताव किया। इस गाथा में भी अर्थत: स्फोटक आदि कर्मादानो के फल का वर्णन है, जो कि विचारशील के लिए कर्मबन्ध का कारण होने से त्याज्य है। त्रस्त जीवो के साथ अन्याय और अत्याचार करने का भी यही फल वर्णित है, अत: बुद्धिमान् पुरुष को सदा अन्याय और अत्याचार से बचे रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं–

तत्ताइं तम्बलोहाइं, तउयाइं सीसगाणि य ।
पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ॥ ६९ ॥

तप्तानि ताम्रलोहादीनि, त्रपुकानि सीसकानि च ।
पायितः कलकलायमानानि, आरसन् सुभैरवम् ॥ ६९ ॥

पदार्थान्वयः–तत्ताइं–तप्त, **तम्ब**–ताम्र, **लोहाइं**–लोहे को, **तउयाइं**–त्रपु–लाख, **य**–और **सीसगाणि**–सीसे को, **पाइओ**–पिला दिया, **कलकलंताइं**–कलकल शब्द करते हुए तथा, **सुभेरवं**–अति भयानक, **आरसंतो**–शब्द करते हुए को।

मूलार्थ–तपाया हुआ तांबा, लोहा, रांगा और सीसा–ये सब पदार्थ, कलकलाते और अति भयानक शब्द करते हुए मुझको परमाधर्मियों ने हठात् पिला दिए।

टीका–अब नरक-सम्बन्धी अन्य रोमांचकारी यातनाओं का वर्णन करते हुए मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते है कि–तृषा की अत्यन्त बाधा होने पर जब मैने जल की प्रार्थना की तो जल के बदले उन परमाधर्मियो ने बड़ी निर्दयता के साथ रोते और चिल्लाते हुए मुझको तपाया हुआ ताम्र, लोहा, रांगा और सीसा पिंघलाकर हठात् पिला दिया। उसके पिलाने से मुझे जो वेदना हुई, उसकी कल्पना करते हुए भी शरीर रोमांचित हो उठता है। अतएव इन दु:खों से सर्वथा छूटने का मै प्रतिक्षण उपाय सोच रहा हूं।

जिन प्राणियों को इस लोक में मांस अधिक प्रिय होता है और जिनकी उदरपूर्ति के लिए

प्रतिदिन लाखों अनाथ प्राणियो को मृत्यु के घाट उतारा जाता है, उन प्राणियों की नरकों में क्या दशा होती है और वे किन-किन नरक-यातनाओं का अनुभव करते हैं, अब अर्थत: इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है-

तुहं पियाइं मंसाइं, खण्डाइं सोल्लगाणि य ।
खाविओमि समंसाइं, अग्गिवण्णाइऽणेगसो ॥ ७० ॥

तव प्रियाणि मांसानि, खण्डानि सोल्लकानि च ।
खादितोऽस्मि स्वमांसानि, अग्निवर्णान्यनेकशः ॥ ७० ॥

पदार्थान्वयः-तुहं--तुझे, **पियाइं**-प्रिय थे, **मंसाइं**-मांस के, **खण्डाइं**-खड, **य**-और, **सोल्लगाणि**-भुना हुआ मास (कबाब) अत:, **समंसाइं**-स्वमांस-मेरे शरीर का मास, **खाविओमि**-मुझ खिलाया, **अग्गिवण्णाइं**-अग्नि के समान तपा करके, **अणेगसो**-अनेक बार।

मूलार्थ-''तुझे मास अत्यन्त प्रिय था'', इस प्रकार कहकर उन यम पुरुषों ने मेरे शरीर के मास को काटकर, सलाखों पर भूनकर और अग्नि के समान लाल करके मुझे अनेक बार खिलाया।

टीका-मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते है कि अन्य जीवों के मांस से अपने शरीर का निरन्तर पुष्ट करने की प्रवृत्ति-रूप जघन्य कर्म के फल को भोगने के निमित्त जब मैं नरकगति को प्राप्त हुआ तो वहा पर यम-पुरुषो ने मुझसे कहा-

''दुष्ट। तुझे अन्य जीवों के मास से अत्यन्त प्यार था, इसीलिए तू मांसखंडो को भून-भूनकर खाता और आनन्द मानता था। अच्छा, अब हम भी तुझको उसी प्रकार से मास खिलाते है।'' एसा कहकर उन यम पुरुषो ने मेरे शरीर मे से मांस को काटकर और उसको अग्नि के समान तपाकर मुझे जबर्दस्ती अनेक बार खिलाया।

तात्पर्य यह है कि अन्य मास के बदले मेरा ही मास काटकर मेरे को खिलाया, जिससे कि इस लोक मे जिह्वा की लालुपता से अन्य जीवो के मास को भक्षण करने के फल का मुझे प्रत्यक्ष और पूर्णरूप से भान हो सके।

इसक अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा मे जा प्रिय शब्द का उल्लेख किया गया है, वह सहेतुक है, उसका आशय यह है कि सुंसुमार आदि की भाति यदि अज्ञानवश अथवा विपत्तिकाल म या उष्ण-सकट के समय कदाचित् मास का भक्षण हो जाए तो प्रायश्चित्तादि के द्वारा उसकी शुद्धि हो सकती है, परन्तु जान-बूझकर और स्वाद के लिए किया गया मांस-भोजन का पाप प्रायश्चित्तादि से भी दूर नहीं किया जा सकता, वह तो फल देकर ही पीछा छोड़ेगा। इसलिए विचारशील पुरुषो

को नरकगति के हेतुभूत इस मांसभक्षण के विचार को कदाचित् भी अपने मन में स्थान नहीं देना चाहिए, यही प्रस्तुत गाथा का भाव है।

जिस प्रकार मांसभक्षण करने वाले नरकों की यातनाओं को सहन करते हैं, उसी प्रकार मदिरा का पान करने वालों को भी नरक-सम्बन्धी नाना प्रकार की भयंकर वेदनाएं सहन करनी पड़ती हैं, अब इसी विषय का अर्थतः निरूपण करते हैं—

तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य ।
पाइओमि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य ॥ ७१ ॥

तव प्रिया सुरा सीधुः मेरका च मधूनि च ।
पायितोऽस्मि ज्वलन्तीः, वसा रुधिराणि च ॥ ७१ ॥

पदार्थान्वयः—**तुहं**—तुझे, **पिया**—प्रिय थी, **सुरा**—सुरा, **सीहू**—सीधु, **मेरओ**—मेरक, **य**—और, **महूणि**—मधु, **य**—पुनः, **पाइओमि**—पिला दी, मुझे, **जलंतीओ**—जलती हुई, **वसाओ**—चर्बी, **य**—और, **रुहिराणि**—रुधिर—लहू।

मूलार्थ—यमपुरुषों ने मुझसे कहा—"हे दुष्ट ! तुझे सुरा, सीधु, मेरक और मधु नाम की मदिरा अत्यन्त प्रिय थी" ऐसा कहकर उन्होंने मुझको अग्नि के समान जलती हुई वसा—चर्बी और रुधिर पिला दिया।

टीका—मदिरापान का परलोक में जो कटुफल भोगना पडता है, उसका अर्थतः दिग्दर्शन कराते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि—"स्वोपार्जित अशुभ कर्म का फल भोगने के लिए जब मैं नरक मे उत्पन्न हुआ तब मुझसे यमपुरुषों ने कहा—"दुष्ट ! तुझे मनुष्यलोक मे मदिरा से बहुत प्रेम था, इसीलिए तू नाना प्रकार की मदिराओं का बड़े अनुराग से सेवन करता था। अस्तु, अब हम तुझको यहां पर भी सुरा का पान कराते है—" ऐसा कहकर उन यमपुरुषों ने मुझको अग्नि के समान जलती हुई चर्बी और रुधिर का जबरदस्ती पान कराया, वह भी एक बार नही किन्तु अनेक बार। मदिरा के अनेक भेद हैं। यथा सुरा—चन्द्रहास्यादि, सीधु—तालवृक्ष के रस से उत्पन्न होने वाली ताडी, मेरक—दुग्ध आदि उत्तम रस पदार्थो से खींची हुई मदिरा, मधु अर्थात् महुआ आदि के पुष्पो से बनाई गई मदिरा। इस प्रकार मदिरा के अनेक भेद है।

उक्त गाथा मे दिया गया **'प्रिय'** शब्द भी पूर्व की भांति सहेतुक है, अर्थात् जान-बूझकर और प्रिय तथा हितकर समझकर पान की हुई मदिरा का तो परलोक मे वही फल प्राप्त होता है, जिसका कि ऊपर उल्लेख किया गया है, परन्तु यदि अज्ञान दशा में या आपत्तिकाल मे औषधि के रूप में उसका सेवन किया गया हो तो उसके कटुफल की प्रायश्चित्तादि के द्वारा निवृत्ति भी

हो सकती है, अर्थात् उससे उक्त फल की निष्पत्ति की संभावना नहीं हो सकती। यही गाथा में आए हुए प्रिय शब्द का रहस्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य ।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेइया मए ॥ ७२ ॥

नित्यं भीतेन त्रस्तेन, दुःखितेन व्यथितेन च ।
परमा दुःखसंबद्धाः, वेदना वेदिता मया ॥ ७२ ॥

पदार्थान्वयः–निच्चं–नित्य–सदा, **भीएण**–भय से, **तत्थेण**–त्रास से, **दुहिएण**–दुःख से, **य**–और, **वहिएण**–व्यथा–पीड़ा से, **परमा**–उत्कृष्ट–अत्यन्त, **दुहसंबद्धा**–दुःखसम्बन्धिनी, **वेयणा**–वदना, **मए**–मैने, **वेइया**–भोगी।

मूलार्थ–मैंने निरन्तर भय से, त्रास से, दुःख से और पीड़ा से अत्यन्त दुःख रूप वेदनाओं को भोगा।

टीका–प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए मृगापुत्र कहते है–"मैने नरको में निरन्तर दुःखमयी वदना का ही अनुभव किया है। कारण कि मैं सदैवकाल भयभीत बना रहा, सदैवकाल सत्रस्त–त्रासयुक्त रहा, तथा सदैवकाल मानसिक दुःख और शारीरिक व्यथा से पीडित रहा। इसलिए ऐसा कोई भी समय नही कि जिस समय मैने किचिन्मात्र भी सुख का श्वास लिया हो, किन्तु प्रतिक्षण कल्पनातीत कष्ट और वेदना का ही मैंने अनुभव किया है।"

मृगापुत्र के कथन का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की नरक-यातनाए स्वोपार्जित पापकर्मो का फल रूप है और वे पाप-कर्म विषय-भोगो की आसक्ति से बाधे जाते हैं। अतः इन काम भोगो के उपभोग की मेरे मन मे अणुमात्र भी अभिलाषा नही है। इसके विपरीत इन काम-भोगो का सर्वथा त्याग करके सयम ग्रहण करने की ही मेरी उत्कृष्ट जिज्ञासा है।

अब रही संयम-वृत्ति में उपस्थित होने वाले कष्टों की बात, सो जब मैंने नरकों के इतने असह्य कष्ट सह लिए तो सयम के कष्टो को सहन करना मेरे लिए कुछ भी कठिन नहीं है तथा सयम ग्रहण करने का मेरा आशय यह है कि इन उपरोक्त दुःखों से छूटने का उपाय एकमात्र सयम ही है, इसी की आराधना करने से कर्मो की निर्जरा हो सकती है, क्योंकि आश्रव-द्वारे को बन्द करके सवर की भावना करता हुआ यह जीव बाह्य और आभ्यन्तर तप के अनुष्ठान से कर्म-मल को दूर करके आत्मशुद्धि को प्राप्त होता हुआ परम कल्याण स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। परन्तु ये सब बाते सयम मे ही निहित है। इसलिए संयम को ग्रहण करके उसका

सम्यक्तया पालन करता हुआ मैं कर्म-मल से सर्वथा रहित होकर मुक्त होने की ही तीव्र अभिलाषा रखता हूं।

अब अपने अनुभूयमान नरक-सम्बन्धी दुःखों का समुच्चय रूप से वर्णन करते हुए मृगापुत्र फिर कहते हैं—

तिव्वचण्डप्पगाढाओ, घोराओ अइदुस्सहा ।
महब्भयाओ भीमाओ, नरएसु दुहवेयणा ॥ ७३ ॥

तीव्राश्चण्डप्रगाढाश्च, घोरा अतिदुःसहाः ।
महाभया भीमाः, नरकेषु दुःख वेदनाः ॥ ७३ ॥

पदार्थान्वयः—तिव्व—तीव्र, **चण्ड**—प्रचण्ड, **प्पगाढाओ**—अत्यन्त गाढ़ी, **घोराओ**—अतिरौद्र, **अइदुस्सहा**—आत दुस्सह, **महब्भयाओ**—महाभय उत्पन्न करने वाली, **भीमाओ**—भयंकर, श्रवणमात्र से भय उत्पन्न करने वाली, **नरएसु**—नरको में, **दुहवेयणा**—दुःखरूप वेदनाएं मैंने अनुभव कीं।

मूलार्थ—नरकों में मैंने जिन दुःखरूप वेदनाओं का अनुभव किया वे दुःखरूप वेदनाएं तीव्र, प्रचण्ड, अत्यन्त गाढ़ी, रौद्र, अति दुस्सह और महाभय को उत्पन्न करने वाली तथा अति भयंकर हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मृगापुत्र अपनी पूर्वानुभूत दुःख-वेदनाओं का वर्णन करते हुए अपने माता-पिता से फिर कहते है कि मैंने जिन दुःखरूप वेदनाओ का नरकों में अनुभव किया है, वे अत्यन्त तीव्र और उत्कट थीं तथा उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी अत्यन्त अधिक थी, क्याकि शास्त्रों मे सातवें नरक की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की कही गई है। इस नरक मे गए हुए जीव को एक क्षणमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। यद्यपि घोर, भीम और महाभय आदि शब्द प्रायः एकार्थक ही हैं, तथापि शिष्यबोधार्थ इनका पृथक्-पृथक् ग्रहण किया गया है। तथा शब्दनय के अवान्तर भेदो के अनुसार इनका पृथक् रूप से ग्रहण किया जाना भी शिष्ट-सम्मत प्रतीत होता है।

अब नरक-सम्बन्धी वेदनाओं की विशिष्टता का वर्णन करते हैं—

जारिसा माणुसे लोए, ताया! दीसन्ति वेयणा ।
इत्तो अणंतगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा ॥ ७४ ॥

यादृश्यो मानुष्ये लोके, तात! दृश्यन्ते वेदनाः ।
इतोऽनन्तगुणिताः, नरकेषु दुःखवेदना ॥ ७४ ॥

पदार्थान्वयः—ताया—हे तात !, **जारिसा**—जैसी, **वेयणा**—वेदनाएं, **माणुसे लोए**—मनुष्यलोक में, **दीसन्ति**—देखी जाती हैं, **इत्तो**—इससे, **अणंतगुणिया**—अनन्त गुणा अधिक, **दुक्खवेयणा**—दुःखरूप वेदनाएं, **नरएसु**—नरकों में देखी जाती हैं।

मूलार्थ—हे पिता ! जिस प्रकार की वेदनाएं मनुष्य-लोक में देखी जाती हैं, नरकों में उनसे अनन्तगुणा अधिक दुःख वेदनाएं अनुभव करने में आती हैं।

टीका—मृगापुत्र कहते है कि इस मनुष्यलोक मे जिस प्रकार की असातारूप वेदनाओं का अनुभव किया जाता है, ठीक इन वेदनाओ से अनन्तगुणा अधिक वेदनाए नरकों में विद्यमान हैं, जो कि अनेक बार मेरे अनुभव में आ चुकी हैं। मनुष्यलोक मे जरा और शोक-जन्य दो वेदनाए देखी जाती है। इनमे जराजन्य शारीरिक और शोकजन्य मानसिक वेदना है। इन दो में समस्त वेदनाओं का समावेश हो जाता है। कुष्ठादि भयकर रोगों के निमित्त से उत्पन्न होने वाली असातारूप वेदना शारीरिक वेदना है और इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-सयोग-जन्य वेदना को मानसिक वेदना कहते है। परन्तु मनुष्यलोक-सम्बन्धी इन शारीरिक और मानसिक वेदनाओ से नरक की वेदनाए अनन्तगुणा अधिक हैं, जो कि नारकी जीवों को बलात् सहन करनी पडती हैं।

इस विषय मे अधिक देखने की इच्छा रखने वाले पाठक सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के पाचवे अध्ययन का ओर प्रश्नव्याकरण के प्रथम अध्ययन को तथा 'जीवाभिगम' आदि सूत्र देखें।

अब सर्व गतियों में वेदना के अस्तित्व का वर्णन करते हैं—

सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेइया मए ।
निमिसंतरमित्तंपि, जं साया नत्थि वेयणा ॥ ७५ ॥

सर्वभवेष्वसाता, वेदना वेदिता मया ।
निमेषान्तरमात्रमपि, यत्साता नास्ति वेदना ॥ ७५ ॥

पदार्थान्वयः—सव्व—सर्व, **भवेसु**—भवो मे, **अस्साया**—असातारूप, **वेयणा**—वेदना, **मए**—मैने, **वेइया**—अनुभव की, **निमिसंतरमित्तंपि**—निमेषोन्मेषमात्र भी, **जं**—जो, **साया**—सातारूप, **वेयणा**—वेदना, **नत्थि**—नही अनुभव की।

मूलार्थ—मैंने सब जन्मों में असातारूप वेदना का ही अनुभव किया है, किन्तु सातारूप अर्थात् सुख रूप वेदना का तो कभी क्षण भर के लिए भी अनुभव नहीं किया।

टीका—मृगापुत्र कहते है कि वास्तव म तो मैंने देव, मनुष्य, तिर्यच और नरकसम्बन्धी किसी भी जन्म मे सुख का अनुभव नही किया, किन्तु निरन्तर दुःखो का ही मुझे अनुभव होता रहा है। सुख की अनुभूति तो लेशमात्र अर्थात् आख के झपकने जितने समय मात्र मे भी कभी प्राप्त नही की।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि अनेक जन्मो में सांसारिक सुखों के उपभोग की सामग्री भी उपलब्ध हुई, परन्तु उसका अन्तिम परिणाम दुःख भोगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं निकला, अर्थात् वे सांसारिक सुख भी इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग के कारण दुःखमिश्रित ही रहे, अतः वह सुख भी वास्तव में सुख नहीं, किन्तु सुखाभास था।

मृगापुत्र के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि नरकों में उपलब्ध होने वाले दुःखों का तो दिग्दर्शन करा ही दिया गया है और पशुयोनि के दुःख लोगों के सामने ही हैं तथा मनुष्य-जन्म में भी जिन दुःखों का सामना करना पड़ता है, वे भी ऐसे नहीं जो कि भूल गए हों।

अब रही देवगति की बात, सो वह भी जन्म-मरण के बन्धन से ग्रस्त है, उसमें भी ईर्ष्यादिजन्य दुःखपरम्परा की कमी नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि सभी गतियो में सुख की लेशमात्र भी उपलब्धि नहीं होती। आप मुझे भले ही सुखी समझें, परन्तु मैंने तो अपने सारे भवों मे दुःख का ही अनुभव किया है। अतः दुःख-सन्तति से छूटने के लिए मैं तो एकमात्र संयम को ही सर्वोत्कृष्ट समझता हू।

मृगापुत्र के इस कथन को सुनकर उसके माता-पिता ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं–

तं बिन्तम्मापियरो, छंदेणं पुत्त ! पव्वया ।
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया ॥ ७६ ॥

तं ब्रूतोऽम्बापितरौ, छन्दसा पुत्र ! प्रव्रज ।
नवरं पुनः श्रामण्ये, दुःखं निष्प्रतिकर्मता ॥ ७६ ॥

पदार्थान्वयः–तं–मृगापुत्र को, **अम्मापियरो**–माता और पिता, **बिन्त**–कहने लगे, **पुत्त**–हे पुत्र ! **छंदेणं**–स्वेच्छापूर्वक–खुशी से, **पव्वया**–दीक्षित हो जा, **नवरं**–इतना विशेष है, **पुण**–फिर, **सामण्णे**–संयम में, **दुक्खं**–दुःख का हेतु है जो, **निप्पडिकम्मया**–औषधि का न करना।

मूलार्थ–माता-पिता ने कहा कि–हे पुत्र! तू अपनी इच्छा से भले ही दीक्षित हो जा, परन्तु श्रमणभाव में यह बड़ा कष्ट है जो कि रोगादि के होने पर उसके प्रतिकारार्थ कोई औषधि भी नहीं की जाती।

टीका–मृगापुत्र के पूर्वोक्त वक्तव्य को सुनकर, उसके माता-पिता ने सयम-ग्रहण करने की तो उसको सम्मति दे दी, परन्तु संयम-वृत्ति में ध्यान देने योग्य एक बात की ओर उन्होंने अपने पुत्र का ध्यान खींचते हुए कहा–हे पुत्र ! तुम संयम-वृत्ति को बड़े हर्ष से अंगीकार कर लो, हम इसमें अब किसी प्रकार का भी विघ्न उपस्थित करने को तैयार नहीं हैं, परन्तु इस श्रमण-वृत्ति

में एक बात का विचार करते हुए हमारे मन में बहुत खेद होता है, वह यह कि श्रमण-वृत्ति में रोग के प्रतिकार का कोई यत्न नही, अर्थात् रोगादि के हो जाने पर उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार की औषधि नही की जाती। इस बात का विचार करने पर हमको बहुत दु:ख होता है, क्योकि सयमव्रत ग्रहण करने के अनन्तर दैवयोग से यदि किसी प्राणघातक रोग का आक्रमण हो जाए और उसके प्रतिकार के निमित्त किसी औषधि आदि का उपचार न किया जाए तो सद्य:शरीरपात की संभावना रहती है। अत: रोग के आक्रमण मे किसी प्रकार के उपचार को स्थान न देना हमें अवश्य कष्टदायक प्रतीत हो रहा है।

मृगापुत्र के माता-पिता का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि सम्भवत: संयम-वृत्ति मे उपस्थित होने वाली इस कठिनाई को ही ध्यान मे लेकर वह कुछ समय और अपने विचारो को स्थगित रखने के लिए सहमत हो जाए।

इसके अतिरिक्त इतना अवश्य स्मरण रहे कि इस गाथा मे जो रोगादि के उपस्थित होने पर भी साधुवृत्ति मे औषधोपचार का निषेध किया गया है, वह केवल उत्सर्ग-मार्ग को अवलम्बन करके किया है। जैन-सिद्धान्त मे जिन-कल्प और स्थविर-कल्प इन दो मे से जो जिनकल्पी मुनि हैं वे तो रोगादि के होने पर भी उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार की ओषधि का उपयोग नही करते, परन्तु जो स्थविरकल्पी है वे अपनी इच्छा से किसी ओषधि का भले ही उपयोग न कर, परन्तु निरवद्य रूप औषधोपचार का उनके लिए प्रतिषेध नही है।

यदि उक्त गाथा के भाव का आन्तरिक दृष्टि से और भी पर्यालोचन किया जाए तो मृगापुत्र के माता-पिता के कथन का यह भी आशय प्रतीत होता है कि जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प का ही अनुसरण करना वर्तमान काल की दृष्टि से अधिक हितकर है।

माता-पिता के इस कथन को सुनकर मृगापुत्र ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं–

सो बिंतऽम्मापिरो ! एवमेयं जहाफुडं ।
पडिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिणं ? ॥ ७७ ॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ ! एवमेतद्यथा स्फुटम् ।
प्रतिकर्म क: करोति, अरण्ये मृगपक्षिणाम् ? ॥ ७७ ॥

पदार्थान्वय:–**सो**–वह मृगापुत्र, **बिंत**–कहते है, **अम्मापियरो**–हे माता-पिता, **एवं**–इसी प्रकार है, **एयं**–यह, **जहा**–जैसे (आपने कहा है), **फुडं**–प्रकट है, परन्तु, **अरण्णे**–जंगल मे, **मियपक्खिणं**–वन्य जीवो और पक्षियों का, **पडिकम्मं**–प्रतिकार, **को**–कौन, **कुणई**–करता है?

मूलार्थ–वह (मृगापुत्र) कहते हैं कि हे माता-पिता जी ! आपने यह जो कहा है कि साधुवृत्ति में जो रोगादि के होने पर औषधोपचार नहीं किया जाता, यह बड़े कष्ट की बात है, यह सब कुछ सत्य है, परन्तु जंगल में रहने वाले वन्य जीवों और पक्षियों का रोगादि के समय में कौन उपचार करता है ?

टीका–मृगापुत्र कहने लगे कि यह सब कुछ सत्य है कि साधु-वृत्ति में किसी रोगादि के होने पर उसका प्रतिकार नहीं किया जाता, अर्थात् रोग की निवृत्ति के लिए उत्सर्ग-मार्ग मे साधु को किसी प्रकार की औषधि के ग्रहण करने का विधान नहीं है, इसलिए यह बड़ा कठिन मार्ग है। परन्तु आप यह तो बताएं कि जंगल के वन्य जीवों और वृक्षों पर विश्राम करने वाले पक्षियों के रोग का कौन प्रतिकार करता है? अर्थात् उनके रोग की निवृत्ति के लिए कौन-सी औषधि उपयोग में लाई जाती है ? क्या वे औषधोपचार के बिना जीते नहीं, अथवा विचरते नहीं ? तात्पर्य यह है कि जैसे मृगों और पक्षियों की वन में जाकर कोई औषधि नहीं करता, कोई उनकी चिकित्सा नहीं करता, परन्तु फिर भी वे अपनी शेष आयु के कारण समय पर नीरोग होकर स्वच्छन्द रूप से विचरते है, इसी प्रकार मुनिवृत्ति को धारण करने पर भी किसी प्रतिकार की आवश्यकता नहीं है। मुनिवृत्ति मे भी उदय में आए हुए असातावेदनीय कर्म के फल को शांतिपूर्वक भोगकर शेष जीवन को आनन्द-पूर्वक बिताया जा सकता है। अतः मेरे लिए इस मुनिवृत्ति मे उपस्थित होने वाले रोगों के बाह्य प्रतिकार का अभाव होने पर भी आपको किसी प्रकार का मानसिक खेद नहीं होना चाहिए, क्योंकि वास्तव में समस्त शारीरिक रोगों की एक मात्र औषधि तो धैर्य है, सहनशीलता है, जो कि मेरे में विद्यमान है, अतः मुझे इसकी चिन्ता नहीं, यही मृगापुत्र के कथन का भाव है।

इसी विषय में फिर कहते हैं—

एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगो ।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥ ७८ ॥

एकभूतोऽरण्ये वा, यथा तु चरति मृगः ।
एवं धर्मं चरिष्यामि, संयमेन तपसा च ॥ ७८ ॥

पदार्थान्वयः–**एगब्भूओ**–अकेला, **अरण्णे**–जगल में, **वा**–अथवा, **जहा**–जैसे, **उ**–निश्चयार्थक, **मिगो**–मृग, **चरई**–विचरता है, **एवं**–उसी प्रकार, **धम्मं**–धर्म का, **चरिस्सामि**–मैं आचरण करूंगा, **संजमेण**–संयम से, **य**–और, **तवेण**–तप से।

मूलार्थ–जैसे अरण्य में मृग अकेला ही बिना किसी की सहायता से स्वच्छन्दरूप से विचरता है, उसी प्रकार संयम और तप के साथ मैं भी धर्म का आचरण करूंगा।

टीका–मृगापुत्र कहते हैं कि "जैसे जंगल में बिना किसी की सहायता से अकेला ही मृग अर्थात् वन्य जीव अपनी इच्छा के अनुसार विचरता है, उसी तरह मैं भी संयम और तप से अलंकृत होता हुआ अकेला ही विचरूगा।"

तात्पर्य यह है कि संयम और तप ये दोनों ही धर्म के लक्षण हैं। इनको धारण करता हुआ मैं मृग की भांति स्वच्छन्दरूप से अकेला ही विचरण करूंगा।

प्रस्तुत गाथा मे एकत्व भावना और निस्पृह-वृत्ति का वर्णन किया गया है, क्योंकि जब तक यह जीव अपने आत्मबल पर दृढ़ विश्वास रखकर उक्त वृत्ति का अवलंबन नहीं करता, तब तक वह परमोच्चपद–मोक्षपद का अधिकारी नहीं बन सकता, इसलिए संयमशील व्यक्ति को अपने आत्मबल पर ही पूर्ण विश्वास रखना चाहिए, इसी से उसका उद्धार हो सकता है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं–

जहा मिगस्स आयंको, महारण्णंमि जायई ।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि, को णं ताहे चिगिच्छई ॥ ७९ ॥

यथा मृगस्याऽऽतंकः, महारण्ये जायते ।
तिष्ठन्तं वृक्षमूले, कस्तं तदा चिकित्सति ॥ ७९ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **मिगस्स**–मृग को, **आयंको**–राग, **महारण्णंमि**–महा वन मे, **जायई**–उत्पन्न होता है, तब, **अच्छन्तं**–बैठे हुए, **रुक्खमूलम्मि**–वृक्ष के मूल मे, **को**–कौन, **णं**–उसकी, **ताहे**–उस समय, **चिगिच्छई**–चिकित्सा करता है।

मूलार्थ–हे पितरो ! महाभयानक जंगल में रहने वाले मृग को जब कोई रोग उत्पन्न हो जाता है, तब उस समय किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस मृग की कौन चिकित्सा करता है ?

टीका–पूर्व की गाथाओं में मृगापुत्र के माता-पिता ने साधुवृत्ति में किसी रोग के उत्पन्न होने पर, उसकी चिकित्सा का निषेध होने से जो मानसिक खेद व्यक्त किया था, उसका संक्षेप से तो मृगापुत्र ने प्रथम समाधान कर ही दिया था, परन्तु अब उसको विशेषरूप से समाहित करने के लिए कहते है कि–"हे पिताजी ! भयानक जगल में विचरने वाले मृग पर यदि किसी सद्यः प्राणघातक रोग का आक्रमण हो जाए तो उस समय किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस रुग्ण मृग की कौन जाकर चिकित्सा करता है ? कोई भी नही करता। किन्तु वह रोगी मृग उस रोग-जन्य पीडा को सहन करता हुआ बैठा रहता है। तात्पर्य यह है कि जैसे वह मृग उस पीड़ा को शांति-पूर्वक सहन करके समय आने पर उस रोग से मुक्त होने पर फिर पूर्व की भांति स्वेच्छा-पूर्वक

विचरता है, उसी प्रकार संयमशील पुरुष को भी धैर्य पूर्वक रोगादि के उपद्रवों को सहन करके अपनी बलवती आत्मनिष्ठा का परिचय देना चाहिए।

इस गाथा में सामान्य वन का उल्लेख न करके जो **'महारण्य'** का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि किसी छोटे से वन में तो उसकी सार-सभार लेने का उधर विचरते हुए किसी दयालु पुरुष को अवसर मिल भी सकता है, परन्तु महाभयानक जंगल में तो किसी के भी पहुंचने की संभावना नहीं हो सकती।

'णं' शब्द के विषय में बृहद्वृत्तिकार लिखते हैं कि–**'अचां संधिलोपो बहुलम्,'** इस नियम से **'अच्'** का लोप होने पर **'एनं'** के स्थान पर **'णं'** पढ़ा गया है।

अब उक्त कथन को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं–

को वा से ओसहं देइ, को वा से पुच्छई सुहं ।
को से भत्तं च पाणं वा, आहरित्तु पणामए ॥ ८० ॥

को वा तस्मै औषधं दत्ते, को वा तस्य पृच्छति सुखम् ।
कस्तस्मै भक्तं च पानं वा, आहृत्य प्रणामयेत् ॥ ८० ॥

पदार्थान्वयः–**वा**–अथवा, **को**–कौन, **से**–उस मृग को, **ओसहं**–औषध लाकर, **देइ**–देता है, **वा**–अथवा, **को**–कौन, **से**–उससे, **सुहं**–सुखसाता, **पुच्छई**–पूछता है, **को**–कौन, **से**–उसको, **भत्तं**–भोजन, **वा**–अथवा, **पाणं**–पानी, **आहरित्तु**–लाकर, **पणामए**–देता है।

मूलार्थ–हे पितरो! कौन उस मृग को औषधि देता है? कौन उससे सुखसाता पूछता है ? और कौन भोजन-पानी लाकर उसको देता है?

टीका–मृगापुत्र अपने पूर्वोक्त कथन को पुष्ट करते हुए फिर कहते हैं कि "पिताजी ! उस भयानक जंगल में वृक्ष के नीचे पड़े हुए उस रोगी मृग को वहां जाकर कौन व्यक्ति औषधि देता है? कौन जाकर उससे सुखसाता पूछता है ? और कौन पुरुष उसको अन्न-पानी लाकर देता है?" अर्थात् कोई औषधि नहीं देता, कोई कुशल-क्षेम नहीं पूछता, तथा कोई भी अन्न-पानी से उसकी सार-संभाल नहीं करता। जैसे किसी पुरुष के द्वारा औषधोपचार तथा सेवा-सुश्रूषा के न होने पर भी वह मृग रोग—वेदना को शांतिपूर्वक सहन कर लेता है, उसी प्रकार संयमवृत्ति में आरूढ़ होने वाले मुमुक्षु पुरुष को भी शारीरिक कष्टों को शांति-पूर्वक सहन करके अपने लक्ष्य की ओर बढते चले जाना चाहिए। कारण यह कि अशान्ति से रोगों की वृद्धि और शान्ति से उनकी निवृत्ति होती है।

यहां पर **'पणामई'** इस प्रयोग में **'अर्प्'** धातु को **'पणाम'** आदेश किया गया है, अतः **'पणाम'** का अर्थ अर्पण करना है।

जया य से सुही होइ, तया गच्छइ गोयरं ।
भत्तपाणस्स अट्ठाए, वल्लराणि सराणि य ॥ ८१ ॥

यदा च सः सुखी भवति, तदा गच्छति गोचरम् ।
भक्तपानस्यार्थ, वल्लराणि सरांसि च ॥ ८१ ॥

पदार्थान्वयः–**य**–च–और, **जया**–जिस समय, **से**–वह, **सुही**–सुखी, **होइ**–हो जाता है, **तया**–उस समय, **गोयरं**–गोचरी को, **गच्छइ**–जाता है, **भत्त**–भोजन, **य**–और, **पाणस्स**–पानी के, **अट्ठाए**–लिए, **वल्लराणि**–वन, **य**–और, **सराणि**–सर–तालाब को।

मूलार्थ–तदनन्तर जिस समय वह मृग स्वस्थ हो जाता है, उस समय गोचरी के लिए चल पड़ता है और भोजन तथा जल के लिए हरी-हरी घास में और जलाशयों पर पहुंच जाता है।

टीका–मृगापुत्र कहते हैं कि समय आने पर जब वह मृग नीरोग हो जाता है तब उसी गहन वन मे भोजन–भक्ष्य, वनस्पति आदि और जल की तलाश में चल पडता है तथा वन में उपलब्ध होन वाले भोजन और जल से तृप्त होकर स्वेच्छा-पूर्वक फिर उसी वन मे विचरने लगता है। उसी प्रकार सयमवृत्ति को धारण करने वाले मुनि लोग भी अपने जीवन को शाति-पूर्वक व्यतीत करते है और कर सकते है।

यहा पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि वर्तमान समय मे गच्छ में रहन वाले मुनियो को इस प्रकार की वृत्ति का पालन करना सर्वथा असाध्य नही ता कष्टसाध्य अवश्य है, तो भी सयमशील साधु इस बात का विचार अवश्य करता रहे कि वह समय मुझ कब प्राप्त होगा, जब कि मै गच्छ का छोडकर एकल विहार–प्रतिमा को अगीकार करूगा (यह कथन औपपातिक सूत्र के व्युत्सर्ग विवरण में है)। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का भाव प्रत्येक मुनि का रखना चाहिए।

''गोचरी'' शब्द से यहां पर मृगचर्या सूचित की गई है।

इसके अनन्तर–

खाइत्ता पाणियं पाउं, वल्लरेहिं सरेहि य ।
मिगचारियं चरित्ता णं, गच्छई मिगचारियं ॥ ८२ ॥

खादित्वा पानीयं पीत्वा, वल्लरेषु सरस्सु च ।
मृगचर्या चरित्वा, गच्छति मृगचर्याम् ॥ ८२ ॥

पदार्थान्वयः–**खाइत्ता**–खाकर, **पाणियं**–पानी, **पाउं**–पीकर, **वल्लरेहिं**–वनों में, **य**–और,

सरेहि—सरों में, **मिगचारियं**—मृगचर्या को, **चरित्ता**—आचरण करके, **मिगचारियं**—मृगचर्या में, **गच्छई**—चला जाता है।

मूलार्थ—वह मृग वनों में और जलाशयों में घास आदि खाकर और पानी पीकर मृगचर्या का आचरण करता हुआ अपने स्थान में विचरता है।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि नीरोग होने के बाद वह मृग तृण-घास खाकर और जल आदि पीकर फिर आनन्द-पूर्वक विचरने लगता है। स्वेच्छापूर्वक चलना और स्वेच्छापूर्वक बैठना, अर्थात् अपनी क्रिया में किसी के भी पराधीन न होना मृगचर्या कहलाती है। मृग के रहने को भी मृगचर्या कहते हैं। उक्त गाथा में आए हुए **'वल्लरेहिं—सरेहि'** पदों में **'सुप्'** का व्यत्यय है अर्थात् सप्तमी के स्थान में तृतीया का प्रयोग किया गया है।

अब उक्त मृगचर्या की साधुवृत्ति से तुलना करते हुए कहते हैं—

एवं समुट्ठिओ भिक्खू, एवमेव अणेगए ।
मिगचारियं चरित्ता णं, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ ८३ ॥

एवं समुत्थितो भिक्षुः, एवमेवाऽनेकगः ।
मृगचर्यां चरित्वा, ऊर्ध्वं प्रक्रामते दिशम् ॥ ८३ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इसी प्रकार, **समुट्ठिओ**—संयम में सावधान हुआ, **भिक्खू**—साधु और, **एवमेव**—इसी प्रकार, **अणेगए**—अनेक स्थानो में फिरने वाला, **मिगचारियं**—मृगचर्या को, **चरित्ता**—आचरण करके, **उड्ढं**—ऊची, **दिसं**—दिशा में, **पक्कमई**—प्रक्रमण अर्थात् गमन करता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार भिक्षु भी संयम में सावधान होकर मृग की भांति अनेक स्थानों में फिरकर मृगचर्या का आचरण करता हुआ ऊर्ध्व दिशा अर्थात् मोक्ष की ओर गमन करता है।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि संयम-क्रिया में सावधान हुआ साधु भी उस मृग की तरह—अर्थात् जैसे रोगादि के आने पर वह उसी जंगल में किसी वृक्ष के नीचे बैठा हुआ समय व्यतीत करता है और नीरोग होने पर स्वेच्छानुसार भ्रमण करने लग जाता है, उसी प्रकार साधु भी रोगादि के आने पर चिकित्सादि से उपराम होकर एक स्थान मे स्थित रहे और रोगादि के शान्त होने पर अपनी साधु-वृत्ति के अनुसार भिक्षादि मे प्रवृत्त हो जाए।

तात्पर्य यह है कि जैसे मृग नाना स्थानों में भ्रमण करके अपने उदर की पूर्ति कर लेता है, उसी प्रकार मुनि भी किसी गृहविशेष के नियम मे न आकर, अनेक घरों से भिक्षा लाकर, अपनी

क्षुधा को शान्त करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार आचरण करने वाला मुनि ऊर्ध्वदिशा अर्थात् मोक्ष के लिए पराक्रम करने वाला होता है।

तात्पर्य यह है कि–संयम-क्रिया के अनुष्ठान का फल मोक्ष और स्वर्ग ये दो हैं। इनमें सयमशील साधु को उचित है कि वह अपनी संयम-क्रिया को मोक्षप्राप्ति के निमित्त ही उपयोग में लाए, न कि स्वर्गप्राप्ति के लिए।

अब इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए फिर कहते हैं–

जहा मिए एग अणेगचारी, अणेगवासे धुवगोयरे य ।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे, नो हीलए नोवि य खिंसएज्जा ॥ ८४ ॥

यथा मृग एकोऽनेकचारी, अनेकवासो ध्रुवगोचरश्च ।
एवं मुनिर्गोचर्या प्रविष्टः, नो हीलयेन्नोऽपि च खिंसयेत् ॥ ८४ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **मिए**–मृग, **एग**–अकेला, **अणेगचारी**–अनेक स्थानों मे विचरता हे, **य**–और, **अणेगवासे**–अनेक स्थानो में वास करता है, तथा, **धुवगोयरे**–सदा गोचरी किए हुए आहार को ही ग्रहण करता है, **एवं**–इसी प्रकार, **मुणी**–साधु, **गोयरियं**–गोचरी मे, **पविट्ठे**–प्रविष्ट हुआ, **नो हीलए**–कदन्न मिलने पर उसकी अवहेलना न करे, **य**–और, **नोवि**–न, **खिंसएज्जा**–आहार के न मिलने पर निन्दा करे।

मूलार्थ–जैसे अकेला मृग अनेक स्थानों में विचरने वाला होता है और अनेक स्थानों में निवास करने वाला होता है, तथा ध्रुवगोचर अर्थात् सदा गोचरी किए हुए आहार का ही भक्षण करने वाला होता है, उसी प्रकार गोचरी वृत्ति में प्रविष्ट हुआ मुनि भी कुत्सित आहार के मिलने पर उसकी अवहेलना न करे तथा न मिलने पर किसी की निन्दा न करे या खीजे नहीं।

टीका–मृगापुत्र फिर कहते है कि जैसे सहायशून्य अकेला ही मृग अनेक स्थानों में विचरता रहता है और अनेक स्थानो में निवास करता है, क्योकि उसका कोई भी नियत स्थान नहीं होता तथा भ्रमण करते हुए उसको जहा पर जैसे भी तृण आदि भक्ष्य पदार्थो की प्राप्ति हो जाती है, उसी से वह अपने उदर की पूर्ति कर लेता है। उसके पास अनेक दिनो के लिए न तो खाद्य पदार्थो का सचय रहता है और न वह दूसरों के पास खाद्य पदार्थो को सचित रखता है, किन्तु क्षुधा के समय वन मे विचरने से उसको जो कुछ प्राप्त होता है उसी से वह अपना निर्वाह कर लेता है। इसी प्रकार भिक्षावृत्ति में प्रवृत्त हुआ मुनि भी अपने पास किसी प्रकार के आहार द्रव्य का सचय न करता हुआ केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से उपलब्ध हुए खाद्य पदार्थो से अपनी क्षुधा की निवृत्ति करे, परन्तु किसी घर से कुत्सित आहार मिलने पर अथवा न मिलने पर उस आहार की

अवेहलना या न देने वाले दाता की निन्दा न करे, क्योंकि मुनि का धर्म तो याचना करने का है, आगे देना या न देना अथवा स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट आहार देना दाता की इच्छा पर निर्भर है।

प्रस्तुत गाथा में साधु को मृग से उपमित किया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि–जैसे मृग असहाय होता है, उसी प्रकार साधु भी किसी गृहस्थ की सहायता की अभिलाषा न करे, तथा जैसे मृग अनेक स्थानों में फिरता है, उसी भाँति साधु भी संयम साधना में विचरण करता रहे एवं जैसे मृग का कोई विशेष निवास स्थान नहीं होता, उसी तरह साधु का भी कोई स्थायी निवास स्थान नहीं होना चाहिए और जैसे मृग केवल अपने ही पुरुषार्थ से तृणादि आहार का अन्वेषण करके उसके द्वारा शरीर-यात्रा को चलाता है, उसी प्रकार साधु भी केवल गोचरीवृत्ति से ही अपनी उदरपूर्ति करने का सकल्प रखे।

तात्पर्य यह है कि किसी गृहस्थ द्वारा उपाश्रय आदि में लाकर दिया हुआ आहार साधु कदापि ग्रहण न करे, इसी अभिप्राय से मुनि की वृत्ति को मृगचर्या के नाम से शास्त्रकारों ने अभिहित किया है।

यद्यपि पूर्व की गाथाओं में साधुवृत्ति के लिए मृग के साथ पक्षी का भी उल्लेख किया गया है, परन्तु वह गौण है, मुख्यतया मृग की उपमा ही यथार्थ है, क्योंकि वह स्वभाव से ही सरल और उपशान्त होता है, इसलिए मुनिवृत्ति से उपमित करने के लिए वही उपयुक्त प्रतीत होता है, अर्थात् संयमवृत्ति को धारण करने वाला साधु भी उपशान्त, मोह और सरल स्वभाव वाला होना चाहिए।

इसके अनन्तर मृगापुत्र ने जो कुछ किया अब उसका निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि–

मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता ! जहासुहं ।
अम्मापिऊहिंऽणुण्णाओ, जहाइ उवहिं तओ ॥ ८५ ॥

मृगचर्या चरिष्यामि, एवं पुत्र ! यथासुखम् ।
अम्बापितृभ्यामनुज्ञातः, जहात्युपधिं तथा ॥ ८५ ॥

पदार्थान्वयः–**मिगचारियं**–मृगचर्या का, **चरिस्सामि**–आचरण करूंगा, **एवं**–इस प्रकार, **पुत्ता**–हे पुत्र! **जहासुहं**–जैसे तुमको सुख हो, **अम्मापिऊहिं**–माता-पिता की, **अणुण्णाओ**–आज्ञा होने पर, **उवहिं**–उपधि को, **जहाइ**–छोड़ दिया, **तओ**–तदनन्तर दीक्षित हो गया।

मूलार्थ–**"मैं मृगचर्या का आचरण करूंगा" पुत्र की इस प्रतिज्ञा को सुन कर माता-पिता ने कहा–"हे पुत्र ! जैसे तुमको सुख हो, वैसे करो।" इस प्रकार माता-पिता की आज्ञा होने पर मृगापुत्र ने उपधि को छोड़ दिया, तदनन्तर वह दीक्षित हो गया।**

टीका—संयमग्रहण के विषय में माता-पिता से अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर होने के अनन्तर मृगापुत्र ने कहा—"मै तो अब मृगचर्या का ही आचरण करूंगा।" पुत्र के इन वचनों को सुनकर माता-पिता ने कहा—"पुत्र ! जैसे तुम्हारी रुचि हो, वैसे करो, हम उसमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करते।" इस प्रकार माता-पिता की आज्ञा हो जाने पर मृगापुत्र ने द्रव्य और भावरूप उपधि का परित्याग करके दीक्षित होने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

मृगापुत्र ने **द्रव्य-उपधि**—वस्त्र-आभूषणादि और **भाव-उपधि**—मायादि इन दोनों का परित्याग कर दिया। **'येन आत्मा नरके उपधीयते स उपधिः'** अर्थात् जिससे यह आत्मा नरक में जाए, उसको उपधि कहते हैं। अतः संयम ग्रहण के अभिलाषी को द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार की उपधि का परित्याग कर देना चाहिए।

यद्यपि पूर्व की एक गाथा में मृगापुत्र को **'दमीश्वर'** कहा गया है, परन्तु वह कथन भाव-संयम की अपेक्षा से है और यहां पर तो द्रव्यलिंग ग्रहण करने की दृष्टि से इस प्रकार कहा गया है। सारांश यह है कि माता-पिता की अनुमति होने पर मृगापुत्र संयम-ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो गये।

अब फिर इस कथन को पल्लवित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्ब ! ऽणुण्णाओ, गच्छ पुत्त ! जहासुहं ॥ ८६ ॥

मृगचर्यां चरिष्यामि, सर्वदुःखविमोक्षिणीम् ।
युवाभ्यामनुज्ञातः, गच्छ पुत्र! यथासुखम् ॥ ८६ ॥

पदार्थान्वयः—**मिगचारियं**—मृगचर्या का, **चरिस्सामि**—आचरण करूंगा, जो, **सव्वदुक्ख**—सर्व दुःखों से, **विमोक्खणिं**—मुक्त करने वाली है, **अम्ब !**—हे माता ! **तुब्भेहिं**—आप दोनों की, **अणुण्णाओ**—आज्ञा होने पर, **गच्छ**—जा, **पुत्त**—हे पुत्र! **जहासुहं**—जैसे सुख हो।

मूलार्थ—"हे अम्ब! आप दोनों की आज्ञा होने पर मैं मृगचर्या का आचरण करूंगा, जो कि सर्व दुःखों से मुक्त करने वाली है।" (तब उसके माता-पिता ने कहा कि) "हे पुत्र! जैसे तुमको सुख हो, वैसे करो।"

टीका—संयम ग्रहण करने के लिए युवराज का अत्याग्रह देखकर माता-पिता ने उसको आज्ञा दे दी और वे संयम ग्रहण के लिए उद्यत हो गए, यह पूर्वगाथा मे वर्णन आ चुका है। प्रस्तुत गाथा मे भी इसी विपय को पुनः पल्लवित किया गया है। मृगापुत्र कहते हैं कि आप मुझे आज्ञा दे ताकि मैं मृगचर्या—संयमवृत्ति का अनुसरण करूं, क्योंकि यह सर्व प्रकार के दुःखों से छुडाने वाली है। तब माता-पिता ने उत्साह-पूर्वक आज्ञा देते हुए कहा कि "पुत्र ! जाओ, अच्छी

तरह से संयम ग्रहण करो, अर्थात् यदि इसी में तुम्हारी आत्मा को सुख है और इसी के ग्रहण करने से तुम दुःखों से छूट सकते हो तो हम तुमको बड़ी खुशी से आज्ञा देते हैं।''

वर्तमान काल में दीक्षा-सम्बन्धी जो प्रथा प्रचलित हो रही है तथा आज्ञा लेने और देने में जो कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, उनका परिचय कराना अनावश्यक है, परन्तु दीक्षा लेने और उसकी आज्ञा देने वाले दोनों ही व्यक्तियों को इस अध्ययन के अवलोकन से अवश्य ही उचित शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

तदनन्तर–

एवं सो अम्मापियरं, अणुमाणित्ता ण बहुविहं ।
ममत्तं छिन्दई ताहे, महानागो व्व कंचुयं ॥ ८७ ॥

एवं सोऽम्बापितरौ, अनुमान्य बहुविधम् ।
ममत्वं छिनत्ति तदा, महानाग इव कञ्चुकम् ॥ ८७ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इस प्रकार, **सो**–वह–मृगापुत्र, **अम्मापियरं**–माता-पिता को, **अणुमाणित्ता**–सम्मत करके, **बहुविहं**–नानाविध–अनेक प्रकार के, **ममत्तं**–ममत्व को, **छिन्दई**–छोड़ देता है, **ताहे**–उस समय, **व्व**–जैसे, **महानागो**–महानाग–सर्प, **कंचुयं**–कंचुक को।

मूलार्थ–इस प्रकार दीक्षा के लिए माता-पिता को सहमत कर लेने के बाद वह मृगापुत्र संसार के अनेकविध ममत्व को इस प्रकार छोड़ देता है, जैसे सर्प केंचुली को छोड़ दिया करता है।

टीका–संसार में बन्धन का एकमात्र कारण ममत्व है। जब तक इस जीव की सांसारिक पदार्थो पर मूर्च्छा बनी हुई है, तब तक वह साधु का वेष ग्रहण कर लेने पर भी कर्म के बन्धनों से मुक्त नही हो सकता, इसलिए सारे अनर्थों का मूल कारण जो ममत्व अर्थात् राग है, उसी का परित्याग करने से कल्याण का मार्ग उपलब्ध होता है।

मृगापुत्र ने दीक्षित होने से प्रथम अपने माता-पिता को अपने विचारो के अनुकूल बना लेने के बाद अर्थात् उनकी आज्ञा प्राप्त कर लेने के अनन्तर सबसे प्रथम सासारिक पदार्थो में विविध भांति की जो आसक्ति है, उसको छोड़ दिया ओर छोड़ा भी इस प्रकार से जैसे सांप अपने ऊपर की केचुली को निकालकर परे फैक देता है।

इस दृष्टान्त द्वारा मृगापुत्र की सांसारिक विषयभोग-सम्बन्धी उत्कृष्ट निस्पृहता का बोध कराया गया है। तात्पर्य यह है कि जैसे केंचुली को फैंककर सर्प परे हो जाता है ओर उसको पीछे फिरकर देखता तक भी नहीं, उसी प्रकार मृगापुत्र ने भी सब प्रकार के ममत्व का परित्याग कर दिया और वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से ममता-मुक्त हो गया।

अब उसके बाह्य उपधि के परित्याग का वर्णन करते हैं–

इड्ढी वित्तं च मित्ते य, पुत्तदारं च नायओ ।
रेणुयं व पडे लग्गं, निद्धुणित्ताण निग्गओ ॥ ८८ ॥

ऋद्धिं वित्तं च मित्राणि च, पुत्रदारांश्च ज्ञातीन् ।
रेणुकमिव पटे लग्नं, निर्धूय खलु निर्गतः ॥ ८८ ॥

पदार्थान्वयः–**इड्ढी**–ऋद्धि, **च**–और, **वित्तं**–धन, **य**–और, **मित्ते**–मित्र, **पुत्त**–पुत्र, **दारं**–स्त्री, **च**–पुनः **नायओ**–ज्ञातिसम्बन्धी जन, **रेणुयं व**–धूलि की तरह, **पडे**–पट में, **लग्गं**–लगी हुई, **निद्धुणित्ताण**–झाड़कर, **निग्गओ**–घर छोड कर निकल गए।

मूलार्थ–जैसे कपड़े में लगी हुई धूलि को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार समृद्धि, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी जनों के मोह को त्याग कर मृगापुत्र घर छोड़कर निकल गए।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे बाह्य उपधि के परित्याग का वर्णन किया गया है। माता-पिता की अनुमति मिलने के अनन्तर मृगापुत्र ने राजकीय समृद्धि–हस्ती, अश्वादि का परित्याग कर दिया, रत्नो से भर हुए कोष को छोड दिया, मित्रो से भी वे पराड्मुख हो गए, पुत्र और स्त्री तथा सम्बन्धी जनों के सग का भी उन्होंने परित्याग कर दिया। वह त्याग भी कैसा, जैस कपडे पर लगी हुई धूल को झाड कर अलग कर दिया जाता है।

यहा पर वस्त्र और धूलि के दृष्टान्त से यह भाव व्यक्त किया गया है कि वस्त्र के साथ लगी हुई रज अप्रिय होने से जैसे झाडकर वस्त्र से अलग कर दी जाती है, उसी प्रकार इस सासारिक पदार्थ समूह को भी अत्यन्त अप्रिय समझकर मृगापुत्र ने उसका परित्याग कर दिया और त्याग करने के अनन्तर वे भी वस्त्र की भाति शुद्ध हो गए।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का परित्याग करके वे मृगापुत्र किस प्रकार के हो गए, अब इसका वर्णन करते हैं–

पंचमहव्वयजुत्तो, पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य ।
सब्भिन्तरबाहिरिए, तवोकम्मंमि उज्जुओ ॥ ८९ ॥

पंचमहाव्रतयुक्तः, पंचभिः समितस्त्रिगुप्तिगुप्तश्च ।
साभ्यन्तरबाह्ये, तपःकर्मणि उद्युक्तः ॥ ८९ ॥

पदार्थान्वयः–पंचमहव्वय–पाच महाव्रतो से, **जुत्तो**–युक्त, **पंचसमिओ**–पांच समितियों

से समित, **य**–और, **तिगुत्तिगुत्तो**–तीन गुप्तियों से गुप्त, **सब्भिंतर**–आभ्यन्तर और, **बाहिरिए**–बाह्य, **तवोकम्मंमि**–तपःकर्म करने के लिए, **उज्जुओ**–उद्यत हो गया।

मूलार्थ–पांच महाव्रतों से युक्त, पांच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त हुआ वह मृगापुत्र बाह्य और आभ्यन्तर तपःकर्म करने के लिए उद्यत हो गया।

टीका–सर्व प्रकार की उपधि का परित्याग करके घर से निकलकर मृगापुत्र ने मुनिवृत्ति–मुनिवेष को धारण कर लिया, जैसे कि पूर्वजन्म में धारण की थी। इसलिए उनके किसी गुरु के नाम का यहा निर्देश नहीं किया गया। मुनिवेष को धारण करते हुए मृगापुत्र अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों से युक्त हो गए। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान–निक्षेप तथा परिष्ठापना रूप पाच प्रकार की समितियों से विभूषित और मन, वचन, कायारूप तीनों गुप्तियो से गुप्त होते हुए सर्व प्रकार के तपःकर्म मे उद्यत हो गए, अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के तपःकर्म के अनुष्ठान म प्रवृत्त हो गए।

पाच समितियो और तीन गुप्तियो का विस्तृत वर्णन इसी सूत्र के २४वे अध्ययन मे किया गया है। तप की विस्तृत व्याख्या ३० वे अध्ययन में की गई है।

अब फिर कहते हैं–

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥ ९० ॥

निर्ममो निरहंकारः, निःसंगस्त्यक्तगौरवः ।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥ ९० ॥

पदार्थान्वयः–निम्ममो–ममत्व-रहित, **निरहंकारो**–अंहकार से रहित, **निस्संगो**–सग स रहित, **चत्तगारवो**–त्याग दिया है गर्व जिसने, **य**–और, **समो**–समभाव रखन वाला, **सव्वभूएसु**–सर्वजीवो मे, **तसेसु**–त्रसा मे, **य**–और, **थावरेसु**–स्थावरों मे।

मूलार्थ–ममत्व और अहंकार से रहित तथा संग-रहित एवं तीनों गर्वों से रहित वह मृगापुत्र त्रस और स्थावर आदि सर्व प्रकार के जीवों पर समभाव रखने वाला हुआ।

टीका–सयम व्रत ग्रहण करने के अनन्तर मृगापुत्र ने संसार के सभी पदार्थो पर से ममत्व का त्याग दिया तथा उत्तमोत्तम गुणो के धारण करने का उनके मन मे अहकार भी नही रहा, एवं गृहस्थों के सग का भी उन्होंने त्याग कर दिया अर्थात्–**'गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहुसंथवं'***

*** सयमशील को गृहस्थो का संग न करना चाहिए किन्तु साधुओ के संसर्ग मे रहना चाहिए।**

इस आज्ञा के अनुसार वे चलने लगे। इसी प्रकार ऋद्धि, रस और साता—इन तीनों गर्वों को भी उन्होंने छोड़ दिया। अतएव त्रस और स्थावर आदि सभी प्रकार के जीवों पर उनका समभाव हो गया, तात्पर्य यह है कि किसी भी प्राणी पर उनका राग या द्वेष नहीं रहा।

फिर कहते हैं—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥ ९१ ॥

लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा ।
समो निन्दाप्रशंसयोः, समो मानापमानयोः ॥ ९१ ॥

पदार्थान्वयः—**लाभालाभे**—लाभ और अलाभ मे, **सुहे**—सुख मे, **दुक्खे**—दुःख मे, **तहा**—तथा, **जीविए**—जीवन मे, **मरणे**—मरण मे, **समो**—समभाव रखने वाला, **निन्दापसंसासु**—निन्दा और प्रशसा मे, **तहा**—तथा, **माणावमाणओ**—मान और अपमान में।

मूलार्थ—वह मृगापुत्र लाभ-अलाभः सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा एवं मान और अपमान में समभाव रखने वाला हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे संयमशील साधु के आन्तरिक उत्कृष्ट गुणो का दिग्दर्शन कराया गया है। जो व्यक्ति लाभ में और अलाभ में, सुख में और दुःख में, जीवन मे और मरण में, निन्दा और प्रशसा में तथा मान और अपमान मे समभाव रखने वाला होता है, वही वास्तव मे मुनि अथवा साधु है। ये सम्पूर्ण गुण मृगापुत्र मे विद्यमान थे, इसलिए वे उच्चकोटि के मुनियो की पक्ति मे गिने गए।

साराश यह है कि आहारादि का लाभ होने पर जिसके चित्त मे प्रसन्नता नही, न मिलने पर खेद नहीं, जीवन की लालसा और मृत्यु का भय जिसको नहीं, तथा कोई निन्दा करे तो रोष नही और प्रशंसा करने वाले पर प्रसन्नता नही, एवं किसी के द्वारा सम्मानित होने की खुशी और अपमानित होने पर दुःख नहीं, वही सच्चा त्यागी, संयमी मुनि अथवा साधु है। वास्तव मे मोक्षाभिलाषी आत्मा को इन्हीं आन्तरिक गुणों के सम्पादन करने की आवश्यकता है।

अब फिर कहते हैं।

गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु अ ।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो ॥ ९२ ॥

गौरवेभ्यः कषायेभ्यः, दण्डशल्यभयेभ्यश्च ।
निवृत्तो हास्यशोकात्, अनिदानोऽबान्धवः ॥ ९२ ॥

पदार्थान्वयः—**गारवेसु**—तीनों गर्वों से, **कसाएसु**—कषायों से, **दंड**—दंड, **सल्ल**—शल्य, **अ**—और, **भएसु**—भयों से, **नियत्तो**—निवृत्त हो गया, **हाससोगाओ**—हास्य और शोक से तथा, **अनियाणो**—निदान से रहित, **अबन्धणो**—बन्धन से रहित।

मूलार्थ—मुनि मृगापुत्र गर्व, कषाय, दण्ड, शल्य और भय से तथा हास्य और शोक से निवृत्त हो गया, तथा निदान और बन्धन से भी मुक्त हो गया।

टीका—संयमवृत्ति को धारण करने के अनन्तर मृगापुत्र ने तीनों गारव—गर्वों (ऋद्धिगर्व, रसगर्व और सातागर्व) का परित्याग कर दिया। क्रोध, मान, माया और लोभ—इन कषायों को भी छोड़ दिया। मन, वचन और काया के दंड को भी त्याग दिया। माया, निदान और मिथ्यादर्शन इन तीन प्रकार के शल्यो को भी छोड दिया, अतएव सात प्रकार के भयों से भी वह निवृत्त हो गया। इसके साथ ही उसका हास्य और शोक भी जाता रहा। इस प्रकार आचरण करने से उसकी प्रत्येक क्रिया निदान से रहित और बन्धन से मुक्त कराने वाली हुई। तात्पर्य यह है कि संसार मे कर्मबन्ध का कारण जो राग-द्वेष हैं उनसे वह निवृत्त हो गया।

प्रस्तुत गाथा में साधु को संयम ग्रहण करने के अनन्तर किस प्रकार की धारणा रखनी चाहिए, इस बात का बड़ी सुन्दरता से दिग्दर्शन कराया गया है। सप्तमी विभक्ति के जो रूप दिए गए है, वे पञ्चमी के अर्थ मे समझने चाहिएं। इसीलिए यहा पर पञ्चमी का अर्थ किया गया है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्दणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥ १३ ॥

अनिश्रित इह लोके, परलोकेऽनिश्रितः ।
वासीचन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**इहं**—इस, **लोए**—लोक मे, **अणिस्सिओ**—आश्रय-रहित, **परलोए**—परलोक में, **अणिस्सिओ**—अनिश्रित, **वासी**—परशु से कोई छेदन करता है, **य**—और, **चंदण**—चंदन का लेप करता है—किन्तु दोनों पर, **कप्पो**—समकल्प है, **तहा**—उसी प्रकार, **असणे**—अन्न के मिलने पर, **अणसणे**—अन्न के न मिलने पर—समभाव है।

मूलार्थ—इस लोक के आश्रित नहीं और परलोक के आश्रित नहीं, तथा कोई परशु से छेदन करता है और कोई चन्दन से पूजता है, परन्तु दोनों पर समकल्प है, इसी तरह अन्न के मिलने अथवा न मिलने पर भी समभाव है।

टीका—इस गाथा में मृगापुत्र की सयमानुकूल क्रिया और भावो का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—तपोऽनुष्ठान से इस लोक में प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा, परस्पर की सहायता और

राज्य-पदवी आदि की उनको इच्छा नही रही और न स्वर्गादि सुखों की अभिलाषा ही रह गई, किन्तु उनकी संयमानुकूल सभी क्रियाएं कर्मक्षय के निमित्त ही थीं। ऐहिक और पारलौकिक सुखों की उनके मन में अणुमात्र भी इच्छा नहीं रही। अतएव यदि किसी ने उनके शरीर को परशु से काटा तो उस पर वे रुष्ट नही हुए और किसी ने यदि उनके शरीर पर चन्दन का लेप कर दिया तो उस पर वे प्रसन्न नहीं हुए, किन्तु दोनों पर समान दृष्टि ही रखते थे। इसी प्रकार अन्नादि भक्ष्य पदार्थों के प्राप्त होने पर उनको हर्ष नही होता था और न मिलने पर उद्वेग भी नहीं होता था। तात्पर्य यह है कि इष्टानिष्ट हर एक अवस्था में वे समभाव रहते थे।

सयमशील प्रत्येक मुनि को मृगापुत्र की उक्त वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए, यही इस गाथा का अभिप्राय है।

अब फिर कहते हैं-

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं , पसत्थदमसासणो ॥ ९४ ॥

अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः, सर्वतः पिहितास्त्रवः ।
अध्यात्मध्यानयोगैः, प्रशस्तदमशासनः ॥ ९४ ॥

पदार्थान्वयः-अप्पसत्थेहिं-अप्रशस्त, **दारेहि**-द्वारो से-निवृत्त हुआ, **सव्वओ**-सर्व प्रकार से, **पिहियासवो**-पिहिताश्रव होकर, **अज्झप्प**-अध्यात्म, **ज्झाण**-ध्यान, **जोगेहिं**-योगो से युक्त हुआ, **पसत्थ**-सुन्दर है, **दम**-उपशम और, **सासणो**-भगवान् का शिक्षारूप शासन जिसका।

मूलार्थ-मुनि मृगापुत्र अप्रशस्त द्वारों से निवृत्त हुआ, सर्व प्रकार से पिहिताश्रव बनता हुआ, अध्यात्मयोग से युक्त होकर प्रशस्त, उपशम और भगवान् के शिक्षारूप आगम का वेत्ता बन गया।

टीका-इम गाथा मे भी मृगापुत्र के आन्तरिक विशुद्ध आचार का दिग्दर्शन कराया गया है। वे मृगापुत्र अप्रशस्त योगों-मन, वचन और काया के व्यापारो-द्वारा आने वाले कर्माणुओं को रोकने से पिहिताश्रव बन गए, अर्थात् आश्रव के निरोध से सवरयुक्त हो गए, क्योंकि आश्रवो का निरोध करने मे ही सवर तत्त्व की प्राप्ति होती है, परन्तु पिहिताश्रव अर्थात् सवरयुक्त यह जीव तभी हो सकता है, जब कि उसकी अध्यात्मयोग में प्रवृत्ति हो, इसलिए मृगापुत्र प्रशस्त योगों के द्वारा अध्यात्म-ध्यान मे ही लीन रहने लगे, अतः उनका उपशम भाव भी बड़ा ही प्रशंसनीय था और जिनागम क भी वे परम वेत्ता थे।

प्रस्तुत गाथा में मृगापुत्र की अन्तरगवृत्ति की विशुद्धता का वर्णन करने के साथ-साथ अध्यात्मयोग का भी अर्थतः दिग्दर्शन कराया गया है।

अब इस अध्यात्म-योग के सेवन के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–

एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य।
भावणाहिं य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥ ९५ ॥
बहुयाणि उ वासाणि, सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेण, सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥ ९६ ॥
एवं ज्ञानेन चरणेन, दर्शनेन तपसा च।
भावनाभिश्च शुद्धाभिः, सम्यग् भावयित्वाऽऽत्मानम् ॥ ९५ ॥
बहुकानि तु वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य ।
मासिकेन तु भक्तेन, सिद्धिं प्राप्तोऽनुत्तराम् ॥ ९६ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इस प्रकार, **नाणेण**–ज्ञान से, **चरणेण**–चारित्र से, **दंसणेण**–दर्शन से, **य**–और, **तवेण**–तप से, तथा, **सुद्धाहिं**–विशुद्ध, **भावणाहिं**–भावनाओं से, **सम्मं**–भली प्रकार, **अप्पयं**–आत्मा को, **भावेत्तु**–भावित करके।

बहुयाणि–बहुत, **वासाणि**–वर्षों तक, **सामण्णं**–श्रमण धर्म का, **अणुपालिया**–परिपालन करके, उ–वितर्क में, **मासिएण**–मासिक, **भत्तेण**–भक्त से, **अणुत्तरं**–प्रधान, **सिद्धिं**–सिद्धगति को, **पत्तो**–प्राप्त हुआ, उ–पादपूर्ति में।

मूलार्थ–इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तथा विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भली प्रकार भावित करके–अतिरंजित करके, एवं अनेक वर्षों तक श्रमण धर्म का परिपालन करके एक मास के उपवास से–(शरीर को छोड़कर) सिद्ध-गति अर्थात् मोक्ष को वह मृगापुत्र प्राप्त हुआ।

टीका–अब शास्त्रकार उक्त दो गाथाओ के द्वारा मृगापुत्र के किए हुए क्रिया-कलाप के फल का वर्णन करते हैं। मृगापुत्र ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से अपनी आत्मा को परिमार्जित करके तथा विशुद्ध भावनाओं के द्वारा अर्थात् पांच महाव्रतो की २५ और अनित्यादि द्वादशविध भावनाओं के द्वारा आत्मा को सम्यक्तया भावित करके अनेक वर्षों तक संयम का पालन करके परम गति–सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त किया। यहां पर इतना स्मरण रहे कि आत्मा का पर्यालोचन विशुद्ध भावनाओ के द्वारा ही सम्भव हो सकता है, परन्तु जब तक योग–मन, वाणी और शरीर के व्यापार विशुद्ध नहीं होंगे, तब तक भावनाओं की शुद्धि नहीं हो सकती, अतः विशुद्ध

भावनाओं के द्वारा आत्मा को भावित करने के लिए योगों की शुद्धि नितान्त आवश्यक है तथा अनेक वर्षों तक उसने इसी प्रकार से संयम का पालन किया और अन्त में एक मास का उपवास करके शरीर को छोड़ कर मोक्ष गति को प्राप्त कर लिया।

यहां पर **'सिद्धि'** के साथ **'अणुत्तर'** विशेषण इसलिए लगाया गया है कि **'सिद्धि'** शब्द से **'अंजन-सिद्धि'** आदि लौकिक सिद्धियों का ग्रहण न हो।

साराश यह है कि मृगापुत्र ने संयमवृत्ति का भली-भाँति परिपालन किया और उसके फलस्वरूप उनको सर्वोत्तम मोक्षगति प्राप्त हुई।

यद्यपि सूत्रकार ने मृगापुत्र के समय का कोई निर्देश नहीं किया, तथापि पांच महाव्रत और बहुत वर्षो तक श्रमण धर्म का पालन इन दो बातों के उल्लेख से इनके समय का कुछ निश्चय किया जा सकता है, क्योकि प्रथम और चरम तीर्थकर के समय में ही पांच महाव्रतों का उल्लेख मिलता है, अन्य तीर्थकरों के समय में नहीं। इससे प्रथम या अन्तिम तीर्थकर के समय मे ही इनका होना सुनिश्चित होता है। परन्तु प्रथम तीर्थकर के समय मे आयु का प्रमाण अधिक बताया गया है और सूत्रकार ने कुमार अवस्था मे इनका सयम धारण करना बताया है तथा बहुत वर्षो तक सयम का आराधन करके मोक्ष जाना कहा है, इससे इनका समय चरम तीर्थकर भगवान् महावीर स्वामी के अति निकट ही प्रतीत होता है। वास्तविक तत्त्व तो केवलीगम्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार लिखते हैं–

एवं करन्ति संबुद्धाः, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, मियापुत्ते जहा रिसी ॥ ९७ ॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, मृगापुत्रो यथा ऋषिः ॥ ९७ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इसी प्रकार, **संबुद्धा**–तत्त्ववेत्ता, **करन्ति**–करते है, **पंडिया**–पंडित, **पवियक्खणा**–प्रविचक्षण, **भोगेसु**–भोगों से, **विणियट्टंति**–निवृत्त हो जाते हैं, **जहा**–जैसे, **मियापुत्ते**–मृगापुत्र, **रिसी**–ऋषि हुआ।

मूलार्थ–इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता पुरुष करते हैं, जो पंडित और विचक्षण हैं वे भोगों से इसी प्रकार निवृत्त हो जाते हैं, जैसे मृगापुत्र ऋषि निवृत्त हुए।

टीका–इस गाथा मे प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए सूत्रकार ने विचारशील पुरुषों की शुद्ध मनोवृत्ति और तदनुकूल आचार का दिग्दर्शन कराया है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष हेयोपादेय के ज्ञाता, सदसद् का विचार करने वाले, पूर्ण बुद्धिमान् होते हैं, वे इन तुच्छ सांसारिक

विषयों में आसक्त नहीं होते, किन्तु इनके मर्म को समझ कर मृगापुत्र की तरह इनका सर्वथा परित्याग करके, संयमवृत्ति के अनुसरण द्वारा वीतरागता की प्राप्ति करके सर्वश्रेष्ठ और अविनाशी मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हैं।

महप्पभावस्स महाजसस्स, मियाइ पुत्तस्स निसम्म भासियं ।
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं, गइप्पहाणं च तिलोयविस्सुयं ॥ १८ ॥

महाप्रभावस्य महायशसः, मृगायाः पुत्रस्य निशम्य भाषितम् ।
तपःप्रधानं चारित्रं चोत्तमं, प्रधानगतिं च त्रिलोकविश्रुताम् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**महप्पभावस्स**—महाप्रभाव वाले, **महाजसस्स**—महान् यश वाले, **मियाइ**—मृगा, **पुत्तस्स**—पुत्र के, **भासियं**—भाषण को, **निसम्म**—विचारपूर्वक सुनकर, **तवप्पहाणं**—तप:प्रधान, **च**—और, **उत्तमं**—उत्तम, **चरियं**—चारित्र, **च**—और, **गइप्पहाणं**—गतिप्रधान, **तिलोयविस्सुयं**—तीन लोक में विश्रुत।

मूलार्थ—महान् प्रभाव और महान् यश वाले मृगापुत्र के तपःप्रधान, चारित्रप्रधान और गति-प्रधान तथा तीनों लोकों में सुप्रसिद्ध ऐसे उत्तम पूर्वोक्त भाषण को विचारपूर्वक श्रवण करके (धर्म में पुरुषार्थ करना चाहिए।)

टीका—इस गाथा में मृगापुत्र के पूर्वोक्त संभाषण को प्रामाणिक और सर्व प्रकार से उपादेय बताया गया है, क्योंकि उनका कथन आप्त-प्रणीत स्वतः प्रमाण है। मृगापुत्र तप और चारित्र की उत्कृष्टता से ससार में विश्रुत हुए, महान् प्रभाव वाले हुए। अतएव उनका प्रत्येक वचन सम्माननीय और आचरणीय है। उन्होंने अपने माता-पिता के समक्ष नरकादि चारों गतियो का जो वर्णन किया है, वह आगम-विहित होने के अतिरिक्त उनका अनुभूत भी था, अतः उनके उक्त संभाषण को मनन करके प्रत्येक संयमशील साधु पुरुष को धर्म में प्रयत्नशील होना चाहिए। वृत्तिकारों ने तो युग्म गाथाओं की एक ही व्याख्या की है, वस्तुतः दोनों ही तरह अर्थ की उपयुक्त संगति हो जाती है।

अब अध्ययन की समाप्ति करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं, ममत्तबंधं च महाभयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥ १९ ॥

त्ति बेमि ।

इति मियापुत्तीयं अज्झयणं समत्तं ॥ १९ ॥

विज्ञाय दुःखविवर्धनं धनं, ममत्वबन्धं च महाभयावहम् ।
सुखावहां धर्मधुरामनुत्तरां, धारयध्वं निर्वाणगुणावहां महतीम् ॥ ९९ ॥

इति ब्रवीमि ।

इति मृगापुत्रीयमध्ययनं समाप्तम् ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–**वियाणिया**–जानकर, **दुक्खविवड्ढणं**–दुःखों के बढ़ाने वाले, **धणं**–धन को, तथा, **ममत्तबंधं**–ममत्व और बन्धन को बढ़ाने वाले, **च**–और, **महाभयावहं**–महान् भय के देने वाले, **सुहावहं**–सुख के देने वाली, **धम्मधुरं**–धर्मधुरा जो, **अणुत्तरं**–प्रधान है, उसको, **धारेह**–धारण करो, जो कि, **निव्वाणगुणावहं**–निर्वाण के गुणों को धारण करने वाली और, **महं**–महान् है।

त्ति बेमि–इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ–हे पुरुषो ! धन को दुःख, ममत्व और बन्धन का बढ़ाने वाला समझकर तुम धर्मधुरा को धारण करो, जो कि सुखों के बढ़ाने वाली और निर्वाण-गुणों के देने वाली और महान्–सब से बड़ी है।

टीका–मृगापुत्र के इस आख्यान को सुनने के अनन्तर विचारशील पुरुषो का जो कर्त्तव्य है, उसकी और निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते है कि–यह धन दुःखों को बढाने और ममता के बन्धन मे डालने वाला है, इसलिए इसका परित्याग करक विज्ञ पुरुषो को धर्म में ही अनुरक्त होना चाहिए, क्योकि धर्म ही सुख-सम्पत्ति का देने वाला है और मोक्ष की उपलब्धि के लिए जिन गुणो की आवश्यकता है, उनकी प्राप्ति भी धर्म के अनुष्ठान से ही हाती है। निर्वाण मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि जो गुण है, उनकी उपलब्धि का कारण भी धर्म ही है, इसलिए यह महान् हे।

साराश यह है कि दुःख, शोक और सन्ताप आदि अनेकविध अनर्थो के मूलभूत इस धन का परित्याग करके, परम सुख और असीम शान्ति को देने वाले धर्म का ही अनुसरण करना चाहिए, क्योंकि धर्म अनन्त सुख का प्राप्त कराने वाला है और धन इसके विपरीत महाभय का हेतु है।

इसके अतिरिक्त **'त्ति बेमि'** का अर्थ पूर्व की भांति ही कर लेना चाहिए।

एकोनविंशतितममध्ययनं सम्पूर्णम्

अह महानियण्ठिज्जं वीसइमं अज्झयणं

अथ महानिर्ग्रन्थीयं विंशतितममध्ययनम्

पूर्व के अध्ययन में इस विषय का प्रतिपादन किया गया है कि रोगादि के होने पर उसके प्रतिकार के निमित्त साधु औषधि आदि किसी प्रकार का उपचार न करे, परन्तु इस प्रकार की वृत्ति का पालन वही पुरुष कर सकता है, जिसका अन्तःकरण अनाथपने की भावना से भावित हो, अतः इस बीसवे अध्ययन में महानिर्ग्रन्थ का वर्णन करते हुए प्रसगानुसार कई एक अनाथो का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन दोनों अध्ययनों का परस्पर सम्बन्ध है।

अब इस बीसवें अध्ययन का आरम्भ करते हुए सूत्रकार प्रथम सिद्ध और संयतों को नमस्कार करके प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं। यथा–

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसिट्ठिं सुणेह मे ॥ १ ॥

सिद्धान् नमस्कृत्य, संयतांश्च भावतः ।
अर्थधर्मगतिं तथ्याम्, अनुशिष्टिं श्रृणुत मम ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–सिद्धाणं–सिद्धो को, **नमो किच्चा**–नमस्कार करके, **च**–और, **संजयाणं**–संयतो को, **भावओ**–भाव से नमस्कार करके, **अत्थधम्मगइं**–अर्थ, धर्म की गति और, **तच्चं**–तथ्य है, उसकी, **अणुसिट्ठिं**–अनुशिक्षा को, **मे**–मुझसे, **सुणेह**–सुनो।

मूलार्थ–सिद्धों और संयतों को भाव से नमस्कार करके अर्थ एवं धर्म की तथ्य गति को मुझसे सुनो।

टीका–स्थविर भगवान् अपने शिष्य-समुदाय से कहते हैं कि अर्थ एवं धर्म की जो यथार्थ गति है, उसकी शिक्षा को तुम मुझसे सुनो। यहां पर सिद्ध और संयत को जो नमस्कार किया

गया है, वह पंचपरमेष्ठी को नमस्कार है। कारण कि सिद्ध शब्द से सिद्धों और अरिहन्तों का और संयत शब्द से आचार्य, उपाध्याय और साधु का ग्रहण है, क्योंकि जो अरिहन्त है, उसने निश्चय ही सिद्ध-गति को प्राप्त होना है। इसलिए भाविनैगमनय के अनुसार अरिहंत को भी सिद्ध कहा जाता है तथा संयत शब्द से आचार्यादि का ग्रहण स्वतः ही सिद्ध है।* इसलिए पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के अनन्तर सूत्रकार अभिधेय विषय के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हैं।

यहां पर प्रतिपाद्य विषय अर्थ एवं धर्म की गति का यथार्थ रूप से निरूपण करना है। यथा—**अर्थ्यते हितार्थिभिरभिलष्यते इत्यर्थः**—वही धर्म है जिसके द्वारा हित की प्राप्ति हो जाए, इसलिए उक्त दोनों की जो गति अर्थात् जिसके द्वारा हिताहित का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है, वह यथार्थ मार्ग है। इस तथ्यमार्ग का उपदेश करने के लिए स्थविर भगवान् अपने शिष्यवर्ग को सम्बोधित करते हैं।

यहा पर सूत्र में आया हुआ **'मे'** शब्द **'मम'** और **'मया'** दोनो के स्थान में विहित हुआ है तथा सयतों को नमस्कार करने से यह गाथा भी स्थविरकृत मानी जाती है। यहा चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी के प्रयोग दिए गए हैं।

अब कथा के व्याज से प्रतिज्ञा के प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं—

पभूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो ।
विहारजत्तं निज्जाओ, मण्डिकुच्छिंसि चेइए ॥ २ ॥

प्रभूतरत्नो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः ।
विहारयात्रया निर्यातः, मण्डितकुक्षौ चैत्ये ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**पभूय**—प्रभूत, **रयणो**—रत्नो वाला, **राया**—राजा, **सेणिओ**—श्रेणिक, **मगहाहिवो**—मगध का अधिपति, **विहारजत्तं**—विहारयात्रा के लिए, **निज्जाओ**—निकला (पहुंचा), **मण्डि-कुच्छिंसि**—मडिक कुक्षि नाम वाले, **चेइए**—चैत्य मे।

मूलार्थ—प्रभूत रत्नों का स्वामी और मगध देश का राजा श्रेणिक मण्डिक कुक्षि नाम के चैत्य में विहारयात्रा के लिए गया।

टीका—इस गाथा मे मगध के अधिपति महाराजा श्रेणिक की प्रभूत रत्न-सामग्री और उसकी विहार-यात्रा का उल्लेख किया गया है। महाराजा श्रेणिक के पास अनेक बहुमूल्य रत्न विद्यमान थ। वह मगध देश का अधिपति था। विहार-यात्रा के लिए वह मंडिककुक्षि नामक चैत्य—उद्यान में गया।

---

* सिद्धान् सयतान् नमस्कृत्येति सम्यक् ।

यहां पर आये हुए 'चैत्य' शब्द का अर्थ आराम या उद्यान ही है, क्योंकि सूत्रों में प्रायः इसी अर्थ में चैत्य शब्द प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। क्रीड़ा के लिए जो गमन है, उसको विहार-यात्रा कहते हैं। इसी प्रकार गिरि-यात्रा, विदेश-यात्रा और समुद्र-यात्रा आदि शब्दों की योजना कर लेनी चाहिए।

'विहारजत्तं' यह तृतीया के अर्थ में द्वितीया है।

अब उस चैत्य-उद्यान का वर्णन करते हैं-

नाणादुमलयाइन्नं, नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणाकुसुमसंछन्नं, उज्जाणं नन्दणोवमं ॥ ३ ॥

नानाद्रुमलताकीर्णं, नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानाकुसुमसंछन्नम्, उद्यानं नन्दनोपमम् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः-नाणा-नाना प्रकार के, **दुम**-द्रुम और, **लया**-लताओं से, **आइन्नं**-आकीर्ण, **नाणा**-नाना प्रकार के, **पक्खि**-पक्षियों से, **निसेवियं**-परिसेवित और, **नाणा**-नाना प्रकार के, **कुसुम**-कुसुमों-पुष्पों-से, **संछन्नं**-आच्छादित और, **नन्दणोवमं**-नन्दनवन के समान, **उज्जाणं**-वह उद्यान था।

मूलार्थ-वह मण्डिकुक्षि नाम का उद्यान नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं से व्याप्त था, नाना प्रकार के पक्षियों से परिसेवित और नाना प्रकार के पुष्पों से आच्छादित तथा नन्दनवन के समान था।

टीका-इस गाथा में मंडिकुक्षि नाम के उद्यान की शोभा का वर्णन किया गया है, अर्थात् उस उद्यान में नाना प्रकार के वृक्ष और अनेक भांति की लताएं विद्यमान थीं। वह पक्षिगणों से निनादित और नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से सुरभित हो रहा था। अधिक क्या कहें! वह उद्यान अपनी अद्वितीय शोभा से नन्दनवन-देववन की समानता को धारण कर रहा था।

तात्पर्य यह है कि जैसे नन्दनवन देवों के चित्त को प्रसन्न करने वाला होता है, उसी प्रकार वह मंडिकुक्षि नाम का उद्यान वहां के जन-समुदाय को आनन्दित करने वाला था। ग्राम के समीप नागरिकों की क्रीड़ा के लिए जो बाग तैयार किया जाता है, उसको उद्यान कहते हैं।

महाराजा श्रेणिक ने उस उद्यान में जाकर क्या देखा, अब इसी विषय में कहते हैं-

तत्थ सो पासई साहुं, संजयं सुसमाहियं ।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥ ४ ॥

तत्र स पश्यति साधुं, संयतं सुसमाहितम् ।
निषण्णं वृक्षमूले, सुकुमारं सुखोचितम् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–**तत्थ**–उस वन मे, **सो**–वह, **साहुं**–साधु को, **पासई**–देखता है, **संजयं**–संयत और, **सुसमाहियं**–समाधि वाला, **निसन्नं**–बैठा हुआ, **रुक्खमूलम्मि**–वृक्ष के नीचे, **सुकुमालं**–सुकुमार–कोमल शरीर वाला और, **सुहोइयं**–सुखोचित–सुखशील।

मूलार्थ–वहा पर राजा श्रेणिक ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक साधु को देखा, जो कि संयमशील, समाधि वाला और सुकुमार तथा सुख-भोग के योग्य था।

टीका–विहार-यात्रा के लिए उक्त उद्यान मे गए हुए महाराजा श्रेणिक ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक सयमसम्पन्न साधु को देखा। सयम के वेप को तो निन्हवादि भी लोक-वंचना के लिए धारण कर लेने हैं, परन्तु उनके अन्तरग भावों में विशुद्धि नहीं होती। इसलिए **'संयत'** के साथ **'सुसमाहित'** विशेषण लगाया गया, अर्थात् वे महात्मा समाहितचित्त अर्थात् मन की समाधि वाले थे। इसके अतिरिक्त उनके शरीर के लावण्य को देखने से प्रतीत होता था कि वे महात्मा किसी उत्तम और विशिष्ट कुल मे उत्पन्न हुए है, अतएव सयमवृत्ति को धारण करके वे उद्यान जैसे क्रीडास्थल मे भी समाहित होकर–समाधि लगाकर बैठे थे। यही उनकी कुलीनता और सच्चरित्रता का परिचायक था एव सुकुमार होने से उनके सुखो मे पलने की बात स्वत: ही व्यक्त थी।

उस साधु को देखने के अनन्तर क्या हुआ, अब इस विषय का निरूपण करते हैं–

तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तम्मि संजए ।
अच्चन्तपरमो आसी, अउलो रूवविम्हओ ॥ ५ ॥

तस्य रूपं तु दृष्ट्वा, राजा तस्मिन् संयते ।
अत्यन्तपरम आसीत्, अतुलो रूपविस्मयः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**तस्स**–उस मुनि के, **रूवं**–रूप को, **पासित्ता**–देखकर, **राइणो**–राजा को, **तम्मि**–उस, **संजए**–संयत मे, **अच्चन्त**–अत्यन्त, **अउलो**–अतुल, **परमो**–उत्कृष्ट, **रूव**–रूप में, **विम्हओ**–विस्मय, **आसी**–हुआ, **तु**–अलंकारार्थ में है।

मूलार्थ–राजा उस संयत के अतुल और उत्कृष्ट रूप को देखकर अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुआ।

टीका–जिस समय महाराजा श्रेणिक की दृष्टि समाधि में बैठे हुए उस मुनि के सुकुमार शरीर के अवयवो पर पडी, तब उसको बडा ही विस्मय हुआ, क्योकि उसने आज तक इस प्रकार का लावण्य-युक्त शरीर किसी मुनि का नही देखा था।

पाठकगण यहां पर यह सन्देह न करें कि महाराजा श्रेणिक का शरीर सुन्दरता में कम होगा, इसी से उसको उक्त मुनि के रूप-सौन्दर्य में विस्मय हुआ। महाराजा श्रेणिक भी अपने रूप-लावण्य में अद्वितीय थे। श्रीदशाश्रुतस्कन्धसूत्र के दशवें अध्ययन में लिखा है कि जब महाराजा श्रेणिक भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के दर्शन को गए तब उनको देखकर बहुत से निर्ग्रन्थ साधुओं ने इस प्रकार के भावों को व्यक्त किया कि—'हमने स्वर्गीय देवो को तो प्रत्यक्ष रूप में नहीं देखा, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो यही देवता है। अतः यदि हमारे इस धार्मिक क्रिया-कलाप का कुछ फल हो तो मरकर महाराजा श्रेणिक जैसे ही रूप-लावण्य को हम प्राप्त करें।' इससे प्रतीत होता है कि महाराजा श्रेणिक भी अद्वितीय रूपवान् थे, परन्तु उक्त मुनि का रूप-सौन्दर्य कुछ विलक्षण ही था, जिससे कि महाराजा श्रेणिक को भी विस्मय हुआ।

इसके अनन्तर महाराजा श्रेणिक ने क्या कहा, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

अहो वण्णो ! अहो रूवं ! अहो अज्जस्स सोमया ! ।
अहो खन्ती ! अहो मुत्ती ! अहो भोगे असंगया ! ॥ ६ ॥

अहो वर्णो अहो रूपम्, अहो आर्यस्य सौम्यता ।
अहो क्षान्तिरहो मुक्तिः, अहो भोगेऽसंगता ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**अहो**—आश्चर्यमय, **वण्णो**—वर्ण है, **अहो**—आश्चर्यकारी, **रूवं**—रूप है, **अहो**—आश्चर्यमयी, **अज्जस्स**—आर्य की, **सोमया**—सौम्यता है, **अहो**—आश्चर्यरूप, **खन्ती**—क्षमा है, **अहो**—आश्चर्यकारी, **मुत्ती**—निर्लोभता है, **अहो**—आश्चर्यमयी, **भोगे**—भोगों मे, **असंगया**—निःस्पृहता है।

मूलार्थ—इस आर्य में आश्चर्यमय रूप, आश्चर्यमय वर्ण और आश्चर्यकारी सौम्यता तथा आश्चर्यमयी क्षमा और निर्लोभता है एवं भोगों से निःस्पृहता भी इनकी आश्चर्यरूप है।

टीका—उक्त मुनि की आकृति को देखने से महाराजा श्रेणिक को उनके रूपादि के विषय में जो विस्मय उत्पन्न हुआ था, प्रस्तुत गाथा में उसी को विशेष-रूप से पल्लवित किया गया है। महाराजा श्रेणिक उस मुनि के स्वरूप को देखकर कहते हैं—"अहो! इस महात्मा का गौर-वर्ण कितना उज्ज्वल है! इनका मस्तक तथा उन्य अंग-प्रत्यंग भी अपनी सुन्दरता से विस्मय को उत्पन्न कर रहे हैं! इसके अतिरिक्त इनकी शान्तरसमयी सौम्यता तो और भी आश्चर्य में डाल रही है एवं इनकी क्षमा और निर्लोभता तथा विषयों से विरक्ति तो औग भी अधिक आश्चर्यमयी है।

तात्पर्य यह है कि क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी ये क्रोध से रहित हैं, सांसारिक

पदार्थों के प्रलोभन मिलने पर भी ये उनसे पृथक् हैं, अतएव विषय-भोगों में इनको अणुमात्र भी रति नहीं, अधिक क्या कहें इनका अन्तरंग और बाह्य सभी कुछ विलक्षण और परम आश्चर्यमय है।

यद्यपि राजा ने अभी तक उनसे किसी प्रकार का वार्तालाप नहीं किया तथापि उनकी विशिष्ट आकृति और समाहित होकर बैठने से ही उसने उक्त मुनि के अन्तरंग गुणों की उज्ज्वलता का अनुमान कर लिया था, इसी से वह उक्त मुनि के बाह्य और अन्तरंग स्वरूप को समझने में सफल हुआ तथा उनकी प्रशंसा करने लगा।

वास्तव में जो सत् पुरुष होते हैं, वे अपने बाह्य स्वरूप से ही अपने अन्तरंग गुणों का भली-भांति परिचय करा देते है और बुद्धिमान् प्रेक्षक तो उनसे बहुत ही शीघ्र परिचित हो जाते हैं। यही कारण है कि राजा ने उनका अधिक परिचय प्राप्त किए बिना ही उनकी महत्ता एव आन्तरिक निष्कलुषता को परख लिया।

इसके अनन्तर राजा ने क्या किया, अब इसी विषय का वर्णन करते हैं–

तस्स पाए उ वन्दित्ता, काऊण य पयाहिणं ।
नाइदूरमणासन्ने, पंजली पडिपुच्छइ ॥ ७ ॥
तस्य पादौ तु वन्दित्वा, कृत्वा च प्रदक्षिणाम् ।
नातिदूरमनासन्नः, प्राञ्जलिः परिपृच्छति ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः–**तस्स**–उस मुनि के, **पाए**–चरणों को, **वंदित्ता**–वन्दना करके, **य**–और, **पयाहिणं**–प्रदक्षिणा, **काऊण**–करके, **नाइदूरं**–न अति दूर और, **अणासन्ने**–न अति समीप ही, **उ**–फिर, **पंजली**–हाथ जोड कर, **पडिपुच्छइ**–पूछता है।

मूलार्थ–राजा उनके चरणों में वन्दना करके और उनकी प्रदक्षिणा करके उनसे न तो अति दूर और न अति निकट बैठकर हाथ जोड़कर उनसे पूछने लगा।

टीका–इसके अनन्तर महाराजा श्रेणिक उक्त मुनि के चरण-कमलों में विधि पूर्वक वन्दना तथा प्रदक्षिणा करके उनके पास बैठ गए, परन्तु वे न तो उनसे अति दूरी पर बैठे और न अति समीप मे किन्तु जितने प्रमाण मे बैठना उचित था उतने दूर और समीप प्रदेश में बैठे और विनय-पूर्वक हाथ जोड कर उनसे पूछने लगे।

साधु महात्मा के पास जाकर उनसे किस प्रकार का शिष्टाचार करना चाहिए तथा उनके पास किस प्रकार से बैठना एवं उनसे किस प्रकार वार्तालाप करना चाहिए, इत्यादि बातों का प्रस्तुत गाथा में भली-भाति दिग्दर्शन कराया गया है।

इस प्रकार विनीत भाव से उक्त मुनि के समीप बैठने के अनन्तर महाराज श्रेणिक ने जो कुछ उनसे पूछा, अब उसी का निरूपण करते हैं—

तरुणोऽसि अज्जो ! पव्वइओ, भोगकालम्मि संजया ।
उवट्ठिओ सि सामण्णे, एयमट्ठं सुणेमि ता ॥ ८ ॥

तरुणोऽस्यार्य ! प्रव्रजितः, भोगकाले संयतः ।
उपस्थितोऽसि श्रामण्ये, एतमर्थं श्रृणोमि तावत् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—अज्जो—हे आर्य ! **संजया**—हे संयत! **तरुणोऽसि**—तू तरुण है, **पव्वइओ**—दीक्षित हो गया है, **भोगकालम्मि**—तू भोगकाल में, **उवट्ठिओसि**—उपस्थित हुआ है, **सामण्णे**—श्रमणभाव में, **ता**—पहले, **एयं**—इस, **अट्ठं**—अर्थ को मैं, **सुणेमि**—सुनना चाहता हूं।

मूलार्थ—हे आर्य! आप तरुण अवस्था में ही प्रव्रजित हो गए हैं, हे संयत! आपने भोगकाल में ही संयम को ग्रहण कर लिया है, अतः मैं सर्व प्रथम आपकी इस विरक्ति के कारण और प्रयोजन को सुनना चाहता हूं।

टीका—इस गाथा में महाराज श्रेणिक के प्रश्न को व्यक्त किया गया है। मुनि की युवावस्था को देखकर राजा उनसे प्रश्न करते हैं कि "हे आर्य! आपने युवावस्था में संयमवृत्ति क्यो ग्रहण की है ?" क्योंकि यह अवस्था तो संसार के विषय-भोगों में रमण करने की है। आपने इस तरुण अवस्था में सांसारिक विषय-भोगों का परित्याग करके जो श्रमण-धर्म को स्वीकार किया है, इसका कारण क्या है, यह मैं आपसे जानना चाहता हू।

महाराज श्रेणिक के कथन का तात्पर्य यह है कि संसार में जिसकी युवावस्था हो, शरीर भी सुन्दर और निरोग हो तथा उपभोग की सामग्री भी उपस्थित हो, ऐसी दशा में इन सबका त्याग कर कठिनतर संयम-वृत्ति के पालन में प्रवृत्त होना कुछ साधारण सी बात नहीं है, अतः इसमें कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिए, जिसके लिए वे मुनि से प्रश्न कर रहे हैं।

महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का मुनिराज ने इस प्रकार उत्तर दिया—

अणाहोमि महाराय ! नाहो मज्झ न विज्जई ।
अणुकम्पगं सुहिं वावि, कंचि नाहि तुमे महं ॥ ९ ॥

अनाथोऽस्मि महाराज ! नाथो मम न विद्यते ।
अनुकम्पकः सुहृद् वापि, कश्चित् जानीहि त्वं मम ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—महाराय ! —हे महाराज ! **अणाहोमि**—मैं अनाथ हूं, **मज्झ**—मेरा, **नाहो**—नाथ,

न विज्जई–कोई नहीं है, **वा**–अथवा, **अणुकम्पगं**–अनुकम्पा करने वाला, **सुहिं**–सुहृद्, **वि**–भी, **कंचि**–कोई, **महं**–मेरा नहीं है, **तुमे**–आप, **नाहि**–जानो।

मूलार्थ–मुनि कहते हैं–"हे महाराज ! मैं अनाथ हूं, मेरा कोई भी नाथ नहीं है और न मेरा कोई मित्र है जो कि मेरे ऊपर अनुकम्पा करे, ऐसा आप जानिये।"

टीका–राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने कहा–"हे राजन्! मैं अनाथ हूं, मेरा कोई नाथ नहीं है। मेरे ऊपर अनुकम्पा–दया करने वाला मेरा कोई मित्र भी इस ससार में नहीं है, इसलिए मै संसार को छोडकर दीक्षित हो गया हूं।

यहा पर इतना स्मरण रहे कि महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए उक्त मुनिराज ने जो कुछ भी कहा है, वह वक्रोक्ति से कहा है, अर्थात् मुनि का जो उत्तर है वह व्यंग्यपूर्ण है। सम्भव है उन्होने इसी रूप मे उत्तर देने मे ही राजा का हित समझा हो।

कई एक प्रतियों में उक्त गाथा के चतुर्थ पाद का पाठ इस प्रकार देखा जाता है। यथा–**'कंचि नाभिसमेमहं–कंचिन्नाभिसमेम्यहम्'** (**कंचित् सुहृदं वा नाभिसमेमि–न सम्प्राप्नोमि**) अर्थात् कोई भी योगक्षेम करने वाला मित्र मुझे नही मिला।

तात्पर्य यह है कि हित करने वाला कोई भी बन्धु-बान्धव मित्र मुझे नहीं मिला, अतः मै दीक्षित हो गया हूं।

मुनि के उक्त कथन को सुनकर महाराजा श्रेणिक ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं–

तओ सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो ।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स, कहं नाहो न विज्जई ? ॥ १० ॥

ततः स प्रहसितो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः ।
एवं ते ऋद्धिमतः, कथं नाथो न विद्यते ? ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–**तओ**–तदनन्तर, **सो**–वह, **राया**–राजा, **पहसिओ**–हास्ययुक्त अथवा विस्मित हुआ, **सेणिओ**–श्रेणिक, **मगहाहिवो**–मगध का अधिपति, **एवं**–इस प्रकार, **इड्ढिमन्तस्स**–ऋद्धि वाले, **ते**–आपका, **कहं**–कैसे, **नाहो**–नाथ, **न विज्जई**–नहीं है।

मूलार्थ–तदनन्तर मुस्कराते हुए उस मगध-नरेश महाराजा श्रेणिक ने कहा–"इस प्रकार की ऋद्धि वाले आपका कोई नाथ कैसे नहीं है ?"

टीका–जिस समय व्यग्यपूर्ण वचन से मुनि ने राजा के समक्ष अपने को अनाथ बताया, तब

उसको और भी विस्मय हुआ और वह मन में विचार करने लगा कि "यह मुनि कैसे अनाथ हो सकता है ?" कारण कि अनाथता का यहां पर कोई भी चिह्न प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार की इस मुनि को शारीरिक सम्पत्ति प्राप्त हुई है तथा इसकी सौम्य मुद्रा, प्रसन्नवदन, विकसित नेत्र, उज्ज्वल वर्ण इत्यादि शुभ लक्षणों से प्रतीत होता है कि यह किसी उच्चकुल में उत्पन्न होने वाला भाग्यशाली जीव है, जो कि कदापि अनाथ नही हो सकता। **'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'** तथा–**'गुणवति धनं ततः श्रीः, श्रीमत्याशा ततो राज्यम्'** **इति हि लोकप्रवादः**। राजा के इन मानसिक संकल्पों के लिए विस्मयसूचक **'प्रहसित'** पद इसी उद्देश्य से उक्त गाथा में प्रयुक्त हुआ है।

उक्त गाथा में तत्काल की अपेक्षा से ही वर्तमान क्रिया का प्रयोग किया गया है।

मुनि जी का उत्तर सुनकर महाराजा श्रेणिक ने कहा–

होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया ! ।
मित्तनाइपरिवुडो, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥ ११ ॥

भवामि नाथो भदन्तानां, भोगान् भुंक्ष्व संयत ! ।
मित्रज्ञातिपरिवृतः (सन्), मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–संजया–हे संयत ! **भयंताणं**–आपका मैं, **नाहो**–नाथ, **होमि**–होता हूं, **भोगे**–भोगो को, **भुंजाहि**–भोगो, **मित्त**–मित्र, **नाइ**–ज्ञाति से, **परिवुडो**–परिवृत होकर, क्योंकि, **माणुस्स**–मनुष्य-जन्म, **खु**–निश्चय ही, **सुदुल्लहं**–अति दुर्लभ है।

मूलार्थ–हे संयत! आपका मैं नाथ होता हूं, मित्रों और सम्बन्धी-जनों से परिवृत होते हुए आप भोगों का उपभोग करो, क्योंकि इस मनुष्य-जन्म का मिलना अति दुर्लभ है।

टीका–महाराजा श्रेणिक ने कहा कि बाह्य लक्षणों से तो आप अनाथ प्रतीत नहीं होते, अस्तु, यदि आप अनाथ ही हैं तो हे भगवन्! मै आपका नाथ बन सकता हू। मेरे नाथ बन जाने पर आपको मित्र, ज्ञाति तथा अन्य सम्बन्धीजन सुख-पूर्वक मिल सकेंगे। उनके साथ सुख-पूर्वक रहते हुए आप पर्याप्त रूप से सांसारिक विषय-भोगों का उपभोग करें। यह मनुष्य-जन्म बार-बार नही मिलता। इसको प्राप्त करके सांसारिक सुखों से वंचित रहना उचित नहीं, अतः अनाथ होने के कारण आपने जो भिक्षुवृत्ति को अंगीकार किया है, उसका विचार अब आप छोड़ दें, क्योंकि आज से मैं आपका नाथ बन गया हू।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि राजा ने जो कुछ भी कहा है, वह मुनि के आन्तरिक अभिप्राय को न जानकर कहा है। यहां **'भयंताणं'** यह बहुवचन आदरसूचनार्थ दिया गया है।

महाराजा श्रेणिक के कथन को सुनकर मुनिराज बोले—

अप्पणा वि अणाहोऽसि, सेणिया ! मगहाहिवा ! ।
अप्पणा अणाहो सन्तो, कहं नाहो भविस्ससि ॥ १२ ॥

आत्मनाप्यनाथोऽसि, श्रेणिक ! मगधाधिप ! ।
आत्मनाऽनाथो सन्, कथं नाथो भविष्यसि ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**सेणिया**—हे श्रेणिक ! **मगहाहिवा**—हे मगधाधिप ! तू, **अप्पणा वि**—स्वयं भी, **अणाहो**—अनाथ, **असि**—है, सो, **अप्पणा**—स्वयं, **अणाहो**—अनाथ, **सन्तो**—होने पर, **कहं**—कैसे, **नाहो**—नाथ, **भविस्ससि**—हो सकता है ?

मूलार्थ—हे मगध देश के स्वामी श्रेणिक ! तुम स्वयं ही अनाथ हो, फिर स्वयं अनाथ होने पर तुम दूसरे के नाथ किस प्रकार से हो सकते हो ?

टीका—महाराजा श्रेणिक ने उक्त मुनिराज से जब नाथ बनने को कहा, तब उसके उत्तर में वे कहने लगे—"हे श्रेणिक ! तुम जब कि स्वयं ही अनाथ हो तो दूसरे के नाथ बनने का साहस कैसे कर रहे हो ? क्योंकि जो पुरुष स्वयं अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कभी नहीं बन सकता।" तात्पर्य यह है कि ईश्वर—ऐश्वर्यवान् पुरुष ही अनीश्वर—निर्धन को ईश्वर बना सकता है, किंवा पडित पुरुष ही मूर्ख को पंडित बनाने का साहस कर सकता है, परन्तु जो स्वय निध 'न अथवा मूर्ख है, वह दूसरे को ऐश्वर्यवान् अथवा पंडित कभी नही बना सकता। इसलिए तुम्हारा नाथ बनने का कथन केवल भ्रममूलक है।

एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ ।
वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विम्हयन्निओ ॥ १३ ॥

एवमुक्तो नरेन्द्रः सः, सुसंभ्रान्तः सुविस्मितः ।
वचनमश्रुतपूर्व, साधुना विस्मयान्वितः ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **वुत्तो**—कहा हुआ, **सो**—वह, **नरिंदो**—राजा, **सुसंभंतो**—संभ्रान्त हुआ, **सुविम्हिओ**—विस्मित हुआ, **वयणं**—वचन, **अस्सुयपुव्वं**—अश्रुतपूर्व—प्रथम नही सुने हुए, **साहुणा**—साधु के द्वारा, **विम्हयन्निओ**—विस्मय को प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—मुनि के इस प्रकार कहने पर राजा साधु के वचनों को सुनकर अतिव्याकुल और विस्मय को प्राप्त हुआ, कारण कि साधु के उक्त वचन अश्रुतपूर्व थे, अर्थात् उसने ऐसे वचन पहले कभी नहीं सुने थे।

टीका—उक्त मुनिराज का उत्तर सुनकर महाराजा श्रेणिक को बहुत आश्चर्य हुआ। वह

एकदम व्याकुल हो उठा और उक्त मुनिराज के विषय मे उसके मन में अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प उठने लगे, क्योंकि उसने आज तक किसी के मुख से यह नहीं सुना था कि राजन् ! तू स्वयं अनाथ है। इसलिए मुनिराज के इन वाक्यो ने उसे आश्चर्य में डाल दिया। राजा के परम विस्मित अथवा आश्चर्यान्वित होने का कारण यह था कि मुनिराज के मुख से जो वचन निकले, उनसे राजा के मन में दो संकल्प उत्पन्न हुए—या तो ये मुनिराज मुझे जानते नहीं, इसलिए मेरे को इन्होंने "अनाथ" कहा है, अथवा इन्होंने मेरी भावी दशा का अवलोकन करके मुझे अनाथ कहा है। सम्भव है, इन्होने अपने ज्ञान में मेरा राज्य से च्युत होना अथवा और किसी भंयकर आपत्ति मे ग्रस्त होना देख लिया हो, इत्यादि।

अब महाराजा श्रेणिक अपना परिचय कराते हुए बोले—

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोगे, आणा इस्सरियं च मे ॥ १४ ॥
एरिसे संपयग्गम्मि, सव्वकामसमप्पिए ।
कहं अणाहो भवइ, मा हु भंते ! मुसं वए ॥ १५ ॥

अश्वा हस्तिनो मनुष्या मे, पुरमन्तःपुरं च मे ।
भुनज्मि मानुष्यान्भोगान्, आज्ञैश्वर्यं च मे ॥ १४ ॥
ईदृशे सम्पदग्रे, समर्पितसर्वकामे ।
कथमनाथो भवति, मा खलु भदन्त! मृषा वदतु ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**अस्सा**—घोडे, **हत्थी**—हस्ती, **मणुस्सा**—मनुष्य, **मे**—मेरे है, **पुरं**—नगर, **च**—और, **अंतेउरं**—अन्तःपुर, **मे**—मेरे हैं, **माणुसे**—मनुष्य-सम्बन्धी, **भोगे**—भोगों को मै, **भुंजामि**—भोगता हू, **आणा**—आज्ञा, **च**—और, **इस्सरियं**—ऐश्वर्य, **मे**—मेरे पास है।

एरिसे—इस प्रकार की, **संपयग्गम्मि**—प्रधान सम्पदा मे, **सव्वकामसमप्पिए**—मेरे सम्पूर्ण काम समर्पित है, तो फिर, **कहं**—कैसे, मैं, **अणाहो**—अनाथ, **भवइ**—हू, **हु**—जिससे, **भंते**—हे भगवन् ! आप, **मा**—मत, **मुसं वए**—मृषा बोले।

मूलार्थ—हे मुने ! घोड़े, हस्ती और मनुष्य मेरे पास हैं, नगर और अन्तःपुर है तथा मनुष्य-सम्बन्धी विषय-भोगों का भी मैं उपभोग करता हूँ एवं आज्ञा, शासन और ऐश्वर्य भी मेरे पास विद्यमान हैं। हे भगवन् ! इस प्रकार की प्रधान सम्पदा मेरे को प्राप्त है और सर्व प्रकार के कामभोग भी मुझे मिले हुए हैं, तो फिर मैं अनाथ किस प्रकार से हूँ ? हे पूज्य ! आप मृषा—झूठ न बोलें।

टीका—इन दोनों गाथाओं मे महाराजा श्रेणिक ने उक्त मुनि के समक्ष राज्यसमृद्धि से अपने आपको सनाथ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। श्रेणिक ने मुनि से कहा कि मेरे पास नाना प्रकार की ऋद्धि मौजूद है, मेरा सारे राज्य पर अखंड शासन है। मनुष्योचित सर्वोत्तम विषय-भोग मुझको अनायास ही मिले हुए हैं, सर्व प्रकार का ऐश्वर्य, सर्व प्रकार की सम्पत्ति, एवं सर्व प्रकार के कामभोगों की पर्याप्त विद्यमानता होने पर भी आप मुझे अनाथ कहते हैं, यह कैसे ? कारण यह कि अनाथ तो वही है, जिसके पास कुछ न हो तथा जिसका कोई सहायक अथवा परिचारक न हो और जिसका किसी पर भी शासन न हो। परन्तु मेरे पास तो सब कुछ विद्यमान है ! फिर मै अनाथ कैसे ? हे भगवन ! आप असत्य न बोलें।

यहा पर पहली गाथा मे सर्वत्र '**संति**' क्रिया का अध्याहार कर लेना तथा दूसरी गाथा के प्रथम पाद का कही-कही पर—'**एरिसे संपयायंमि**' ऐसा पाठ भी देखने में आता है, जिसका अर्थ है कि—सम्पत् का मुझे अत्यन्त लाभ हो रहा है। और '**सव्वकामसमप्पिए**' इस वाक्य मे प्राकृत के कारण से व्यत्यय हुआ है—प्रतिरूप तो उसका—'**समर्पितसर्वकामे**' हाना चाहिए। एव '**भवई**' मे पुरुषव्यत्यय है, जो कि '**भवामि**' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है।

दूसरी गाथा के—'**मा हु भंते ! मुसं वए**' इस चतुर्थ पाद से यह सूचित किया गया है कि हे भगवन्। आप तो सत्यवादी है, कभी झूठ कहने वाले नही, अत: आपने मुझे अनाथ कैसे कहा ?

राजा श्रेणिक के कथन को सुनकर मुनिराज ने कहा—

न तुमं जाणे अणाहस्स, अत्थं पोत्थं च पत्थिवा! ।
जहा अणाहो भवई, सणाहो वा नराहिव! ॥ १६ ॥

न त्व जानीषेऽनाथस्य, अर्थ प्रोत्थां च पार्थिव! ।
यथाऽनाथो भवति, सनाथो वा नराधिप! ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—पत्थिवा—हे राजन्। **तुमं**—तू, **न जाणे**—नहीं जानता, **अणाहस्स**—अनाथ का, **अत्थ**—अर्थ और, **पोत्थं**—उसकी पूर्ण उपपत्ति को—भावार्थ को, **च**—पुन:, **नराहिव**—हे नराधिप! **जहा**—जैसे, **अणाहो**—अनाथ **भवई**—होता है, **वा**—अथवा, **सणाहो**—सनाथ होता है।

मूलार्थ—हे राजन् ! आप अनाथ शब्द के अर्थ और भावार्थ को नहीं जानते कि कोई व्यक्ति अनाथ अथवा सनाथ कैसे होता है?

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! वास्तव मे आप अनाथ शब्द के अर्थ और परमार्थ को नही समझते। मैने जिस आशय को लेकर अथवा जिस अभिप्राय को लेकर आपको या अपने

को अनाथ कहा है, वह आपके ध्यान में नही आया। संसार में नाथ और अनाथ कौन जीव है, अथवा सनाथ एवं अनाथ शब्द की प्रकृतोपयोगी स्पष्ट व्याख्या क्या है, इस बात से आप अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। इसी से आपको अपनी अनाथता में संदेह हुआ है और आप अपने को सनाथ मान रहे हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मेरे अनाथ कहने पर आपत्ति करते हुए आपने मेरे को मृषावादी कहने का भी साहस किया है। किसी-किसी प्रति में **'न तुमं जाणे अणाहस्स'** ऐसा पाठ भी देखने में आता है।

सारांश यह है कि मुनि के कहे हुए वचन के भाव को न समझ कर ही राजा ने उनसे अपनी सनाथता प्रकट की थी, क्योंकि वक्रोक्ति के रूप में कहे हुए शब्द के अर्थ को तब तक मनुष्य नही जान सकता, जब तक कि उसके मूल उत्थान का उसको पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता।

इसके अनन्तर वे मुनि अपने उक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए फिर कहते हैं-

सुणेह मे महाराय ! अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
जहा अणाहो भवई, जहा मेयं पवत्तियं ॥ १७ ॥

शृणु मे महाराज ! अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
यथाऽनाथो भवति, यथा मयैतत् प्रवर्तितम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः-महाराय-हे महाराज !, **मे**-मुझसे, **सुणेह**-सुनो, **अव्वक्खित्तेण**-विक्षेपरहित, **चेयसा**-चित्त से, **जहा**-जैसे, **अणाहो**-अनाथ, **भवई**-होता है, **य**-और **जहा**-जैसे, **मे**-मैने, **पवत्तियं**-कहा है।

मूलार्थ-हे महाराज ! आप विक्षेप-रहित चित्त से सुनो कि अनाथ कौन होता है, और जिस अर्थ को लेकर मैंने आपको अनाथ कहा है।

टीका-वक्ता शब्द का प्रयोग किस आशय को लेकर कर रहा है तथा उसने किस प्रसंग को मन मे रखकर शब्द का प्रयोग किया है, जब तक इस बात का ज्ञान न हो जाए, तब तक प्रयोग किए हुए शब्द के भाव को यथार्थ रूप मे समझना अत्यन्त कठिन होता है। इसी अभिप्राय से मुनि ने राजा से **"अनाथ"** शब्द के भाव को समझने के लिए सावधान होने को कहा है, अर्थात् जिस अर्थ को लेकर अनाथ शब्द का प्रयोग किया है, उसको समझने के लिए राजा को एकाग्रचित्त होने का आदेश दिया है। कारण यह है कि चित्त की एकाग्रता के बिना सुना हुआ ज्ञान आत्मा में चिरस्थायी नहीं रहता।

प्रस्तुत गाथा में शब्दबोध की यथार्थता के लिए अभिधेय और उत्थान की आवश्यकता का दिग्दर्शन कराया गया है-अभिधेय का सम्बन्ध पुरुष से है और उत्थानिका का शब्द से। पाठको

को स्मरण होगा कि राजा श्रेणिक के यह पूछने पर कि आप तरुण अवस्था में साधु क्यों हो गए, उक्त मुनि ने इसका कारण अपनी अनाथता बताई थी, इसके मध्य मे जब **"अनाथ"** और **"सनाथ"** शब्द की चर्चा चल पड़ी, तब वह मुनि अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए उसकी उत्थानिका और उपपत्ति का वर्णन करने लगे, जो कि इस प्रकार है–

कोसम्बी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी ।
तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसंचओ ॥ १८ ॥

कौशाम्बी नाम्नी नगरी, पुराणपुरभेदिनी ।
तत्रासीत् पिता मम, प्रभूतधनसञ्चयः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–कोसम्बी–कौशाम्बी, **नाम**–नाम वाली, **नयरी**–नगरी जो, **पुराणपुरभेयणी**–जीर्ण नगरियो को भेदन करने वाली, **तत्थ**–उसमे, **मज्झं**–मेरा, **पिया**–पिता, **पभूयधणसंचओ**– प्रभृत धनसचय नाम वाला, **आसी**–रहता था।

मूलार्थ–कौशाम्बी नामक अति प्राचीन नगरी में प्रभूत-धनसंचय नाम वाले मेरे पिता निवास करते थे।

टीका–**"अनाथ"** शब्द के अर्थ और परमार्थ को समझाने के लिए उक्त मुनिराज अपनी पूर्वचर्चा का वर्णन करते हुए कहते है–"कौशाम्बी नाम की एक अति प्राचीन नगरी है, उसमे मेरे प्रभृतधनसंचय नाम के पिता निवास करते थे।" यहा पर कौशाम्बी का जो **'पुराणपुरभेदिनी'** विशेषण है, उससे उक्त नगरी की अत्यन्त प्राचीनता और प्रधानता का वर्णन करना अभिप्रेत है। अधिक धन का सचय करने से ही सम्भवतः मुनि के पिता का नाम 'प्रभृतधनसचय' पड गया होगा। इसके अतिरिक्त कौशाम्बी की प्राचीनता और प्रधानता के वर्णन से यह भी ध्वनित होता है कि प्राचीन नगरियों के लोग प्रायः चतुर, धनाढ्य और विवेकशील होते थे, क्योंकि उनकी सम्पत् कुलक्रम से आई हुई होती थी। यदि साधारण पुरुषो को कभी सम्पदा की प्राप्ति भी हो जाए तो भी उनमें उक्त गुणों का उत्पन्न होना सन्देह युक्त होता है, अर्थात, उनमे ये गुण उत्पन्न हो भी सकते है और नहीं भी। परन्तु कुलीन पुरुषो के विषय में ऐसा नही, वहां तो उक्त गुणो का सहचार प्रायः रहता ही है।

पढमे वए महाराय ! अउला मे अच्छिवेयणा ।
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा! ॥ १९ ॥

प्रथमे वयसि महाराज ! अतुला मेऽक्षिवेदना ।
अभूद् विपुलो दाहः, सर्वगात्रेषु पार्थिव! ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—महाराय—हे महाराज !, **पढमे**—प्रथम, **वए**—वय में, **अउला**—अतुल—उपमारहित, **मे**—मेरे, **अच्छिवेयणा**—अक्षिवेदना, **अहोत्था**—उत्पन्न हुई, और, **विउलो**—विपुल, **दाहो**—दाह, **सव्वगत्तेसु**—सर्व शरीर में, **पत्थिवा**—हे पार्थिव!

मूलार्थ—हे महाराज ! प्रथम अवस्था में मेरी आंखों में अत्यन्त वेदना—पीड़ा हुई और सारे शरीर में हे पार्थिव ! विपुल दाह उत्पन्न हो गया।

टीका—मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! पहली अवस्था में मेरी आंखों में रोगोत्पत्ति के कारण अत्यन्त असह्य पीड़ा होने लगी तथा आंखों की वेदना के साथ-साथ शरीर के प्रत्येक अवयव मे असह्य दाह उत्पन्न हो गया। अक्षि-जन्य पीड़ा और शरीर में होने वाले दाह ने मुझे अत्यन्त दु:खी कर दिया।

अब अक्षिगत वेदना का वर्णन करते हैं—

सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरन्तरे ।
पविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा ॥ २० ॥

शस्त्रं यथा परमतीक्ष्णं, शरीरविवरान्तरे ।
प्रवेशयेदरि क्रुद्धः, एवं मेऽक्षिवेदना ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—सत्थं—शस्त्र, **जहा**—जैसे, **परमतिक्खं**—अत्यन्त तीक्ष्ण, **सरीर**—शरीर के, **विवरन्तरे**—छिद्रों मे, **कुद्धो**—क्रुद्ध हुआ, **अरी**—शत्रु, **पविसिज्ज**—प्रवेश करता है—चुभाता है, **एवं**—उसी प्रकार, **मे**—मेरी, **अच्छिवेयणा**—आंखों में वेदना हो रही थी।

मूलार्थ—जैसे क्रुद्ध हुआ शत्रु अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र को शरीर के मर्मस्थानों में चुभाता है—उससे जिस प्रकार की वेदना होती है उसी प्रकार की असह्य वेदना मेरी आंखों में हो रही थी।

टीका—इस गाथा मे चक्षुगत पीड़ा का दिग्दर्शन कराया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जैसे कोई क्रोध मे आया हुआ शत्रु अपने शत्रु को एकान्त स्थान में पाकर किसी तीक्ष्ण शस्त्र से उसके मर्मस्थानों को आहत कर देता है, उससे जिस प्रकार की भयकर वेदना होती है, वैसी ही व्यथा मेरी आंखों में हो रही थी।

तात्पर्य यह है कि शत्रु के मन में दया का सर्वथा अभाव होता है, इसलिए वह अपने शत्रु को कठोर से कठोर दंड देने का प्रयत्न करता है, अत: उसके द्वारा किए जाने वाला शस्त्र का प्रहार भी अत्यन्त असह्य होता है, वैसी ही असह्य पीड़ा मेरे नेत्रों में हो रही थी। यही मुनि के कथन का आशय है।

किसी-किसी प्रति में '**पविसिज्ज**' के स्थान पर '**आवीलिज्ज–आपीडयेत्**'–ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। उसका अर्थ यह है कि जैसे शरीर के विवरो में भली-भांति फिराया हुआ तीक्ष्ण शस्त्र अत्यन्त असह्य वेदना को उत्पन्न करता है, तद्वत् चक्षुगत पीड़ा थी।

अब दाहजन्य वेदना का वर्णन करते हैं–

तियं मे अन्तरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडई ।
इन्दासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

त्रिकं मे अन्तरेच्छं च, उत्तमांगं च पीडयति ।
इन्द्राशनिसमा घोरा, वेदना परमदारुणा ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–**तियं**–कटिभाग, **मे**–मेरा, **च**–और, **अन्तरिच्छं**–हृदय की वेदना वा भूख-प्यास का न लगना, **च**–पुनः, **उत्तमंगं**–मस्तक में, **पीडई**–पीडा, **इन्दासणिसमा**–इन्द्र के वज्र के समान, **घोरा**–भयकर, **वेयणा**–वेदना, **परमदारुणा**–अत्यन्त कठोर।

मूलार्थ–मेरे कटिभाग, हृदय और मस्तक इन तीन अंगों में इस प्रकार भयंकर वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र के वज्र के लगने से होती है।

टीका मुनि कहते हैं कि "हे राजन् ! मेरे कटिभाग, हृदय और मस्तक मे आन्तरिक दाहज्वर से इतनी असह्य वदना हो रही थी जितनी देवन्द्र के वज्र क प्रहार से होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे वज्र-प्रहार-जन्य वेदना अत्यन्त घोर और चिरकाल तक रहने वाली होती है, उसी प्रकार दाहज्वर के प्रभाव स मेरे शरीर में उत्पन्न होने वाली वेदना भी अति तीव्र थी। उस भयकर वेदना के कारण मुझे भूख और प्यास की भी इच्छा नही रही, किन्तु मै निरन्तर वेदना का ही अनुभव करता रहा।

यहा पर वज्र का दृष्टान्त इसलिए दिया गया है कि मनुष्यों के प्रहार किए गए शस्त्र द्वारा जा वेदना उत्पन्न होती हे, वह प्रायः मन्द होती है और शीघ्र शान्त हो जाती है, परन्तु देवो क शस्त्रो का जा प्रहार हाता है, उससे उत्पन्न होने वाली वेदना तीव्र होती है और उसका शमन भी चिरकाल मे हाता है। अतः उक्त वेदना की भयकरता और चिरकाल के स्थायित्व का प्रतिपादन करना ही वज्र क दृष्टान्त का प्रयोजन है।

क्या उस नगरी मे कोई योग्य वैद्य-चिकित्सक नही था, अथवा आपने उक्त वेदना के शमनार्थ कोई औषधि नही खाई ? राजा द्वारा किए गए इस प्रश्न के उत्तर मे मुनिराज ने कहा–

उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामन्तचिगिच्छगा ।
अबीया सत्थकुसला, मन्तमूलविसारया ॥ २२ ॥

उपस्थिता ममाचार्याः, विद्यामन्त्रचिकित्सकाः ।
अद्वितीयाः शास्त्रकुशलाः, मन्त्रमूलविशारदाः ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—उवट्ठिया—उपस्थित हुए, **मे**—मेरे लिए, **आयरिया**—आचार्य, **विज्जा**—विद्या, **मन्त**—मन्त्र के द्वारा, **चिगिच्छगा**—चिकित्सा करने वाले, **अबीया**—अद्वितीय, **सत्थं**—शास्त्रो—शस्त्रो में, **कुसला**—कुशल, **मन्त**—मन्त्र, **मूल**—औषधि आदि में, **विसारया**—विशारद।

मूलार्थ—मेरी चिकित्सा करने के लिए वे आचार्य उपस्थित थे, जो विद्या और मंत्र के द्वारा चिकित्सा करने में अद्वितीय थे, शस्त्र और शास्त्रक्रिया में अति निपुण तथा मंत्र और मूल औषधि आदि के प्रयोग में अत्यन्त कुशल थे।

टीका—महाराज श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनिराज कहते हैं कि मेरी चिकित्सा के लिए सामान्य वैद्य तो क्या, वैद्यों के भी महान् आचार्य उपस्थित थे, जो मंत्रों तथा औषधियो आदि से चिकित्सा करने मे अद्वितीय थे एवं शस्त्र-चिकित्सा मे भी सर्वथा निपुण और जडी-बूटियो आदि के भी पूर्ण ज्ञाता थे।

कतिपय प्रतियो में '**अबीया**' के स्थान पर '**अधीया**' पाठ देखने में आता है, उसका अर्थ है '**अधीताः**' अर्थात् पढ़े हुए। तात्पर्य यह है कि जितने भी वैद्य वहा पर चिकित्सा के लिए उपस्थित थे, वे सब चिकित्साशास्त्र मे निष्णात थे।

अब उनके चिकित्सा-क्रम का वर्णन करते हैं—

ते मे चिगिच्छं कुव्वन्ति, चाउप्पायं जहाहियं ।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २३ ॥

ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति, चतुष्पादां यथाख्याताम् ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—ते—वे—वैद्याचार्य आदि, **मे**—मेरी, **चिगिच्छं**—चिकित्सा को, **कुव्वन्ति**—करते रहे, **चाउप्पायं**—चतुष्पाद—वैद्य, औषधि, आतुरता और परिचारक, **जहा**—जैसे, **हियं**—हित होवे, **न**—नहीं, **य**—पुनः, **मे**—मुझे, **दुक्खा**—दुःख से, **विमोयन्ति**—विमुक्त कर सके, **एसा**—यह, **मज्झ**—मेरी, **अणाहया**—अनाथता है।

मूलार्थ—वे वैद्याचार्यादि मेरी चतुष्पाद चिकित्सा करते रहे, परन्तु मुझे दुःख से विमुक्त न कर सके, यही मेरी अनाथता है।

टीका—पूर्वगाथा में आयुर्वेद-निपुण वैद्यों का उल्लेख किया गया है। अब इस गाथा में उनके द्वारा किए गए चिकित्साक्रम का वर्णन करते हैं। उक्त मुनिराज ने कहा कि राजन्! पूर्वोक्त

प्राणाचार्यों ने बड़ी सावधानी से मेरी चतुष्पाद-चिकित्सा की। मेरी वेदना की निवृति के लिए बहुत यत्न किए गए, परन्तु सफल न हो सके, अर्थात् मुझे उक्त वेदना से मुक्त न कर सके। इसीलिए मैंने अपने को **'अनाथ'** कहा है। चतुष्पाद चिकित्सा वह कहलाती है जिसमें वैद्य, औषधि, रोगी की श्रद्धा और उपचारक-सेवा करने वाले-ये चार कारण विद्यमान हों। तात्पर्य यह है कि (१) योग्य वैद्य हो (२) उत्तम औषधि पास में हों (३) रोगी की चिकित्सा कराने की उत्कट इच्छा हो, और (४) रोगी की सेवा करने वाले भी विद्यमान हो, इन चार प्रकारों से की गई चिकित्सा प्राय: सफल होती है। परन्तु मुनि कहते हैं कि मुझे इस चतुष्पाद चिकित्सा से भी कोई लाभ न हुआ। इसके अतिरिक्त वह चिकित्सा भी यथाविधि और यथाहित की गई, अर्थात् शास्त्रविधि के अनुसार और मेरी प्रकृति के अनुकूल वमन, विरेचन, मर्दन, स्वेदन, अंजन, बन्धन और लेपनादि सब कुछ किया गया, परन्तु मुझे दु:ख से छुटकारा न मिला। अतएव मैंने अपने आपको **'अनाथ'** कहा है। कारण यह है कि इतने साधनो के उपस्थित होते हुए भी यदि मैं दु:ख से मुक्त नहीं हो सका, अथवा मुझे कोई दु:ख से नही छुड़ा सका, तो मैं सनाथ कैसे? बस, यही मेरी अनाथता है और इसीलिए मैंने अपने आपको **'अनाथ'** कहा है।

प्रस्तुत गाथा में **'चक्रे'** के स्थान में **'कुर्वन्ति'** और **'विमोचयन्ति स्म'** के स्थान पर **'विमोचयंति'** इन वर्तमान काल के क्रियापदो का प्रयोग करना प्राकृत के व्यापक नियम के अनुसार है।

यदि यह कहा जाए कि आपके पिता कृपण होंगे, वैद्यों को कुछ न देते होंगे, इसलिए वैद्यो ने ठीक रीति से उपचार नही किया होगा, तो इसके उत्तर मे भी उक्त मुनि ने कहा-

पिया मे सव्वसारंपि, दिज्जाहि मम कारणा ।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २४ ॥

पिता मे सर्वसारमपि, अदान्मम कारणात् ।
न च दु:खाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥ २४ ॥

पदार्थान्वय--**मम**-मेरे, **कारणा**-कारण से, **मे**-मेरे, **पिया**-पिता ने, **सव्व**-सर्व, **सारंपि**-सारवस्तु भी, **दिज्जाहि**-दी, **न**-नही, **य**-फिर, **दुक्खा**-दु:ख से, **विमोयन्ति**-विमुक्त कर सके, **एसा**-यह, **मज्झ**-मेरी, **अणाहया**-अनाथता है।

मूलार्थ-मेरे पिता ने मेरे कारण से सर्वसार पदार्थ अर्थात् उत्तम से उत्तम पदार्थ वैद्यों को दिए, परन्तु फिर भी वे मुझे दु:ख से विमुक्त न कर सके, यही मेरी अनाथता है।

टीका-मुनि कहते है कि हे राजन् ! मेरी चिकित्सा के निमित्त आए हुए वैद्यों की प्रसन्नता

के लिए मेरे पूज्य पिता ने पारितोषिक रूप में जो बहुमूल्य पदार्थ घर में विद्यमान थे, वे सब उन वैद्यों को दिए। घर में आए हुए वैद्यों का केवल वचन मात्र से ही आदर नहीं किया, किन्तु भूरि-भूरि बहुमूल्य द्रव्यों से भी उनको सन्तुष्ट करने में कोई कसर नहीं रखी, परन्तु इतना अधिक द्रव्य व्यय करने पर भी वे प्राणाचार्य मुझे दुःख से मुक्त न कर सके, यही मेरी अनाथता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे अनाथों का कोई संरक्षक नहीं होता, तद्वत् उन वैद्यों की इच्छानुसार पुष्कल धन का व्यय करने पर भी मैं दुखों से मुक्त न हो सका।

प्रस्तुत गाथा में पिता का कर्त्तव्य और उसकी उदारता का परिचय कराया गया है। '**सार**' शब्द का अर्थ है उत्तमोत्तम पदार्थ जो उनको दिए गए।

अब माता के विषय में कहते हैं–

माया वि मे महाराय ! पुत्तसोगदुहट्टिया ।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २५ ॥

माताऽपि मे महाराज ! पुत्रशोकदुःखार्ता ।
न च दुःखाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः–**माया**–माता, **वि**–भी, **मे**–मेरी, **महाराय**–हे महाराज ! **पुत्तसोग**–पुत्रशोक से, **दुहट्टिया**–दुःख से पीड़ित हुई, **न**–नही, **य**–फिर, **दुक्खा**–दुःख से, **विमोयन्ति**–विमुक्त कर मकी, **एसा**–यह, **मज्झ**–मेरी, **अणाहया**–अनाथता है।

मूलार्थ–हे महाराज! पुत्र के शोक से अत्यन्त पीड़ा को प्राप्त हुई मेरी माता भी मुझे दुःख से मुक्त न कर सकी, यही मेरी अनाथता है।

टीका–कदाचित् मेरी वेदना के समय पर मेरी माता ने अपने कर्त्तव्य का पालन न किया हो, अर्थात् मुझको दुःख से मुक्त कराने के लिए उसने कोई यत्न न किया हो, ऐसा भी नहीं, किन्तु वह भी मेरे दुःख से अत्यन्त व्याकुल होकर बडे दीनता-पूर्ण वचन उच्चारण करती थी। इसके अतिरिक्त मेरे दुःख की निवृत्ति के लिए उसने भी अनेक प्रकार के उपाय किए। अधिक क्या कहूं, वह प्रतिक्षण इसी चिन्ता में निमग्न रहती थी, परन्तु फिर भी वह मुझको दुःख से विमुक्त न कर सकी। इससे अधिक मेरी और क्या '**अनाथता**' हो सकती है?

कई एक प्रतियों में '**दुहट्ठिया–दुःखार्त्ता**' ऐसा पाठ भी देखने में आता है, परन्तु दोनों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

अब भाइयों के विषय में कहते हैं–

भायरो मे महाराय ! सगा जेट्ठकणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २६ ॥

भ्रातरो मे महाराज! स्वका ज्येष्ठकनिष्ठकाः ।
न च दुःखाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**महाराय**—हे महाराज !, **मे**—मेरे, **सगा**—सगे, **जेट्ठ**—ज्येष्ठ और, **कणिट्ठगा**—कनिष्ठ—छोटे, **भायरो**—भाई, **य**—पुनः, **दुक्खा**—दुःख से, **न**—नहीं, **विमोयन्ति**—विमुक्त कर सके, **एसा**—यह, **मज्झ**—मेरी, **अणाहया**—अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज ! मेरे बड़े और छोटे सगे भाई भी मुझे दुःख से विमुक्त न कर मके, यही मेरी अनाथता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि पिता और माता के अतिरिक्त मुझको अपने सहोदर भाइयो की सहायता भी पर्याप्त रूप से मिली, परन्तु वे भी मुझे दुःख से न छुडा सके। तात्पर्य यह है कि जो कुछ मैंने उनको कहा या वैद्यो ने आज्ञा दी, उसक अनुसार कार्य करने में उन्होने भी कोई त्रुटि नही रखी, परन्तु मैं दुःख से मुक्त न हो सका। बस, यही मेरा अनाथपन है।

अब भगिनी आदि के सम्बन्ध में कहते हैं—

भइणीओ मे महाराय ! सगा जेट्ठकणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २७ ॥

भगिन्यो मे महाराज ! स्वका ज्येष्ठकनिष्ठकाः ।
न च दुःखाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—**महाराय !**—महाराज !, **मे**—मेरी, **सगा**—सगी, **जेट्ठ**—ज्येष्ठ और, **कणिट्ठगा**—कनिष्ठ, **भइणीओ**—भगिनिया भी थी, **न**—नहीं, **य**—पुनः, **दुक्खा**—दुक्ख से, **विमोयन्ति**—विमुक्त कर सकी, **एसा**—यही, **मज्झ**—मेरी, **अणाहया**—अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज ! मेरी छोटी और बड़ी सगी बहनें भी विद्यमान थीं, परन्तु वे भी मुझको दुःख से विमुक्त न करा सकीं, यही मेरी अनाथता है।

टीका—फिर मुनि ने कहा कि हे राजन्। भाइयों के अतिरिक्त मेरी सगी बहने भी विद्यमान थीं। उन्हाने भी मेरे दुख में समवेदना प्रकट करने में कोई कसर नहीं रखी, परन्तु वे भी मुझे दुख से छुडाने मे असमर्थ रही।

अब अपनी स्त्री के सम्बन्ध में कहते हैं—

भारिया मे महाराय! अणुरत्ता अणुव्वया ।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं, उरं मे परिसिंचई ॥ २८ ॥

भार्या मे महाराज! अनुरक्ताऽनुव्रता ।
अश्रुपूर्णाभ्यां नयनाभ्याम्, उरो मे परिसिञ्चति ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—**महाराय**—हे महाराज!, **मे**—मेरी, **भारिया**—भार्या, जो कि, **अणुरत्ता**—मेरे मे अनुरक्त और, **अणुव्वया**—पतिव्रता, **अंसुपुण्णेहिं**—अश्रुपूर्ण, **नयणेहिं**—नेत्रों से, **मे**—मेरे, **उरं**—वक्षःस्थल को, **परिसिंचई**—परिसेचन करती थी।

मूलार्थ—हे महाराज ! मुझमें अत्यन्त अनुराग रखने वाली, मेरी पतिव्रता भार्या भी अपने अश्रुपूर्ण नेत्रों से गिरते आंसुओं से मेरे वक्षःस्थल को सिंचन करती थी, परन्तु वह भी मुझे दुःख से विमुक्त न करा सकी।

टीका—मुनि ने फिर कहा कि हे राजन् ! माता-पिता आदि बन्धुजनों के अतिरिक्त मुझमे अत्यन्त अनुराग रखने वाली और सब से अधिक सहानुभूति प्रदर्शित करने वाली मेरी पतिव्रता स्त्री ने भी मुझको दुःख से विमुक्त कराने के लिए भरसक प्रयत्न किया, वह रात-दिन मेरी परिचर्या मे लगी रही और स्नेहातिरेक से अपने आसुओं द्वारा मेरी छाती को तर करती रही। तात्पर्य यह है कि मेरी सेवा-सुश्रूषा के साथ उसका सारा समय प्रायः रोने मे ही व्यतीत होता था, परन्तु इतनी समवेदना प्रकट करने पर भी वह मुझको उस दुःख से छुड़ाने में सफल न हो सकी।

प्रस्तुत गाथा में ध्वनिरूप से कुलीन स्त्री के गुणों का भी वर्णन किया गया है, अर्थात्—पति के दुःख से दुःखी, सुख से सुखी और सदा उसकी आज्ञा में रहने वाली सच्चरित्र स्त्री, पतिव्रता कहलाती है। अब इसी बात का अर्थात् अपनी स्त्री के विशिष्ट गुणो का वर्णन करते हुए मुनि फिर कहते हैं कि—

अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गन्धमल्लविलेवणं ।
मए नायमनायं वा, सा बाला नेव भुंजई ॥ २९ ॥

अन्नं पानं च स्नानं च, गन्धमाल्यविलेपनम् ।
मया ज्ञातमज्ञातं वा, सा बाला नैव भुंक्ते ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः—**अन्नं**—अन्न, **च**—और, **पाणं**—पानी, **च**—तथा, **ण्हाणं**—स्नान, **गन्ध**—सुगन्धित द्रव्य, **मल्ल**—माला आदि, **विलेवणं**—विलेपन, आदि का, **मए**—मेरे, **नायं**—जानते हुए **वा**—अथवा, **अनायं**—न जानते हुए, **सा**—वह, **बाला**—अभिनवयौवना, **नेव भुंजई**—उपभोग नहीं करती थी।

मूलार्थ—अन्न, पानी, स्नान, गन्ध, माला और विलेपन आदि का मेरे जानते हुए अथवा न जानते हुए वह अभिनवयौवना—बाला—सेवन नहीं करती थी।

टीका—अपनी स्त्री की पति-परायणता और विशिष्ट सहानुभूति का वर्णन करते हुए मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मेरी अभिनवयौवना स्त्री मेरे दुःख से अधिक व्याकुल थी, वह अन्न, जल और स्नान का करना तथा चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों का शरीर पर विलेपन करना एवं पुष्पमाला आदि का पहनना इन सब वस्तुओ का परित्याग कर चुकी थी। तात्पर्य यह है कि मेरे स्नेह के कारण उसने शृंगार-पोषक द्रव्यों का परित्याग करने के अतिरिक्त शरीर को पुष्ट करने वाले आहार का भी परित्याग कर दिया था, क्योंकि मेरी व्यथा के कारण उसको इन सब पदार्थो से उदासीनता हो गई थी तथा अन्न-जल में भी उसकी रुचि नहीं रही थी।

खणं पि मे महाराय ! पासाओ वि न फिट्टई ।
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ॥ ३० ॥

क्षणमपि मे महाराज ! पार्श्वतोऽपि नापयाति ।
न च दुःखाद्विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—महाराय !—हे महाराज!, **खणं पि**—क्षणमात्र भी, **मे**—मेरे, **पासाओ**—पास से, **वि**—फिर वह पत्नी, **न फिट्टई**—दूर नहीं होती थी, **न**—नही, **य**—फिर, **दुक्खा**—दुःख मे, **विमोएइ**—विमुक्त कर सकी, **एसा**—यह, **मज्झ**—मेरी, **अणाहया**—अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज! क्षणमात्र के लिए भी मेरी पत्नी मेरे पास से पृथक् नहीं होती थी, परन्तु वह भी मुझको दुःख विमुक्त न कर सकी, यही मेरी अनाथता है।

टीका—उक्त मुनिराज फिर कहते है कि हे राजन्! अत्यन्त स्नेह के वशीभूत हुई मेरी वह स्त्री एक क्षण के लिए भी मुझसे अलग नही होती थी। वह निरन्तर मेरी परिचर्या मे लगी रहती थी, जिससे कि किसी-न-किसी प्रकार मै दुःख से मुक्त हो जाऊ, परन्तु उसका भी यह प्रयास निष्फल हो गया, अर्थात् मै उस दुःख से मुक्त न हो सका। बस यही मेरी अनाथता है। यहां पर पाठको को इतना ध्यान रहे कि उक्त मुनि ने अपने पूर्वाश्रम की विशिष्ट सम्पत्ति तथा सम्बन्धी जनो की पूर्ण सहानुभृति का राजा को इसलिए परिचय दिया कि वह अनाथ और सनाथपन के रहस्य को भली-भाति समझ सके।

तात्पर्य यह है कि जिन कारणो से महाराजा श्रेणिक अपने आपको सनाथ समझता था और दूसरो का नाथ बनने का साहस करता था, वह सब कारण—सामग्री उक्त मुनि के पास भी पर्याप्तरूप से विद्यमान थी। इसलिए उक्त राज्य-वैभव या अन्य सम्बन्धी जनो के विद्यमान होने पर भी इस जीव को प्राप्त होने वाले दुःख से कोई भी मुक्त कराने मे समर्थ नहीं हो सकता। बस, यही इसकी अनाथता है। साराश यह है कि इन उक्त पदार्थो के प्राप्त हो जाने पर भी यह जीव वास्तव में सनाथ नही हो सकता, किन्तु सनाथपन का हेतु कोई और ही वस्तु है, जिसके

प्राप्त होने पर विशिष्ट विभूति और अनुराग-युक्त कुटुम्बी जनों के होने अथवा न होने पर भी यह जीव सनाथ कहा व माना जा सकता है।

मुनि के इस सम्पूर्ण कथन को सुनने के अनन्तर राजा ने पूछा ही होगा कि हे मुने! तो फिर आप उस दुःख से कैसे मुक्त हुए? इस प्रश्न के उत्तर में उक्त मुनिराज ने कहा–

तओ हं एवमाहंसु, दुक्खमा हु पुणो पुणो ।
वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणन्तए ॥ ३१ ॥
सयं च जइ मुच्चिज्जा, वेयणा विउला इओ ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो, पव्वइए अणगारियं ॥ ३२ ॥

ततोऽहमेवमब्रुवम्, दुःक्षमा खलु पुनः पुनः ।
वेदनाऽनुभवितुं या, संसारेऽनन्तके ॥ ३१ ॥
सकृच्च यदि मुच्ये, वेदनाया विपुलाया इतः ।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजाम्यनगारिताम् ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः–तओ–तदनन्तर, **अहं**–मै, **एवं**–इस प्रकार, **आहंसु**–कहने लगा, **दुक्खमा**–दुस्सह है, **हु**–निश्चय ही, **वेयणा**–वेदना, **अणुभविउं**–अनुभव करनी, **पुणो पुणो**–बार-बार, **अणन्तए**–अनन्त, **संसारम्मि**–संसार मे, **जे**–पादपूर्ति के लिए है।

सयं च–एक बार भी, **जइ**–यदि, **इओ**–इस अनुभूयमान, **विउला**–विपुल, **वेयणा**–वेदना से, **मुच्चिज्जा**–छूट जाऊ, तो, **खन्तो**–क्षमावान्, **दन्तो**–दान्तेन्द्रिय, **निरारम्भो**–आरम्भ से रहित, **पव्वइए**–दीक्षित हो जाऊ, **अणगारियं**–अनगारवृत्ति को धारण कर लू।

मूलार्थ–तदनन्तर मैं इस प्रकार कहने लगा कि "इस अनन्त संसार में पुनः-पुनः वेदना का अनुभव करना अत्यन्त दुःसह है, अतः यदि मैं इस असह्य वेदना से एक बार भी मुक्त हो जाऊं तो क्षमावान्, दान्तेन्द्रिय और सर्व प्रकार के आरम्भ से रहित होकर प्रव्रजित होता हुआ अनगार वृत्ति को धारण कर लूंगा।"

टीका–राजा के प्रश्न पर मुनि कहते हैं कि इस प्रकार नानाविध उपचारो से भी जब मेरे को शान्ति नही मिली, तब मैने कहा कि "निश्चय ही इस अनन्त संसार मे इस प्रकार की वेदना का बार-बार सहन करना अत्यन्त कठिन है, अतः यदि इस घोर वेदना से किसी प्रकार भी मुझे छुटकारा मिल जाए तो मैं इसके कारण को ही विनष्ट करने का प्रयत्न करूगा, अर्थात् क्षमायुक्त, इन्द्रियो के दमन मे तत्पर और सर्व प्रकार के आरम्भ का त्यागी बन कर अनगारवृत्ति को धारण कर लूगा।"

मुनि के कथन का अभिप्राय यह है कि संसार में जितना भी सुख-दु:ख उपलब्ध होता है, वह सब जीवों के शुभाशुभ कर्मो का फल है, शुभ कर्म करने से इस जीव को सुख प्राप्त होता है और अशुभ कर्म के उपार्जन से यह महान् दु:ख का अनुभव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि दु:ख का मूल अशुभ कर्म है। वह जिस समय उदय होगा, उस समय इस जीव को कठिन से कठिन दु:खजन्य वेदना का अनुभव करना ही पड़ेगा और जब तक उस कर्म की स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक लाख प्रकार के उपाय और प्रयत्न करने से भी उसकी शांति नहीं हो सकती। अत: दुख की निवृत्ति और सुख की इच्छा रखने वाले प्राणी को सबसे प्रथम दु:ख के कारणभूत अशुभ कर्मो का समूलघात करने के लिए उद्यम करना चाहिए। इसके लिए प्रथम कर्म-परमाणुओं क आगमन के जो द्वार है-जिनको आश्रव कहते है, उनका निरोध करना होगा। उनके निरोधार्थ मवर-भावना को अपनाने की आवश्यकता है। तदर्थ शान्त और दान्त होकर अनगारवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए। इसलिए हे राजन्! मैंने यह प्रतिज्ञा की कि यदि मै इस वेदना से इस बार मुक्त हो जाऊं तो मै इस वेदना के मूल कारण का विनाश करने के लिए प्रव्रजित हो जाऊगा, अर्थात् वीतराग भगवान द्वारा निर्दिष्ट किए हुए सयम-मार्ग का अनुसरण करूंगा।

पूर्व की गाथा म आया हुआ '**जे**' शब्द पादपूर्ति के लिए है और उत्तर की गाथा में '**च**' शब्द समुच्चयार्थक है।

यहा पर इतना और ध्यान रहे कि किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक कष्ट के उत्पन्न हाने पर अज्ञानी और विचारशील पुरुषों के विचारो में बहुत अन्तर होता है। विचारशील पुरुष तो कष्ट के समय अपनी आत्मा को धैर्य और शान्ति प्रदान करने का यत्न करते है, अर्थात् उदय मे आए हुए कष्ट का स्वकर्म का फल जानकर उसे शान्ति-पूर्वक महन करने का उद्योग करते हे। यदि विचारहीन जीवो को किसी कष्ट का सामना करना पडता है तो वे अपने क्षुद्र विचारो से तथा आर्त-रौद्रध्यान से अपनी आत्मा को और भी संकट में डालने का प्रयत्न करते है। जैसे कि-मर जाने, विष भक्षण करने, जल में कूदने और पर्वत पर से गिरकर प्राण देने इत्यादि का वे जीव सकल्प करने लगते हैं, यही उनकी क्षुद्रता और विवेक-शून्यता है, अत: विचारशील पुरुषो को चाहिए कि वे दु:ख के समय घबराएं नही, किन्तु प्राप्त हुए दु:ख को शाति-पूर्वक सहन करते हुए आगे के लिए दु:ख न हो, इसके लिए उद्योग करे।

मेरे अन्त.करण में जब इस प्रकार के भाव उत्पन्न हुए तो फिर क्या हुआ, अब मुनिराज इसी विषय का वर्णन करते हैं-

एवं च चिन्तइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा ! ।
परियत्तन्तीए राईए, वेयणा मे खयं गया ॥ ३३ ॥

एवं च चिन्तयित्वा, प्रसुप्तोऽस्मि नराधिप ! ।
परिवर्तमानायां रात्रौ, वेदना मे क्षयं गता ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इस प्रकार, **च**–पुनः, **चिन्तइत्ता**–चिन्तन करके, **पसुत्तो मि**–मैं सो गया, **नराहिवा**–हे नराधिप !, **राईए**–रात्रि के, **परियत्तन्तीए**–व्यतीत होने पर, **मे**–मेरी, **वेयणा**–वेदना, **खयं**–क्षय, **गया**–हो गई।

मूलार्थ–हे नराधिप ! इस प्रकार चिन्तन करके मैं सो गया और रात्रि के व्यतीत होने तक मेरी वेदना शान्त हो गई।

टीका–मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! इस प्रकार जब मैने अनगारवृत्ति को धारण करने का निश्चय किया तो उसके अनन्तर ही मैं सो गया और रात्रि के व्यतीत होते ही मेरी वह सब व्यथा जाती रही, अर्थात् आखों की असह्य वेदना और शरीर का दाह आदि सब शान्त हो गये।

तात्पर्य यह है कि निद्रा का न आना भी रोग मे एक प्रकार का उपद्रव होता है, निद्रा के आ जाने से भी आधा रोग जाता रहता है। जैसे वेदनीय कर्म के उदय होने से क्षुधा लगती है और पर्याप्त भोजन कर लेने पर क्षुधावेदनीय कर्म का उपशम हो जाता है, इसी प्रकार छद्मस्थ आत्मा में जब दर्शनावरणीय कर्म का उदय होता है, तब पर्याप्त निद्रा लेने से वह भी उपशान्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि रोगादि कष्टों के आ जाने पर बुद्धिमान पुरुष को शुभ भावनाओ के चिन्तन में ही समय व्यतीत करना चाहिए, जिससे रोग के मूल कारण का विनाश सम्भव हो सके।

वेदना शान्त होने के अनन्तर फिर क्या हुआ, अब इसी विषय का उल्लेख किया जाता है–

तओ कल्ले पभायम्मि, आपुच्छित्ताण बन्धवे ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो, पव्वइओऽणगारियं ॥ ३४ ॥

ततः कल्यः प्रभाते, आपृच्छ्य बान्धवान्।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः–**तओ**–तदनन्तर, **कल्ले**–नीरोग हो जाने पर, **पभायम्मि**–प्रातःकाल में, **आपुच्छित्ताण**–पूछकर, **बन्धवे**–बन्धुजनों को, **खन्तो**–क्षमायुक्त, **दन्तो**–इन्द्रियों का दमन करने वाला, **निरारम्भो**–आरम्भ से रहित, **पव्वइओ**–प्रव्रजित हो गया तथा, **अणगारियं**–अनगार भाव को ग्रहण किया।

मूलार्थ—तदनन्तर नीरोग हो जाने पर प्रातःकाल बन्धुजनों को पूछकर क्षमा, दान्त भाव और आरम्भ त्यागरूप अनगार भाव को ग्रहण करता हुआ मैं प्रव्रजित हो गया।

टीका—मुनिराज ने राजा के प्रति फिर कहा कि हे राजन् ! इस प्रकार जब मै नीरोग हो गया तो मैंने अपनी मानसिक प्रतिज्ञा के अनुसार प्रातःकाल होते ही अपने माता-पिता आदि बन्धुजनों को पूछकर उस अनगारवृत्ति को धारण कर लिया, जो कि शम-दम-प्रधान है और जिसमें सर्व प्रकार के आरम्भ समारम्भ आदि का परित्याग कर दिया जाता है।

प्रस्तुत गाथा में विषय विवेचन के साथ-साथ मुख्य तीन बातों का निर्देश किया गया है—(१) की हुई मानसिक प्रतिज्ञा का पालन (२) साधुवृत्ति के लक्षण और (३) माता-पिता आदि से पूछकर दीक्षित होना। इसलिए प्रस्तुत गाथा में स्पष्ट प्रतीत होने वाली इन तीनों बातों पर वर्तमान समय के मुमुक्षु जनों को अवश्य विचार करना चाहिए।

गाथा मे आए हुए **'कल्ल'** शब्द के **'नीरोगता'** और **'आगामी दिन'** ये दो अर्थ होते है और दोनो ही अर्थ यहां पर उपयुक्त हो सकते है।

तदनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

तो हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाण थावराण य ॥ ३५ ॥

ततोऽहं नाथो जातः, आत्मनश्च परस्य च ।
सर्वेषां चैव भूतानां, त्रसानां स्थावराणां च ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—**तो**—तदनन्तर, **अहं**—मै, **नाहो**—नाथ, **जाओ**—हो गया, **अप्पणो**—अपना, **य**—और, **परस्स**—दूसरे का, **य**—तथा, **सव्वेसिं**—सर्व, **भूयाणं**—जीवो का, **च**—फिर, **एव**—निश्चय ही, **तसाण**—त्रसो का, **य**—और, **थावराण**—स्थावरो का।

मूलार्थ—हे राजन् ! तदनन्तर मैं अपना या दूसरे का तथा सब जीवों का—त्रसों का और स्थावरों का नाथ हो गया।

टीका—राजा के प्रति जिस तत्व को समझाने के लिए मुनि ने प्रस्तावना रूप से अपनी पूर्व दशा का विस्तृत वर्णन किया और राजा के जिस प्रश्न का समाधान करने के लिए यह भूमिका बाधी गई थी, प्रस्तुत गाथा में उसी का रहस्यपूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! अपनी मानसिक प्रतिज्ञा के अनुसार प्रातःकाल होते ही अनगारवृत्ति को धारण करने के अनन्तर अब मैं अपना तथा दूसरे का एवं त्रस और स्थावर सभी जीवों का **'नाथ'** बन गया हूं। तात्पर्य यह है कि **'नाथ'** शब्द का अर्थ स्वामी वा रक्षक होता है, इसलिए दीक्षा ग्रहण करने के बाद अठारह प्रकार के पापो से निवृत्त हो जाने के कारण तो मैं अपना नाथ बना और परजीवों

की रक्षा करने से तथा उनको सम्यक्त्व का लाभ देने एव योगक्षेम करने से परजीवों का भी स्वामी–रक्षक बन गया। इस प्रकार अपना तथा अन्य सब जीवो का नाथ बनने का सौभाग्य मुझे इस अनगारवृत्ति से ही प्राप्त हुआ है।

वास्तव में देखा जाए तो सासारिक विषय–भोगों का परित्याग करके संयमवृत्ति को धारण करने वाला आत्मा ही नाथ हो सकता है। उसके अतिरिक्त अन्य सब जीव अनाथ है, क्योंकि जो आत्मा आश्रवद्वारो–पाप के मार्गों का निरोध करके सवर–मार्ग मे आता है, वह विश्व भर के जीवो का नाथ बन जाता है, अर्थात् वह सभी जीवो का रक्षक होने से–अपना तथा अन्य जीवो का स्वामी बनकर ससार के प्रत्येक जीव पर अपनी सनाथता प्रकट करता हुआ स्वतंत्रता पूर्वक विचरता है। इसीलिए तीर्थकर भगवान् को सर्व जीवो का हितैषी–हित चाहने वाला होने से लोकनाथ कहा जाता है–**'लोगनाहाणं–लोकनाथेभ्यः'** इत्यादि।

इस कथन से उक्त मुनिराज ने राजा के प्रति अनाथ और सनाथपन का जो रहस्य था अर्थात् सनाथ कौन और अनाथ कौन है वा कौन हो सकता है, तथा अनाथ होने के कारण ही मैंने इस सयमवृत्ति को धारण किया है, इत्यादि सभी बातों का रहस्यपूर्ण वर्णन कर दिया, जिससे कि उसको यथार्थ उत्तर मिलने पर सन्तोष प्राप्त हो सके।

इस प्रकार अनाथता और सनाथता का वर्णन करने के अनन्तर अब आत्मा के विषय में कहते हैं, अर्थात् हर प्रकार की न्यूनाधिकता, उत्तमाधमता आदि गुण, अवगुण सब आत्मा में ही हैं, यह समझाते हैं–

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥ ३६ ॥

आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली ।
आत्मा कामदुघा धेनुः, आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः–**अप्पा**–आत्मा, **नई**–नदी, **वेयरणी**–वैतरणी है, **अप्पा**–आत्मा, **मे**–मेरा, **कूडसामली**–कूटशाल्मलि–वृक्ष है। **अप्पा**–आत्मा, **कामदुहा**–कामदुधा, **धेणू**–धेनु–गाय है, **अप्पा**–आत्मा, **मे**–मेरा, **नन्दणं वणं**–नन्दन वन है।

मूलार्थ–मेरा यह आत्मा वैतरणी नदी है और कूटशाल्मली वृक्ष है तथा मेरा यह आत्मा ही कामदुधा धेनु और नन्दन वन है।

टीका–इस गाथा मे वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष की उपमा से आत्मा की अधमता और कामधेनु तथा नन्दन वन की उपमा से उसकी उत्तमता का वर्णन किया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन्। अनेक प्रकार के अनर्थ रूप दुःखों को उत्पन्न करने वाला यही आत्मा वैतरणी

नदी है और यही आत्मा नरक का कूटशाल्मली वृक्ष है। जिस प्रकार नरक की वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष नानाविध दु:खो के उत्पादक हैं, उसी प्रकार उन्मार्गगामी आत्मा भी प्रतिक्षण दु:खों को उत्पन्न करता रहता है। इसी प्रकार सन्मार्ग में प्रवृत्त हुआ यह आत्मा कामदुघा धेनु और नन्दन वन है, अर्थात् इनकी भांति मनोवाछित फल देने वाला है।

तात्पर्य यह है कि यह आत्मा स्वर्ग और अपवर्ग का सुख देने वाला है और यही नरक मे ले जाकर भयानक से भयानक दु:खों का अनुभव कराता है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आत्मा सनाथ भी है और अनाथ भी।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३७ ॥

आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च, दुःखानां च सुखानां च ।
आत्मा मित्रममित्रञ्च, दुःप्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः–**अप्पा**–आत्मा, **कत्ता**–कर्त्ता है, **य**–और, **विकत्ता**–विकर्त्ता है, **दुहाण**–दु:खो का, **य**–और, **सुहाण**–सुखो का, **य**–पुन:, **अप्पा**–आत्मा, **मित्तं**–मित्र है, **च**–और, **अमित्त**–शत्रु है, **दुप्पट्ठिय**–दु:प्रस्थित और, **सुपट्ठिओ**–सुप्रस्थित है।

मूलार्थ–हे राजन् ! यह आत्मा ही दु:खों और सुखों का कर्त्ता तथा विकर्त्ता (भोक्ता) है एवं यह आत्मा ही दुष्प्रवृत्तियों में अवस्थित शत्रु और सम्यक् प्रवृत्तियों में अवस्थित मित्र है।

टीका–मुनि ने फिर कहा कि हे राजन् ! शुभाशुभ कर्म-जन्य जो सुख और दु:ख उपलब्ध होते है, उनका कर्त्ता ओर विकर्त्ता अर्थात् उन कर्मो का बाधने वाला और उनका क्षय करने वाला यह आत्मा ही है तथा अत्यन्त उपकारी होने पर यह आत्मा सबका मित्र बन जाता हे और अपकार करने से शत्रु हो जाता है।

साराश यह है कि दुष्ट मार्ग मे प्रवृत्त होने से यह आत्मा नरकगति के दु:खो का अनुभव करता हे और शुभ कर्मो में प्रवृत्त होता हुआ यही स्वर्ग और मोक्ष के आनन्द को भोगने वाला हाता हे, अत: अनाथ होना या सनाथ बनना यह सब इसके अपने हाथ में है।

चारित्र ग्रहण करने पर भी जो अनेक जीव अनाथ ही बने रहते हैं, अब उनके विषय में कहते हैं–

इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा ! तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे ।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा, सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥

इयं खल्वन्याप्यनाथता नृप ! तामेकचित्तो निभृतः श्रृणु ।
निर्ग्रन्थधर्म लब्ध्वाऽपि यथा, सीदन्त्येके बहुकातरा नराः ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**निवा**—हे नृप ! **इमा**—आगे कही जाने वाली, **हु**—पादपूर्ति में, **अन्नावि**—और भी, **अणाहया**—अनाथता है, **तं**—उसको, **एगचित्तो**—एकचित्त होकर, **निहुओ**—स्थिरता से, **मे**—मुझसे, **सुणेहि**—सुनो, **नियण्ठधम्मं**—निर्ग्रन्थ धर्म को, **लहियाण वी**—प्राप्त होकर भी, **जहा**—जैसे, **एगे**—कोई एक, **सीयन्ति**—ग्लानि को प्राप्त हो जाते हैं, **बहुकायरा**—जो कि बहुत कातर, **नरा**—पुरुष हैं।

मूलार्थ—हे नृप! अनाथता के अन्य स्वरूप को भी तुम मुझसे एकाग्र और स्थिरचित्त होकर सुनो, जैसे कि अनेक कायर पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म के मिलने पर भी उसमें शिथिल हो जाते हैं।

टीका—मुनि ने राजा से कहा कि हे राजन्! मैने तुमको अनाथता का जो स्वरूप बताया है उसके अतिरिक्त अनाथता का एक और भी स्वरूप है, जिसको मैं तुम्हारे प्रति कहता हूं, तुम एकाग्र मन होकर सुनो। अनेक ऐसे सत्त्वहीन कायर पुरुष भी इस ससार में विद्यमान हैं जो कि निर्ग्रन्थ धर्म को प्राप्त करके उसमें शिथिल हो जाते हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो सनाथ होकर भी अनाथ हो जाते हैं। कारण कि निर्ग्रन्थ वृत्ति का धारण करना सनाथता का हेतु है, उस वृत्ति के परित्याग से अनाथता की प्राप्ति अनिवार्य है। जिन पुरुषों ने संयम-मार्ग में अपनी कायरता का परिचय दिया है, उन सत्त्वहीन पुरुषो की अनाथता के विषय में मै तुमसे जो कुछ कहता हू, उसको तुम स्थिरचित्त होकर श्रवण करो।

अब उसी प्रस्तावित अनाथता के विषय में कहते हैं—

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदइ बन्धणं से ॥ ३९ ॥

यः प्रव्रज्य महाव्रतानि, सम्यक् च नो स्पृशति प्रमादात् ।
अनिगृहीतात्मा च रसेषु गृद्धः, न मूलतः छिनत्ति बंधनं सः ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः—**जो**—जो, **पव्वइत्ताण**—दीक्षित होकर, **महव्वयाइं**—महाव्रतों को, **पमाया**—प्रमाद से, **सम्मं**—भली प्रकार, **नो फासयई**—सेवन नहीं करता, **रसेसु**—रसों में, **गिद्धे**—मूर्च्छित, **य**—और, **अनिग्गहप्पा**—इन्द्रिय-निग्रह से रहित, **से**—वह, **न**—नहीं, **मूलओ**—मूल से, **बन्धणं**—कर्म-बन्धन को, **छिंदइ**—छेदन कर सकता।

मूलार्थ—जो प्रव्रजित होकर भी प्रमादवश से महाव्रतों का भली प्रकार सेवन नहीं करता तथा इन्द्रियों के अधीन और रसों में मूर्च्छित (आसक्त) है, वह राग-द्वेष-जन्य कर्म-बन्धन का मूल से उच्छेदन नहीं कर सकता।

टीका—इस गाथा में सनाथ होकर अनाथ होने वाले व्यक्तियों के कृत्यों का दिग्दर्शन कराते हुए उक्त मुनिराज कहते है कि 'राजन्! जो पुरुष प्रव्रजित होकर भी प्रमाद के वशीभूत हुआ अहिंसा आदि पांच महाव्रतो का सम्यक् प्रकार से सेवन नही करता और इन्द्रिय निग्रह भी जिसके नही तथा जो रसों में अति मूर्च्छित होता है, वह पुरुष राग-द्वेष-जन्य और जन्म-मरण के कारण रूप कर्म-बन्धन का मूल से उच्छेद करने में समर्थ नही हो सकता, क्योंकि जिन कारणों से उसने संसार के बन्धनों का उच्छेद करना था, वे कारण उसमे नही है, अतः बन्धन ज्यों के त्यो बने रहते है।

तात्पर्य यह है कि आश्रवा का निरोध, सवर तत्त्व की भावना, तप, स्वाध्याय, एव धर्मध्यान आदि के द्वारा ही पूर्व-कृत कर्मो का क्षय होना सम्भव हो सकता है, परन्तु जब आश्रव का ही निरोध नही होगा तो बन्धन कैसे छूट सकते हैं?

यहा पर उक्त गाथा में जो **'मूलतः'** शब्द दिया है, उसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार का प्रमादी जीव प्रव्रजित होने पर कदाचित् थोडे बहुत कर्म-बन्धन का उच्छेद तो भले ही कर सके, किन्तु सम्पूर्ण का उच्छेद करना उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर है, अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

आउत्तया जस्स न अत्थि कावि, इरियाइ भासाइ तहेसणाए ।
आयाणनिक्खेवदुगंछणाए, न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥ ४० ॥

आयुक्तता यस्य नास्ति कापि, ईर्यायां भाषायां तथैषणायाम् ।
आदाननिक्षेपजुगुप्सनासु, न वीरयातमनुयाति मार्गम् ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः—**आउत्तया**—आयुक्तता—यतना, **जस्स**—जिसकी, **कावि**—थोड़ी भी, **न अत्थि**—नही है, **इरियाइ**—ईर्या में, **भासाइ**—भाषा में, **तह**—तथा, **एसणाए**—एषणा में, **आयाण**—आदान म, **निक्खेव**—निक्षेप में, तथा, **दुगंछणाए**—जुगुप्सा मे, वह, **वीरजायं**—वीरयात—वीरसेवित, **मग्गं**—मार्ग का, **न अणुजाइ**—अनुसरण नहीं करता।

मूलार्थ—हे राजन् ! जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप ओर उत्सर्ग समिति में किंचिन्मात्र भी आयुक्तता—यतना नहीं है, वह वीर-सेवित मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता, अर्थात् वीर भगवान् अथवा शूरवीर पुरुषों ने जिस मार्ग में गमन किया है, वह उस मार्ग पर नहीं चल सकता।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! दीक्षित होने के अनन्तर जो पुरुष ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उच्चार-प्रस्रवणादि समितियो में किंचिन्मात्र भी उपयोग नहीं रखता, अर्थात् उक्त पाचों समितियो में अविवेक से काम लेता है, जैसे कि—चलने में, बोलने में और आहार

आदि के करने में यतना नहीं, तथा वस्तु के उठाने ओर रखने में भी जिसको विवेक नहीं, एवं मल-मूत्र के त्याग में भी जो विचार नहीं रखता, वह पुरुष वीर भगवान् के मार्ग का अनुयायी नहीं हो सकता, अथवा शूरवीर पुरुषों के गन्तव्य मार्ग का अनुसरण करने वाला नही हो सकता, क्योंकि उक्त पांचों महाव्रत और ईर्यादि पांचों समितियों का यथाविधि पालन करना सत्त्वशाली धीर-वीर पुरुषों का ही काम है, कायर पुरुषों का नहीं। अतएव जो पुरुष इनका यथाविधि पालन नही करता, वह वीर भगवान् के मार्ग का अनुयायी नहीं हो सकता।

यहां पर 'वीर' शब्द से 'श्रमण भगवान् महावीर' और 'शूरवीर' ये दोनों ही अर्थ ग्रहण किए गए है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं-

चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे ।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए ॥ ४१ ॥

चिरमपि स मुण्डरुचिर्भूत्वा, अस्थिरव्रतस्तपोनियमेभ्यो भ्रष्टः ।
चिरमप्यात्मानं क्लेशयित्वा, न पारगो भवति खलु संपरायस्य ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः-**चिरं पि**-चिरकाल पर्यन्त, **मुंडरुई**-मुण्डरुचि, **भवित्ता**-होकर, **अथिर**-अस्थिर, **व्वए**-व्रत, **तव**-तप, **नियमेहिं**-नियमो से, **भट्ठे**-भ्रष्ट है, **से**-वह, **चिरंपि**-चिरकाल तक, **अप्पाण**-आत्मा को, **किलेसइत्ता**-क्लेशित करके, **पारए**-पारगामी, **न होइ**-नही होता, **संपराए**-संसार से, हु-निश्चय ही।

मूलार्थ-जो जीव चिरकाल पर्यन्त मुण्डरुचि होकर व्रतों में अस्थिर है और तप-नियमों से भ्रष्ट है, वह अपने आत्मा को चिरकाल तक क्लेशित करके भी इस संसार से पार नहीं हो सकता।

टीका-मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जो पुरुष पाच महाव्रतो और पाचों प्रकार की समितियों का सम्यक् रीति से पालन नहीं करते, अर्थात् ग्रहण किए हुए व्रतों मे अस्थिर और तप-नियमो के अनुष्ठान से पराङ्मुख हैं, वे मुण्डरुचि या द्रव्य-मुण्डित है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने सिर मुडाकर वेष तो साधु का ग्रहण कर लिया है, परन्तु भाव से वह मुण्डित नहीं हुए, अर्थात् तदनुकूल भाव चारित्र उनमे नहीं होता। ऐसे द्रव्यलिंगी चिरकाल तक अपने आत्मा को क्लेश देते हुए इस संसार से पार नहीं हो सकते, क्योंकि इस जन्म-मरण रूप संसार-चक्र से पार होने का उपाय एकमात्र सयम का यथाविधि पालन करना है। संयम के यथाविधि पालन से ही राग-द्वेष की विकट ग्रन्थि शिथिल होती है ओर राग-द्वेष के अभाव से आत्मा में वीतरागता उत्पन्न होती है, जो कि ससार-समुद्र को पार करने के लिए सुदृढ़तम नौका के समान है। अतः जो जीव केवल

द्रव्य से मुण्डित हैं और भाव से परिग्रही हैं, उनका इस संसार से पार होना कठिन ही नहीं, किन्तु असंभव भी है।

'संपराए' यहां पर 'सुप्' का व्यत्यय किया गया है।

अब द्रव्यमुण्डित के विशिष्ट स्वरूप के विषय में कहते हैं—

पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ४२ ॥

पोल्लेव* मुष्टिर्यथा स असारः, अयन्त्रितः कूटकार्षापण इव ।
राढामणिर्वैडूर्यप्रकाशः, अमहार्घको भवति खलु ज्ञेषु ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः—पोल्ल—पोली, **मुट्ठी**—मुट्ठी, **जह**—जैसे, **एव**—निश्चय ही, **असारे**—असार है, **से**—वह मुनि तथा, **अयन्तिए**—अनियमित, **कूड**—खोटे, **कहावणे**—कार्षापण, **वा**—की तरह, **राढामणी**—काच की मणि जैसे, **वेरुलिय**—वैड्र्यमणि की तरह, **पगासे**—प्रकाशित होती है, **अमहग्घए**—अल्प मूल्य वाला, **होइ**—जो जाता है, **हु**—निश्चय ही, **जाणएसु**—विज्ञ पुरुषों मे।

मूलार्थ—जैसे पोली मुट्ठी असार होती है और खोटी मोहर में भी कोई सार नहीं होता, इसी प्रकार वह द्रव्यलिंगी मुनि भी असार है तथा जैसे कांच की मणि वैडूर्यमणि की तरह प्रकाश तो करती है, परन्तु विज्ञ पुरुषों के सम्मुख उसकी कुछ कीमत नहीं होती, इसी प्रकार बाह्यलिंग से मुनियों की भांति प्रतीत होने पर भी वह द्रव्यलिंगी मुनि बुद्धिमान् पुरुषों के समक्ष तो कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

टीका—इस गाथा मे केवल द्रव्यसाधु—जिसको साध्वाभास कहते है—के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। उक्त मुनिराज महाराजा श्रणिक से कहते हैं कि जिस प्रकार खाली बाधी हुई मुट्ठी असार होती है, उसी प्रकार जिस मुनि के पास द्रव्यवेष के सिवा और कुछ नही, अर्थात् आत्मशुद्धि नही या साधुजनोचित कोई गुण नहीं, वह भी उस मुट्ठी की तरह असार है, अर्थात् सयम-धन से खाली होने के कारण बिलकुल कगाल है। तथा जैसे कूटकार्षापण—खोटी मोहर—व्यापारियों के व्यवहार में नहीं आ सकती, अर्थात् उसको कोई नही लेता, तद्वत् द्रव्यलिंगी मुनि भी धर्म प्रचार के लिए उपयोग में नहीं आ सकता। इसके अतिरिक्त जैसे कांच की मणि वैडूर्यमणि की तरह प्रकाश करती है, तद्वत् वह द्रव्य-मुनि भी मुनियो की भांति दिखाई देता है, परन्तु जैसे वह कांच की मणि मणियो का ज्ञान रखने वालो के सामने कोई कीमत नहीं पाती या

---

* सुषिरेव इत्यपि छाया भवति।

उसका बहुत ही अल्प मूल्य पड़ता है, उसी प्रकार वह द्रव्य मुनि भी विज्ञ पुरुषों के सम्मुख निस्तेज होता हुआ किसी गणना में नहीं आता।

सारांश यह है कि जैसे कांच की मणि मूर्ख पुरुषों के सामने तो असली मणि की तरह प्रकाशित होती है और जानकार पुरुषों के समक्ष उसकी कुछ भी कीमत नहीं पड़ती, इसी प्रकार द्रव्यलिंगी मुनि भी भोले और मूर्ख जनों में तो साधुरूप से प्रकाशित होता है, परन्तु बुद्धिमान् पुरुषों के सामने उसका असली रूप बहुत जल्दी खुल जाता है।

अब फिर कहते हैं–

कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय बूहइत्ता ।
असंजए संजयलप्पमाणे, विणिग्घायमागच्छइ से चिरंपि ॥ ४३ ॥

कुशीललिंगमिह धारयित्वा, ऋषिध्वजं जीवितं बृंहयित्वा ।
असंयतः संयतमिति लपन्, विनिघातमागच्छति स चिरमपि ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः–**कुसीललिंगं**–कुशीललिंग को, **इह**–इस जन्म में, **धारइत्ता**–धारण करके, **इसिज्झयं**–ऋषि-ध्वज से, **जीविय**–जीवन का, **बूहइत्ता**–पोषण करके, **असंजए**–असंयत होकर, **संजय**–मै सयत हूं इस प्रकार, **लप्पमाणे**–बोलता हुआ, **विणिग्घायं**–अभिघात रूप को, **आगच्छइ**–प्राप्त होता है, **से**–वह, **चिरंपि**–चिरकाल पर्यन्त।

मूलार्थ–वह द्रव्यलिंगी मुनि कुशीललिंग–कुशीलवृत्ति को धारण करके और ऋषिध्वज से जीवन को बढ़ा कर तथा असंयत होने पर भी ''मैं संयत हूं'', इस प्रकार बोलता हुआ इस संसार में चिरकाल पर्यन्त दुःख पाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में संयम के त्याग और असयम के अनुसरण का फल दिखाते हुए उक्त मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! वह द्रव्यलिंगी मुनि, मुनि-वेष को धारण करके और ऋषि-ध्वज से अपने जीवन का पोषण करता हुआ तथा असयत होने पर भी अपने आपको सयत मानता हुआ अर्थात् हम इसी वृत्ति मे रहकर स्वर्ग और अपवर्ग को सुख-पूर्वक प्राप्त कर लेंगे, ऐसा संभाषण करता हुआ, वास्तव मे चिरकाल पर्यन्त इस ससार में नरकादि अशुभ गतियों के दुःखों को भोगता है।

उक्त गाथा में आए हुए '**इसिज्झयं–ऋषिध्वजं**' शब्द का अर्थ वृत्तिकारों ने यद्यपि '**रजोहरणादिमुनिचिह्नम्**' ऐसा किया है, परन्तु रजोहरण की अपेक्षा मुख पर बांधी हुई मुँहपत्ती अधिक स्पष्ट चिह्न है और आदि शब्द से मुखपत्ती का ग्रहण वृत्तिकारों को भी अभीष्ट है। इसलिए यदि उक्त पाठ के स्थान में '**मुखवस्त्रिकादि मुनिचिह्नम्**' होता और आदि शब्द से

रजोहरण का ग्रहण किया जाता तो हमारे विचार में अधिक संगत और अधिक स्पष्ट था।

उक्त पद में **'सुप्'** का व्यत्यय किया गया है और **'जीविय'** पद में अनुस्वार का लोप किया गया है।

अब प्रस्तुत विषय का सहेतुक वर्णन करते हैं-

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥ ४४ ॥

विषं तु पीतं यथा कालकूटं, हिनस्ति शस्त्रं यथा कुगृहीतम् ।
एषोऽपि धर्मो विषयोपपन्नः हन्ति वेताल इवाविपन्नः ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः-विसं-विष, **तु**-जीवन के लिए, **पीयं**-पिया हुआ, **जह**-जैसे, **कालकूडं**-कालकूट, **हणाइ**-हनता है वा, **जह**-जैसे, **सत्थं**-शस्त्र, **कुग्गहीयं**-कुगृहीत हनता है, **एसो**-यह, **धम्मो**-धर्म, **वि**-भी, **विसओववन्नो**-शब्दादि विषयो से युक्त हुआ, **हणाइ**-हनता है, **अविवन्नो**-बिना वश किए हुए **वेयाल**-वेताल, **इव**-की तरह।

मूलार्थ-जैसे पीया हुआ कालकूट विष प्राणों का विनाश कर देता है और उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र जैसे अपना ही घातक होता है, एवं जैसे वश में नहीं हुआ पिशाच साधक को मार डालता है, इसी प्रकार शब्दादि विषयों से युक्त हुआ धर्म भी द्रव्यलिंगी का विनाश कर देता है, अर्थात् उसको नरक में ले जाता है।

टीका-इस गाथा के द्वारा असयममय जीवन का कुफल बताते हुए उक्त मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन्! जैसे कोई पुरुष अपने जीवन के लिए कालकूट नामक महाभयंकर विष का पान करता है और अपने बचाव के निमित्त शस्त्र को उलटा पकडता है, तथा जैसे कोई विधि पूर्वक मत्रजापादि के बिना ही किसी पिशाच का आकर्षण करता है, परन्तु वे सब काम उसकी रक्षा के बदले उसके विनाश के हेतु बन जाते हैं, ठीक इसी प्रकार शब्दादि विषयों से मिश्रित हुआ धर्म भी इस आत्मा को दुर्गति में ले जाने का कारण बन जाता है। मंत्र का पुरश्चरण किए बिना और विधि-पूर्वक साधना के द्वारा वश किए बिना यदि कोई साधक किसी भूत या पिशाच को किसी कार्य के निमित्त बुलाता है, परन्तु यदि वह उसके वशीभूत नहीं है तो वह उसी के प्राण ले लता हे, इसलिए माधक को इस प्रकार क कार्य मे बहुत सावधान रहने की आवश्यकता हाती है।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि असयमी जीवन इस आत्मा का उपकार करने के बदल अधिक से अधिक अनिष्ट करता है।

अब असंयममय जीवन के लक्षण बताते हैं; यथा–

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणो, निमित्त कोऊहलसंपगाढेः ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥ ४५ ॥

यो लक्षणं स्वप्नं प्रयुञ्जानः, निमित्तकौतूहलसंप्रगाढ़ः ।
कुहेटकविद्यास्रवद्वारजीवी, न गच्छति शरणं तस्मिन् काले ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः–**जे**–जो, **लक्खणं**–लक्षण और, **सुविण**–स्वप्न का, **पउंजमाणो**–प्रयोग करता हुआ, **निमित्त**–भूकंपादि वा, **कोऊहल**–कौतुक में, **संपगाढे**–आसक्त है, **कुहेडविज्जा**–असत्य और आश्चर्य उत्पन्न करने वाली जो विद्याएं हैं उनसे वा, **आसवदारजीवी**–आश्रव द्वारों से जीवन व्यतीत करने वाला, **न गच्छई**–नही प्राप्त होता, **सरणं**–शरणभूत, **तम्मि काले**–कर्म भोगने के समय।

मूलार्थ–जो पुरुष, लक्षण वा स्वप्न आदि का प्रयोग करता है, निमित्त और कौतुक कर्म में आसक्त है एवं असत्य और आश्चर्य उत्पन्न करने वाली विद्याओं तथा आश्रव-द्वारों से जीवन व्यतीत करने वाला है, वह कर्म भोगने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता।

टीका–इस गाथा में संयम-रहित साधु के लक्षणों का वर्णन किया गया है। जो पुरुष साधु का वेष लेकर स्त्री-पुरुषों के शरीर मे होने वाले चिन्हो से उनके शुभाशुभ फलों का वर्णन करता है, अथवा स्वप्नशास्त्र के द्वारा स्त्री-पुरुषों को आए हुए स्वप्नों का फल बताता है, अथवा भूकम्पादि निमित्तों के द्वारा भविष्य फल का कथन करता है, तथा अपत्य–सन्तानादि के लिए अभिमत्रित जल से स्नानादि करवाता है, इन असत्य विद्याओं से वा आश्चर्य उत्पन्न करने वाले मत्र, तंत्र आदि से और आश्रवद्वारों–हिंसा, झूठ आदि पांचों पापमार्गो से जो जीवन व्यतीत करता है, कर्म-जन्य दुःख भोगने के समय इन उपरोक्त वस्तुओ में से कोई भी मन्त्र, तन्त्र आदि पदार्थ उसका सहायक नही होता, किन्तु ये उक्त लौकिक विद्याएं केवल कर्मबन्ध का ही कारण होती हैं।

इस सारे सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के जीव ही **'सनाथ'** बनकर **'अनाथ'** बन गए हैं।

इस कथन से यह भी प्रतीत होता है कि उस समय में भी संयम से भ्रष्ट होने वाली अनेक दुर्बल आत्माए विद्यमान थीं, जिनके सुधार के लिए यह प्रकरण लिखा गया होगा।

अब इसी विषय को अधिक स्फुट करते हुए फिर कहते हैं–

तमंतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियामुवेइ ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं, मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥ ४६ ॥

तमस्तमसैव तु स अशीलः, सदा दुःखी विपर्यासमुपैति ।
संधावति नरकतिर्यग्योनीः, मौनं विराध्याऽसाधुरूपः ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–**तमंतमेणेव**–अति अज्ञान से, **उ**–पादपूर्ति में, **से**–वह, **असीले**–जो अशीर है, **सया**–सदा, **दुही**–दुःखी हुआ, **विप्परियां**–तत्त्वादि मे विपरीतता को, **उवेइ**–प्राप्त होता है **संधावई**–निरन्तर जाता है, **नरगतिरिक्खजोणिं**–नरक और तिर्यग् योनियों में, **मोणं**–संयमवृ को, **विराहित्तु**-विराधन करके, **असाहुरूवे**--असाधुरूप।

मूलार्थ–असाधुरूप वह कुशील व्यक्ति अत्यन्त अज्ञानता से संयमवृत्ति का विराध करके सदा दुःखी और विपरीत भाव को प्राप्त होकर निरन्तर नरक और तिर्यग् योनिय में आवागमन करता रहता है।

टीका--इस गाथा मे चारित्र व्रत की विराधना का फल दिखाया गया है। मुनि ने फिर कह कि हे राजन् ! जो पुरुष मिथ्यात्व के वशीभूत हो रहा है, वह सदाचार से रहित और तत्त्वा पदार्थो मे विपरीतता का प्राप्त होकर सदा दुःखी होता है तथा दुराचार में प्रवृत्त होकर निरन्त नरक और तिर्यग् योनियो मे भ्रमण करता है, क्योकि उसने मिथ्यात्व मे प्रविष्ट होकर सयमवृ की विराधना की है, अतएव वह साधु नही, किन्तु असाधु पुरुष है।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व का सेवन और सयम की विराधना का फल नरकगति औ तिर्यञ्चगति की प्राप्ति है, जो कि एकमात्र दुःखो का ही निलय है।

यहा पर '**एव**' शब्द निश्चयार्थक है, मौन शब्द से चारित्र का ग्रहण है और '**तमस्तमः** शब्द से प्रकृष्ट अज्ञान और सातवें नरक का ग्रहण अभिप्रेत है, जो कि संयम-विराधना के फर रूप मे प्राप्त होता है।

किस प्रकार से सयम की विराधना करके नरकादि गति को वह कुशील प्राप्त होत है, अब इस विषय में कहते हैं–

उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुच्चई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता, इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥ ४७ ॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं नियागं, न मुञ्चति किञ्चिदनेषणीयम् ।
अग्निरिव सर्वभक्षी भूत्वा, इतश्च्युतो (दुर्गतिं) गच्छति कृत्वा पापम् ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः–**उद्देसियं**–औद्देशिक, **कीयगडं**–क्रीतकृत, **नियागं**–नित्य–पिड, **न मुच्चई**–नह छोडता, **किंचि**–किंचिन्मात्र, **अणेसणिज्जं**--अनेषणीय आहार, **अग्गी**–अग्नि, **विवा**–की तरह **सव्वभक्खी**–सर्वभक्षी, **भवित्ता**–होकर, **इओ**–यहा से, **चुओ**–च्यवकर, **गच्छइ**–जाता है–नर गति मे, **पावं**–पापकर्म, **कट्टु**–करके।

मूलार्थ–संयमवृत्ति के विपरीत चलने वाला साधु औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्यपिंड और अनेषणीय किंचिन्मात्र भी पदार्थ नहीं छोड़ता, वह अग्निवत् सर्वभक्षी होकर पापकर्म करता हुआ नरकादि गतियों में जाता है।

टीका–साधु के निमित्त से तैयार किया गया आहार औद्देशिक कहलाता है, मूल्य से खरीदा हुआ आहार क्रीतकृत है, नित्यप्रति दिये जाने वाले–हंतकार के रूप में–आहार को नित्यपिंड कहते हैं तथा अग्राह्य आहार को अनेषणीय कहा है। मुनिराज कहते हैं कि हे राजन्! जो पुरुष औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्यपिंड और अनेषणीय आहार लेने वा खाने में किसी प्रकार का भी संकोच नहीं करता, किन्तु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाता है, वह साधुवेशधारी पापकर्म का आचरण करता हुआ यहां से मरकर नरकादि अशुभ गतियों को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार चारित्रव्रत का भंग करके अशुभ प्रवृत्ति करने वाले को परलोक में नरकादि गति में जाने के अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं।

'**विवा**' यहां इव अव्यय के स्थान में '**विव**' आदेश करके अकार को प्राकृत के नियमानुसार दीर्घ हुआ है।

संयम का विराधक आत्मा किस कोटि तक अनर्थ करने वाला होता है, अब इस विषय में कहते हैं–

न तं अरी कंठछित्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पया ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥ ४८ ॥

न तदरिः कंठछेत्ता करोति, यत्तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता ।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः पश्चादनुतापेन दयाविहीनः ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः–**न**–नहीं, **तं**–उसको, **अरी**–वैरी, **कंठछित्ता**–कंठच्छेदन करने वाला, **करेइ**–करता है, **जं**–जो, **से**–उसकी, **अप्पणिया**–अपनी, **दुरप्पया**–दुरात्मता, **करे**–करती है, **से**–वह, **नाहिई**–जानेगा, **मच्चुमुहं**–मृत्यु के मुख में, **पत्ते**–प्राप्त हुआ, **तु**–वितर्क में, **पच्छाणुतावेण**–पश्चात्ताप से दग्ध हुआ और, **दया**–दया से, **विहूणो**–विहीन।

मूलार्थ–दुराचार में प्रवृत्त हुआ वह साधु वेशधारी असंयमी अपनी आत्मा के लिए जिस प्रकार का अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कंठ को छेदन करने वाला शत्रु भी नहीं करता। वह दयाविहीन पुरुष तब जानेगा जब मृत्यु के मुख में प्राप्त हुआ पश्चात्ताप से दग्ध होगा।

टीका–इस गाथा में कुमार्गगामी आत्मा को अकारण कंठ-छेदन करने वाले शत्रु से भी

अधिक अनर्थ करने वाला बताया गया है, महाराजा श्रेणिक से उक्त मुनिराज कहते हैं कि हे राजन् ! दुराचार में प्रवृत्त हुआ यह आत्मा जितना अनर्थ उत्पन्न करता है, उतना तो बिना कारण किसी के मस्तक को छेदन कर देने वाला शत्रु भी नहीं करता, तात्पर्य यह है कि सिर काटने वाले शत्रु ने तो एकमात्र उसी जन्म के दु:ख वा मृत्यु को उत्पन्न किया, परन्तु उन्मार्गगामी आत्मा तो अनेक जन्मों के दु:खो को उपार्जन कर लेता है।

यदि कोई कहे कि क्या वह यह नही जानता कि मैं अनर्थ कर रहा हूं ? तो इसका समाधान यह है कि वह दयाहीन होने से उस समय नहीं जानता, परन्तु जब मृत्यु के मुख में जाएगा, तब अनेक प्रकार से पश्चात्ताप करता हुआ अपने किए हुए अशुभ कर्मो के कटुफल को जानेगा।

साराश यह है कि दुराचार सब अनर्थो का मूल है, अत: मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि वे अपनी आत्मा को उन्मार्ग में जाने से हर समय रोके रखने का प्रयत्न करे, ताकि फिर दु:खों का मुह दखना न पडे।

अब इसी सम्बन्ध में फिर कहते हैं-

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठे विवियासमेइ ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए, दुहओ वि से झिज्झइ तत्थ लोए ॥ ४९ ॥

निरर्थिका नाग्न्यरुचिस्तु तस्य, य उत्तमार्थ विपर्यासमेति ।
अयमपि तस्य नास्ति परोऽपि लोकः, द्विधापि स क्षीयते तत्र लोके ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वयः-**निरट्ठिया**-निरर्थक ही, **नग्गरुई**-नग्नरुचि, **उ**-वितर्क में, **तस्स**-उसकी, **जे**-जो, **उत्तमट्ठे**-उत्तम अर्थ को भी, **विवियासं**-विपरीत रूप में, **एइ**-प्राप्त करता है, **इमे वि लोए**-यह लोक भी, **से**-उसका, **नत्थि**-नही है और, **परे वि**-परलोक भी नहीं है, **दुहओ वि**-दोनो ही प्रकार से, **से**-वह, **झिज्झइ**-क्षीण हुआ जाता है, **तत्थ**-वहां पर, **लोए**-उभयलोक मे।

मूलार्थ-संयमहीन का साधुवृत्ति में रुचि रखना व्यर्थ है कि जो उत्तम अर्थ में भी विपरीत भाव को प्राप्त होता है। उसके लिए न तो यह लोक ही है और न परलोक ही, अतः वह दोनों लोकों से ही भ्रष्ट हो जाता है।

टीका-प्रस्तुत गाथा मे द्रव्यलिगी साधक की आलोचना की गई है। उक्त मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! जिस आत्मा ने केवल द्रव्यलिग को ही धारण कर रखा है, उसकी साधुवृत्ति में रुचि रखना व्यर्थ ही है, क्योंकि उसका उत्तम अर्थ का भी विपरीत रूप से भान होता है, तात्पर्य यह है कि शास्त्र-विहित साधुजनोचित आचार म उसकी आन्तरिक श्रद्धा नही होती, अत: उसका न तो यह लोक ही सिद्ध होता है और न परलोक ही, किन्तु उभय लोक से ही वह भ्रष्ट हो जाता

है। इस लोक में तो केशलुञ्चन आदि क्रियाओं के द्वारा—क्लेशित होता है और परलोक में नरक-तिर्यञ्चादि गति के दुःखों को भोगता है तथा अन्य समृद्धिशाली पुरुषों को देखकर अपने मंद भाग्य को धिक्कारता हुआ रात-दिन चिन्तारूप चिता में जलता रहता है, इसलिए वह अनाथ है।

दुराचार को सदाचार समझना और सदाचार को दुराचार मानना इत्यादि रूपों में विपरीत भाव, विपर्यास कहलाता है। इस प्रकार का विपरीत ज्ञान रखने वाला जीव संयम के रहस्य को कदापि नहीं जान सकता, इसीलिए वह संयम से पतित होता हुआ उभयलोक से भ्रष्ट हो जाता है, फिर उसकी चारित्र में होने वाली रुचि बिना सार की होने से निरर्थक ही हो जाती है।

अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए फिर कहते हैं—

एमेवऽहाछन्द कुसीलरूवे, मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं ।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ ॥ ५० ॥

एवमेव यथाछन्दकुशीलरूपः, मार्गं विराध्य जिनोत्तमानाम् ।
कुररीव भोगरसानुगृद्धा, निरर्थशोका परितापमेति ॥ ५० ॥

पदार्थान्वयः—**एमेव**—इसी प्रकार, **अहाछन्द**—स्वेच्छाचारी, **कुसीलरूवे**—कुशील रूप, **जिणुत्तमाणं**—जिनेन्द्र भगवान् के उत्तम, **मग्गं**—मार्ग की, **विराहित्तु**—विराधना करके, **कुररी**—पक्षिणी की, **विवा**—तरह, **भोगरसाणुगिद्धा**—भोग रसों में निरन्तर आसक्त होकर, **निरट्ठसोया**—निरर्थक शोक करने वाली, **परितावं**—परिताप को, **एइ**—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार स्वेच्छाचारी कुशील—संयमहीन साधु जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग की विराधना करके, भोगादि रसों में निरन्तर आसक्त होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी—पक्षिणी की तरह परिताप को प्राप्त होता है।

टीका—इस गाथा में द्रव्यलिंगी—कुशील साधु की स्वेच्छाचारिता के फल का प्रदर्शन कराया गया है। उक्त मुनिराज कहते हैं कि हे राजन्! इसी प्रकार जो पुरुष कुशील, महाव्रतों में शिथिल और स्वेच्छाचारी होकर कुत्सित आचार को धारण करता हुआ जिनेन्द्र भगवान् के सर्वोत्तम मार्ग की विराधना करता है, वह रसासक्त कुररी की तरह अत्यन्त परिताप को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे कोई पक्षिणी आमिष में आसक्ति रखती हुई, अन्य पक्षियों द्वारा अत्यन्त पीडा को प्राप्त होती है, अर्थात् किसी एक पक्षिणी ने मांस के टुकड़े को लाकर खाना आरम्भ किया, तब उस समय अन्य पक्षीगण भी वहां आकर एकत्रित हो गए और उसके पास से वह मांस का टुकड़ा छीनने लगे। जब उसने वह मांस का टुकड़ा न छोडा तो सब मिलकर उसको मारने लगे और मारकर उसके पास से वह मांस का टुकड़ा छीन लिया। इस प्रकार मांस का टुकड़ा छिन जाने से जैसे वह कुररी व्यर्थ ही शोक करती है, इसी प्रकार विषय-भोगों में आसक्ति रखने वाला

द्रव्यलिंगी साधु भी दोनों लोकों में व्यर्थ ही शोक को प्राप्त होता है। एवं जैसे उस पक्षिणी का कोई सहायक नहीं होता, उसी प्रकार चारित्र से भ्रष्ट हुए जीव का भी इस लोक तथा परलोक में कोई रक्षक नही बनता। बस, यही उसकी अनाथता है। इस प्रकार उक्त मुनिराज अपनी प्रथम प्रतिज्ञा के अनुसार—हे राजन ! तू अन्य प्रकार से भी अनाथता के स्वरूप को सुन, इस प्रतिज्ञा के अनुसार—अनाथता के स्वरूप का भली भाति दिग्दर्शन करा दिया, जिससे कि राजा को अन्य प्रकार की अनाथता का भी भली प्रकार से ज्ञान हो जाए।

इस पूर्वोक्त प्रकरण को सुनकर विचारशील पुरुष का जो कर्त्तव्य होना चाहिए, अब उसके विषय में कहते हैं—

सुच्चाण मेहावि सुभासियं इमं, अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं, महानियंठाण वए पहेणं ॥ ५१ ॥

श्रुत्वा मेधाविन् सुभाषितमिदं, अनुशासनं ज्ञानगुणोपपेतम् ।
मार्ग कुशीलानां हित्वा सर्व, महानिर्ग्रन्थानां व्रजेः पथा ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः—**सुच्चा**—सुनकार, **ण**—वाक्यालकार में, **मेहावि**—हे मेधाविन्। **इमं**— इस **सुभासियं**—सुभाषित को, **अणुसासणं**—अनुशासन को जो, **नाणगुणोववेयं**—ज्ञानगुण स युक्त है, **सव्वं**—सर्व प्रकार से, **कुसीलाण**—कुशीलियों के, **मग्गं**— मार्ग को, **जहाय**—त्यागकर, **महानियंठाण**—महानिर्ग्रन्थों के, **पहेणं**—मार्ग से, **वए**—गमन कर।

मूलार्थ—हे मेधाविन् ! ज्ञानगुण से युक्त इस अनन्तरोक्त सुभाषित अनुशासन को सुनकर, कुशीलियों के कुत्सित मार्ग को सर्वथा छोड़कर तू महानिर्ग्रन्थों के प्रशस्त मार्ग का अनुसरण कर, अर्थात् उनके बताए हुए मार्ग पर चल।

टीका—अनाथी मुनि महाराज श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! मैने तेरे समक्ष ज्ञानादि सद्गुणो से युक्त जिस सुन्दर अनुशासन का वर्णन किया है, उसको श्रवण करने के अनन्तर तू उक्त प्रकार के कुशील पुरुषो के आचार को सर्वथा हेय समझकर त्याग दे और महानिर्ग्रन्थो—तीर्थकरो द्वारा निर्दिष्ट किए हुए मार्ग का अनुसरण कर ! दूसर शब्दो मे कहे तो अनाथों के मार्ग को छोडकर सनाथो के मार्ग पर चल। कारण यह है कि अनाथो का मार्ग बन्धन का हेतु है और सनाथो का मार्ग मोक्ष का कारण है। अतएव पहला मार्ग अप्रशस्त और विकट है, दूसरा मार्ग प्रशस्त और अत्यन्त सरल है तथा सनाथ मार्ग पर चलने का दूसरा हेतु यह भी है कि उस पर चलने से अनाथ भी सनाथ हो जाता है, और कुशीलो—अनाथो का मार्ग सनाथ को भी अनाथ बना देता है।

तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति सनाथ है, वह अनाथ को भी सनाथ बनाने की शक्ति रखता

है। परन्तु जो स्वयं ही अनाथ है, वह दूसरे को सनाथ कैसे बना सकता है ? इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को मोक्ष प्राप्ति के लिए महानिर्ग्रन्थों के प्रशस्त मार्ग का ही सर्व प्रकार से अवलम्बन करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त उक्त मुनि ने अपने अनुशासन को जो सुभाषित रूप और ज्ञान-युक्त कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि उक्त अनुशासन के साक्षात् उपदेष्टा तो जिनेन्द्र भगवान् हैं, उक्त मुनि ने तो उसका केवल अनुमोदनमात्र किया है, अतः जिनेन्द्र भाषित होने से उक्त अनुशासन अधिक से अधिक विनय के योग्य है।

अब महानिर्ग्रन्थ-मार्ग के अनुसरण का जो फल है, उसका वर्णन करते हैं—

चरित्तमायारगुणन्निए तओ, अणुत्तरं संजम पालिया णं ।
निरासवे संखवियाण कम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥ ५२ ॥

चारित्राचारगुणान्वितस्ततः, अनुत्तरं संयमं पालयित्वा ।
निरास्त्रवः संक्षपय्य कर्म, उपैति स्थानं विपुलोत्तमं ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वयः—**चरित्तं**—चारित्र, **आयार**—आचार और, **गुणन्निए**—गुणों से युक्त, **तओ**—तदनन्तर, **अणुत्तरं**—प्रधान, **संजमं**—संयम का, **पालिया णं**—पालन करके, **निरासवे**—आश्रव से रहित, **कम्म**—कर्म का, **संखवियाण**—क्षय करके, **उवेइ**—प्राप्त होता है, **धुवं**—निश्चल, **विउलुत्तमं**—विस्तारयुक्त उत्तम, **ठाणं**—स्थान को—मोक्ष को।

मूलार्थ—चारित्र और ज्ञानादि गुणों से युक्त होकर संयमशील साधु, प्रधान—प्रशस्त संयम का पालन करके, आश्रवों से रहित होता हुआ कर्मों का क्षय करके, विस्तीर्ण तथा सर्वोत्तम ध्रुव स्थान—मोक्षस्थान को प्राप्त हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में महानिर्ग्रन्थों के मार्ग पर चलने का फल बताया गया है। अनाथी मुनि महाराजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन्! जो पुरुष चारित्र, आचार और ज्ञानादि गुणों से युक्त होकर सम्यक् प्रकार से संयम का आराधन करता है, वह आश्रव-रहित होकर कर्मों का क्षय करता हुआ सर्वप्रधान और ध्रुव—मोक्षस्थान को प्राप्त होता है। मोक्षस्थान में प्राप्त हुआ जीव फिर इस संसार में आकर जन्म-मरण की परम्परा को प्राप्त नहीं होता, इसी भाव को व्यक्त करने के लिए **'ध्रुव'** पद पढ़ा गया है, अर्थात् मोक्षस्थान ध्रुव है, नित्य है। अतः जो लोग मुक्तात्मा का पुनरागमन मानते हैं, वे भ्रान्त हैं। ज्ञानयुक्त क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन करना, केवल ज्ञान अथवा केवल क्रिया को मोक्ष का हेतु मानना युक्तियुक्त नहीं, यह ध्वनित करना है।

मोक्ष का मुख्य हेतुभूत **'निराश्रव'** पद है, क्योंकि जब तक यह आत्मा आश्रवों से रहित नहीं होता, तब तक मोक्षपद की प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं, किन्तु असम्भव है।

अब प्रस्तावित सन्दर्भ का उपसंहार करते हैं। यथा—

एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे, महामुणी महापइण्णे महायसे ।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं, से काहए महया वित्थरेणं ॥ ५३ ॥

एवमुग्रो दान्तोऽपि महातपोधनः, महामुनिर्महाप्रतिज्ञो महायशाः ।
महानिर्ग्रन्थीयमिदं महाश्रुतं, स कथयति महता विस्तरेण ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वयः–**एव**–इस प्रकार, **से**–वह–अर्थात् मुनि ने श्रेणिक राजा के पूछने पर कहा, **इणं**–यह, **उग्ग**–प्रधान, **दन्ते**–दान्त, **ऽवि**–पूरणार्थक है, **महातवोधणे**–महान् तपस्वी, **महामुणी**-महामुनि, **महापइण्णे**–महती प्रज्ञा वाले और, **महायसे**–महान् यशस्वी, **महानियण्ठिज्जं**–महानिर्ग्रन्थीय, **इणं**–यह, **महासुयं**–महाश्रुत उन्होंने, **काहए**–कथन किया, **महया वित्थरेणं**–बड़े विस्तार से।

मूलार्थ–इस प्रकार उदग्र, दान्त, महातपस्वी, महामुनि, दृढ़प्रतिज्ञ और महान् यशस्वी उस अनाथी मुनि ने इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत को महाराजा श्रेणिक के प्रति कहा।

टीका–श्रीसुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते है कि हे जम्बू! इस प्रकार महाराज श्रेणिक के पूछने पर उक्त मुनिराज न इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत नाम के अध्ययन का विस्तारपूर्वक कथन किया। वे मुनिराज कर्म-शत्रुओं का जीतने स उदग्र, दान्त और महान् तपस्वी कहलाए, इसीलिए वे दृढ प्रतिज्ञा वाले और महान् यश वाले हुए। तात्पर्य यह है कि महाराजा श्रेणिक के प्रश्न करने पर महामुनि अनाथी ने उनके उत्तर मे इस महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन का वर्णन किया, जिससे कि राजा का सशय दूर हो गया।

इसके अतिरिक्त उक्त मुनि क लिए जो उदग्र, दान्त, महामुनि और महातपोधन आदि विशेषण दिए गए है, उनका अभिप्राय उक्त मुनि को आप्त बताना है। वह जिनेन्द्र भगवान् के कथन किए हुए का अक्षरशः अनुवादरूप होने से सबके लिए हितकर अतएव उपादेय है, यह भी पूर्व मे प्रतिपादन किया जा चुका है। '**काहए–कथयति**' यह वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग तत्काल की अपेक्षा से समझना चाहिए।

इसके अनन्तर फिर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं–

तुट्ठो य सेणिओ राया, इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहयं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥ ५४ ॥

तुष्टश्च खलु श्रेणिको राजा, इदमुदाह कृताञ्जलिः ।
अनाथत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ॥ ५४ ॥

पदार्थान्वयः–**तुट्ठो**–हर्षित हुआ, **सेणिओ**–श्रेणिक, **राया**–राजा, **य**–पुनः, **इणं**–यह

वचन, **उदाहु**–कहने लगा, **कयंजली**–हाथ जोड़कर, **अणाहयं**–अनाथपन, **जहाभूयं**–यथाभूत, **सुट्ठु**–भली प्रकार, **मे**–मुझे, **उवदंसियं**–उपदर्शित किया–दिखला दिया है।

मूलार्थ–राजा श्रेणिक हर्षित होकर और हाथ जोड़कर कहने लगा कि भगवन् ! अनाथता का यथार्थ स्वरूप भली प्रकार से आपने मुझको दिखा दिया है।

टीका–अनाथी मुनि के उपदेश को सुनकर अति प्रसन्नता को प्राप्त हुए महाराजा श्रेणिक हाथ जोड़कर कहने लगे "हे भगवन्! आपने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया जो कि अनाथभाव–अनाथता के रहस्य को मेरे प्रति सम्यक् प्रकार से वर्णन करके बता दिया।" तात्पर्य यह है कि आपने मेरे प्रति अन्वय-व्यतिरेक से अनाथता का जो स्वरूप कहा है, उसको समझकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई है। वास्तव में जब किसी भद्र पुरुष को किसी से अपूर्व उपदेश की प्राप्ति होती है तो वह हृदय से उस व्यक्ति का अभिनन्दन करने को लालायित हो जाता है, इसी आशय से महाराजा श्रेणिक ने साञ्जलि होकर अनाथी मुनि से अपना हार्दिक भाव व्यक्त करने का साहस किया है।

तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं, लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी ! ।
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य, जं भे ठिया मग्गि जिणुत्तमाणं ॥ ५५ ॥

त्वया सुलब्धं खलु मानुष्यं जन्म, लाभाः सुलब्धाश्च त्वया महर्षे ।
यूयं सनाथाश्च सबान्धवाश्च, यद्भवन्तः स्थिता मार्गे जिनोत्तमानाम् ॥ ५५ ॥

पदार्थान्वयः–**तुज्झं**–आपको, **सुलद्धं**–सुन्दर प्राप्त हुआ है, **खु**–निश्चय ही, **मणुस्सजम्मं**–मनुष्य-जन्म, **लाभा**–रूपादि का लाभ भी आपको, **सुलद्धा**–बहुत सुन्दर प्राप्त हुआ है, **महेसी**–हे महर्षे । **तुमे**–आपको अतः, **तुब्भे**–आप, **सणाहा**–सनाथ हैं, **य**–और, **सबन्धवा**–सबान्धव है, **य**–पुनः, **जं**–जिसमे, **भे**–आप, **जिणुत्तमाणं**–जिनेन्द्र भगवान् के, **मग्गे**–मार्ग में, **ठिया**–स्थित है।

मूलार्थ–हे महर्षे ! आपका ही मनुष्य जन्म सफल है, आपने ही वास्तविक लाभ को प्राप्त किया है, आप ही सनाथ और सबान्धव हैं, क्योंकि आप सर्वोत्तम जिनेन्द्र-मार्ग में स्थित हुए हैं।

टीका–महाराज श्रेणिक अनाथी मुनि का हृदय से अभिनन्दन करते हैं " भगवन् ! आपको ही मनुष्य जन्म का सुन्दर लाभ प्राप्त हुआ है, अतः आप ही सनाथ हैं, आप ही सबान्धव–बन्धुओ वाले हैं, क्योकि आप श्रीजिनेन्द्रोक्त सर्वोत्तम मार्ग मे प्रवृत्त है।"

तात्पर्य यह है कि शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त आप मे वे गुण भी पर्याप्त रूप से विद्यमान है कि जिनसे मनुष्य-जन्म को साफल्य प्राप्त होता है और आत्मा यथार्थ रूप में सनाथ बनता

है। प्रस्तुत गाथा में मुनिराज की उनके गुणों के अनुरूप स्तुति की गई है, जो कि स्तुति का वास्तविक स्वरूप है। बिना गुणों के जो स्तुति की जाती है, वह स्तुति नहीं होती, किन्तु एक प्रकार का असम्बद्ध प्रलाप सा होता है।

इस प्रकार स्तुति करने के अनन्तर राजा फिर कहते हैं—

तंसि नाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया ! ।
खामेमि ते महाभाग ! इच्छामि अणुसासिउं ॥ ५६ ॥

त्वमसि नाथोऽनाथानां, सर्वभूतानां संयत ! ।
क्षमे त्वां महाभाग, इच्छाम्यनुशासयितुम् ॥ ५६ ॥

पदार्थान्वयः—**तंसि**—तुम, **नाहो**—नाथ हो, **अणाहाणं**—अनाथो के, **संजया**—हे सयत् ! **सव्व-भूयाण**—सर्व जीवों के, **महाभाग !**—हे महाभाग । **ते**—तुझे, **खामेमि**—क्षमापना करता हूं, **इच्छामि**—चाहता हूं आपसे, **अणुसासिउं**—आत्मा को शिक्षित करना।

मूलार्थ—हे भगवन् ! आप ही अनाथों के नाथ हैं। हे संयत ! आप सर्वजीवों के नाथ हैं। हे महाभाग ! मैं आप से क्षमा की याचना करता हूं और अपनी आत्मा को आपके द्वारा शिक्षित बनाने की इच्छा करता हूं।

टीका—महाराज श्रेणिक कहते है कि हे महाराज। आप अनाथों के नाथ है, अनाथों को सनाथ करने वाले है, अतएव सर्व जीवों के नाथ है। हे महाभाग। मुझसे यदि आपका कोई अपराध हो गया हो तो आप उसे क्षमा करे। हे सयत! मैं अपनी आत्मा को आपके द्वारा शासित—शिक्षित किए जाने की इच्छा रखता हू, अर्थात् आपके शासन मे रहकर आत्मशुद्धि की अभिलाषा रखता हू।

प्रस्तुत गाथा में अनाथी मुनि की स्तुति, अपराध के क्षमा करने की याचना और उनकी शिक्षाओं को धारण करने की अभिलाषा—इन तीन बातो का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे राजा में मोक्ष-विषयिणी जिज्ञासा की विद्यमानता व्यक्त की गई है।

अब क्षमापना के विषय में कहते हैं—

पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो य जो कओ ।
निमन्तिया य भोगेहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥ ५७ ॥

पृष्ट्वा मया युष्माकं, ध्यानविघातस्तु यः कृतः ।
निमन्त्रिताश्च भोगैः, तत् सर्व मर्षयन्तु मे ॥ ५७ ॥

पदार्थान्वयः—**मए**—मैंने, **पुच्छिऊण**—पूछकर, **तुब्भं**—आपके, **झाण**—ध्यान में, **विग्घो**—विघ्न,

जो–जो, **कओ**–किया है, **य**–और, **भोगेहिं**–भोगों के लिए, **निमन्तिया**–निमंत्रित किया है, **तं**–वह, **सव्वं**–सब, **मे**–मेरा अपराध, **मरिसेहि**–आप क्षमा करें।

मूलार्थ–हे मुनिराज ! मैंने पूछकर आपके ध्यान में विघ्न उपस्थित किया और भोगों के लिए आपको निमंत्रित किया, यह सब मेरा अपराध आप क्षमा करें।

टीका–इस गाथा के द्वारा महाराज श्रेणिक ने उक्त मुनि से अपने अपराध की क्षमा मांगी है। अपने अपराध का वर्णन करते हुए राजा कहते हैं कि हे मुने। आप अपनी ध्यान-साधना में निमग्न थे, मैंने प्रश्न पूछकर आपके उस ध्यान मे विघ्न उपस्थित किया है तथा वीतराग के निवृत्ति-प्रधान मार्ग में चलते हुए आपको भोगों के लिए आमंत्रित किया है यह मैंने आपका बड़ा भारी अपराध किया है। एक तो आपको आत्म-ध्यान से छुड़ाया और दूसरे परम त्यागी आपको विषय-भोगो के लिए प्रेरित किया, ये दोनों ही बातें आपके जीवन के प्रतिकूल होने से आपकी अवज्ञा की सूचक हैं, इसलिए मैं अपराधी हूं। अत: आपसे स्वकृत अपराध की क्षमा मागता हूं। आप परम दयालु और सारे विश्व के नाथ है, इसलिए मुझे क्षमा करें।

इस कथन से राजा की योग्यता का भली-भांति परिचय मिलता है। जो पुरुष योग्य होते हैं, वे अपने अपराध की क्षमा मांगने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं करते। जो हठी और दुराग्रही होते हैं, वे अपराध होने पर भी उसमे सदा लापरवाह रहते हैं। जिस व्यक्ति ने जिस वस्तु का त्याग किया हो, उसको उसी त्याज्य वस्तु के लिए आमंत्रित करना उसका अपराध करना है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

एवं थुणित्ताण स रायसीहो, अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
सओरोहो सपरियणो सबन्धवो, धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥ ५८ ॥

एवं स्तुत्वा स राजसिंहः, अनगारसिंहं परमया भक्त्या ।
सावरोधः सपरिजनः सबान्धवः, धर्मानुरक्तो विमलेन चेतसा ॥ ५८ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इस प्रकार, **थुणित्ताण**–स्तुति करके, **स**–वह श्रेणिक राजा, **रायसीहो**–राजाओ में सिंह के समान, **अणगारसीहं**–अनगारों–साधुओं में सिंह के समान–मुनि को, **परमाइ**–परम, **भत्तिए**–भक्ति से, **सओरोहो**–अन्त:पुर के साथ, **सपरियणो**–परिजनों के साथ और, **सबन्धवो**–बन्धुओं के साथ, **धम्माणुरत्तो**–धर्म में अनुरक्त हो गया, **विमलेण**–निर्मल, **चेयसा**–चित्त से।

मूलार्थ–इस प्रकार राजाओं में सिंह के समान श्रेणिक राजा, अनगार सिंह–मुनियों में सिंह के समान–मुनि की स्तुति करके परम भक्ति से अपने अन्त:पुर के साथ, परिजनों और भाइयों के साथ, निर्मल चित्त से धर्म में अनुरक्त हो गया।

टीका–प्रस्तुत गाथा में महाराज श्रेणिक की धर्मबोध की प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

पराक्रम और शूरवीरता की दृष्टि से राजाओ में सिंह के समान होने से महाराजा श्रेणिक को राजसिंह कहा गया है और तप, सयम आदि उत्कृष्ट क्रियाओं के आचरण से तथा कर्मरूप मृगों का संहार करने से उक्त मुनि को अनगार सिंह माना गया है। महाराजा श्रेणिक उक्त मुनि की पूर्ण भक्ति से स्तुति करके, उनके उपदेश से निर्मल-चित्त होते हुए अपने अन्तःपुर, सम्बन्धियों और भृत्य जनों के साथ धर्म में अनुरक्त हो गया, क्योंकि उस समय उस क्रीड़ा-उद्यान में महाराज श्रेणिक अपने सारे ही परिवार के साथ आया हुआ था, अतः सब ने साथ ही धर्म का ग्रहण किया। जो उपदेश सत्य एव यथार्थ होता है, तथा जो धारणाशील पुरुषों के मुख से निकला हुआ होता है, उसका प्रभाव श्रोताओ पर अवश्य पडता है तथा वह उपदेश आत्म-कल्याण के लिए सबसे अधिक उपयोगी होता है।

सपरिवार कहने का तात्पर्य यह है कि जिस घर अथवा कुटुम्ब में सब एक ही धर्म के अनुयायी होते हैं, वहा पर शांति और लक्ष्मी सदा ही निवास करती हैं। कलह का उस घर मे नाम तक भी श्रवण करने में नही आता।

ऊससियरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं ।
अभिवन्दिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ॥ ५९ ॥

उच्छ्वसितरोमकूपः, कृत्वा च प्रदक्षिणाम् ।
अभिवन्द्य शिरसा, अतियातो नराधिपः ॥ ५९ ॥

पदार्थान्वयः—**ऊससिय**—विकसित हुए है, **रोमकूवो**—रोमकुप जिसके, **य**—फिर, **पयाहिणं**—प्रदक्षिणा, **काऊण**—करके और, **अभिवन्दिऊण**—वन्दना करके, **सिरसा**—सिर से, **अइयाओ**—चला गया, **नराहिवो**—नराधिप—स्वस्थान में।

मूलार्थ—विकसित हुए हैं रोमकुप जिसके—जिसे प्रसन्नता के कारण रोमांच हो गया था ऐसा वह नराधिप श्रेणिक उक्त मुनिराज की प्रदक्षिणा करता हुआ शिर से वन्दना करके अपने स्थान को चला गया।

टीका—जब किसी भावुक आत्मा को किसी अपूर्व उपदेशामृत की प्राप्ति होती है, तब उसका समस्त शरीर पुलिकत हो उठता है, उसकी रोमराजी विकसित हो जाती है। इसी प्रकार उक्त मुनिराज से महाराज श्रेणिक को जब धर्म की प्राप्ति हो गई, अर्थात् अनाथता की व्याख्या करते हुए मुनिराज से जब उसने धर्म के मर्म को समझकर उसे ग्रहण किया, तब उसका शरीर प्रसन्नता के कारण रोमाचित हो उठा और उक्त मुनि की प्रदक्षिणा करके शिर से अभिवादन करता हुआ वह अपने राजभवन की ओर चल दिया।

इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि जो जीव विनय-पूर्वक प्रश्न पूछते और अपने मन में पूर्ण रूप से जिज्ञासा रखते है, उनको अवश्यमेव अभिलषित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। जैसे कि महाराज श्रेणिक को अभिमत धर्म की प्राप्ति हुई।

महाराजा श्रेणिक के चले जाने के बाद अब उक्त मुनिराज की चर्या के विषय में कहते हैं—

इयरो वि गुणसमिद्धो, तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को, विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥ ६० ॥
त्ति बेमि ।
इति महानियण्ठिज्जं वीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥ २० ॥

इतरोऽपि गुणसमृद्धः, त्रिगुप्तिगुप्तस्त्रिदण्डविरतश्च ।
विहग इव विप्रमुक्तः, विहरति वसुधायां विगतमोहः ॥ ६० ॥
इति ब्रवीमि ।
इति महानिर्ग्रन्थीयं विंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—इयरो वि—इतर—मुनि भी, **गुणसमिद्धो**—गुणो से—समृद्ध, **तिगुत्तिगुत्तो**—तीन गुप्तियों से गुप्त, **य**—और, **तिदण्डविरओ**—तीन दडों से विरत, **विहग**—पक्षी की, **इव**—तरह, **विप्पमुक्को**—विप्रमुक्त—बन्धनों से रहित, **विहरइ**—विचरता है, **वसुहं**—वसुधा में, **विगयमोहो**—विगतमोह—मोहरहित होकर, इस प्रकार मै कहता हूं, यह महानिर्ग्रन्थीय बीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—इधर वह अनाथी मुनि भी, जो कि गुणों से समृद्ध, तीनों गुप्तियों से गुप्त ओर तीन दंडों से विरत थे—बन्धन से रहित हुए पक्षी की तरह विगतमोह होकर इस वसुधातल पर विचरने लगे।

टीका—महाराज श्रेणिक के चले जाने के बाद वह अनाथी मुनि बन्धनरहित पक्षी की भांति विगतमोह होकर इस पृथ्वी पर विचरने लगे। वह मुनि साधु-जनोचित गुणों से विभूषित अतएव मन, वचन और काया को वश में रखने वाले अर्थात् मन, वचन और शरीर की गुप्तियों से गुप्त एवं त्रिदडों से विरत थे। कारण कि केवल-ज्ञान की प्राप्ति इन्हीं पर अवलम्बित है। इसलिए उक्त मुनिराज—अनाथी मुनि ने केवल ज्ञान को प्राप्त करके अपनी आत्मा को कृतकृत्य करने के अतिरिक्त पृथ्वी पर विचर कर अन्य संसारी जीवों का भी बहुत उपकार किया और स्वयं मोक्ष को प्राप्त हुए।

प्रस्तुत गाथा मे **'विहरइ'** यह वर्तमान क्रिया की प्रयुक्ति, तत्काल की अपेक्षा से की गई है और **'त्ति बेमि'** का अर्थ पहले की तरह ही जान लेना चाहिए।

विंशतितममध्ययनं सम्पूर्णम्

अह समुद्दपालीयं एगवीसइमं अज्झयणं

अथ समुद्रपालीयमेकविंशमध्ययनम्

बीसवें अध्ययन में अनेक प्रकार से अनाथता का स्वरूप बताया गया है, परन्तु अनाथता का अभाव और सनाथता की प्राप्ति का हेतु विविक्तचर्या है, अर्थात् विविक्तचर्या से यह जीव सनाथ हो सकता है, अतः इस समुद्रपालीय नाम के इक्कीसवें अध्ययन में उस विविक्तचर्या का वर्णन किया जाता है जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है–

चंपाए पालिए नाम, सावए आसि वाणिए ।
महावीरस्स भगवओ, सीसे सो उ महप्पणो ॥ १ ॥

चम्पायां पालितो नाम, श्रावक आसीद् वणिक् ।
महावीरस्य भगवतः, शिष्यः स तु महात्मनः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–चंपाए–चम्पा नगरी मे, **पालिए**–पालित, **नाम**–नाम का, **सावए**–श्रावक, **वाणिए**–वणिक्–वैश्य, **आसि**–रहता था, **सो**–वह श्रावक, **उ**–वितर्क में, **महावीरस्स**–महावीर, **भगवओ**–भगवान् का, **सीसे**–शिष्य था, **महप्पणो**–महात्मा का।

मूलार्थ–चम्पा नगरी में पालित नामक एक वैश्य श्रावक रहता था। वह महात्मा श्रीमहावीर भगवान् का शिष्य था।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे इस बात का व्यक्त किया गया है कि भगवान् महावीर स्वामी के सदुपदेश से अनेक भव्य जीवों को सद्बोध की प्राप्ति हुई। जैसे कि चम्पा नाम की नगरी में एक बडी विशाल वैश्य जाति निवास करती थी। उसी जाति में से पालित नाम का एक व्यापारी श्रावक था, जो कि भगवान् महावीर स्वामी का शिष्य था। यहां पर भगवान् के विषय में **'महात्मा'** शब्द को प्रयोग इसलिए किया गया है कि उनके बिना अन्य जितने भी छद्मस्थ आत्मा हैं वे सब शांति

आदि गुणों के धारण में इतने बलवान् नहीं, जितने कि भगवान् महावीर स्वामी थे। यथा–**'खंति सूरा अरिहन्ता'** क्षमा में शूरवीर अरिहन्त ही होते हैं, अतः भगवान् ही महान् आत्मा हैं।

अब उस श्रावक के विषय में कहते हैं–

निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए।
पोएण ववहरंते, पिहुंडं नगरमागए ॥ २ ॥

नैर्ग्रन्थे प्रवचने, श्रावकः सोऽपि कोविदः।
पोतेन व्यवहरन्, पिहुण्डं नगरमागतः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–निग्गंथे–निर्ग्रन्थ के, **पावयणे**–प्रवचन मे, **से**–वह, **सावए**–श्रावक, **वि**–अपि भी, **कोविए**–कोविद–विशेष पंडित था, **पोएण**–पोत से, **ववहरंते**–व्यवहार करता हुआ, **पिहुंड**–पिहुंड नामा, **नयरं**-नगर में, **आगए**–आ गया।

मूलार्थ–वह श्रावक निर्ग्रन्थ–प्रवचन के विषय में विशेष कोविद अर्थात् पंडित था और पोत से व्यापार करता हुआ पिहुंड नामक नगर में आ गया।

टीका–चम्पा नगरी का वह पालितनामा श्रावक केवल नाममात्र का श्रावक नहीं था, किन्तु व्यापारी होन के साथ-साथ वह निर्ग्रन्थ-प्रवचन का पंडित भी था, अर्थात् शास्त्रों के रहस्य का वेत्ता और जीवाजीवादि पदार्थो के मर्म को जानने वाला था। उसका व्यापार जहाजों के द्वारा चलता था, अतः जहाज से व्यापार करता हुआ वह पिहुंड नाम के किसी नगर में पहुंचा।

प्रस्तुत गाथा के भाव से व्यक्त होता है कि देशविरति श्रावक के लिए एकमात्र अनर्थदण्ड का ही त्याग है, सार्थदण्ड का नही तथा किसी प्रयोजन को लेकर श्रावक समुद्र-यात्रा भी कर सकता है और पूर्वकाल में भी करते थे, जैसे कि पालित द्वादशव्रतधारी श्रावक होकर भी जलयानो द्वारा व्यापार करता था। **'कोविद'** विशेषण देने से यह ज्ञात होता है कि पहले के श्रावक लोग निर्ग्रन्थ-प्रवचन का भली-भांति स्वाध्याय करने वाले होते थे। एव जैनधर्म के अनुयायी लोग विदेश-यात्रा भी करते थे और आर्यावर्त का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध भी था, यह भी उक्त गाथा से भली-भांति विदित होता है।

पिहुंड नामक नगर में पहुंचने के अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं–

पिहुंडे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूयरं।
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसमह पत्थिओ ॥ ३ ॥

पिहुंडे व्यवहरते (तस्मै), वणिग् ददाति दुहितरम्।
तां ससत्त्वां प्रतिगृह्य, स्वदेशमथ प्रस्थितः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–**पिहुंडे**–पिहुंड नगर में, **ववहरंतस्स**–व्यापार करते हुए उसको, **वाणिओ**–किसी वैश्य ने, **धूयरं**–अपनी पुत्री, **देइ**–दे दी, **स**–वह, पालितनामा सेठ, **तं**–उस, **ससत्तं**–अपनी गर्भवती स्त्री को, **पइगिज्झ**–लेकर, **सदेसं**–स्वदेश को, **पत्थिओ**–चल पड़ा, **अह**–अनन्तर अर्थ में है।

मूलार्थ–तदनन्तर पिहुंड नामक नगर में व्यापार करते हुए उस पालित सेठ को किसी वैश्य ने अपनी कन्या दे दी, कुछ समय बाद अपनी गर्भवती स्त्री को साथ लेकर वह अपने देश की ओर चल पड़ा।

टीका–पिहुड में जाने के अनन्तर यह पालितनामा सेठ वहां व्यापार करने लगा, उसके गुण और रूप-सौन्दर्य को देखकर किसी वैश्य ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया, फिर वह सेठ उस कन्या के साथ सांसारिक सुखों को भोगता हुआ कुछ समय तक व्यापार के लिए उसी नगर में ठहरा रहा। जब उसका व्यापार-सम्बन्धी काम समाप्त हो चुका, तब वह अपनी उस विवाहिता स्त्री को साथ लेकर अपने देश के प्रति चल पडा, परन्तु उस समय उसकी वह स्त्री गर्भवती थी। यहां पर **'स्वदेशं प्रस्थितः'** स्वदेश के प्रति लौटा, इस कथन से श्रावकों की विदेश-यात्रा और विदेशों में भी सजातीय लोगों का निवास, यह दो बाते भली-भांति प्रमाणित होती हैं।

जहाज के द्वारा स्वदेश को लौटते हुए रास्ते में क्या हुआ, अब इसी का वर्णन करते हैं–

अह पालियस्स घरणी, समुद्दंमि पसवई ।
अह दारए तहिं जाए, समुद्दपालित्ति नामए ॥ ४ ॥

अथ पालितस्य गृहिणी, समुद्रे प्रसूते (स्म) ।
अथ दारकस्तस्मिञ्जाते, समुद्रपाल इति नामतः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–**अह**–अथ, **पालियस्स**–पालित श्रावक की, **घरणी**–गृहिणी–घरवाली को, **समुद्दंमि**–समुद्र में, **पसवई**–प्रसव हुआ, **अह**–तदनन्तर, **तहिं**–वहां पर, **दारए**–बालक, **जाए**–उत्पन्न हुआ, **समुद्दपालि**–समुद्रपाल, **त्ति**–इस प्रकार, **नामए**–नाम से वह प्रसिद्ध हुआ।

मूलार्थ–तदनन्तर पालित के घर वाली को समुद्र में प्रसव हुआ और वहां उसका पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि 'समुद्रपाल' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

टीका–पालित नामा श्रावक जब जहाज के द्वारा समुद्र के रास्ते से अपने देश को लौटा तो समुद्र मे अर्थात् जहाज पर ही उसकी स्त्री ने एक बालक को जन्म दिया, जिसका नाम उन्होंने **'समुद्रपाल'** रखा।

तात्पर्य यह है कि समुद्र में जन्म होने से माता-पिता के द्वारा उसका **'समुद्रपाल'** यह गुणनिष्पन्न नाम रखा गया। यद्यपि नामकरण में भावुकों की इच्छा प्रधान होती है, तथापि गुणनिष्पन्न नामकरण मे विशेष प्रतिष्ठा होती है।

कुछ प्रतियों में **'दारए'** पद के स्थान पर **'बालए'** पद देखने में आता है और **'नामतः'** के स्थान में **'नामकः'** ऐसा प्रतिरूप प्राप्त होता है।

तदनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं ।
संवड्ढई घरे तस्स, दारए से सुहोइए ॥ ५ ॥

क्षेमेणागते चम्पायां, श्रावके वणिजि गृहम् ।
संवर्धते गृहे तस्य, दारकः स सुखोचितः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—खेमेण—कुशलता से, **चंपं**—चम्पा में, **घरं**—घर को, **आगए**—आ गया, **सावए**—श्रावक, **वाणिए**—वणिक्—वैश्य, **तस्स**—उसके, **घरे**—घर में, **संवड्ढई**—वृद्धि को पाता है, **से**—वह, **दारए**—बालक, **सुहोइए**—सुखोचित।

मूलार्थ—वह वैश्य श्रावक कुशलतापूर्वक अपने घर में आ गया और वह बालक उसके घर में सुखपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

टीका—बालक का जन्म होने के पश्चात् वह श्रावक अपनी स्त्री और पुत्र को साथ लेकर समुद्रमार्ग से कुशलता-पूर्वक अपने घर मे आ गया तथा बालक घर में सुखपूर्वक पालन-पोषण क द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने लगा। विदेश-यात्रा में अनेक प्रकार के कष्ट और विघ्न उपस्थित होते है, उस पर भी समुद्र-यात्रा तो अधिक भयावह होती है। ऐसी विकट यात्रा से अपने परिवार-सहित कुशलता-पूर्वक घर मे वापस आ जाना निस्सन्देह शुभ कर्मो के उदय का सूचक है। यह बात **'खेमेण'** पद से ध्वनित होती है।

तदनन्तर वह बालक किस प्रकार का हुआ, अब इसके विषय में कहते हैं—

बावत्तरीकलाओ य, सिक्खिए नीइकोविए ।
जोव्वणेण य अप्फुण्णे, सुरूवे पियदंसणे ॥ ६ ॥

द्वासप्ततिकलाश्च, शिक्षितो नीतिकोविदः ।
यौवनेन च आपूर्णः, सुरूपः प्रियदर्शनः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—बावत्तरी—बहत्तर, **कलाओ**—कलाएं, **सिक्खिए**—सीख गया, **य**—और, **नीइ-कोविए**—नीतिशास्त्र का पंडित हो गया, **जोव्वणेण**—यौवन से, **अप्फुण्णे**—परिपूर्ण हो गया, **य**—फिर, **सुरूवे**—सुरूप और, **पियदंसणे**—प्रियदर्शी बन गया।

मूलार्थ–तदनन्तर वह समुद्रपाल पुरुषोचित बहत्तर कलाओं को सीख गया और नीतिशास्त्र में भी निपुण हो गया तथा युवावस्था से सम्पन्न होकर वह सबको सुन्दर और प्यारा लगने लगा।

टीका–शिक्षा ग्रहण करने के योग्य होने पर समुद्रपाल को शिक्षा प्राप्ति के लिए विद्यालय मे प्रविष्ट किया गया, वहां पर उसने पुरुषोचित ७२ कलाओं को सीखा और नीतिशास्त्र में भी अतिनैपुण्य को प्राप्त कर लिया। शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर वह युवावस्था की पूर्णता को प्राप्त होता हुआ अपने स्वाभाविक रूप-लावण्य से सबको अत्यन्त प्रिय लगने लगा। जो भी उसको देखता था, वह उस पर मुग्ध हो जाता था।

किसी-किसी प्रति में '**अप्फुण्णे**' के स्थान पर '**संपन्ने**' पाठ देखने में आता है, परन्तु अर्थ म कोई विशेष अन्तर नहीं है।

तस्स रूपवइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणिं ।
पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुंदगो जहा ॥ ७ ॥

तस्य रूपवतीं भार्या, पिताऽऽनयति रूपिणीम् ।
प्रासादे क्रीडति रम्ये, देवो दोगुन्दको यथा ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः--**तस्स**--उसके, **पिया**–पिता ने, **रूववइं**–रूप वाली, **भज्जं**–भार्या, **रूविणी**–रूपिणी नामवाली, **आणेइ**–लाकर दी, **रम्मे**–रमणीय, **पासाए**–प्रासाद मे, **कीलए**–क्रीडा करता है, **जहा**–जैसे, **दोगुन्दगो**--दोगुन्दक, **देवो**–देव स्वर्ग मे सुख भोगते है।

मूलार्थ–उसके पिता ने रूपिणी नाम की अति रूपवती भार्या उसको लाकर दी, अर्थात् एक परम सुन्दरी कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। वह उस रूपवती भार्या के साथ एक सुन्दर महल में क्रीड़ा करता हुआ दोगुन्दक देवों के समान विषयभोगजन्य स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने लगा।

टीका–जब वह समुद्रपाल विद्याध्ययन कर चुका और पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो गया, तब उसके पिता ने एक रूपवती कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण करा दिया। तब वह समुद्रपाल अपनी भार्या के साथ एक अतिरमणीय प्रासाद मे रहकर क्रीडा करता हुआ दोगुन्दक देवो क समान स्वर्गीय सुखो का उपभोग करने लगा।

तात्पर्य यह है कि जैस दागुन्दक नामक देव निर्विघ्नतया स्वर्गीय सुखो का उपभोग करते है, अर्थात् इन्द्र के गुरु होने से उनको इन्द्र का भी भय नही होता, उसी प्रकार समुद्रपाल भी निर्भय हाकर निरन्तर विषयभोग-जन्य सुखों का उपभोग करन लगा। स्वर्गस्थान में जितने भी देव है, वे सब इन्द्र के आधीन होन मे निर्विघ्नतया स्वर्गीय सुखों का उपभोग नही कर सकत, परन्तु

दोगुन्दक जाति के देवों पर किसी का अंकुश न होने से उनके सुखोपभोग में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती। कारण कि इन्द्र के गुरुस्थानीय होने से उन पर उसका भी कोई शासन नहीं चलता। अतएव उनके सुख का उदाहरण दिया गया है।

समुद्रपाल की भार्या का वास्तविक नाम तो '**रुक्मिणी**' था, परन्तु प्राकृत के कारण '**रूपिणी**' कहा गया है।

समुद्रपाल के विवाह के अनन्तर और विवाह-जन्य सुखोपभोग के समय क्या हुआ, अब इसका वर्णन करते हैं—

अह अन्नया कयाई, पासायालोयणे ठिओ ।
वज्झमंडणसोभागं, वज्झं पासइ वज्झगं ॥ ८ ॥

अथान्यदा कदाचित्, प्रासादालोकने स्थितः ।
वध्यमण्डनशोभाकं, वध्यं पश्यति वध्यगम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—तदनन्तर, **अन्नया**—एक बार, **कयाई**—कदाचित्, **पासायालोयणे**—प्रासाद की खिड़की में, **ठिओ**—स्थित हुआ—बैठा हुआ, **वज्झमंडणसोभागं**—वधयोग्य मंडन ही है सौभाग्य जिसका, **वज्झं**—वध के योग्य, **वज्झगं**—वध्यस्थान पर ले जाते हुए चोर को, **पासइ**—देखता है।

मूलार्थ—किसी समय प्रासाद के गवाक्ष में बैठे हुए समुद्रपाल ने (राजपुरुषों द्वारा) वध के योग्य चिह्नों से युक्त किए हुए किसी अपराधी को वध्यभूमि की और ले जाते हुए देखा।

टीका—अपनी रुचि के अनुसार स्वर्गतुल्य सुखों का अनुभव करते हुए समुद्रपाल ने किसी समय प्रासाद के गवाक्ष में बैठकर नगर की ओर देखा तो मार्ग मे राजपुरुषो के द्वारा वध्यस्थान मे वध के लिए ले जाते हुए एक अपराधी पुरुष पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसके गले में वध्यपुरुषोचित चिह्न पडे हुए थे। पहले यह प्रथा थी कि जिस पुरुष को फांसी आदि के कठोर दंड की आज्ञा होती थी, उसको रासभ—गधे पर चढ़ाकर, गले में जूतियों का हार डालकर और सिर को मुडवाकर उसके आगे फूटा ढोल बजाते हुए उसे वध्यस्थान में लाया जाता था। अपने महल में बैठे हुए समुद्रपाल ने इस प्रकार के दृश्य को देखा, अर्थात् एक अपराधी पुरुष को फांसी देने के स्थान पर ले जाया जा रहा था, वह वध्यपुरुषोचित चिह्नों से युक्त था और सहस्रो नर-नारी उसके साथ-साथ जा रहे थे। इस प्रकार का आश्चर्य-जनक दृश्य उसकी आखो के सामने आया।

उक्त दृश्य को देखकर समुद्रपाल के मन में जो भाव उत्पन्न हुए, अब उसी के सम्बन्ध में कहते हैं—

तं पासिऊणं संविग्गो, समुद्दपालो इणमब्बवी ।
अहो ! असुहाण कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं ॥ ९ ॥

तं दृष्टवा संविग्नः, समुद्रपाल इदमब्रवीत् ।
अहो! अशुभानां कर्मणां, निर्याणं पापकमिदम् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**तं**—उसको, **पासिऊण**—देखकर, **संविग्गो**—सवेग को प्राप्त होकर, **समुद्दपालो**—समुद्रपाल, **इणं**—इस प्रकार, **अब्बवी**—कहने लगा, **अहो**—आश्चर्य है, **असुहाण**—अशुभ, **कम्माणं**—कर्मो के, **निज्जाणं**—निर्याण, **पावगं**—पापरूप है, **इमं**—यह प्रत्यक्ष।

मूलार्थ—उस अपराधी को देखकर संवेग को प्राप्त होता हुआ समुद्रपाल इस प्रकार कहने लगा, अहो ! अशुभ कर्मो का अन्तिम फल पापरूप ही है, जैसे कि इस अपराधी को प्राप्त हो रहा है।

टीका—महल के झरोखे मे बैठे हुए समुद्रपाल ने जब उस चोर की अत्यन्त शोचनीय दशा देखी तो उसका ससार से वैराग्य उत्पन्न हो गया और मुक्ति की अभिलाषा अन्तःकरण में एकदम जाग उठी। तब वह कहने लगा कि वास्तव मे अशुभ कर्मो के आचरण का ऐसा ही कटु परिणाम होता हे जैसे कि इस अपराधी ने अशुभ कर्मो का उपार्जन किया और तदनुरूप ही यह उनका फल भोगने के लिए जा रहा है।

साराश यह है कि जो अशुभ कर्म है, उनका अन्तिम फल अशुभ अर्थात् दुःखरूप ही होगा। इसीलिए सूत्रकर्त्ता ने—**'निज्जाणं पावगं' 'निर्याणं पापकम्'** यह पद दिया है, जिसका अर्थ यह है कि अन्तिम फल पापरूप ही होगा। इसी प्रकार शुभ कर्मो के विषय मे भी जान लेना चाहिए, अर्थात् उनका फल पुण्य रूप ही होगा।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं—

संबुद्धो सो तहिं भगवं, परमसंवेगमागओ ।
आपुच्छम्मापियरो, पव्वए अणगारियं ॥ १० ॥

संबुद्धः स तत्र भगवान्, परमसंवेगमागतः ।
आपृच्छ्य मातापितरौ, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**भगवं**—महान् आत्मा, **सो**—वह समुद्रपाल, **तहिं**—उस खिड़की मे बैठा हुआ, **संबुद्धो**—सबुद्ध हुआ, **परमसंवेगं**—उत्कृष्ट सवेग को, **आगओ**—प्राप्त हो गया, **अम्मापियरो**—माता और पिता को, **आपुच्छ**—पूछकर, **पव्वए**—दीक्षित हो गया, **अणगारियं**—अनगारता को प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—महान् आत्मा समुद्रपाल तत्त्ववेत्ता होकर उत्कृष्ट संवेग को प्राप्त हो गए, फिर माता पिता को पूछकर अनगारवृत्ति के लिए दीक्षित हो गए।

टीका—जिस समय समुद्रपाल ने चोर की दशा को देखकर कर्मों के स्वरूप का पर्यालोचन किया उस समय उसको क्षयोपशमभाव से तत्त्व-विषयक बोध उत्पन्न हुआ। उसके अनन्तर ही चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से वह वैराग्य की परम दशा को प्राप्त हो गया। तब उसने अपने माता-पिता को पूछकर अनगारवृत्ति-संयमवृत्ति को ग्रहण कर लिया, अर्थात् अपने सारे सांसारिक ऐश्वर्य को तिलांजलि देकर वीतराग के धर्म में दीक्षित हो गया। माता-पिता के साथ दीक्षा-ग्रहण के समय में समुद्रपाल के जो प्रश्नोत्तर हुए थे, उनका विवरण यहां पर इसलिए नहीं दिया गया कि वे प्रश्नोत्तर १९वें अध्ययन में विस्तार से दिखाए जा चुके हैं, जो इसी प्रकार के हैं।

कुछ गुर्जरभाषाकारों के लिखने से अथवा गुरु-परम्परा से यह श्रवण करने में आता है कि समुद्रपाल को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया था, परन्तु सूत्रकार ने अथवा वृत्तिकारों ने इस विषय मे कुछ भी उल्लेख नही किया। भगवान् शब्द यहां पर प्रशंसार्थ—उसकी आत्मा की महत्ता को अभिव्यक्त करने के लिए ग्रहण किया गया है।

अब दीक्षित हुए समुद्रपाल के विषय में कहते हैं—

जहित्तु संगं च महाकिलेसं, महन्तमोहं कसिणं भयाणगं ।
परियायधम्मं चभिरोयएज्जा, वयाणि सीलाणि परीसहे य ॥ ११ ॥

हित्वा संगं च महाक्लेशं, महामोहं कृत्स्नं भयानकम् ।
पर्यायधर्मं चाभिरोचयति, व्रतानि शीलानि परीषहांश्च ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**जहित्तु**—छोड़कर, **संगं**—संग को जो, **महाकिलेसं**—महाक्लेश रूप है और, **महन्तमोहं**—महामोह तथा, **कसिणं**—सपूर्ण, **भयाणगं**—भयों को उत्पादन करने वाला, **च**—और, **परियाय**—प्रव्रज्या रूप, **धम्मं**—धर्म में, **अभिरोयएज्जा**—अभिरुचि करता हुआ, **वयाणि**—व्रत, **सीलाणि**—शील, **य**—और, **परीसहे**—परिषहो को सहन करने लगा। यहां '**च**' और '**अथ**' शब्द पादपूर्ति के लिए हैं।

मूलार्थ—महामोह और महाक्लेश तथा महाभय को उत्पन्न करने वाले स्वजनादि के संग को छोड़कर वह समुद्रपाल प्रव्रज्यारूप उस धर्म में अभिरुचि करने लगा जो कि व्रतशील और परीषहों के सहन रूप है।

टीका—दीक्षित होने के अनन्तर समुद्रपाल ने अपने स्वजनादि के संग का परित्याग कर दिया। कारण यह है कि संग से महाक्लेश, महान् मोह और समस्त प्रकार के भयों की उत्पत्ति होती है, अतः संग का परित्याग करके उसने प्रव्रज्यारूप धर्म में प्रवृत्ति कर ली, अर्थात् पाँच

महाव्रत तथा पिंडविशुद्धि आदि शील और परीषह आदि के सहन रूप जो प्रव्रज्या धर्म है, उसका वह निरन्तर सेवन करने लगा।

प्रत्येक संयमशील पुरुष को चाहिए कि वह अहर्निश अपनी आत्मा को इस प्रकार से शासित करता रहे। यथा–''हे आत्मन्! तू संग का परित्याग करके प्रव्रज्यारूप धर्म में ही सर्व प्रकार से रुचि उत्पन्न कर, क्योंकि यह संग महाक्लेश ओर महाभय उत्पन्न करने वाला है, अतः इसका सर्वथा परित्याग कर।''

'अभ्यरोचत' यह आर्ष प्रयोग है। किसी-किसी प्रति मे **'भयाणगं'** के स्थान पर **'भयावहं'** ऐसा पाठ भी देखने में आता है।

अब संयमशील पुरुष के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं, यथा–

अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥ १२ ॥

अहिंसा सत्यं चास्तेनकं च, ततश्चाब्रह्मापरिग्रहं च ।
प्रतिपद्य पञ्चमहाव्रतानि, चरति धर्म जिनदेशितं विद्वान् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–अहिंस–अहिसा, **सच्चं**–सत्य, **च**–और, **अतेणगं**–अस्तेय–अचौर्य कर्म, **च**–पुनः, **तत्तो**–तदनन्तर, **बंभं**–ब्रह्मचर्य, **य**–और, **अपरिग्गहं**–अपरिग्रह, **च**–पादपूर्ति में, **पडिवज्जिया**–ग्रहण करके, **पंचमहव्वयाणि**–पांच महाव्रतों को, **चरिज्ज**–आचरण करे, **धम्मं**–धर्म को, **जिणदेसियं**–जिनेन्द्रदेव का उपदेश किया हुआ, **विऊ**–विद्वान्।

मूलार्थ–विद्वान् पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों को ग्रहण करके जिनेन्द्र देव के उपदेश किए हुए धर्म का आचरण करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे विद्वान् अर्थात् सयमशील पुरुष के कर्त्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है, विचारशील पुरुष के लिए यही उचित है कि वह अहिंसादि पांच महाव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करे। इनके पालन से ही यह जीव संसार-समुद्र से पार हो सकता है तथा जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किए हुए पिड-विशुद्धि आदि धर्मो का भी सम्यक्तया आचरण करे, क्योकि जीवन्मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति इन्हीं के आचरण पर निर्भर है। इसलिए विद्वान् को उक्त मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए।

अब फिर उक्त विषय में कहते हैं–

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी, खंतिक्खमे संजयबंभयारी ।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए ॥ १३ ॥

सर्वेषु भूतेषु दयानुकम्पी, क्षान्तिक्षमः संयतब्रह्मचारी ।
सावद्ययोगं परिवर्जयन्, चरेद् भिक्षुः सुसमाहितेन्द्रियः ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—सव्वेहिं—सर्व, **भूएहिं**—भूतों में, **दयाणुकंपी**—दया के द्वारा अनुकम्पा करने वाला, **खंतिक्खमे**—क्षांति-क्षम, **संजय**—संयत, **बंभयारी**—ब्रह्मचारी, **सावज्जजोगं**—सावद्य व्यापार को, **परिवज्जयंतो**—छोड़ता हुआ, **चरिज्ज**—आचरण करे, **भिक्खू**—साधु, **सुसमाहिइंदिए**—सुन्दर समाधि वाला और इन्द्रियों को वश में रखने वाला।

मूलार्थ—सर्वभूतों पर दया के द्वारा अनुकम्पा करने वाला, क्षांति-क्षम, संयत, ब्रह्मचारी, समाधि-युक्त और इन्द्रियों को वश में रखने वाला भिक्षु सर्व प्रकार के सावद्य व्यापारों को छोड़ता हुआ धर्म का आचरण करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी भिक्षु के कर्त्तव्य का ही निर्देश किया गया है, जैसे कि भिक्षु दयायुक्त होकर सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाला होवे तथा यदि कोई दुष्ट दुर्वचनादि का प्रयोग भी करे तो उसको भी शांति पूर्वक सहन कर लेवे, अर्थात् बदला लेने की भावना न रखे। एव सावद्य अर्थात् पापमय व्यापारों का परित्याग करता हुआ श्रेष्ठ समाधियुक्त और इन्द्रियों को जीतने वाला होकर धर्म का आचरण करे।

समुद्रपाल मुनि इसी प्रकार से धर्म का आचरण करने लगे। जो जीव ब्रह्म—आत्मा और परमात्मा मे आचरण-विचरण करने का स्वभाव रखता है, वही ब्रह्मचारी है, अथवा ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त कष्टसाध्य है, इसलिए दूसरी बार प्रस्तुत गाथा में भी '**ब्रह्मचारी**' पद का उल्लेख किया गया है।

सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति के प्रयोग 'सुप्' के व्यत्यय से जानने चाहिएं।

अब फिर कहते हैं—

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे, बलाबलं जाणिय अप्पणो य ।
सीहो व सद्देण न सन्तसेज्जा, वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ॥ १४ ॥

कालेन कालं विहरेत् राष्ट्रे, बलाबलं ज्ञात्वाऽऽत्मनश्च ।
सिंह इव शब्देन न सन्त्रस्येत्, वाग् योगं श्रुत्वा नासभ्यं ब्रूयात् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—कालेण कालं—यथासमय—समय के अनुसार क्रियानुष्ठान करता हुआ, **रट्ठे**—राष्ट्र—देश में, **विहरेज्ज**—विचरे, **अप्पणो**—अपनी आत्मा के, **बलाबलं**—बलाबल को, **जाणिय**—जानकर, **सीहो व**—सिंह की तरह, **सद्देण**—शब्द से, **न सन्तसेज्जा**—त्रास को प्राप्त न हो, **वयजोग**—वचनयोग, **सुच्चा**—सुनकर, **असब्भं**—असभ्य वचन, **न आहु**—न बोले।

मूलार्थ–मुनि यथासमय क्रियानुष्ठान करता हुआ देश में विचरण करे, अपनी आत्मा के बलाबल को जानकर संयमानुष्ठान में प्रवृत्त हो तथा शब्द को सुनकर सिंह की तरह किसी से त्रास को प्राप्त न हो और असभ्य वचन न कहे।

टीका–इस गाथा मे मुनिधर्मोचित्त आचार का वर्णन करते हुए समुद्रपाल मुनि के सजीव क्रियानुष्ठान का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार से वह अपने धर्म-सम्बन्धी कार्यो को यथाविधि व्यवहार में लाता हुआ देश में विचरण करता है। जैसे कि–पादोन पौरुषी आदि में प्रतिलेखना, ठीक समय पर प्रतिक्रमण तथा शास्त्र-स्वाध्याय और भिक्षाचरी आदि क्रियाओं का सम्पादन करता हुआ अप्रतिबद्ध विहारी होकर देश मे विचरने लगा। वे अपनी आत्मा की शक्ति के अनुसार उसके बलाबल का विचार करके जिस प्रकार से संयम के योगों की हानि न हो, उसी प्रकार से धर्म-सम्बन्धी क्रियाओं में वे प्रवृत्त हो गए। किसी भयानक शब्द को सुनकर जैसे सिंह त्रास को प्राप्त नही होता, तद्वत् वे भी निर्भय होकर दृढ़ता-पूर्वक विचरने लगे। यदि किसी ने उनके प्रति दु:खप्रद शब्द का प्रयोग भी कर दिया हो तो उसके प्रति भी उन्होंने कभी असभ्य शब्दों का प्रयोग नहीं किया।

यह शास्त्रानुमोदित साधुचर्या है, जिसका ऊपर दिग्दर्शन किया गया है, इसी साधुवृत्ति को धारण करता हुआ वह समुद्रपाल मुनिवेश मे विचरता है, यही प्रस्तुत गाथा का भाव है।

मुनिधर्म का विवेचन करते हुए शास्त्रकारो ने जिन नियमो का त्यागशील मुनि के लिए विधान किया है, उनका यथाविधि पालन करना ही मुनिवृत्ति की सार्थकता है। सयमवृत्ति को ग्रहण करने के अनन्तर सयमी पुरुष का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शास्त्र-विहित क्रियाओं में कभी प्रमाद न करे अर्थात् प्रत्येक क्रिया को नियत समय में करे तथा अपनी आत्मा की न्यूनाधिक शक्ति का विचार करके उत्कृष्ट अभिग्रहादि में प्रवेश करे और सिंह की भांति सदा निर्भय रहे। एवं किसी के द्वारा प्रयुक्त किए गए कटु अथवा असभ्य शब्दों के प्रयोग में भी उद्वेग को प्राप्त न हो तथा असभ्य भाषण न करे। इसी प्रकार की विशुद्ध प्रवृत्ति से संयमी पुरुष की आत्म-समाधि और धर्म-भावना में विशेष प्रगति होती है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा, पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा ।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा, न यावि पूयं गरहं च संजए ॥ १५ ॥

उपेक्षमाणस्तु परिव्रजेत्, प्रियमप्रियं सर्व तितिक्षेत् ।
न सर्व सर्वत्राभिरोचयेत्, न चापि पूजां गर्हा च संयतः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः:–**उवेहमाणो**–उपेक्षा करता हुआ, **परिव्वएज्जा**–संयममार्ग में विचरे, **पियमप्पियं**–प्रिय और अप्रिय, **सव्व**–सर्व, **तितिक्खएज्जा**–सहन करे, **न**–नहीं, **सव्व**–सर्व, **सव्वत्थ**–सब पदार्थो में, **अभिरोयएज्जा**–अभिरुचि करे, **च**–और, **न यावि**–न, **पूयं**–पूजा, **च**–और, **गरहं**–गर्हा की, **संजए**–संयत–साधु रुचि करे।

मूलार्थ–संयत साधु उपेक्षा करता हुआ संयममार्ग में विचरे, प्रिय और अप्रिय सबको सहन करे तथा सर्व पदार्थो वा सर्वस्थानों में अभिरुचि न करे और पूजा एवं गर्हा को न चाहे।

टीका–इस गाथा मे भी मुनिवृत्ति का ही उल्लेख किया गया है। सयम-मार्ग में विचरता हुआ मुनि सर्वत्र उपेक्षा भाव से ही रहे, यही उसके संयम मार्ग की शुद्धि है। तात्पर्य यह है कि किसी स्थान पर यदि उसके साथ किसी न असभ्य बर्ताव भी किया हो–किसी ने उसके प्रति कठोर वचन कहे हो तो संयमशील मुनि को उसकी उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। उसके वचन का उत्तर देना अथवा उसके प्रति क्रोध करना इत्यादि मुनिधर्म के विरुद्ध कोई भी आचरण न करे, किन्तु मुझको किसी ने कुछ भी नही कहा, ऐसा विचार कर उस और ध्यान ही न देवे। अतएव प्रिय और अप्रिय दोनों वस्तुओ के संयोग मे भी सदा मध्यस्थ भाव से ही रहे, किन्तु ससार के किसी पदार्थ में आसक्त न हो। इसी प्रकार अनुकूल अथवा प्रतिकूल परीषह के उपस्थित होने पर मन मे किसी प्रकार की विकृति न लाए, किन्तु धैर्य और शांति-पूर्वक सहन करने में ही अपनी आत्मा की स्थिरता का परिचय दे। अतएव अपने पूजा, सत्कार अथवा निन्दा की और भी ध्यान न दे।

य सब जीवन्मुक्त अथवा मोक्ष-विषयक तीव्र अभिलाषा रखने वाले आत्माओ के लक्षण है, जिनका आचरण नव-दीक्षित मुनि समुद्रपाल कर रहे थे। वास्तव में बढ़ी हुई इच्छा ही सर्व प्रकार के दुःखों की जननी है, उसका निरोध कर देने से दुःखों का भी समूलघात हो जाता है। इसीलिए इच्छा के निरोध को शास्त्रकारो ने मुख्य तप कहा है, जो कि प्रदीप्त हुई अग्निज्वाला क समान कर्मेन्धन को जलाने की अपने मे पूर्ण शक्ति रखता है, अतः इच्छा का निरोध करके संयमशील भिक्षु सदा उपेक्षाभाव से ही ससार मे विचरण करे यही प्रस्तुत गाथा का भाव है।

क्या भिक्षु के हृदय में भी अन्यथाभाव संभव हो सकता है, जिससे उक्त प्रकार से मुनिचर्या का वर्णन किया गया, अब इसी के विषय में कहते हैं–

अणेगछन्दामिह माणवेहिं, जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमा, दिव्वा माणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥ १६ ॥

अनेकछन्दांसीह मानवेषु, यान् भावतः संप्रकरोति भिक्षुः ।
भयभैरवास्तत्रोद्यन्ति भीमाः, दिव्या मानुष्या अथवा तैरश्चाः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**अणेगछन्दां**—अनेक प्रकार के अभिप्राय, **इह**—इस लोक में, **माणवेहिं**—मनुष्यों के सम्भव हैं, **जे**—जिनको, **भावओ**—भाव से, **संपगरेइ**—ग्रहण करता है, **भिक्खू**—साधु, **भयभेरवा**—भय के उत्पन्न करने वाले अति भयंकर, **तत्थ**—वहां पर, **उइन्ति**—उदय होते हैं, **भीमा**—अतिरौद्र, **दिव्वा**—देवों सम्बन्धी, **माणुस्सा**—मनुष्यों सम्बन्धी, **अदुवा**—अथवा, **तिरिच्छा**—तिर्यक्-सम्बन्धी कष्ट।

मूलार्थ—इस लोक में मनुष्यों के अनेक प्रकार के अभिप्राय हैं, साधु उन सब को भाव से जानकर—उन पर सम्यक् रीति से विचार करे तथा उदय में आए हुए भय के उत्पन्न करने वाले अतिरौद्र देव, मनुष्य और तिर्यच-सम्बन्धी कष्टों को शांतिपूर्वक सहन करे।

टीका—इस ससार में जीवों के अनेक प्रकार के अभिप्राय हैं जो कि औदयिक आदि भावों के कारण लोगों के उदय में आ रहे हैं। इसी हेतु से बहुत से लोग मुनियो पर भी आक्रमण कर देते हैं अत: विचारशील मुनि उनको भली-भांति जानकर अपनी संयमवृत्ति में ही दृढ़ता-पूर्वक निमग्न रहे, किन्तु लोगों के अभिप्राय का अनुगामी न बने तथा मुनिवृत्ति—चारित्र ग्रहण करने के अनन्तर देव, मनुष्य और तिर्यच-सम्बन्धी, भयोत्पादक नानाविध कष्टों के उपस्थित होने पर भी अपने व्रत से विचलित न हो, किन्तु दृढता-पूर्वक उन आए हुए कष्टों का स्वागत करे—उनको धैर्य-पूर्वक सहन करे।

प्रस्तुत गाथा में सुप्-व्यत्यय '**अपि**' का अध्याहार और '**म**' की अलाक्षणिकता, यह सब प्राकृत के नियम से जान लेना।

अब फिर कहते हैं—

परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा ।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज पंडिए, संगामसीसे इव नागराया ॥ १७ ॥

परीषहा दुर्विषहा अनेके, सीदन्ति यत्र बहुकातरा नराः ।
स तत्र प्राप्तो नाव्यथत पण्डितः, संग्रामशीर्ष इव नागराजः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**परीसहा**—परीषह, **दुव्विसहा**—जो सहने में दुष्कर है, **अणेगे**—अनेक प्रकार के, **जत्था**—जिनमें, **बहुकायरा**—बहुत से कायर, **नरा**—पुरुष, **सीयन्ति**—ग्लानि को प्राप्त हो जाते है, **से**—वह, **तत्थ**—वहां पर, **पत्ते**—प्राप्त हुआ, **न वहिज्ज**—व्यथित नही होते, **पंडिए**—पंडित, **संगामसीसे**—सग्राम के सिर पर, **इव**—जैसे, **नागराया**—नागराज—गजेन्द्र।

मूलार्थ—अनेक प्रकार के दुर्जय परीषहों के उपस्थित हो जाने पर बहुत से कायर पुरुष शिथिल हो जाते हैं, परन्तु वह समुद्रपाल मुनि, संग्राम में गजेन्द्र की तरह उन घोर परीषहों के उपस्थित होने पर भी व्यथित नहीं हुआ, अर्थात् उनसे घबराया नहीं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में समुद्रपाल मुनि की संयम-दृढ़ता का परिचय देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि संसार में ऐसे बहुत से कायर पुरुष विद्यमान हैं जो कि कष्टों के समय अपनी आत्मस्थिरता को सर्वथा भूलकर प्राकृत जनों की तरह आर्त्तध्यान करने लग जाते हैं, परन्तु समुद्रपाल मुनि उन कायरों में से नहीं थे। वे तो रण-संग्राम में निर्भयता से भिड़ने वाले नागराज–गजेन्द्र की तरह, परीषहों के साथ शांतिमय युद्ध करते हुए उनसे अणुमात्र भी नहीं घबराए और उन्होने अपने आत्म-बल से उन पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त की।

सारांश यह है कि जिन परीषहों के उपस्थित होने पर भय के मारे बहुत से कायर पुरुष अपने संयम को छोड़कर भाग जाते हैं–संयम-क्रिया से पतित हो जाते है, उन्हीं परीषहं रूप भयंकर शत्रुओं के समक्ष, संयम-संग्राम में वह समुद्रपाल मुनि बड़ी दृढ़ता के साथ आगे बढते और प्रसन्नता-पूर्वक उनसे युद्ध करते हुए उन पर विजय प्राप्त करते थे। उन्होंने विकट से विकट परीषहो को अपनी सहनशीलता से विफल कर दिया।

इसी प्रकार वर्तमान समय के प्रत्येक मुनि का कर्त्तव्य है कि वह अपनी संयम-विषयिणी दृढता को स्थिर रखने के लिए समुद्रपाल मुनि की तरह अपनी आत्मा को अधिक से अधिक बलवान बनाने का प्रयत्न करे।

अब इसी विषय की व्याख्या करते हुए फिर कहते हैं–

सीओसिणा दंसमसगा य फासा, आयंका विविहा फुसन्ति देहं ।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ॥ १८ ॥

शीतोष्णा दंशमशकाश्च स्पर्शाः, आतंका विविधाश्च स्पृशन्ति देहम् ।
अकुत्कूजस्तत्राधिसहेत, रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–**सीओसिणा**–शीतोष्ण, **दंस**–दश, **मसगा**–मशक, **य**–और, **फासा**–तृणादिक स्पर्श, **आयंका**–आतंक–घातक रोग, **विविहा**–नाना प्रकार के, **देहं**–शरीर को, **फुसन्ति**–स्पर्श करते हैं, **अकुक्कुओ**–तो भी कुत्सित शब्द न करता हुआ, **तत्थ**–वहां पर, **अहियासएज्जा**–सहन करता है, **रयाइं**–कर्मरज, **पुराकडाइं**–पूर्वकृत को, **खेवेज्ज**–क्षय करके।

मूलार्थ–मुनि शीत, उष्ण, दंश मशक, तृणादि स्पर्श तथा नाना प्रकार के भयंकर रोग, जो देह को स्पर्श करते हैं, उनको सहन करता हुआ पूर्वकृत कर्मरज को क्षय करे और संयम-मार्ग में विचरण करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में भी समुद्रपाल मुनि की दृढ़ता का ही वर्णन है। वे जानते थे कि यह शास्त्र-मर्यादा है कि मुनि के शरीर को यदि डांस, मच्छर आदि काटे, शीत, उष्ण तथा तृणादि के कठोर स्पर्श से और नाना प्रकार के आतकों से उसके शरीर को कल्पनातीत आघात पहुंचे,

परन्तु उसे सब प्रकार के परीषहों–उपद्रवो को बड़ी दृढता से सहन करना चाहिए, अर्थात्, इनके उपस्थित होने पर भी वह अपनी संयमनिष्ठा से तनिक भी विचलित न होवे। इसी कारण से समुद्रपाल मुनि पूर्वकृत–पूर्वजन्मार्जित कर्मरज का क्षय करते हुए निराकुल होकर विचरने लगे।

यद्यपि सूत्र मे जो क्रिया दी है, वह विध्यर्थक लिङ्लकार की है, तथापि प्रकरण समुद्रपाल मुनि का ही है। तथा **'व्यत्ययश्च'** इस प्राकृत नियम की यहां पर भी प्रधानता है, अतः ये आर्षवाक्य हैं। अथवा अन्य मुनिगण भी इससे शिक्षा ग्रहण करें, एतदर्थ इनका प्रयोग किया गया है।

आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति–पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजः न तथा इति अकुकूजः। तथा–**'अकक्करेत्ति'** एवमपि पाठो दृश्यते। कदाचिद्वेदना आकुलितो न कर्करायितकारी–इति। अर्थात् वेदना को शांति-पूर्वक सहन करना यह पाठ भी प्राप्त होता है।

फिर कहते हैं–

पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे ।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ॥ १९ ॥

प्रहाय रागं च तथैव द्वेषं, मोहं च भिक्षुः सततं विचक्षणः ।
मेरुरिव वातेनाकम्पमानः, परीषहान् गुप्तात्मा सहेत ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–**पहाय**–छोडकर, **रागं**–राग को **च**–और, **तहेव**–उसी प्रकार, **दोस**–द्वेष को, **च**–और, **मोहं**–मोह को, **भिक्खू**–साधु, **सययं**–निरन्तर, **वियक्खणे**–विचक्षण, **मेरु**–मेरु, **व्व**–की तरह, **वाएण**–वायु से, **अकम्पमाणो**–अकम्पायमान होता हुआ, **परीसहे**–परीषहो को, **आयगुत्ते**–आत्म-गुप्त हाकर, **सहिज्जा**–सहन करे।

मूलार्थ–विचक्षण भिक्षु सदा ही राग, द्वेष और मोह का परित्याग करके, वायु के वेग से कम्पायमान न होने वाले मेरु पर्वत की तरह आत्मगुप्त होकर परीषहों को सहन करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे वर्तमान काल के मुनियों को समुद्रपाल मुनि का अनुकरण करने का उपदेश देते हुए शास्त्रकार कहते है कि जो विचक्षण अर्थात् विचारशील मुनि हैं वे राग, द्वेष और मोह को त्याग कर परीषहो को सहन करने मे सदा सुमेरु पर्वत की भांति निश्चल रहे, अर्थात् जिस प्रकार वायु के प्रचड वेग से भी सुमरु पर्वत कम्पायमान नही होता, तद्वत् परीषहो -कष्टो के उपस्थित होने पर भी सदा दृढ़चित्त रहें, अपनी संयम-निप्ठा से कभी विचलित न हों।

यहां **'आत्मगुप्त'** विशेषण इसलिए दिया गया है कि जिस प्रकार कूर्म अपने अगो को

सकोच में लाकर बाहर के आघात से अपने आपको बचा लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् भिक्षु भी अपने अंगोपागों को वश में रखकर अपने सयम-धन को बाहर के आघातों से बचाने का प्रयत्न करे। यहां पर मेरु की उपमा अतिदृढताख्यापन के लिए दी गई है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं गरिहं च संजए ।
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥ २० ॥

अनुन्नतो नावनतो महर्षिः, न चापि पूजां गर्हां च संयतः ।
स ऋजुभावं प्रतिपद्य संयतः, निर्वाणमार्ग विरत उपैति ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः:–**अणुन्नए**–अनुन्नत, **नावणए**–न अवनत, **महेसी**–महर्षि, **न यावि**–नही, **पूयं**–पूजा, **च**–और, **गरिहं**–गर्हा, **संजए**–सग न करता हुआ, **से**–वह, **उज्जुभावं**–ऋजुभाव को, **पडिवज्ज**–ग्रहण करके, **संजए**–साधु, **निव्वाणमग्गं**–निर्वाण-मार्ग को, **विरए**–विरत होकर, **उवेइ**–प्राप्त करता है।

मूलार्थ–जिसका पूजा में उन्नत भाव नहीं, निन्दा में अवनत भाव नहीं, किन्तु केवल ऋजुभाव को ग्रहण करता है, वह साधु विरत होकर मोक्षमार्ग को ही प्राप्त करता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा भी फल-पूर्वक साधु के कर्त्तव्य का ही निर्देश करती है। जो साधु किसी की पूजा से प्रसन्न नही होता और निन्दा से जिसके मन में द्वेष अथवा उदासीनता नहीं हाती, अर्थात् दोनों में समान भाव रखता है, ऐसा साधु विरति को धारण करता हुआ निर्वाण को ही प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि साधु किसी प्रकार के सत्कार की अभिलाषा नहीं रखता और किसी की निन्दा से जिसको उद्वेग नहीं होता तथा विषय-भोगो से सर्वथा रहित हाकर केवल ऋजु मार्ग–सरल मार्ग–शांतिमार्ग का अनुसरण कर रहा है, वह अन्त मे सर्वश्रेष्ठ निर्वाणपद–मोक्षपद को ही प्राप्त करता है।

साराश यह है कि समुद्रपाल मुनि इसी वृत्ति का अनुसरण करने वाले थे, जिसका अन्तिम फल मोक्ष की प्राप्ति है।

अरइरइसहे पहीणसंथवे, विरए आयहिए पहाणवं ।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई, छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥ २१ ॥

अरतिरतिसहः प्रहीणसंस्तवः, विरत आत्महितः प्रधानवान् ।
परमार्थपदेषु तिष्ठति, छिन्नशोकोऽममोऽकिञ्चनः ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**अरइ**—अरति, **रइ**—रति, **सहे**—सहन करता है, **पहीणसंथवे**—त्याग दिया है संस्तव को जिसने, **विरए**—रागादि से रहित, **आयहिए**—आत्म-हितैषी, **पहाणवं**—प्रधानवान्, **परमट्ठपएहिं**—परमार्थ पदों में, **चिट्ठई**—स्थित है, **छिन्नसोए**—छेदन कर दिया है शोक को जिसने, **अममे**—ममतारहित, **अकिंचणे**—अकिंचन।

मूलार्थ—समुद्रपाल मुनि ने अरति—चिन्ता और रति को सहन किया, गृहस्थों का संस्तव छोड़ दिया, वे रागादि से निवृत्त हो गए, आत्मा के हितकारी प्रधान पद वा परमार्थ पदों में स्थित हो गए, उन्होंने शोक को वा कर्मस्रोत को छिन्न-भिन्न करके निर्ममत्व और अकिंचनता को धारण कर लिया।

टीका—समुद्रपाल मुनि विषयो के मिलने से प्रसन्नता और न मिलने पर अरतिभाव अथवा असयमभाव मे रति और संयमभाव में अरति, इस प्रकार के भावो को छोड़कर गृहस्थो के पूर्व सस्तव वा पश्चात् सस्तव तथा गृहस्थों के साथ सहवास और प्रीति उत्पन्न करना, इन बातों को भी उन्होने छोड दिया था। इतना ही नही, किन्तु विरत होकर आत्मा के हितकारी प्रधान योगों वाला होकर, जो परमार्थ पद है अर्थात् जिन पदो से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उन्हीं पदो पर ठहरते थे, साथ ही वस्तु के वियोग से शोक का कर्म आने के जो मिथ्यात्वादि स्रोत है उनको भी छेदन कर दिया था। अतः निर्मम—ममतारहित ओर अकिचन होकर विचरने लगे। कारण यह है कि ज्ञानपूर्वक की हुई उक्त क्रियाए ही मोक्ष की साधक हैं।

'पएहिं—पदेषु' इसमे **'सुप्'** व्यत्यय है। इसलिए वर्तमान समय के मुनियो को भी उक्त क्रियाओ का सदैव अनुसरण करना चाहिए, जिससे कि परमार्थ पद की शीघ्र प्राप्ति हो। इस प्रकरण मे पुनरुक्ति दोष की आशका न करनी चाहिए, क्योंकि यह उपदेश का अधिकार चल रहा है। उपदेश मे एक वस्तु का बार-बार वर्णन करना बोध की स्थिरता के लिए होता है, अतः यह भूषण है, दूषण नहीं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

विवित्तलयणाइं भइज्ज ताई, निरोवलेवाइं असंथडाइं ।
इसीहिं चिण्णाइं महायसेहिं, कायेण फासिज्ज परीसहाइं ॥ २२ ॥

विविक्तलयनानि भजेत त्रायी, निरुपलेपान्यसंस्कृतानि ।
ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभिः, कायेन स्पृशति परीषहान् ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**विवित्त**—विविक्त—स्त्री आदि से रहित, **लयणाइं**—वसती, **ताई**—षट्काया का रक्षक, **भइज्ज**—सेवन करता है, **निरोवलेवाइं**—लेप से रहित, **असंथडाइं**—बीजादि से रहित,

इसीहिं—ऋषियों द्वारा, **चिण्णाइं**—आचरण की हुई, **महायसेहिं**—महायश वाले, **कायेण**—काया से, **फासिज्ज**—स्पर्श करता हुआ, **परीसहाइं**—परीषहों को।

मूलार्थ—षट्काय का रक्षक साधु महायशस्वी ऋषियों द्वारा स्वीकृत, लेपादि संस्कार और बीजादि से रहित ऐसी विविक्त वसती—उपाश्रय आदि का सेवन करता हुआ वहां पर उपस्थित होने वाले परीषहों को काया—शरीर द्वारा सहन करे।

टीका—इस गाथा में भी मुनि-धर्मोचित विषय का ही वर्णन किया गया है। साधु किस प्रकार के स्थान में निवास करे, इस विषय मे शास्त्रकार का कथन है कि साधु उस स्थान—उपाश्रय में रहे जहां पर स्त्री, पशु और नपुंसक आदि का निवास न हो तथा जो स्थान लेपादि से रहित हो एवं बीजादि से युक्त न हो और महायशस्वी ऋषियों ने जिसका विधान किया हो, ऐसे स्थान मे रहकर साधु परीषहो को सहन करने का प्रयत्न करे। तात्पर्य यह है कि शुद्ध वसती और परीषहों को सहन करता हुआ साधु ऋषि-भाषित मार्ग का ही अनुसरण करे, इसी में उसके आत्मा का कल्याण निहित है। समुद्रपाल ऋषि ने इसी मार्ग का अनुसरण किया, इसी प्रकार की निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण किया और इसी के प्रभाव से वे सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

इस प्रकार संयम-वृत्ति का आराधन करते हुए समुद्रपाल मुनि किस पद को प्राप्त हुए, अब इस विषय में कहते हैं—

स णाणनाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरिउं धम्म-संचयं ।
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी, ओभासई सूरिएवंऽतलिक्खे ॥ २३ ॥

स ज्ञानज्ञानोपगतो महर्षिः, अनुत्तरं चरित्वा धर्मसञ्चयम् ।
अनुत्तरो ज्ञानधरो यशस्वी, अवभासते सूर्य इवान्तरिक्षे ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**स**—वह समुद्रपाल, **महेसी**—महर्षि, **णाण**—श्रुतज्ञान से, **णाणोवगए**—पदार्थो के जानने से उपगत होकर, **अणुत्तरं**—प्रधान, **धम्मसंचयं**—क्षमादि धर्मो का संचय, **चरिउं**—आचरण करके, **अणुत्तरे**—प्रधान, **नाणधरे**—केवल ज्ञान के धरने वाला, **जसंसी**—यशस्वी—यश वाला, **सूरिएव**—सूर्यवत्, **ओभासई**—प्रकाशमान है, **अंतलिक्खे**—अन्तरिक्ष—आकाश में।

मूलार्थ—समुद्रपाल ऋषि श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को जानकर और प्रधान—क्षमादि—धर्मो का संचय करके, केवल ज्ञान से उपयुक्त होकर अन्तरिक्ष में—आकाशमंडल में प्रकाशित होने वाले सूर्य की भांति अपने केवलज्ञान द्वारा प्रकाश करने लगे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे समुद्रपाल ऋषि की ज्ञान-सम्पत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। वह समुद्रपाल ऋषि प्रथम श्रुतज्ञान के द्वारा ससार के हर एक पदार्थ के स्वरूप को जानने लग गए,

फिर उन्होंने क्षमादि लक्षण-युक्त प्रधान धर्म का संचय कर लिया। तदनन्तर उनको सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। फिर वे सूर्य की भांति विश्व के समस्त पदार्थों का प्रकाश करने लग गए, अर्थात् जैसे आकाश मे सूर्य प्रकाश करता है, तद्वत् केवलज्ञान के द्वारा पदार्थो के स्वरूप को जानकर संसार के भव्य जीवो को वास्तविक धर्म का उपदेश करने लगे। तात्पर्य यह है कि उनके ज्ञान में विश्व के सारे पदार्थ करामलकवत् प्रतिभासमान होने लग गए, अत: वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनकर संसार का उपकार करने लगे।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानपूर्वक आचरण में लाई गई धार्मिक क्रियाओं का अन्तिम फल केवलज्ञान की उत्पत्ति है, जिसके द्वारा यह जीव आत्मा से परमात्मा बनकर विश्व-भर का कल्याण करने की शक्ति रखता है।

इस गाथा में **'अणुत्तरे'** यहा पर एकार अलाक्षणिक है।

अब प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए उक्त विषय की फलश्रुति के सम्बन्ध में कहते हैं–

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंजणे सव्वओ विप्पमुक्के ।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोहं, समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥ २४ ॥
त्ति बेमि ।

इति समुद्दपालीयं एगवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥ २१ ॥

द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्यपापं, निरंजनः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
तीर्त्वा समुद्रमिव महाभवौघं, समुद्रपालोऽपुनरागमां गतः ॥ २४ ॥
इति ब्रवीमि ।

इति समुद्रपालीयमेकविंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–दुविहं–दोनो प्रकार के, **खवेऊण**–क्षय करके, **पुण्णपावं**–पुण्य और पाप को, **निरंजणे**–कर्म-संग से रहित, **सव्वओ**–सर्व प्रकार से, **विप्पमुक्के**–विप्रमुक्त होकर, **समुद्दं व**–समुद्र की तरह, **महाभवोहं**–महाभवों के समूह को, **तरित्ता**–तैर कर, **समुद्दपाले**–समुद्रपाल मुनि, **अपुणागमं**–अपुनरागमन को, **गए**–प्राप्त हो गया।

मूलार्थ–दोनों प्रकार के–घाती और अघाती–कर्मों तथा पुण्य और पाप को क्षय करके कर्म-मल से रहित हुआ समुद्रपाल मुनि सर्व प्रकार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर महाभव समूह रूप समुद्र से पार होता हुआ अपुनरावृत्तिपद–मोक्षपद को प्राप्त हो गया।

टीका—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चार कर्मों की घाती संज्ञा है तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चारो को अघाती कर्म कहते हैं। जो कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करने वाले हैं, वे घाती कहलाते हैं और जिनसे आत्मा के उक्त गुणों का घात नहीं होता उनकी अघाती संज्ञा है। इन दोनों प्रकार के कर्मो को क्षय करके तथा पुण्य और पाप का भी क्षय करके, इतना ही नहीं, किन्तु सर्व प्रकार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर, अतिदुस्तर संसार-समुद्र को तैरकर वह समुद्रपाल मुनि जहां से पुनरागमन नही होता, ऐसे मुक्तिधाम को प्राप्त हो गए।

यहा पर इतना ध्यान रहे कि मोक्ष कर्मों का फल नहीं, किन्तु कर्मों के आत्यन्तिक क्षय का नाम मोक्ष है, अत: जिसके ससार के हेतुभूत कर्मरूप बीज का विनाश हो गया उसका पुनरागमन न होना स्वत: ही सिद्ध हो जाता है। पूर्वाचार्यों ने इसी आशय को स्प्ष्ट करते हुए कहा है—

'दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुर:। कर्मबीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवांकुर: ॥'

तात्पर्य यह है कि जैसे बीज के दग्ध होने पर उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्मो के नाश होने से फिर जन्म नहीं होता। वास्तव में जीव की विशुद्ध पर्याय का नाम ही मोक्ष है। जैसे—दुग्ध से दधि, दधि से नवनीत और नवनीत से घृत होता है, अर्थात् जब दुग्ध घृत की पर्याय को प्राप्त हो गया, तब फिर यह संभावना करनी कि यह घृत अब फिर दुग्ध की पर्याय को प्राप्त हो जाए, एक प्रकार की नितान्त अज्ञानता है। इसी प्रकार कर्ममल से सर्वथा रहित हो जाने वाल आत्मा की पुनरावृत्ति नही होती।

किसी-किसी प्रति में '**निरंजणे**' के स्थान पर '**निरंगणे**' पाठ भी देखने में आता है, उसका अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार लिखते है—'अङ्गेर्गत्यर्थत्वात्, निरंगन:—प्रस्तावात् संयमं प्रति निश्चल: शैलेश्यवस्थाप्राप्त इति यावत्' अर्थात् सयम के प्रति निश्चल होकर शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुआ।

'**त्ति बेमि—इति ब्रवीमि**'—ऐसा मैं कहता हू। इसकी व्याख्या पहले की तरह ही जान लेना चाहिए।

एकविंशमध्ययनं संपूर्णम्

अह रहनेमिज्जं बावीसइमं अज्झयणं

अथ रथनेमीयं द्वाविंशमध्ययनम्

पूर्वोक्त इक्कीसवे अध्ययन में विविक्त चर्या का वर्णन किया गया है, परन्तु विविक्त चर्या के लिए पूर्ण सयमी और धैर्यशील पुरुष ही उपयुक्त हो सकता है, अन्य नही। यदि किसी अशुभ कर्म के उदय से संयम मे शिथिलता उत्पन्न होने लगे तो उसको रथनेमि की भांति दृढ़ता-पूर्वक उस शिथिलता को दूर करके संयम को उज्ज्वल रखने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे निर्वाण-पद की प्राप्ति सुलभ हो जाए, इसलिए अब बाईसवें अध्ययन में रथनेमि का वर्णन किया जाता है।

प्रसंगवशात् प्रथम बाईसवें तीर्थकर श्री अरिष्टनेमि–नेमिनाथ जी का सामान्य वर्णन करते हैं–

सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महिड्ढिए ।
वसुदेव त्ति नामेणं, रायलक्खणसंजुए ॥ १ ॥

शौर्यपुरे नगरे, आसीद्राजा महर्द्धिकः ।
वसुदेव इति नाम्ना, राजलक्षणसंयुतः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–**सोरिय**–शौर्य, **पुरंमि**–पुर, **नयरे**–नगर में, **आसि**–था, **राया**–राजा, **महिड्ढिए**–महती ऋद्धि वाला, **वसुदेव**–वसुदेव, **त्ति**–इस, **नामेणं**–नाम से प्रसिद्ध था, **रायलक्खण**–राजलक्षणो से, **संजुए**–सयुक्त था।

मूलार्थ–शौर्यपुर (शौरीपुर) नगर में वसुदेव नामक महती समृद्धि वाला राजा राज्य करता था जो कि राज-लक्षणों से युक्त था।

टीका–इस गाथा मे राजा और उसके लक्षणों का निर्देश करने से सामुद्रिक शास्त्र की

सिद्धि होती है। जैसे—चक्र, स्वस्तिक, अंकुश, छत्र, चामर, हस्ती, अश्व, सूर्य और चन्द्र इत्यादि लक्षणों से जिसका शरीर युक्त हो अर्थात् जिसके शरीर में सामुद्रिक शास्त्र-विहित उक्त चिह्न विद्यमान हों, वह राजा होता है। निश्चय नय के अनुसार तो जिसके भाग्य में राज्य होता है, वही राजा बनता है, परन्तु व्यवहार नय को लेकर तो जिसके शरीर में उक्त चिह्नों में से अधिकतर चिह्न दिखाई देवें तो उसमें राज्यपद की योग्यता की कल्पना की जाती है। यदि वास्तव में विचार किया जाए तो उक्त लक्षण भी उसी में होते है, जिसके भाग्य में राज्य-सम्पत्ति का अधिकार हो, अन्य के नहीं। वसुदेव वस्तुतः राजा नहीं था, किन्तु अतुल सम्पत्ति से सम्पन्न था।

अब राजा की स्त्रियों के विषय में कहते हैं—

तस्स भज्जा दुवे आसी, रोहिणी देवई तहा ।
तासिं दोण्हंपि दो पुत्ता, इट्ठा रामकेसवा ॥ २ ॥

तस्य भार्ये द्वे आस्ताम्, रोहिणी देवकी तथा ।
तयोर्द्वयोरपि द्वौ पुत्रौ, इष्टौ रामकेशवौ ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस—वसुदेव राजा के, **दुवे**—दो, **भज्जा**—भार्याएं, **आसी**—थीं, **रोहिणी**—राहिणी, **तहा**—तथा, **देवई**—देवकी, **तासिं**—उन, **दोण्हंपि**—दोनो के ही, **दो**—दो, **पुत्ता**—पुत्र हुए, **इट्ठा**—वल्लभ—प्रिय, **राम**—बलभद्र और, **केसवा**—केशव।

मूलार्थ—वसुदेव राजा की दो भार्याएं थीं—एक रोहिणी, दूसरी देवकी। उन दोनों के क्रम से राम और केशव ये दो पुत्र हुए जो कि बड़े प्रिय थे।

टीका—वसुदेव की रोहिणी और देवकी ये दो पत्नियां थी। उनके क्रम से राम—बलभद्र और केशव—कृष्ण ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों ही जनता के अत्यन्त प्रिय थे और इनका आपस मे भी अत्यन्त प्रेम था।

यद्यपि महाराजा वसुदेव की और भी अनेक पत्नियां थीं, परन्तु यहां पर उनका कोई सम्बन्ध न होने से उनका उल्लेख नहीं किया गया। इन दो का प्रयोजन होने से इन्हीं का उल्लेख किया गया है। बलदेव और वासुदेव की माता होने से ये दोनो ही देविया संसार मे विख्यात है।

अब समुद्रविजय के प्रसंग का वर्णन करते हैं—

सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महिड्ढिए ।
समुद्दविजए नामं, रायलक्खणसंजुए ॥ ३ ॥

शौर्यपुरे नगरे, आसीद् राजा महर्द्धिकः ।
समुद्रविजयो नाम, राजलक्षणसंयुतः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–सोरियं–शौर्य, **पुरंमि**–पुर, **नयरे**–नगरे में, **आसि**–था, **राया**–राजा, **महिड्ढिए**–महती समृद्धि वाला, **समुद्दविजए**–समुद्रविजय, **नामं**–नाम से प्रसिद्ध, **रायलक्खण**–राज-लक्षणो से, **संजुए**–संयुक्त।

मूलार्थ–शौर्यपुर (शौरीपुर) नगर में राजलक्षण-संयुक्त और महती समृद्धि वाला समुद्रविजय नाम का राजा भी था।

टीका–एक तो वसुदेव और समुद्रविजय इन दोनो भाइयों में परस्पर बड़ा स्नेह था और दूसरे आगे की गाथाओं में इन दोनो का ही वर्णन आएगा, इसलिए इन दोनों का यहां पर उल्लेख किया गया है। यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन का नाम रहनेमीय अध्ययन है, तथापि उसके वर्णन में इनका उल्लेख करना परम आवश्यक है।

अब इनकी पत्नी के विषय में कहते हैं–

तस्स भज्जा सिवा नाम, तीसे पुत्तो महायसो ।
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति, लोगनाहे दमीसरे ॥ ४ ॥

तस्य भार्या शिवा नाम्नी, तस्याः पुत्रो महायशाः ।
भगवानरिष्टनेमिरिति, लोकनाथो दमीश्वरः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–तस्स–समुद्रविजय की, **भज्जा**–भार्या, **सिवा नाम**–शिवा नाम वाली थी, **तीसे**–उसका, **पुत्तो**–पुत्र, **महायसो**–महायशस्वी, **भगवं**–भगवान्, **अरिट्ठनेमि**–अरिष्टनेमि, **त्ति**–इस नाम से प्रसिद्ध, **लोगनाहे**–लोक का नाथ और, **दमीसरे**–इन्द्रियों का दमन करने वाला था।

मूलार्थ–समुद्रविजय की शिवा नाम्नी भार्या थी और उसका पुत्र महायशस्वी, परम जितेन्द्रिय और त्रिलोकी का नाथ भगवान् अरिष्टनेमि–नेमिनाथ हुआ।

टीका–प्रस्तुत गाथा में बाईसवें तीर्थंकर के जन्म और नाम का वर्णन किया गया है। श्री अरिष्टनेमि के पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा देवी था। वे जन्म से लेकर पूर्ण ब्रह्मचारी रहे और इसी हेतु से वे दमीश्वर और लोकनाथ कहलाए तथा ससार में उनका महान् यश फैला। यद्यपि भावी नैगमनय से उनको लोकनाथ और दमीश्वर कहा गया है, परन्तु जा तीर्थंकर होते हैं, वे तो बाल्यावस्था से ही विशिष्ट शक्तियो के धारण करने वाले तथा मन पर विजय प्राप्त करने वाले होते है। भगवान् शब्द यहा पर प्रशंसार्थ में ग्रहण किया गया है। **'तीसे पुत्तो'** शब्द से औरस पुत्र का ग्रहण है।

अब भगवान् नेमिनाथ के विषय में कहते हैं–

सोऽरिट्ठनेमिनामो उ, लक्खणस्सरसंजुओ ।
अट्ठसहस्सलक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवी ॥ ५ ॥

सोऽरिष्टनेमिनामा च, लक्षण-स्वर-संयुतः ।
अष्टसहस्रलक्षणधरः, गौतमः कालकच्छविः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**सो**—वह **अरिट्ठनेमि**—अरिष्टनेमि, **नामो**—नाम वाला कुमार, उ—पुनः, **लक्खणस्सर**—लक्षण और स्वर से, **संजुओ**—सयुक्त था और, **अट्ठसहस्स-लक्खणधरो**—एक हजार आठ लक्षणों को धारण करने वाला था, **गोयमो**—गौतमगोत्रीय और, **कालगच्छवी**—कृष्ण कांति वाला था।

मूलार्थ—वह अरिष्टनेमि नामक कुमार स्वर-लक्षणों से युक्त और एक हजार आठ लक्षणों का धारक था तथा गौतमगोत्र और कृष्ण कांति वाला था।

टीका—वह कुमार अरिष्टनेमि, स्वस्तिकादि लक्षणों से लक्षित और मधुर, गम्भीर आदि स्वरों से युक्त था। तात्पर्य यह है कि उसमें महापुरुषोचित स्वर और चिन्ह विद्यमान थे एव उनके शरीर में विमान, भवन, चन्द्र, सूर्य और मेदिनी आदि शुभ चिन्ह मौजूद थे। गौतम उनका गोत्र था और उनके शरीर की परम सुन्दर कांति अतसी पुष्प के समान नीले वर्ण की थी।

यहां पर प्राकृत के कारण लक्षण शब्द का पूर्व निपात हुआ है। अथवा—'**लक्षणोपलक्षितो वा स्वरो लक्षणस्वरः**' इस मध्यमपदलोपी समास के कारण भी लक्षण शब्द का पूर्व-निपात उचित कहा जा सकता है'।

एक हजार आठ लक्षणों के नाम प्रश्नव्याकरणसूत्र के अंगुष्ठा प्रश्न नामक अध्ययन से जान लेने चाहिए।

किसी-किसी प्रति में तो '**वंजणस्सर-संजुओ**' ऐसा पाठ देखने मे आता है। यहा पर '**वंजण**' का अर्थ तिलक आदि जानना चाहिए।

अब उनके शरीर के संहनन का वर्णन करते हैं—

वज्जरिसहसंघयणो, समचउरंसो झसोयरो ।
तस्स राईमई कन्नं, भज्जं जायइ केसवो ॥ ६ ॥

वज्रर्षभ-संहननः समचतुरस्रो झषोदरः ।
तस्य राजीमतीं कन्यां, भार्या याचते केशवः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**वज्जरिसह**—वज्र-ऋषभ-नाराच, **संघयणो**—सहनन, **समचउरंसो**— समचतुरस्र-

संस्थान और, **झसोयरो**—मत्स्य के समान उदर, **तस्स**—उसके लिए **राईमई**—राजीमती, **कन्नं**—कन्या को, **भज्जं**—भार्या रूप में, **केसवो**—केशव, **जायइ**—याचना करता है।

मूलार्थ—वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन के धरने वाले, समचतुरस्र-संस्थान से युक्त उस कुमार अरिष्टनेमि के लिए राजीमती कन्या भार्या के रूप में प्राप्त हो, श्रीकृष्ण ने (महाराज उग्रसेन से यह) याचना की।

टीका—इस गाथा में अरिष्टनेमि कुमार के शरीर के संहनन और बाह्याकृति का वर्णन किया गया है, जैसे कि—उनका वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन था अर्थात्—शरीर में रहने वाली अस्थियों का बन्धन इस प्रकार था कि वज्र, कीलिका, ऋषभ, पट्ट और नाराच दोनों ओर मर्कटबन्धन, इस तरह शरीर के भीतर अस्थियो के बन्धन परस्पर सुसम्बद्ध थे। इसी को वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन कहते हैं। जिनके अस (कन्धे) और जानु बैठे हुए सम प्रतीत हों, उसी का नाम समचतुरस्र-सस्थान है। अथवा शरीर की अतिप्रिय, अतिमनोहर आकृति को समचतुरस्र कहते हैं तथा उनका उदर—वक्ष:स्थल मत्स्य के समान पतला था। जब वे अरिष्टनेमि युवावस्था को प्राप्त हुए, तब वासुदेव श्रीकृष्ण ने महाराजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती को उनके लिए उग्रसेन से मांगा। तात्पर्य यह है कि अरिष्टनेमि के साथ कुमारी राजीमती का विवाह कर देने के लिए महाराजा उग्रसेन से कहा।

अब राजीमती के विषय में कहते हैं—

अह सा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी ।
सव्वलक्खण-संपन्ना, विज्जुसोयामणिप्पभा ॥ ७ ॥

अथ सा राजवरकन्या, सुशीला चारु-प्रेक्षिणी ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना, विद्युत्सौदामिनीप्रभा ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ, **सा**—वह, **रायवरकन्ना**—श्रेष्ठ राज-कन्या, **सुसीला**—सुन्दर स्वभाव वाली, **चारुपेहिणी**—सुन्दर देखने वाली, **सव्व**—सर्व, **लक्खण**—लक्षणों से, **संपन्ना**—युक्त, **विज्जु**—अति दीप्त, **सोयामणि**—बिजली के समान, **प्पभा**—प्रभा वाली थी।

मूलार्थ—वह श्रेष्ठ राज-कन्या सर्वलक्षणसम्पन्न, अच्छे स्वभाव वाली, सुन्दर देखने वाली, परम सुशील और प्रदीप्त बिजली के समान कान्ति वाली थी।

टीका—इस गाथा मे राजीमती के गुणों और सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, जैसे कि "राजवरकन्या" अथवा राजा की सबसे बडी कन्या राजीमती अति सुशील और सुन्दर देखने वाली थी, तात्पर्य यह है कि उसमें चपलता नही थी और गमन मे वक्रता भी नहीं थी। इसीलिए वह स्त्रीजनोचित सर्वलक्षणों से युक्त थी।

तात्पर्य यह है कि कुलीन और सुशील स्त्रियों में जो गुण और जो लक्षण होने चाहिएं, वे सब राजीमती में विद्यमान थे, उनके शरीर की कांति अति दीप्त बिजली के समान थी, अथवा अग्नि और विद्युत् के समान उसके शरीर की प्रभा थी। अथवा–विद्युत्–बिजली और सौदामिनी–प्रधानमणि–के समान उसकी शारीरिक कांति थी। इससे उसके प्रभावमय शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। विद्युत् शब्द का अर्थ अग्नि भी होता है तथा विद्युत् का अर्थ बिजली और सौदामिनी का अर्थ प्रधानमणि भी होता है। इस प्रकार ऊपर के तीनों ही अर्थ सगत हो जाते हैं।

तथा च वृत्तिकारः–'तथा च' 'विज्जुसोयामणिप्पभा' त्ति–विशेषेण द्योतते दीप्यते इति विद्युत् सा चासौ सौदामिनी च विद्युत्सौदामिनी। अथवा–विद्युदग्निः, सौदामिनी च तडित्। अन्ये तु सौदामिनी प्रधानमणिरित्याहुः।

राजीमती की याचना करने पर उसके पिता उग्रसेन ने जो कुछ कहा, अब उसके विषय में कहते हैं–

अहाह जणओ तीसे, वासुदेवं महिड्ढियं ।
इहागच्छउ कुमारो, जा से कन्नं ददामि हं ॥ ८ ॥

अथाह जनकस्तस्याः, वासुदेवं महर्द्धिकम् ।
इहागच्छतु कुमारः, येन तस्मै कन्यां ददाम्यहम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–**अह**–अथ, **तीसे**–उस राजीमती का, **जणओ**–पिता, **आह**–कहने लगा, **वासुदेवं**–वासुदेव, **महिड्ढियं**–महर्द्धिक के प्रति, **इह**–यहां–मेरे घर मे, **आगच्छउ**–आए, **कुमारो**-कुमार, **जा**–जिससे, **से**–उसको, **अहं**–मैं, **कन्नं**–कन्या, **ददामि**–दूं।

मूलार्थ–तदनन्तर राजीमती के पिता ने समृद्धिशाली वासुदेव से कहा कि यदि वह कुमार मेरे घर में आ जाए तो मैं उसको अपनी कन्या दे दूंगा।

टीका–जिस समय वासुदेव श्रीकृष्ण ने श्रीनेमिनाथ के साथ राजीमती का विवाह कर देन के लिए उग्रसेन से कहा तो उग्रसेन ने उनके विचार से सहमत होते हुए उनसे कहा कि यदि नेमिकुमार मेरे घर में विवाहोचित महोत्सव के साथ आए तो विधि-पूर्वक उसको कन्या देने के लिए मै सर्व प्रकार से प्रस्तुत हूं।

इस कथन से यह प्रतीत होता है कि बहुत से लोग वासुदेव की आज्ञानुसार उनको यों ही कन्याए दे जाया करते होगे। तभी तो महाराजा उग्रसेन ने उनके समक्ष विवाह-महोत्सव-पूर्वक कन्या देने की इच्छा प्रकट की।

'अथ' शब्द उपन्यासादि अर्थ में भी आता है। तथा **'जा–येन, से–तस्मै'** इनमे सुप् व्यत्यय किया हुआ है।

उग्रसेन के उक्त वचन को स्वीकार कर लेने के अनन्तर विवाह का समय निश्चित हो गया और तदनुसार विवाहोचित सामग्री का सम्पादन किया गया तथा सर्वौषधियुक्त जलादि से मांगलिक स्नान कराकर श्रीनेमिकुमार को श्रृंगारित हस्ती पर आरूढ कराकर चतुरंगिणी सेना के साथ बड़े आडम्बर से कुमारी राजीमती को विवाह कर लाने के लिए प्रस्थान किया गया।

अब इसी विषय का सविस्तार वर्णन किया जाता है–

सव्वोसहीहिं ण्हविओ, कयकोउयमंगलो ।
दिव्वजुयलपरिहिओ, आभरणेहिं विभूसिओ ॥ ९ ॥

सर्वौषधिभिः स्नपितः, कृतकौतुकमङ्गलः ।
दिव्ययुगलपरिहितः, आभरणैर्विभूषितः ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–**सव्वोसहीहिं**–सर्वौषधियो से, **ण्हविओ**–स्नान कराया गया, **कयकोउय-मंगलो**–किया गया कौतुकमगल जिसका, **दिव्व**–प्रधान, **जुयल**–वस्त्र, **परिहिओ**–पहन लिए, **आभरणेहिं**–आभरणो से, **विभूसिओ**–विभूषित हुआ।

मूलार्थ–अरिष्टनेमि को सर्वौषधिमिश्रित जल से स्नान कराया गया, कौतुकमंगल किया गया और दिव्य वस्त्र पहनाए गए तथा आभूषणों से विभूषित किया गया।

टीका–जब राजा उग्रसन ने अपनी प्रिय पुत्री का नेमिकुमार से विवाह कर देना स्वीकार कर लिया और वासुदेव ने उसके अनुसार सारा प्रबन्ध कर लिया, तब विवाह का समय समीप आन पर श्रीनमिकुमार को जया, विजया आदि औषधियों से मिले हुए जल के द्वारा स्नान कराया गया, कौतुक–मुशल आदि से ललाट का स्पर्श और मंगल–दधि-अक्षत, दूर्वा तथा चन्दनादि के द्वारा वैवाहिक विधान किए गए। फिर बहुमूल्य वस्त्रो और आभूषणो से उन्हे अलंकृत किया गया।

तात्पर्य यह है कि उस समय विवाह-सम्बन्धी जो भी प्रथा थी तथा कुल-मर्यादा के अनुसार जो कुछ भी कृत्य था, वह सब आनन्द-पूर्वक मनाया गया।

'**दिव्वजुयलपरिहिओ**' इस वाक्य मे प्राकृत के कारण परनिपात किया गया है। वास्तव मे तो '**परिहियदिव्वजुयल–परिहितदिव्ययुगलः**' ऐसा होना चाहिए था।

सर्वौषधिस्नान और वस्त्राभरणों से अलंकृत किए जाने के बाद जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हैं–

मत्तं च गंधहत्थिं च, वासुदेवस्स जिट्ठयं ।
आरूढो सोहई अहियं, सिरे चूडामणी जहा ॥ १० ॥

मत्तं च गन्धहस्तिनं च, वासुदेवस्य ज्येष्ठकम् ।
आरूढः शोभतेऽधिकं, शिरसि चूडामणिर्यथा ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–मत्तं–मद से भरा हुआ, **च**–और, **गंधहत्थिं**–गन्धहस्ती नाम वाला हाथी, **च**–पुनः, **वासुदेवस्स**–वासुदेव का, **जिट्ठयं**–सब से बडे हस्ती, **आरूढो**–उस पर चढे हुए, **अहियं**–अधिक, **सोहई**–शोभा पाते हैं, **सिरे**–सिर पर, **चूडामणी**–चूडामणि–आभूषण, **जहा**–जैसे शोभा पाता है।

मूलार्थ–वासुदेव के मदयुक्त और सबसे बड़े गन्धहस्ती नामक हस्ती पर चढ़े हुए वह नेमिकुमार इस प्रकार शोभा पा रहे थे, जिस प्रकार सिर पर रखा हुआ चूड़ामणि नामक आभूषण शोभा पाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे वर का बारात के रूप मे घर से निकलना ध्वनित किया गया है। राजकुमार अरिष्टनेमि वासुदेव के सर्वप्रधान हस्ती पर चढे हुए इस प्रकार से सुशोभित हो रहे थे, जैसे रत्नो से जडे हुए स्वर्णमय चूडामणि का भूषण सिर पर रखा हुआ सुशोभित होता है। इस कथन से वर की सर्वोच्चता और सर्वप्रधानता का दिग्दर्शन कराया गया है। गन्धहस्ती सर्वहस्तियो में प्रधान और सब का मान-मर्दक होता है।

गन्धहस्ती पर आरूढ होने के अनन्तर उन पर छत्र और चामर होने लगे। उनसे सुशोभित हुए राजकुमार का निम्नलिखित गाथा में वर्णन करते हैं–

अह ऊसिएण छत्तेण, चामराहि य सोहिओ ।
दसारचक्केण तओ, सव्वओ परिवारिओ ॥ ११ ॥

अथोच्छ्रितेन छत्रेण, चामराभ्यां च शोभितः ।
दशार्हचक्रेण ततः, सर्वतः परिवारितः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–अह–अनन्तर, **ऊसिएण**–ऊंचे, **छत्तेण**–छत्र से, **य**–और, **चामराहि**–चामरो स, **सोहिओ**–शोभित, **दसार**–दशार्ह, **चक्केण**–चक्र से, **तओ**–तदनन्तर, **सव्वओ**–सर्व प्रकार से, **परिवारिओ**–परिवृत हुआ।

मूलार्थ–तदनन्तर ऊंचे छत्र, दोनों चामर और दशार्ह चक्र से सर्व प्रकार से आवृत हुए राजकुमार विशेष शोभा पा रहे थे।

टीका–जैसे ही वासुदेव के सर्वप्रधान हस्ती पर राजकुमार अरिष्टनेमि आरूढ हो गए, तब उन पर एक बड़ा ऊंचा छत्र किया गया और दोनों ओर चामर झुलाए जाने लगे। समुद्रविजय आदि दशो भाइयो तथा अन्य यादवो से परिवृत हुए राजकुमार अपूर्व शोभा पाने लगे।

तात्पर्य यह है कि समुद्रविजय आदि दशों यादवों का समस्त परिवार उनके साथ था और छत्र चामरों के द्वारा उनका उपवीजन हो रहा था।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि लोगों में जो यह जनश्रुति प्रचलित है कि ५६ कोटि यादव

उस विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए थे सो सर्वथा निराधार प्रतीत होती है, क्योंकि उक्त गाथा में इसका उल्लेख नहीं है। उक्त गाथा से तो केवल दश भाइयों के परिवार का सम्मिलित होना ही सूचित होता है, अतः श्रद्धालु पुरुषों को शास्त्रमूलक कथन पर ही अधिक विश्वास रखना चाहिए।

उस समय राजकुमार के साथ जो चार प्रकार की सेना थी, अब उसका वर्णन करते हैं–

चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं ।
तुडियाणं सन्निनाएणं, दिव्वेणं गगणंफुसे ॥ १२ ॥
चतुरङ्गिण्या सेनया, रचितया यथाक्रमम् ।
तूर्याणां सन्निनादेन, दिव्येन गगनस्पृशा ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–चउरंगिणीए–चतुरंगिणी–चार प्रकार की, **सेणाए**–सेना से, **जहक्कमं**–यथाक्रम से जिसकी, **रइयाए**–रचना की गई है, **तुडियाणं**–वादित्रो के, **सन्निनाएणं**–विशेष नाद से, **दिव्वेणं**–प्रधान–शब्दों से, **गगणंफुसे**–आकाश का स्पर्श हो रहा था।

मूलार्थ–उस समय क्रमपूर्वक रचना की गई चतुरंगिणी सेना से तथा वादित्रों के महान् शब्द से आकाश व्याप्त हो रहा था।

टीका–जब यादवो के समूह से परिवृत हुए राजकुमार चले, तब उनके साथ गज, रथ, अश्व और पैदल–यह चार प्रकार की सेना–जिसकी क्रमपूर्वक रचना की गई थी–आगे-आगे चल रही थी और वादित्रो के गम्भीर शब्द से आकाश गूंज रहा था।

यहा पर सर्वत्र लक्षण मे तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है और **'दिव्वेणं गगणंफुसे'** यह आर्षप्रयोग है। एवं नाद शब्द के पूर्व जो **'सम्'** उपसर्ग लगाया गया है वह वादित्रों के शब्द की मनोहरता का सूचक है।

एयारिसीइ इड्ढीए, जुईए उत्तमाइ य ।
नियगाओ भवणाओ, निज्जाओ वण्हिपुंगवो ॥ १३ ॥
एतादृश्या ऋद्ध्या, द्युत्या उत्तमया च ।
निजकात् भवनात्, निर्यातो वृष्णिपुङ्गवः ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–एयारिसीइ–इस प्रकार की, **इड्ढीए**–ऋद्धि से, **उत्तमाइ**–उत्तम, **य**–और, **जुईए**–ज्योति वाली से, **नियगाओ**–अपने, **भवणाओ**–भवन से, **निज्जाओ**–निकले, **वण्हिपुंगवो**–वृष्णिपुगव।

मूलार्थ–इस प्रकार की सर्वोत्तम द्युतियुक्त समृद्धि से परिवृत हुए वृष्णि-पुंगव अपने भवन से निकले।

टीका–जब अरिष्टनेमिकुमार विवाह यात्रा के लिए श्रृंगारित किए गए तब पूर्वोक्त ऋद्धि के साथ वह अपने भवन से निकल पड़े। वह ऋद्धि सर्वप्रधान थी और विशेष प्रकार वाली थी, क्योंकि उसका सम्पादन वासुदेव ने बड़े ही समारोह और आडम्बर से किया था। यहां पर वृष्णिपुंगव—यादवों में प्रधान इस कथन स अरिष्टनेमिकुमार का ही ग्रहण अभिप्रेत है, अतएव वृत्तिकार लिखते हैं–**'वृष्णिपुंगवः यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरिति यावत्।'** तात्पर्य यह है कि वह तीर्थंकर नाम और गोत्र को बांधकर ही यादवकुल मे उत्पन्न हुए है, इसीलिए उनको **'वृष्णि-पुंगव'** कहा गया है।

भवन से निकलने के बाद क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं–

अह सो तत्थ निज्जन्तो, दिस्स पाणे भयद्दुए ।
वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ॥ १४ ॥
जीवियन्तं तु संपत्ते, मंसट्ठा भक्खियव्वए ।
पासित्ता से महापण्णे, सारहिं इणमब्बवी ॥ १५ ।

अथ स तत्र निर्यन्, दृष्ट्वा प्राणिनो भयद्रुतान्।
वाटकैः पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धान् सुदुःखितान् ॥ १४ ॥
जीवितान्तं तु सम्प्राप्तान्, मांसार्थं भक्षयितव्यान् ।
दृष्ट्वा स महाप्राज्ञः, सारथिमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–**अह**–तदनन्तर, **सो**–वह, **तत्थ**–वहां पर, **निज्जन्तो**–निकलता हुआ, **पाणे**–प्राणियों, **भयद्दुए**–भयद्रुतों को, **वाडेहिं**–बाड़ों से, **च**–और, **पंजरेहिं**–पिजरो से, **सन्निरुद्धे**–रोके हुओ को, **सुदुक्खिए**–अति दुःखितो को, **दिस्स**–देखकर, **जीवियन्तं**–जीवन के अन्त को, **संपत्ते**–प्राप्त हुओं को, **मंसट्ठा**–मांस के लिए, **भक्खियव्वए**–भक्षण किए जाने वालों को, **पासित्ता**–देखकर, **से**–वह, **महापण्णे**–महाबुद्धिमान्, **सारहिं**–सारथी से, **इणं**–इस प्रकार, **अब्बवी**–कहने लगे। **तु**–सभावनार्थक है।

मूलार्थ–तदनन्तर जब नेमिकुमार आगे गए तो उन्होंने भय से संत्रस्त हुए बाड़ों और पिंजरों में बन्द करने से अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुए प्राणियों को देखा, जो कि जीवन के अन्त को प्राप्त हो रहे हैं तथा जो मांस के निमित्त इकट्ठे किए गए हैं। उन प्राणियों को देखकर नेमिकुमार अपने सारथी से इस प्रकार बोले–

टीका—समस्त सेना और परिवार के साथ हस्ती पर सवार हुए नेमिकुमार जब विवाह-मण्डप के कुछ समीप पहुंचे तो उन्होने वहां पर एक ओर बाड़े में बंधे हुए बहुत से पशुओं को देखा। उनमें से बहुत से तो बाडे में बन्द किए हुए थे और बहुत से पिंजरों में डाले हुए थे। तात्पर्य यह है कि जो तो चतुष्पाद पशु थे, वे तो चारों ओर से दीवार किए गए बाड़े में ठहराए हुए थे और जो उड़ने वाले प्राणी थे वे पिंजरों में बन्द किए हुए थे। परन्तु वे सब के सब भय से सन्त्रस्त थे तथा अपने जीवन के अन्त की प्रतीक्षा में थे। कारण यह है कि उनके मांस से आए हुए मांसभक्षी बरातियों को तृप्त करना था, अर्थात् उनका वध करने के लिए ही वहां पर उन्हें बंद किया गया था। सो जिस समय राजकुमार अरिष्टनेमि ने उन बंधे हुए भयभीत प्राणियों को देखा तो वे अपने हस्तिपक—महावत से इस प्रकार कहने लगे। मांसलोलुपी पुरुषों का कथन है कि **'मांसेनैव मांसमुपचीयते'** अर्थात् मासभक्षण से ही मांस की वृद्धि अथच पुष्टि होती है तथा उस बारात मे ऐसे पुरुष भी अधिक संख्या में उपस्थित थे, उन पुरुषों के निमित्त ही उक्त जानवरो का संग्रह किया गया था। इसीलिए वे भयभीत हो रहे थे और प्राणों की रक्षा के लिए मूकभाव से किसी रक्षक का आह्वान कर रहे थे।

उसी समय पर परम दयालु अरिष्टनेमि कुमार की उन पर दृष्टि पड़ी और वे अपने सारथी से इस प्रकार बोले, क्योकि कुमार मति, श्रुति और अवधि ज्ञान के धारक होने से महान् बुद्धिमान थे। यद्यपि सारथी शब्द रथ के चलाने वाले का वाचक है तथापि इस स्थान मे उपचार से हस्तिपक—महावत का ही ग्रहण अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि हस्ती पर आरूढ होने का स्पष्ट होने से प्रस्तुत गाथा में आए हुए सारथी शब्द का **'महावत'** अर्थ करना ही प्रकरण-सगत और युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। अथवा कदाचित् कुछ दूर जाने पर वे रथ में सवार हो गए हो तो सारथि शब्द का रथवान् अर्थ करने में भी कोई आपत्ति प्रतीत नही होती।

उन्होंने सारथी से जो कुछ कहा, अब उसी के विषय में कहते हैं—

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो ।
वाडेहिं पंजरेहिं च, संनिरुद्धा य अच्छहिं ॥ १६ ॥

कस्यार्थमिमे प्राणिनः, एते सर्वे सुखैषिणः ।
वाटकैः पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धाश्च तिष्ठन्ति ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**कस्स अट्ठा**—किसके लिए, **इमे**—ये, **पाणा**—प्राणी, **एए**—ये, **सव्वे**—सब, **सुहेसिणो**—सुख के चाहने वाले, **वाडेहिं**—बाड़ों, **च**—और, **पंजरेहिं**—पिंजरो मे, **संनिरुद्धा**—रोके हुए, **अच्छहिं**—स्थित हैं, **य**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—ये सब सुख के चाहने वाले प्राणी किसलिए पिंजरों में डाले हुए और बाड़े में बंद किए गए हैं ?

टीका—कुमार अरिष्टनेमि अपने सारथी से पूछते है कि ये मूक प्राणी किस प्रयोजन के लिए यहां पर एकत्रित किए गए हैं। तात्पर्य यह है कि इन स्वच्छन्द विचरने वाले अनाथ जीवों को पिंजरों में डालकर और बाड़ों में बन्द कर किसलिए दुःखी किया जा रहा है। यद्यपि उन पशुओं को एकत्रित करने और बाड़ों में बन्द करके रखने आदि का जो प्रयोजन है, उसको राजकुमार पहले से ही भली-भांति जानते थे, परन्तु संव्यवहार के लिए अर्थात् लोक-मर्यादा के लिए उन्होंने अपने सारथी से पूछा।

भगवान् नेमिनाथ के पूछने पर सारथी ने जो उत्तर दिया अब उसका वर्णन करते हैं—

अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो ।
तुज्झं विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहु जणं ॥ १७ ॥

अथ सारथिस्ततो भणति, एते भद्रास्तु प्राणिनः ।
युष्माकं विवाहकार्ये, भोजयितुं बहुं जनम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—तदनन्तर, **सारही**—सारथी, **तओ**—तदनन्तर, **भणइ**—कहता है, **एए**—ये सब, **भद्दा**—भद्रप्रकृति के, **पाणिणो**—प्राणी, **तुज्झं**—आपके, **विवाहकज्जंमि**—विवाहकार्य मे, **बहुं जणं**—बहुत जनो को, **भोयावेउं**—भोजन करवाने के लिए।

मूलार्थ—तदनन्तर सारथि ने कहा कि ये सब भद्र—सरल प्रकृति के जीव आपके विवाहकार्य में बहुत से पुरुषों को भोजन देने के लिए एकत्रित किए गए हैं !

टीका—श्रीनेमिकुमार के पूछने पर सारथी कहता है—"भगवन्! आपके इस मगलरूप विवाहकार्य में आए हुए बहुत से पुरुषो को इनके मास का भोजन कराया जाएगा, एतदर्थ ये सब प्राणी एकत्रित किए गए है।" तात्पर्य यह है कि बारात मे आए हुए बहुत से मेहमानो के निमित्त इनका वध किया जाएगा।

इस कथन से यह ज्ञात होता है कि भगवान् नेमिकुमार के साथ जो सेना आई थी, उसके लोग प्रायः अधिक सख्या मे मास का भोजन करने वाले थे, इसीलिए उक्त गाथा मे प्रयुक्त किया गया '**बहु जणं**' यह वाक्य सार्थक होता है। परन्तु श्रेष्ठ जनों के लिए इसका विधान नही। यदि सब के लिए मांस का भोजन अभीष्ट होता तो '**बहु जणं**' के स्थान में सर्वसाधारण का बोधक '**समस्त**' या इसी प्रकार का कोई और शब्द प्रयुक्त किया जाता, अथवा दशार्ह शब्द का ही उल्लेख कर दिया होता। इसलिए सेना में, साथ वाले अन्य पुरुषों को उद्देश्य में रखकर ही यह उक्त वर्णन किया हुआ प्रतीत होता है।

'**तु**' शब्द यहां पर निश्चयार्थक है, जिसका अर्थ यह होता है कि बहुजनभोजनार्थ वहा पर

हरिण आदि भद्र जीव ही एकत्रित किए गए थे, न कि हिंस्त्र जीव भी। अपराध-शून्य और अहिंसक तथा सरल होने के कारण इन जीवों को भद्र कहा गया है।

सारथी के उक्त वचनों को सुनकर परम दयालु राजकुमार अरिष्टनेमि ने अपने मन में जो कुछ विचारा तथा तदनुकूल आचरण किया, अब इसी विषय में कहते हैं—

सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणिविणासणं ।
चिन्तेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहि ऊ ॥ १८ ॥

श्रुत्वा तस्य वचनं, बहुप्राणिविनाशनम् ।
चिन्तयति सः महाप्राज्ञः, सानुक्रोशो जीवेषु तु ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—सोऊण—सुनकर, **तस्स**—उस सारथी के, **वयणं**—वचन, **बहुपाणिविणासणं**—बहुत से प्राणियों के विनाशक रूप, **से**—वह, **महापन्ने**—महाबुद्धिशाली, **साणुक्कोसे**—करुणामय हृदय, **जिएहि**—जीवों में हित का विचार करने वाले, **चिन्तेइ**—मन में चिन्तन—विचार करते है।

मूलार्थ—उस सारथी के बहुत से प्राणियों के विनाश-सम्बन्धी वचनों को सुनकर दयार्द्रहृदय और महाबुद्धिमान् राजकुमार मन में विचारने लगे।

टीका—सारथी ने जिस समय यह कहा कि इन प्राणियो का वध किया जाएगा, तब राजकुमार का हृदय एकदम करुणा से भर आया और वे मन में इस प्रकार विचार करने लगे। तात्पर्य यह है कि जिनके हृदय में दया का भाव होता है वे दयालु व्यक्ति ही अन्य जीवो के हिताहित का विचार किया करते है और अरिष्टनेमि कुमार तो साक्षात् दया के अवतार ही थे, अतः उन अनाथ जीवों के अकारण वध से उनके अन्तःकरण मे चिन्ता का उत्पन्न होना सर्वथा उपयुक्त ही है। इसी भाव को व्यक्त करने क लिए प्रस्तुत गाथा मे '**सानुक्रोश**' पद दिया गया है। '**चिन्तयति**' का अर्थ है स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार करना, अर्थात् वे अपने सदय हृदय मे उन जीवों की दशा का विचार करने लगे।

सारथी के कथन को सुनकर उन्होंने क्या विचार किया, अब इसी के विषय में कहते हैं—

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहूजिया ।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सइ ॥ १९ ॥

यदि मम कारणादेते, हन्यन्ते सुबहुजीवाः ।
न म एतन्निः श्रेयसं, परलोके भविष्यति ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—जइ—यदि, **मज्झ**—मेरे, **कारणा**—कारण से, **एए**—ये सब, **बहूजिया**—बहुत

से जीव, **हम्मंति**–मारे जाते हैं, **न**–नहीं, **मे**–मेरे लिए, **एयं**–यह, **निस्सेसं**–कल्याणकारी, **परलोगे**–परलोक में, **भविस्सइ**–होगा। **तु**–पादपूर्ति में।

मूलार्थ–यदि ये बहुत से जीव मेरे कारण से मारे जाते हैं तो मेरे लिए यह परलोक में कल्याण-प्रद नहीं होगा।

टीका–भगवान् अरिष्टनेमि के मानसिक चिन्तन का ही प्रस्तुत गाथा में उल्लेख किया गया है। सारथी के कथन को सुनने के अनन्तर उन्होंने विचार किया कि इन अनाथ जीवों के वध में निमित्त तो मैं ही ठहरता हूं, कारण यह है कि मैं विवाह के लिए उद्यत हुआ, तब ही मेरे साथ में आने वाले सैनिकों के लिए इनको एकत्रित किया गया, अर्थात् इनको वध करने के लिए यहां पर लाया गया। अतः इनकी हिंसा का निमित्त मैं या मेरा यह विवाह-महोत्सव ही है। यदि ये अनाथ जीव मारे जायेंगे तो यह कार्य मेरे लिए परलोक में कल्याणकारी नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार की हिंसा महान् अनर्थ और भयंकर दुःख को उत्पन्न करने वाली होती है।

यद्यपि चरम-शरीरी होने से परलोक–अन्य जन्म की संभावना उनमें नहीं हो सकती, तथापि हिंसा का कटु फल दिखाने के लिए ही यह उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह है कि हिंसा रूप कार्य परलोक मे किसी के लिए भी सुखावह नहीं हो सकता।

'हम्मंति' यह **'वर्तमानसामीप्ये लट्'** इस नियम के अनुसार भविष्यत् अर्थ का बोधन करने वाली क्रिया है, जिसका वास्तविक प्रतिरूप **'हनिष्यन्ते'** होता है।

इस प्रकार विचार करने के अनन्तर भगवान् ने अपने सारथी को कहा कि जाओ, इन तमाम जीवों को बन्धन से मुक्त कर दो। यह आज्ञा मिलते ही सारथी ने सभी जीवो को बन्धन से मुक्त कर दिया।

इसके अनन्तर परम दयालु भगवान् ने क्या किया, अब इसी के विषय में कहते हैं–

सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो ।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामई ॥ २० ॥

स कुण्डलयोर्युगलं, सूत्रकं च महायशाः ।
आभरणानि च सर्वाणि, सारथिने प्रणामयति ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–**सो**–वे नेमिनाथ भगवान्, **महायसो**–महान् यश वाले, **कुण्डलाण**–कुंडलों का, **जुयलं**–युगल, **च**–और, **सुत्तगं**–कटिसूत्र को, **य**–पुनः, **सव्वाणि**–सर्व, **आभरणाणि**–आभूषणो को, **सारहिस्स**–सारथी के प्रति, **पणामई**–देते हैं।

मूलार्थ–महान् यश वाले भगवान् श्री नेमिनाथ दोनों कुण्डल, कटिसूत्र तथा अन्य सब आभूषण सारथी को अर्पित कर देते हैं।

टीका–नेमि कुमार की आज्ञा के अनुसार जब सारथी ने उन सभी जीवों को बन्धनों से मुक्त कर दिया तब भगवान् ने उसको पारितोषिक (ईनाम) के रूप में अपने दोनों कुंडल, कटिसूत्र तथा अन्य सब भूषण उतार कर दे दिए। जो आत्मा संसार से विरक्त हो जाती हैं अथवा सांसारिक विषय-भोगों की अनर्थकारिता से भली-भाँति परिचित होती हैं, उनका फिर किसी भी सांसारिक वस्तु पर मोह नहीं रहता। भगवान् नेमिनाथ तो पहले ही संसार से विरक्त थे, इस अनर्थकारी भावी हिंसाकांड से तो उन्हें और भी उपरति हो गई, अतः उन अनाथ प्राणियों को बन्धन से मुक्त कराकर वे स्वयं भी बन्धन से मुक्त होने के लिए उद्यत हो गए। इसी के उपलक्ष्य में उन्होंने अपने समस्त आभूषण सारथी को दे डाले।

उक्त कथन से प्रतीत होता है कि उस समय कुंडल ओर कटिसूत्र (तड़ागी) के पहनने का अधिक प्रचार था, इसी का अनुकरण वानप्रस्थों ने किया प्रतीत होता है, जो कि मेखलासूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

सारथी को कुण्डलादि अर्पण करने के अनन्तर उन्होंने क्या किया, अब इसी के सम्बन्ध में कहते हैं–

मणपरिणामो य कओ, देवा य जहोइयं समोइण्णा ।
सव्विड्ढीइ सपरिसा, निक्खमणं तस्स काउं जे ॥ २१ ॥

मनः परिणामे च कृते, देवाश्च यथोचितं समवतीर्णाः ।
सर्वद्धर्या सपरिषदः, निष्क्रमणं तस्य कर्तुं ये ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–**मणपरिणामो**–मन के परिणाम, **कओ**–दीक्षा के लिए किए गए, **य**–और, **देवा**–देवता भी, **जहोइयं**–यथोचित रूप मे, **समोइण्णा**–आ गए, **सव्विड्ढीइ**–सर्व ऋद्धि, **य**–और, **सपरिसा**–सर्व परिषद् के साथ, **तस्स**–उस भगवान् के, **निक्खमणं**–निष्क्रमण को, **काउं**–सम्पादन करने के लिए। **जे**–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ–जिस समय श्री नेमि कुमार ने दीक्षा के लिए मन के परिणाम किए उस समय देवता भी अपनी सर्व ऋद्धि और परिषद् के साथ उनका दीक्षा महोत्सव करने के लिए आ गए।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे विवाह की इच्छा का सर्वथा परित्याग करके श्रमण-धर्म मे दीक्षित होते हुए भगवान् अरिष्टनेमि के देवो द्वारा किए जाने वाले दीक्षा महोत्सव की सूचना दी गई है। तात्पर्य यह है कि वध के लिए उपस्थित किए गए जीवों को बन्धनों से मुक्त करा कर और पारितोषिक रूप में अपने सभी आभूषण सारथी को देकर नेमिकुमार विवाह से पराङ्मुख होकर जब वापस द्वारकापुरी मे आ गए तथा कुछ समय वहां पर ठहर कर और वार्षिक दान देकर जब

वे दीक्षा के लिए उद्यत हुए, तब उनका दीक्षामहोत्सव करने के लिए भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक जाति के देवता लोग, अपनी-अपनी ऋद्धि और आभ्यन्तर, मध्यम तथा बाह्य की परिषद् को साथ लेकर वहां पर आये। तीर्थंकर होने वाले महापुरुषों की दीक्षा में इन्द्रादि देवों का पधारना अवश्य होता है, यह उनका यथोचित व्यवहार है और वे बड़े समारोह के साथ आया करते हैं।

यद्यपि पहले शौर्यपुर का उल्लेख किया गया है तथापि भगवान् श्री नेमिनाथ की दीक्षा द्वारका में हुई थी। कंस की मृत्यु के पश्चात् जरासंध के भय से व्याकुल हुए यादव द्वारका में जा बसे थे, यह सब वृत्तान्त हरिवंश पुराण आदि अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जरासन्ध के मारे जाने के पश्चात् यादवो की राजधानी द्वारका ही बनी रही।

फिर क्या हुआ, अब इस विषय का वर्णन करते हैं-

देवमणुस्सपरिवुडो, सिबियारयणं तओ समारूढो ।
निक्खमिय बारगाओ, रेवययंमि ठिओ भयवं ॥ २२ ॥

देवमनुष्यपरिवृतः, शिविकारत्नं ततः समारूढः ।
निष्क्रम्य द्वारकातः, रैवतके स्थितो भगवान् ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः-देवमणुस्स-देवता और मनुष्यों से, **परिवुडो**-परिवृत हुए **तओ**-तदनन्तर, **सिबियारयणं**-शिविकारत्न में, **समारूढो**-आरूढ हुए **निक्खमिय**-निकलकर, **बारगाओ**-द्वारका से, **रेवययंमि**-रैवतगिरि पर, **भयवं**-भगवान्, **ठिओ**-स्थित हुए।

टीका-जब देवों का समुदाय एकत्रित हो गया, तब उत्तरकुरु नामक शिविकारत्न पर भगवान् आरूढ हो गए और द्वारका से निकल कर बड़े समारोह के साथ रैवतगिरि पर पहुंचे। इस कथन का तात्पर्य यह है कि वार्षिक दान दे चुकने के अनन्तर और देवताओं के आगमन के पश्चात् भगवान् देवनिर्मित शिविकारत्न पर आरूढ हो गए और बड़े समारोह से द्वारका के समीप स्थित रैवत-उज्जयत पर्वत पर पहुंच गए। उनके शिविका-रत्न को देवों और मनुष्यों-अर्थात् दोनों ने उठाया हुआ था।

यहां पर इस बात का अनुमान तो पाठकगण अनायास ही कर सकते हैं कि एक तो तीर्थंकर देव की दीक्षा, दूसरे दीक्षामहोत्सव कराने वाले स्वय वासुदेव तो उस समय का दीक्षामहोत्सव कितना दर्शनीय और अभूतपूर्व रहा होगा।

रैवतगिरि पर पधारने के बाद क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं-

उज्जाणं संपत्तो, ओइण्णो उत्तमाउ सीयाओ ।
साहस्सीए परिवुडो, अह निक्खमई उ चित्ताहिं ॥ २३ ॥

उद्यानं सम्प्राप्तः, अवतीर्ण उत्तमायाः शिविकायाः ।
सहस्रेण परिवृतः, अथ निष्क्रामति तु चित्रानक्षत्रे ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**उज्जाणं**—उद्यान में, **संपत्तो**—पहुंच कर, **उत्तमाउ**—उत्तम, **सीयाओ**—शिविका से, **ओइण्णो**—उतरे, **साहस्सीए**—सहस्रों पुरुषों से, **परिवुडो**—घिरे हुए **अह**—तब, **चित्ताहिं**—चित्रा नक्षत्र में, **निक्खमई**—श्रमणवृत्ति ग्रहण कर ली, **उ**—वितर्क में है।

मूलार्थ—उद्यान में पहुंचकर और सर्वोत्तम शिविका से उतरकर सहस्रों पुरुषों से घिरे हुए भगवान् अरिष्टनेमि ने चित्रानक्षत्र के योग में श्रमणवृत्ति को ग्रहण किया, अर्थात् दीक्षित हो गए।

टीका—सहस्रों स्त्री-पुरुषों से घिरे हुए, बड़े समारोह के साथ उज्जयन्त पर्वत पर पहुंचने के अनन्तर भगवान् उक्त पालकी पर से उतरे और चित्रा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर उन्होंने श्रमणवृत्ति को धारण कर लिया अर्थात् प्रधान कुल में उत्पन्न हुए एक सहस्र पुरुषो को साथ लेकर सिद्धों को नमस्कार करके श्रमण-धर्म मे प्रविष्ट हो गए। तात्पर्य यह है कि उनके साथ एक हजार अन्य पुरुष भी दीक्षित हुए।

भगवान् की यह दीक्षा उज्जयन्त पर्वत के समीपवर्ती सहस्राम्रवन में हुई, वहां पर ही उन्होंने सहस्र पुरुषो के साथ सर्वसावद्यवृत्ति के त्याग की प्रतिज्ञा करते हुए सामायिक चारित्र को ग्रहण किया।

अब उनके केशलुञ्चन के विषय में कहते हैं—

अह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउयकुंचिए ।
सयमेव लुंचई कैसे, पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥ २४ ॥

अथ स सुगन्धगन्धिकान्, त्वरितं मृदुककुञ्चितान् ।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, पञ्चमुष्टिभिः समाहितः ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ, **से**—वह अरिष्टनेमि भगवान्, **सयमेव**—स्वयं ही, **सुगन्धगन्धिए**—सुगन्ध से सुगन्धित, **मउय**—मृदु कोमल, **कुंचिए**—कुटिल, **कैसे**—केशों को, **पंचमुट्ठीहिं**—पचमुष्टि से, **तुरियं**—शीघ्र ही, **लुंचई**—लुचन करते है, **समाहिओ**—समाहितचित्त होकर।

मूलार्थ—तदनन्तर भगवान् अरिष्टनेमि ने स्वभाव से सुगन्धित और कोमल तथा कुटिल केशों को अपने आप ही पांच मुट्ठी से बहुत ही शीघ्र लुंचित कर दिया, अर्थात् अपने हाथ से केशों को सिर पर से अलग कर दिया जिनका कि आत्मा समाधियुक्त था।

टीका—जिस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने सामायिक चारित्र को ग्रहण किया, उसी समय

सिर पर के केशों को पांच मुट्ठी में लोच करके अलग कर दिया। उनके केश सुगन्धयुक्त और स्वभाव से ही कोमल तथा कुटिल अर्थात् लच्छेदार, घुंघराले एवं भ्रमर के समान अत्यन्त कृष्ण थे। इस कथन से उनके केशों की मनोहरता व्यक्त होती है। उनकी आत्मा को समाहित कहने से उनमें प्रमाद के अभाव का सूचन किया गया है। इसी प्रकार उनके साथ दीक्षित होने वाले अन्य सहस्र पुरुषों ने भी लोच किया। साथ ही सब ने यह प्रतिज्ञा की थी कि–**'सर्व सावद्यं ममाकर्तव्यमिति। प्रतिज्ञारोहणोपलक्षणमेतत्'** अर्थात् ''सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार का मैं आज से परित्याग करता हूं।''

बृहद्वृत्ति में लिखा है कि–**'इह तु वन्दिकाचार्यः सत्त्वमोचनसमये सारस्वतादिप्रबोध-नभवनगमनमहादानानन्तरं निष्क्रमणाय पुरीनिर्गममुपवर्णयांबभूवेति'**। अर्थात् जिस प्रकार तीर्थंकर दीक्षित होते हैं, सर्व काम उसी प्रकार से किए गए, यह सर्व वृत्तान्त नेमि-चरित आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

भगवान् नेमिनाथ द्वारा चारित्र ग्रहण के समय वासुदेव ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं–

वासुदेवो य णं भणई, लुत्तकेसं जिइंदियं ।
इच्छियमणोरहं तुरियं, पावसु तं दमीसरा ॥ २५ ॥

वासुदेवश्च तं भणति, लुप्तकेशं जितेन्द्रियम् ।
ईप्सितमनोरथं त्वरितं, प्राप्नुहि त्वं दमीश्वर ! ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः–वासुदेवो–वासुदेव, **य**–और–बलभद्रादि, **भणई**–कहते हैं, **लुत्तकेसं**–लुप्तकेश, **जिइंदियं**–जितेन्द्रिय के प्रति, **इच्छियमणोरहं**–इच्छित मनोरथ को, **तं**–तू, **दमीसरा**–हे दमीश्वर! **तुरियं**–शीघ्र, **पावसु**–प्राप्त हो। **णं**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–वासुदेव ने लुप्तकेश और जितेन्द्रिय भगवान् से कहा कि ''हे दमीश्वर ! तू इच्छित मनोरथ को शीघ्र ही प्राप्त कर।''

टीका–प्रस्तुत गाथा में भगवान् नेमिनाथ के प्रति वासुदेवादि के द्वारा दिए जाने वाले आशीर्वाद का उल्लेख किया गया है। जब भगवान् दीक्षित हो गये तो उन्होंने केशलुंचन भी कर दिया, तब वासुदेव, बलदेव और समुद्रविजय आदि ने सम्मिलित होकर आशीर्वाद के रूप में उनसे कहा कि–''हे दमीश्वर! आप अपने मनोरथ में शीघ्र सफल हों।'' तात्पर्य यह है कि मोक्षरूप लक्ष्मी को आप शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करें।

सत्पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि वह शुभ कार्य मे प्रवृत्त होने वाले पुरुष को प्रोत्साहन देने

के साथ-साथ आशीर्वाद भी देते हैं, जिससे कि वह उत्साह पूर्वक लगा हुआ अपने अभीष्ट को बहुत जल्दी ही प्राप्त कर लेता है।

'अ'–'च' शब्द समुच्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है।

नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य ।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥ २६ ॥

ज्ञानेन दर्शनेन च, चारित्रेण तपसा च ।
क्षान्त्या मुक्त्या, वर्धमानो भव च ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः–**नाणेणं**–ज्ञान से, **च**–और, **दंसणेणं**–दर्शन से, **चरित्तेणं**–चारित्र से, **य**–और, **तवेण**–तप से, **खन्तीए**–क्षमा से, **य**–और, **मुत्तीए**–निर्लोभता से, **वड्ढमाणो**–वृद्धि पाने वाले, **भवाहि**–हों।

मूलार्थ–''भगवन् ! आप ज्ञान, दर्शन और चारित्र से तथा तप, क्षमा और निर्लोभता से सदा वृद्धि पाने वाले हों।

टीका–इस गाथा मे भी आशीर्वाद-युक्त वचनो का ही प्रयोग हुआ है। वासुदेवादि फिर कहते हैं–''हे भगवन् ! आपका ज्ञान, आपका दर्शन, आपका चारित्र और तप तथा क्षमा एवं मुक्ति-निर्लोभता आदि सद्गुण सदा वृद्धि को ही पाते रहे।''

यहा पर जो ज्ञान शब्द का प्रथम ग्रहण किया गया है उसका कारण यह है कि विशेष धर्म मे सामान्य धर्म का बोध भी हो ही जाता है। ज्ञान विशेष-ग्राही और दर्शन सामान्य-ग्राही माना गया है। अपरच सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान का होना ही अशक्य है, अतः ज्ञान की सफलता सम्यग्दर्शनपूर्वक ही मानी गई है। सो जब ज्ञान हुआ, तब चारित्र, तप, क्षमा और निर्ममत्वादि का होना अनिवार्य है, अर्थात् ये सब सहज ही में धारण किए जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष जिस समय प्रत्येक पदार्थ के गुणो और पर्यायो को समझ लेता है, तब उसका हेयोपादेय विषयक जो विचार होता है, वह पूर्ण रूप से तथ्य होता है।

इस प्रकार आशीर्वाद देने के अनन्तर वे वासुदेवादि समस्त पुरुष भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करके अपनी द्वारकापुरी की ओर प्रस्थित हुए, अब इस बात का वर्णन करते हैं–

एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहूजणा ।
अरिट्ठनेमिं वंदित्ता, अइगया बारगाउरिं ॥ २७ ॥

एवं तौ रामकेशवौ, दशार्हाश्च बहुजनाः ।
अरिष्टनेमिं वन्दित्वा, अतिगता द्वारकापुरीम् ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **ते**—वे दोनों, **रामकेसवा**—राम और केशव, **दसारा**—यादवों का समूह, **य**—और, **बहूजणा**—अन्य बहुत से पुरुष, **अरिट्ठनेमिं**—अरिष्टनेमि भगवान् को, **वंदित्ता**—वन्दना करके, **बारगाउरिं**—द्वारकापुरी में **अइगया**—वापस आ गए।

मूलार्थ—इस प्रकार वे दोनों राम और कृष्ण, यादववंशी तथा अन्य बहुत से पुरुष भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके द्वारकापुरी में वापस आ गए।

टीका—इस प्रकार आशीर्वाद वचन कहने के अनन्तर बलराम और वासुदेव, अन्य यादवकुल के लोग तथा उग्रसेन आदि बहुत से प्रधान पुरुष, भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके वापस द्वारकापुरी में आ गए। इस कथन से भगवान् नेमिनाथ के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति की विशिष्टता का सूचन होता है।

वन्दना शब्द यद्यपि केवल स्तुतिमात्र का बोधक है, तथापि इस स्थान में उसके वन्दना और नमस्कार ये दोनो ही अर्थ ग्रहण किए गए हैं तथा '**धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं**' इस नियम के अनुसार दोनों ही अर्थ प्रामाणिक एवं युक्ति-युक्त प्रतीत होते हैं।

इसके पश्चात् भगवान् नेमिनाथ ने उग्र तपश्चर्या के द्वारा कर्म बन्धनों की विकट श्रृंखलाओं को तोड़कर क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया और ५४ दिन के बाद उनको लोकालोक के प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिससे वह संसार के समस्त पदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से यथावत् जानने लगे, अर्थात् संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जो उनके ज्ञान से तिरोहित हो (यह वर्णन प्रसंगवशात् किया गया है)।

जिस समय भगवान् नेमिनाथ पशुओं की दीन दशा को देखकर विवाह का संकल्प छोड़कर वापस लौट आए, उस समय कुमारी राजीमती (जिसका कि उन्होंने पाणि-ग्रहण करना था) की क्या दशा हुई, अब इसका वर्णन करते हैं—

सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ ।
णीहासा उ निराणन्दा, सोगेण उ समुच्छिया ॥ २८ ॥

श्रुत्वा राजकन्या, प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु ।
निर्हास्या च निरानन्दा, शोकेन तु समवसृता ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—**सोऊण**—सुनकर, **सा**—यह राजीमती, **रायकन्ना**—राज-कन्या, **पव्वज्जं**—प्रव्रज्या दीक्षा, **जिणस्स**—जिन भगवान् की, **उ**—पादपूर्ति में, **णीहासा**—हास्यरहित हो गई, **निराणन्दा**—आनन्द-रहित हो गई, **सोगेण**—शोक से, **समुच्छिया**—व्याप्त हो गई, **उ**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—वह राजकन्या राजीमती जिन भगवान् की दीक्षा को सुनकर हास्य-रहित, आनन्द-रहित और शोक से व्याप्त हो गई।

टीका–जिस समय राजीमती को नेमिनाथ भगवान् के वापस लौटने और दीक्षा ग्रहण करने का समाचार मिला, उस समय उसका सारा ही विनोद जाता रहा, सारा ही हर्ष विलीन हो गया और वह शोक के कारण व्याकुल हो गई। तात्पर्य यह है कि पूर्वभव का जागा हुआ स्नेह उसे विशेष रूप से सन्ताप देने लगा।

किसी-किसी प्रति में **'सोऊण रायवरकन्ना'** ऐसा पाठ भी देखने में आता है, किन्तु उस पाठ के होने पर भी अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

भगवान् नेमिनाथ के पीछे लौट जाने और श्रमणधर्म में प्रविष्ट हो जाने पर शोकसन्तप्त राजीमती के हृदय मे अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होने लगे। वह मन में चिन्ता करती हुई जो कुछ कहती है, अब उसी का वर्णन करते हैं–

राईमई विचिंतेइ, धिरत्थु मम जीवियं ।
जाऽहं तेणं परिच्चत्ता, सेयं पव्वइउं मम ॥ २९ ॥

राजीमती विचिन्तयति, धिगस्तु मम जीवितम् ।
याऽहं तेन परित्यक्ता, श्रेयः प्रव्रजितुं मम ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः–**राईमई**–राजीमती, **विचिंतेइ**–चिन्तन करती है, **धिरत्थु**–धिक् हो, **मम**–मेरे, **जीवियं**–जीवन को, **जा**–जो, **अहं**–मै, **तेणं**–उनके द्वारा, **परिच्चत्ता**–सर्व प्रकार से त्यागी गई हूं, अतः, **सेयं**–श्रेष्ठ है, **मम**–मेरे लिए अब, **पव्वइउं**–प्रव्रजित–दीक्षित हो जाना।

मूलार्थ–राजीमती विचार करती हुई कहती है कि धिक्कार है मेरे इस जीवन को, जो मुझे उन्होंने भगवान् नेमिनाथ ने सर्वत्था त्याग दिया है, अतः अब तो मेरे लिए भी दीक्षित होना ही श्रेयस्कर है।

टीका–राजीमती विचार करती हुई अपने जीवन को धिक्कार दे रही है, अर्थात् अपने जीवन को विशेष रूप से निन्दनीय ठहरा रही है। कारण यह है कि भगवान् नेमिनाथ उसको त्यागकर चले गए हैं, इससे खिन्न होकर उसने अपने जीवन को नितान्त अयोग्य समझा। आगामी काल मे इस प्रकार के असह्य दुःख का अनुभव करना न पडे एतदर्थ वह दीक्षा लेकर अपने जीवन को सुयोग्य बनाने में ही अपना हित समझती हुई कहती है कि मेरा कल्याण अब इसी में है कि मै दीक्षा ग्रहण कर लू।

जब तक नेमिनाथ भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न नही हुआ, तब तक राजीमती वैराग्य-गर्भित अन्तःकरण से घर में ही रही। जिस समय उनको केवलज्ञान हो गया और वे वहां से विहार कर गए तथा कुछ समय के बाद विचरते हुए जब वे फिर उज्जयन्त पर्वत के समीपवर्ती उसी सहस्राम्रवन मे पधारे, तब उनके मुखारविन्द से धर्म के पवित्र उपदेश को सुनकर राजीमती की

वैराग्य भावना में एकदम तीव्रता आ गई। उसके कारण प्रबुद्ध हुई राजीमती क्या करती है, अब इसी विषय का दिग्दर्शन कराते हैं–

अह सा भमरसंनिभे, कुच्चफणगप्पसाहिए ।
सयमेव लुंचई कैसे, धिइमंता ववस्सिया ॥ ३० ॥

अथ सा भ्रमरसन्निभान्, कूर्चफनकप्रसाधितान् ।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, धृतिमती व्यवसिता ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः–**अह**–तदनन्तर, **सा**–वह राजीमती, **भमरसंनिभे**–भ्रमर के सदृश कृष्ण वर्ण वाले, **कुच्च**–कूर्च, **फणग**–कंघी से, **प्पसाहिए**–संवारे हुए, **कैसे**–केशों को, **सयमेव**–अपने आप, **लुंचई**–लुंचन करती है, **धिइमंता**–धैर्य वाली, **ववस्सिया**–शुभ अध्यवसायों से युक्त।

मूलार्थ–तदनन्तर धैर्ययुक्त और धार्मिक अध्यवसाय वाली उस राजीमती ने कूर्च और फनक (ब्रुश और कंघी) से संवारे हुए अपने भ्रमर-सदृश केशों को अपने हाथों से ही लुंचन कर दिया, अर्थात् अपने ही हाथों से उखाड़कर सिर से अलग कर दिया।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे राजीमती की धीरता और वैराग्य की उत्कृष्ट भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। भगवान् नेमिनाथ के प्रेम और वैराग्य से गर्भित उपदेशामृत के पान से ज्ञान-गर्भित वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त हुई राजीमती ने आध्यात्मिक प्रेम के दिव्य आदर्श को संसार के सामने जिस रूप मे रखा है वह अन्यत्र मिलना यदि असम्भव नहीं तो कठिनतर तो अवश्य है। उसका सासारिक पदार्थो पर से रहा-सहा मोह भी जाता रहा। शरीर के ममत्व को भी उसने इस तरह दूर फैंक दिया, जैसे सर्प केंचुली को फैंक देता है। अपने श्रृगारित अति सुन्दर केशो को अपने हाथो से ही उखाड़कर दूर फैक दिया और श्रमण-वृत्ति को धारण करके अपनी वैराग्य भावना और संयमनिष्ठा का परिचय देते हुए विशुद्ध प्रेम का भी सजीव आदर्श ससार के सम्मुख उपस्थित किया। अतः भारत का मुख उज्ज्वल करने वाली रमणियों में राजीमती का स्थान विशेष प्रतिष्ठा को लिए हुए है।

कूर्च और फनक शब्द के विषय में वृत्तिकार लिखते है–'**कूर्चो गूढकेशोन्मोचको वंशमयः, फणकः कङ्कतकस्ताभ्यां प्रसाधिताः संस्कृताः ये तान्**' अर्थात् उलझे हुए केशो को सुलझाने वाला बांस का बना हुआ मोटे दांतों वाला ब्रुश अथवा कंघे की सी आकृति का यन्त्र विशेष कूर्च है और बारीक दांतों वाली कंघी को फणक कहते हैं। उनके द्वारा संस्कारित उसके केश थे। इस कथन से केशों का सौन्दर्य और विशिष्ट संस्कार का बोध कराना अभिप्रेत है।

इस प्रकार वैराग्य के रंग में रंगी हुई राजीमती के दीक्षित हो जाने के बाद वासुदेवादि ने उसको जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं–

वासुदेवो य णं भणई, लुत्तकेसं जिइंदियं ।
संसारसागरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं ॥ ३१ ॥

वासुदेवश्च तां भणति, लुप्तकेशां जितेन्द्रियाम् ।
संसारसागरं घोरं, तर कन्ये ! लघु लघु ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—**वासुदेवो**—वासुदेव, **य**—पुनः, **णं**—उसको, **भणई**—कहते हैं, **लुत्तकेसं**—लुप्तकेश, **जिइंदियं**—जितेन्द्रिय को, **संसारसागरं**—ससार-समुद्र को, **घोरं**—जो अति भयंकर है, **कन्ने**—हे कन्ये। **लहुं-लहुं**—शीघ्र-शीघ्र, **तर**—तर जा।

मूलार्थ—वासुदेवादि राजीमती के प्रति जो लुंचित केश और इन्द्रियों को जीतने वाली है, कहते हैं कि "हे कन्ये ! तू इस संसार-रूप दुस्तर समुद्र से जल्दी-जल्दी पार हो जा !"

टीका—जिस समय राजकुमारी राजीमती श्रमण-धर्म में प्रविष्ट हो गई, अर्थात् उसने दीक्षा को अंगीकार कर लिया, उस समय वासुदेव और समुद्रविजय आदि आशीर्वाद देते हुए राजीमती से कहने लगे कि "हे कन्ये। तू इस ससार से अतिशीघ्र पार हो।" तात्पर्य यह है कि जिस पवित्र उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर तुमने इस सयमवृत्ति को ग्रहण किया है, वह तुमको जल्दी से जल्दी प्राप्त होवे अर्थात् उसकी सिद्धि में तुमको पूर्ण सफलता मिले।

उक्त कथन आशीर्वाद रूप होने से ही प्रस्तुत गाथा में दो बार "**लघु**" शब्द का प्रयोग किया गया है। तथा '**च**' शब्द यहा पर समुच्चय का बोधक हे, जिससे समुद्रविजयादि का भी उक्त आशीर्वाद वचन में ग्रहण किया गया हे एव '**घोर**' शब्द को ससार-समुद्र का विशेषण बनाने का तात्पर्य यह है कि यह संसार जन्म-मरण और सयोग-वियोगादि दुःखों से भरा पड़ा है। अतः यह घोर—महाभंयकर है।

दीक्षा धारण करने के बाद अब राजीमती के अन्य प्रशंसनीय कार्यों का वर्णन करते हैं—

सा पव्वइया सन्ती, पव्वावेसी तहिं बहुं ।
सयणं परियणं चेव, सीलवन्ता बहुस्सुया ॥ ३२ ॥

सा प्रव्रजिता सती, प्रव्राजयामास तस्यां बहून् ।
स्वजनान् परिजनांश्चैव, शीलवती बहुश्रुता ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**सा**—वह राजीमती, **पव्वइया संती**—प्रव्रजित होने के अनन्तर, **तहिं**—उसी द्वारिकापुरी में, **पव्वावेसी**—दीक्षित करने लगी, **बहुं**—बहुत से, **सयणं**—स्वजनों, **च**—और, **परियणं**—परिजनों को, **एवं**—निश्चय ही, **सीलवन्ता**—शील वाली और, **बहुस्सुया**—बहुश्रुता।

मूलार्थ–वह शीलवती और बहुश्रुता राजीमती दीक्षित होकर उस द्वारिकापुरी में ही बहुत से स्वजनों को दीक्षित करने लगी।

टीका–परम सुशीला और पंडिता राजीमती ने संसार से विरक्त होकर संयम ग्रहण करते हुए अपनी आत्मा का ही उद्धार नहीं किया, किन्तु अपनी सखी-सहेलियों तथा बहुत सी अन्य स्त्रियों का भी उद्धार किया, अर्थात् उसने स्वयं दीक्षा-व्रत अंगीकार करके वहां द्वारकापुरी मे रहने वाली बहुत सी स्त्रियों को भी जिनधर्म में दीक्षित किया, जिससे चारित्र-व्रत का आराधन करती हुई वे भी सद्गति को प्राप्त हुई।

प्रस्तुत गाथा में राजीमती के लिए '**बहुस्सुया–बहुश्रुता**' विशेषण दिया है, इससे प्रतीत होता है कि उसने गृहवास में रहते समय भी श्रुत का बहुत अभ्यास किया था और गृहस्थ भी श्रुत का पर्याप्त रूप से अभ्यास कर सकते हैं, अत: राजीमती का बहुत संख्या में अन्य स्त्री-जनों को दीक्षित करना उसके विशिष्ट श्रुतज्ञान को ही प्रदर्शित करता है।

इस प्रकार बहुत-सी सहचरियो को दीक्षा देकर और उनको साथ लेकर, रैवतगिरि पर विराजे हुए भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करने के लिए जब राजीमती ने प्रस्थान किया तो मार्ग में उनके साथ जो घटना हुई अब उसका वर्णन करते है–

गिरिं रेवतयं जन्ती, वासेणोल्ला उ अन्तरा ।
वासंते अंधयारम्मि, अंतो लयणस्स सा ठिया ॥ ३३ ॥

गिरिं रैवतकं यान्ती, वर्षेणार्द्रा त्वन्तरा ।
वर्षत्यन्धकारे, अन्तरा लयनस्य सा स्थिता ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वय:–रेवतयं–रैवत, **गिरिं**–पर्वत को, **जन्ती**–जाती हुई, **अन्तरा**–बीच मे, आधे मार्ग में, **वासेणोल्ला**–वर्षा में भीग गई, उ–फिर, **वासंते**–वर्षा के होते हुए, **अंधयारम्मि**–अन्धकार में, **लयणस्स**–लयन, गुफा के, **अंतो**–भीतर, **सा**–राजीमती, **ठिया**–ठहर गई।

मूलार्थ–रैवतगिरि पर जाती हुई वह वर्षा से भीग गई और वर्षा के होते हुए ही वह एक अन्धकारमयी गुफा में जाकर ठहर गई।

टीका–जिस समय अपने सारे आर्या-परिवार को साथ लेकर राजीमती रैवतगिरि की ओर जा रही थी तब अनुमानत: आधे मार्ग पर पहुंचते ही घनघोर वर्षा होने लगी, उससे राजीमती के सारे वस्त्र भीग गए। तब वह वर्षा के होते ही समीपवर्ती पर्वत की एक गुफा में जाकर ठहर गई, जहा पर पूर्ण अन्धकार था। साधु और साध्वी के लिए शास्त्र का ऐसा आदेश है कि जिस समय वर्षा पड़ रही हो, उस समय वे विहार न करें, किन्तु किसी आश्रय में–जहा पर वर्षा से बचाव हो सके ठहर जाएं, इसीलिए राजीमती ने समीपवर्तिनी एक गुफा में आश्रय लिया।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त हुए **'लयण'** शब्द का प्रसिद्ध अर्थ पर्वत की गुफा या कन्दरा है जो कि एकान्तप्रिय आत्मार्थी जीवों को धर्मध्यान-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए उपयोग में आती है। ऐसी गुफाएं कृत्रिम भी होती हैं अथवा प्राकृतिक भी। जिस गुफा में राजीमती जाकर ठहरी, वह बडी विशाल गुफा थी और उसका निर्माण भी विविक्तस्थानसेवी साधु-महात्माओं के लिए हुआ था। यह सब अनुमानतः सिद्ध होता है।

तदनन्तर क्या घटना हुई अब इसका वर्णन करते हैं-

चीवराणि विसारंती, जहाजायत्ति पासिया ।
रहनेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो य तीइवि ॥ ३४ ॥

चीवराणि विस्तारयन्ती, यथाजातेति दृष्ट्वा ।
रथनेमिर्भग्नचित्तः, पश्चाद् दृष्टश्च तयाऽपि ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः-चीवराणि-वस्त्रो को, **विसारंती**-फैलाती हुई, **जहाजायत्ति**-जैसे जन्म समय में शरीर अनावृत रहता है तद्वत् नग्न हुई को, **पासिया**-देखकर, **रहनेमी**-रथनेमि नामक मुनि, **भग्गचित्तो**-भग्नचित्त हो गया, **य**-और, **तीइवि**-उसने भी, **पच्छा दिट्ठो**-उस मुनि को पीछे ही देखा।

मूलार्थ-भीगे हुए वस्त्रों को फैलाती हुई यथाजात अर्थात् नग्न राजीमती को देखकर रथनेमि मुनि का चित्त भग्न हो गया, उसने-राजीमती ने भी उस मुनि को पीछे ही देखा।

टीका-उक्त गुफा में प्रवेश करने के अनन्तर राजीमती जब अपने भीगे हुए वस्त्रो को उतारकर फैलाने लगी, तब वह जैसे जन्म-समय की वस्त्ररहित अवस्था होती है, तद्वत् हो गई अर्थात् नग्न हो गई। उसकी इस अवस्था को देखकर वहां गुफा मे रहे हुए रथनेमि नाम के एक साधु के मन मे विकार उत्पन्न हो गया, अर्थात् संयम-वृत्ति से उसका मन भग्न हो गया। इधर सती राजीमती ने भी दृष्टि के फैलने से उसको देखा, कारण यह है कि अन्धकार मे पहले प्रवेश करते समय कुछ दिखाई नहीं देता और जब दृष्टि स्थिर हो जाती है तब कुछ-कुछ दिखाई देने लगता है। अतः गुफा मे प्रवेश करते समय तो उसने रथनेमि को नही देखा, परन्तु कुछ समय के बाद उसको वह दिखाई देने लग गया।

राजीमती के रूप-लावण्य को देखकर संयम से विचलित हुए रथनेमि को देखने से राजीमती एकदम भयभीत हो उठी, अब इसी सम्बन्ध में कहते हैं-

भीया य सा तहिं दट्ठुं, एगंते संजयं तयं ।
बाहाहिं काउं संगुप्फं, वेवमाणी निसीयई ॥ ३५ ॥

भीता च सा तत्र दृष्ट्वा, एकान्ते संयतं तकम् ।
बाहुभ्यां कृत्वा संगोपं, वेपमाना निषीदति ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—**य**—और, **भीया**—भयभीत होती हुई, **सा**—राजीमती, **तहिं**—वहां पर, **एगंते**—एकान्त में, **तयं**—उस, **संजयं**—संयत को, **दट्ठुं**—देखकर, **बाहाहिं**—अपनी दोनों भुजाओं से, **संगुप्फं**—स्तनादि को ढक, **काउं**—करके, **वेवमाणी**—कांपती हुई, **निसीयई**—बैठ गई।

मूलार्थ—वहां पर एकान्त स्थान में उस संयत को देखकर भयभीत होती हुई राजीमती अपनी दोनों भुजाओं से अपने शरीर को ढक करके कांपती हुई बैठ गई।

टीका—उस गुफा में जिस समय राजीमती ने रथनेमि नाम के एक साधु को बैठे देखा तो वह भय के मारे कांप उठी और अपनी दोनों भुजाओं से अपने स्तन-मंडल आदि को वेष्टित करके मर्कटबन्ध से बैठ गई। अन्धकारमयी गुफा में जहां कि दूसरा कोई व्यक्ति नहीं, ऐसे एकान्त स्थान में नग्न अवस्था में खड़ी हुई स्त्री का किसी पुरुष को देखकर भयभीत होना सर्वथा स्वाभाविक है। इसलिए सती राजीमती का भययुक्त होकर कम्पायमान होना भी सम्भव ही था। कारण कि ऐसे एकान्त स्थान में कामासक्त पुरुष द्वारा बलात्कार होने की पूर्ण सम्भावना रहती है, अतः अपने शीलव्रत के खंडित होने के भय से और यथाशक्ति शीलव्रत की रक्षा करने के उद्देश्य से कापती हुई राजीमती यथाकथंचित् अपने गुप्त अंगो को अपनी भुजाओं द्वारा छिपाती हुई बैठ गई।

अब रथनेमि के विषय में कहते हैं—

अह सोऽवि रायपुत्तो समुद्दविजयंगओ ।
भीयं पवेविरं दट्ठुं, इमं वक्कमुदाहरे ॥ ३६ ॥

अथ सोऽपि राजपुत्रः, समुद्रविजयाङ्गजः ।
भीतां प्रवेपितां दृष्ट्वा, इदं वाक्यमुदाहृतवान् ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ, **सो**—वह, **रायपुत्तो**—राजपुत्र रथनेमि, **वि**—भी, **समुद्दविजयंगओ**—समुद्रविजय के अंग से उत्पन्न होने वाला, **भीयं**—डरी हुई, **पवेविरं**—कांपती हुई को, **दट्ठुं**—देखकर, **इमं**—यह, **वक्कं**—वाक्य, **उदाहरे**—कहने लगा।

मूलार्थ—तदनन्तर समुद्रविजय के अंग से उत्पन्न होने वाला वह राजपुत्र रथनेमि डरती और कांपती हुई राजीमती को देखकर इस प्रकार कहने लगा।

टीका—रथनेमि समुद्रविजय का पुत्र और भगवान् नेमिनाथ का छोटा भाई था। वह भी भगवान् के साथ ही दीक्षित हो गया था और धर्मध्यान के लिए उस गुफा में विराजमान था। राजपुत्र कहने से उसकी कुलीनता ध्वनित की गई है।

रथनेमि साधु ने सती राजीमती से कहा—

रहनेमी अहं भद्दे ! सुरूवे ! चारुभासिणी ! ।
ममं भयाहि सुयणु ! न ते पीला भविस्सई ॥ ३७ ॥

रथनेमिरहं भद्रे ! सुरूपे ! चारुभाषिणि ! ।
मां भजस्व सुतनो ! न ते पीडा भविष्यति ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः—**रहनेमी**—रथनेमि, **अहं**—मैं हूं, **भद्दे**—हे भद्रे ! **सुरूवे**—हे सुन्दर रूपवाली! **चारुभासिणी**—मनोहर भाषण करने वाली! **ममं**—मुझे, **भयाहि**—सेवन कर, **सुयणु**—हे सुन्दर शरीर वाली ! **न**—नहीं, **ते**—तेरे को, **पीला**—कष्ट, **भविस्सई**—होगा अर्थात् विषय के सेवन करने से।

मूलार्थ—हे भद्रे ! मैं रथनेमि हूं, अतः हे सुन्दरी ! हे मनोहरभाषिणि ! हे सुन्दर शरीर वाली ! तुम मुझको सेवन करो, तुम्हें किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं होगा।

टीका—इस गाथा में रथनेमि ने राजीमती को अपना परिचय देते हुए उसे निर्भय करने का प्रयत्न किया है। इसमें उसका जो अभिप्राय है, वह स्पष्ट है। वह कहता है कि मैं राजपुत्र हू और रथनेमि मेरा नाम है और तू भी परम सुन्दरी है। इसलिए निर्भय होकर तू मेरे समागम मे आ जा। तुम्हें किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं होगा। राजकुमार रथनेमि ने अपना परिचय देते हुए अपने अभिप्राय को भी स्पष्ट शब्दो मे सती राजीमती के सामने रख दिया ताकि उसको विश्वास हो जाए कि मैं निर्भय हू और रतिजन्य सुख परम आनन्द का जनक है।

इस प्रकार सामान्य रूप से अपने भावों को प्रकट करने के अनन्तर अब रथनेमि विशेष रूप से अपने भावों को प्रकट करता है—

एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।
भुत्तभोगा तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो ॥ ३८ ॥

एहि तावद् भुञ्जीवहि भोगान्, मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ।
भुक्तभोगौ ततः पश्चात् जिनमार्गं चरिष्यावः ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**एहि**—इधर आ, **ता**—पहले हम दोनो, **भोए**—भोगों को, **भुंजिमो**—भोगें, **माणुस्सं**—मनुष्य-जन्म, **खु**—निश्चय ही, **सुदुल्लहं**—अति दुर्लभ है, **भुत्तभोगा**—भोगों को भोग कर, **तओ**—फिर, **पच्छा**—पीछे हम दोनों, **जिणमग्गं**—जिनमार्ग का, **चरिस्समो**—आचरण करेंगे।

मूलार्थ—तुम इधर आओ, प्रथम हम दोनों भोगों को भोगें, क्योंकि यह मनुष्य-जन्म

निश्चय ही मिलना अति कठिन है, अतः भुक्तभोगी होकर–भोगों को भोगकर फिर पीछे से हम दोनों जिन-मार्ग को ग्रहण कर लेंगे।

टीका–रथनेमि सती राजीमती से कहता है कि "सुन्दरी! आओ। हम दोनों सांसारिक विषयभोगों का आनन्दपूर्वक सेवन करें, क्योंकि यह मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इसमें कामभोगों का यथारुचि सेवन करना ही सार है और यथारुचि विषय-भोगों का उपभोग करके फिर दीक्षा भी ग्रहण कर लेंगे इत्यादि।"

प्रस्तुत गाथा में रथनेमि के विकृत चित्त का चित्रण बहुन ही सुन्दरता से किया गया है। शास्त्रकारों ने स्थान-स्थान पर स्त्री-संसर्ग से बचने का साधु को जो उपदेश दिया है उसका भी यही उद्देश्य है। कारण कि यह इन्द्रिय-समूह बड़ा बलवान् है, इसका निग्रह करना कोई साधारण कार्य नहीं है। इसलिए साधु को स्त्री-संसर्ग से सदैव दूर रहना चाहिए, अन्यथा राजीमती को देखते ही ध्यान-मग्न रथनेमि की जो दशा हुई थी, वही दशा सब की होगी, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं।

अब राजीमती के विषय में कहते हैं–

दट्ठूण रहनेमिं तं, भग्गुज्जोयपराजियं ।
राईमई असंभंता, अप्पाणं संवरे तहिं ॥ ३९ ॥

दृष्ट्वा रथनेमिं तं, भग्नोद्योगपराजितम् ।
राजीमत्यसम्भ्रान्ता, आत्मानं समवारीत् तत्र ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः–**दट्ठूण**–देखकर, तं–उस, **रहनेमिं**–रथनेमि को जो, **भग्गुज्जोय**–भग्नोद्योग अर्थात् संयम से भग्नचित्त हो रहा था, **पराजियं**–स्त्री-परीषह से पराजित था, **राईमई**–राजीमती, **असंभंता**–असभ्रान्त हुई, **तहिं**–वहा पर, **अप्पाणं**–अपनी आत्मा को–शरीर को, **संवरे**–ढांपने लगी।

मूलार्थ–भग्नचित्त और स्त्री-परीषह से पराजित हुए उस रथनेमि को देखकर असंभ्रान्त–निर्भय हुई राजीमती ने वहां अपने आत्मा अर्थात् अपने आपको वस्त्रों से ढांप लिया।

टीका–जिस समय राजीमती ने संयम-विषयक भग्न-चित्त और स्त्री-परीषह से पराजित हुए रथनेमि को देखा तो उसने वस्त्रों से अपने शरीर को ढांप लिया और वह निर्भय हो गई। सती राजीमती के निर्भय होने के दो कारण हैं, एक तो सती को अपनी आत्मा पर पूर्ण विश्वास था, दूसरे वह यह समझती थी कि रथनेमि राजपुत्र है, उच्चकुल में उत्पन्न हुआ है, अतः कुलीन होने के कारण वह मेरे ऊपर बलात्कार कभी नहीं करेगा, किन्तु विपरीत इसके यदि उसको उचित

शब्दों में समझाया जाएगा तो वह अपने इस आत्म-पतन से सम्हल जाएगा। जो कुल-सम्पन्न होते हैं, वे यदि अपने कर्त्तव्य से च्युत भी हो जाएं तो भी वे सहसा ऐसे कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, जो कि सर्वथा जघन्य और साधु-जनविगर्हित हो, प्रत्युत समझाने पर वे उससे निवृत्त भी हो जाते हैं। इसी विचार से राजीमती भय-मुक्त हो गई।

अब इसी विषय को स्पष्ट करते हुए राजीमती के सम्बन्ध में फिर कहते हैं–

अह सा रायवरकन्ना, सुट्ठिया नियमव्वए ।
जाई कुलं च सीलं च, रक्खमाणी तयं वए ॥ ४० ॥

अथ सा राजवरकन्या, सुस्थिता नियमव्रते ।
जातिं कुलं च शीलं च, रक्षन्ती तकमवदत् ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः–अह–तदनन्तर, **सा**–वह, **रायवरकन्ना**–राजकन्या, **सुट्ठिया**–भली-भांति स्थिर हुई, **नियमव्वए**–नियम और व्रत में, **जाई**–जाति, **च**–और, **कुलं**–कुल, **च**–और, **सीलं**–शील की, **रक्खमाणी**–रक्षा करती हुई, **तयं**–उस रथनेमि को, **वए**–कहने लगी।

मूलार्थ–तदनन्तर नियम और व्रत में भली-भांति स्थिर हुई वह राजकन्या–राजीमती अपने जाति, कुल और शील की रक्षा करती हुई उसके–रथनेमि के प्रति इस प्रकार कहने लगी।

टीका–कुलीन स्त्री हो चाहे पुरुष, वह ग्रहण किए हुए नियमों को बड़ी दृढता-पूर्वक पालन करता है तथा अपने जाति और कुल का उसे पूरा ध्यान रहता है। इसलिए शील व्रत की रक्षा में पूरी सावधानी रखती हुई राजीमती ने रथनेमि से समुचित शब्दों में इस प्रकार कहा। यह कथन समुचित प्रतीत होता है, क्योंकि सती-साध्वी स्त्रिया अपने शील-व्रत में अणुमात्र भी लाछन नहीं आने देतीं।

अब राजीमती के वक्तव्य का वर्णन करते हैं–

जइसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो ।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो ॥ ४१ ॥

यद्यसि रूपेण वैश्रवणः, ललितेन नलकूबरः ।
तथापि त्वां नेच्छामि, यद्यसि साक्षात् पुरन्दरः ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः–जइसि–यदि तू, **रूवेण**–रूप से, **वेसमणो**–वैश्रवण के समान है, **ललिएण**–लालित्य में, **नलकूबरो**–नलकूबर के तुल्य, **असि**–है, **तहावि**–तथापि, **ते**–तुझे, **न**–नहीं, **इच्छामि**–चाहती, **जइ**–यदि तू, **सक्खं**–साक्षात्, **पुरंदरो**–इन्द्र के समान भी होवे।

मूलार्थ–यदि तू रूप में वैश्रवण और लीला-विलास में नलकूबर के समान भी हो, अधिक क्या कहूं, यदि तू साक्षात् इन्द्र भी हो तो भी मैं तुझे नहीं चाहती।

टीका–सती साध्वी स्त्री का मन कितना दृढ़ और पवित्र होता है, इस बात का चित्र इस गाथा मे बड़ी ही उत्तमता से खींचा गया है। सती राजीमती साधु बने हुए रथनेमि नाम के राजकुमार को उद्‌बुद्ध करती हुई कहती है कि रूप का साक्षात् स्वरूप वैश्रवण, तथा लीला और विलास की सजीव मूर्ति नलकूबर भी यदि तू हो, अधिक तो क्या, यदि तू साक्षात् इन्द्र भी हो तो भी मै तुझे ठुकराती हूं, अर्थात् तेरी इच्छा नहीं रखती।

तात्पर्य यह है कि सती साध्वी स्त्री किसी पुरुष या देव विशेष के रूप और ऐश्वर्य को अपने सतीत्व धर्म के आगे तुच्छ से भी तुच्छ समझती है। तभी सती राजीमती ने इस प्रकार का समुचित उत्तर दिया, जिससे कि रथनेमि साधु को उसकी पूर्ण दृढ़ता और आन्तरिक विशुद्धि का पता लग जाए।

अब अपने सती-धर्म का परिचय देती हुई राजीमती फिर कहती है–

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥ ४२ ॥

प्रस्कन्दन्ते ज्वलितं ज्योतिषम्, धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः–**पक्खंदे**–पड़ते है, **जलियं**–जाज्वल्यमान, **जोइं**–ज्योति–अग्नि में, **धूमकेउं**–धूम जिसका केतु है, **दुरासयं**–दुःख से आश्रित करने योग्य, **वंतयं**–वमन किए हुए को, **भोत्तुं**–भोगना–खाना, **नेच्छन्ति**–नहीं चाहते, **अगंधणे**–अगन्धन, **कुले**– कुल में, **जाया**–उत्पन्न होने वाले सर्प।

मूलार्थ–अगन्धन कुल में उत्पन्न होने वाले सर्प, धूम जिसका केतु–ध्वजा है ऐसी जाज्वल्यमान अग्नि में गिरना तो स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु वमन की हुई वस्तु को स्वीकार नहीं करते।

टीका–रथनेमि को अगन्धन कुलोत्पन्न सर्प के दृष्टान्त से अपनी प्रतिज्ञा में दृढ रहने की शिक्षा देती हुई राजीमती कहती है कि जैसे अगन्धन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प अग्नि मे गिरकर भस्म हो जाना स्वीकार कर लेता है, परन्तु अपने वमन किए हुए विष को फिर से स्वीकार नहीं करता, इसी प्रकार जो उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले पुरुष हैं वे वमन के तुल्य अर्थात् त्याग किए हुए इन काम-भोगादि विषयों को मरणान्त कष्ट आने पर भी स्वीकार नहीं करते।

सर्पो की मुख्यतया दो जातियां है–१ गन्धन, २ अगन्धन। राजीमती के कहने का तात्पर्य

यह है कि जब एक तिर्यग् योनि का जीव भी अपनी प्रतिज्ञा से पीछे नहीं हटता, तो तेरे जैसे मनुष्य योनि में उत्पन्न हुए तथा सर्व प्रकार के हित-अहित का ज्ञान रखने वाले जीव को अपनी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा का भंग करते हुए देखकर मुझे अत्यन्त खेद होता है।

बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा का उल्लेख नहीं किया, परन्तु इस गाथा से आरम्भ करके उक्त विषय की आगे लिखी गई कतिपय अन्य गाथाओं का उल्लेख दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में किया हुआ देखने में आता है।

अब इसी आशय को स्पष्ट करती हुई वह फिर कहती है–

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ ४३ ॥

धिगस्तु त्वामयशःकामिन् ! यत् त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः–धिरत्थु–धिक् हो, **ते**–तुझे, **अजसोकामी**–हे अयश की कामना करने वाले। **जो**–जो, **तं**–तू, **जीवियकारणा**–जीवन के कारण से, **वंतं**–वमन के, **आवेउं**–पीने की, **इच्छसि**–इच्छा करता है, **सेयं**–श्रेय है यदि, **ते**–तेरी, **मरणं**–मृत्यु, **भवे**–हो जाए।

मूलार्थ–हे अयश की कामना करने वाले ! तुझे धिक्कार है जो कि तू असंयत जीवन के कारण से वमन किए हुए को पीने की इच्छा करता है, इससे तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है।

टीका–रथनेमि से राजीमती कहती है कि ऐसे उत्तम कुल में उत्पन्न होकर इन तुच्छ विषय-विकारों की इच्छा रखना और वह भी संयम ग्रहण करने के पश्चात्, इससे बढ़कर तुम्हारे लिए अयश की और कौन सी बात हो सकती है। मनुष्य होकर वमन किए हुए को फिर से ग्रहण करने की अभिलाषा करता है। अतः तेरे इस जीवन को धिक्कार है! इससे तो तेरे लिए मृत्यु श्रेयस्कर है अर्थात् इस प्रकार के असंयममय जीवन को व्यतीत करने की अपेक्षा मरना अधिक श्रेष्ठ है। इसीलिए कहा है–

विज्ञाय वस्तु निन्द्यं, त्यक्त्वा गृह्णन्ति किं क्वचित् पुरुषाः ।
वान्तं पुनरपि भुङ्क्ते न च सर्व सारमेयोऽपि ।*

अब इसका उपनय करती हुई राजीमती पुनः कहती है कि–

* निन्दित समझकर त्यागी हुई वस्तु को सत्पुरुष क्या कभी फिर भी ग्रहण करते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं। वमन किए हुए को फिर से तो श्वान ही खाता है, परन्तु वह भी सम्पूर्ण नहीं खाता।

अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥ ४४ ॥

अहं च भोगराजस्य, त्वं चास्यन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनानां भूव, संयमं निभृतश्चर ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**अहं**—मैं, **भोगरायस्स**—उग्रसेन की पुत्री हूं, **च**—और, **तं**—तू, **अन्धगवण्हिणो**—अन्धकवृष्णि अर्थात् समुद्रविजय का पुत्र, **असि**—है, **कुले गन्धणा**—गन्धन-कुल मे उत्पन्न हुए के समान, **मा होमो**—हम दोनों न होवें, अतः, **निहुओ**—निश्चलचित्त होकर, **संजमं**—संयम में, **चर**—विचर।

मूलार्थ—मैं उग्रसेन की पुत्री हूं और तुम समुद्रविजय के पुत्र हो, हम दोनों को गन्धन-कुल के सर्पो के समान नहीं होना चाहिए, अतः तुम निश्चल होकर संयम का आराधन करो।

टीका—राजीमती कहती है कि हे रथनेमि! मैं भोगराज—उग्रसेन की पुत्री हूं और तुम अन्धक-वृष्णि—समुद्रविजय के पुत्र हो, अतः हम दोनों को गन्धन कुलोत्पन्न सर्प के समान नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जैसे गन्धन सर्प वमन किए हुए को भी पी लेता है उसी प्रकार हमको इन त्यागे हुए विषय-भोगो को फिर से ग्रहण नही करना चाहिए, इसलिए तुम दृढता-पूर्वक संयम में विचरण करो अर्थात् निश्चल चित्त से संयम का आराधन करते हुए अपनी कुलीनता का ही परिचय दो जिससे कि तुम्हारी आत्मा का उद्धार हो सके।

वह फिर कहती है—

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठियप्पा भविस्ससि ॥ ४५ ॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या दृश्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हठः, अस्थितात्मा भविष्यसि ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः—**जइ**—यदि, **तं**—तू, **काहिसि**—करेगा, **भावं**—भाव, **जा जा**—जो जो, **नारिओ**—नारियां, **दिच्छसि**—देखेगा, **वायाविद्धो व्व हडो**—वायु से प्रेरित किए हुए वनस्पति विशेष की तरह, **अट्ठियप्पा**—अस्थिर आत्मा, **भविस्ससि**—हो जाएगा अर्थात, तेरी आत्मा में स्थिरता नहीं रह पाएगी।

मूलार्थ—यदि तू उक्त प्रकार के भाव करेगा तो जहां-जहां पर स्त्रियों को देखेगा वहां-वहां वायु से हिलाए गए वृक्ष विशेष की तरह तू अस्थितात्मा हो जाएगा, अर्थात् तेरी आत्मा सदा के लिए अस्थिर हो जाएगी।

टीका—सती राजीमती रथनेमि से फिर कहती है कि यदि तुम अपनी आत्मा में विषय-सेवन के इस प्रकार के जघन्य भावों को उत्पन्न करोगे तो वायु से हिलाए हुए वृक्ष की भांति तुम्हारी आत्मा सदा के लिए अस्थिर हो जाएगी, अतः जहां कहीं भी तुम रूप-लावण्य-युक्त स्त्रियों को देखोगे वहां पर ही तुम्हारा मन अधीर एवं चंचल हो उठेगा, आत्मा के अधीर होने से अनेक प्रकार के अनर्थो की संभावना रहती है।

सारांश यह है कि उक्त प्रकार के विषयोन्मुख भाव, नाना प्रकार के अनर्थो को उत्पन्न करने वाले होने से मुमुक्ष पुरुष को सदा के लिए त्याग देने चाहिएं। **'यथा—वातेन विद्धः समन्तात् ताडितो वाताविद्धो भ्रमित इति यावत् हठो वनस्पतिविशेषस्तदिवास्थितात्माऽस्थिरस्वभाव इति।' (वृत्तिकारः)।** सम्भवतः हठ कोई वनस्पति—वृक्ष विशेष है, जो कि वायु से ताडित किया गया सदा हिलता रहता है।

अब फिर इसी सम्बन्ध में कहते हैं—

गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वणिस्सरो ।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥ ४६ ॥

गोपालो भाण्डपालो वा, यथा तद्द्रव्यानीश्वरः ।
एवमनीश्वरस्त्वमपि, श्रामण्यस्य भविष्यसि ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः—**गोवालो**—गोपाल, **वा**—अथवा, **भंडवालो**—भाण्डपाल, **जहा**—जैसे, **तद्दव्व**—उस द्रव्य का, **अणिस्सरे**—अनीश्वर होती है, **एवं**—उसी प्रकार, **तं पि**—तू भी, **सामण्णस्स**—श्रमण भाव का, **अणिस्सरो**—अनीश्वर, **भविस्ससि**—हो जाएगा।

मूलार्थ—जैसे गोपाल अथवा भांडपाल उस द्रव्य का ईश्वर—स्वामी नहीं होता, उसी प्रकार तू भी संयम का अनीश्वर हो जाएगा।

टीका—राजीमती कहती है कि हे रथनेमि ! जैसे गौओं को चराने वाला ग्वाला उन गौओं का स्वामी नही होता, और जैसे किसी के भांडो की रक्षा करने वाला वा किसी के धन की सार-सभाल करने वाला उस धन का स्वामी नहीं होता, अर्थात् जैसे ग्वाले को गौओं के दुग्ध आदि के ग्रहण का कोई अधिकार नहीं और कोषाध्यक्ष को उस धन के व्यय करने की कोई सत्ता नही, उसी प्रकार तू भी इस संयम का ईश्वर—स्वामी—मालिक नहीं होगा, अर्थात् इसका जो मोक्ष अथवा स्वर्ग रूप फल है, उसका तू अधिकारी नहीं बन सकता।

साराश यह है कि द्रव्य-सयम से आत्मा का कभी कल्याण नहीं होगा, आत्मा के कल्याण का हेतु तो भाव-सयम है। जिस आत्मा में भाव-संयम विद्यमान है वह आत्मा विषयोन्मुख जघन्य प्रवृत्ति से सदा ही पृथक् रहता है, अतएव वह संयम के फल का उपभोग करने से स्वामी के

समान है। द्रव्यसंयमी पुरुष की प्रवृत्ति विषय-प्रवण होने से गोपाल और भाण्डपाल की तरह संयम के फल से उसको सदा के लिए वंचित रखती है। विपरीत इसके इष्ट फल होने के स्थान में अनिष्टफलप्राप्ति की अधिक संभावना रहती है।

राजीमती के इस प्रकार शिक्षित करने पर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं–

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ ४७ ॥

तस्याः स वचनं श्रुत्वा, संयतायाः सुभाषितम् ।
अङ्कुशेन यथा नागः, धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः–**सो**–वह रथनेमि, **तीसे**–उस राजीमती के, **वयणं**–वचनों को, **सोच्चा**–सुनकर, **संजयाए**–संयमशीला के, **सुभासियं**–सुभाषित को, **अंकुसेण**–अंकुश से, **जहा**–जैसे, **नागो**–हस्ती सीधा हो जाता है तद्वत्, **धम्मे**–धर्म में, **संपडिवाइओ**–स्थिर कर दिया।

मूलार्थ–रथनेमि ने संयमशीला राजीमती के पूर्वोक्त सुभाषित वचनों को सुनकर अंकुश द्वारा मदोन्मत्त हस्ती की तरह अपने आत्मा को वश में करके फिर से धर्म में स्थित कर लिया।

टीका–प्रस्तुत गाथा में रथनेमि की आत्मा पर सती राजीमती के सुभाषित वचनों का जो विलक्षण प्रभाव पडा तथा पतन की ओर बढती हुई उसकी आत्मा जिस प्रकार रुक गई, इस बात का वर्णन बड़े मनोरजक शब्दों में किया गया है। संयमशीला राजीमति के पूर्वोक्त समुचित संभाषण को सुनकर रथनेमि ने पतन की ओर जाते हुए अपनी आत्मा को उधर से हटाकर धर्म–सयमवृत्ति मे इस प्रकार स्थापित कर दिया, जैसे बेकाबू हुए मदोन्मत्त हस्ती को उसका महावत अंकुश के द्वारा वश में लाकर एक कीले से बांध देता है। तात्पर्य यह है कि रथनेमि के प्रमादी आत्मा को अप्रमत्त बनाने के लिए सती राजीमती के उपदेश ने हस्ती को वश में करने वाले अकुश का काम किया।

आदर्श जीवन वाले व्यक्तियों के उपदेश का ऐसा ही विलक्षण प्रभाव होता है, उनके उपदेश से अनेकानेक पतित आत्माओं का उद्धार होता है। तब रथनेमि की आत्मा पर सती राजीमती के उपदेश का जो विचित्र प्रभाव पड़ा, इसमें आश्चर्य की कोई बात नही।

अब राजीमती के उक्त उपदेश से पुनः धर्म में आरूढ़ हुए रथनेमि के विषय में कहते हैं–

कोहं माणं निगिण्हित्ता, माया लोभं च सव्वसो ।
इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उपसंहरे ॥ ४८ ॥

क्रोधं मानं निगृह्य, मायां लोभं च सर्वशः ।
इन्द्रियाणि वशीकृत्य, आत्मानमुपसमाहरत् ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः–**कोहं**–क्रोध और, **माणं**–मान का, **निगिण्हित्ता**–निग्रह करके, **माया**–माया, **च**–और, **लोभं**–लोभ को, **सव्वसो**–सर्व प्रकार से, **इंदियाइं**–इन्द्रियों को, **वसे**–वश में, **काउं**–करके, **अप्पाणं**–आत्मा को, **उपसंहरे**–वश में किया।

मूलार्थ–क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतकर तथा पांचों इन्द्रियों को वश में करके, उस रथनेमि ने अपनी आत्मा का उपसंहार किया, अर्थात् प्रमाद की ओर बढ़े हुए आत्मा को पीछे हटाकर धर्म में स्थित किया।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे आत्मा के उपसंहार अर्थात् पीछे हटाकर धर्म मे स्थापित करने का क्रम बतलाया गया है। क्रोधादि कषायो के वशीभूत और इन्द्रियो के पराधीन हुआ यह आत्मा धर्म से पराङ्मुख रहता है। उसको धर्म में स्थित करने के लिए प्रथम क्रोधादि चारों कषायों को जीतने की और पाचों इन्द्रियों का निग्रह करने की आवश्यकता है। जिस समय कषायो का त्याग और इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है, उस समय यह आत्मा स्वयमेव पर-भाव को त्यागकर स्वभाव में रमने लगता है। यही उसका उपसहार अर्थात् धर्म में आरूढ करने का प्रकार है। रथनेमि ने भी सतीधुरीणा राजीमती के उपदेश से सावधान होकर अपनी पतनोन्मुख आत्मा का इसी प्रकार से उपसहार किया, अर्थात् इन्द्रियों और कषायों को जीतकर पर-भाव से स्वभाव में स्थापित किया।

सारांश यह है कि कामादि के वशीभूत होकर पतन की ओर जाते हुए अपनी आत्मा को–अन्तःकरण के प्रवाह को–रोककर पुनः सयम की ओर लगा लिया।

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ ।
सामण्णं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ ॥ ४९ ॥

मनोगुप्तो वचोगुप्तः, कायगुप्तो जितेन्द्रियः ।
श्रामण्यं निश्चलमस्प्राक्षीत्, यावज्जीवं दृढव्रतः ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वयः–**मणगुत्तो**–मनोगुप्त, **वयगुत्तो**–वचनगुप्त, **कायगुत्तो**–कायगुप्त, **जिइंदिओ**–जितेन्द्रिय, **सामण्णं**– श्रमणभाव को, **निच्चलं**–निश्चलता से, **फासे**–स्पर्श करने लगा, **जावज्जीवं**–जीवन-पर्यन्त, **दढव्वओ**–दृढ व्रत वाला।

मूलार्थ–मन, वचन और काया से गुप्त होकर इन्द्रियों को जीतकर और पूर्ण दृढ़ता से स्थिरतापूर्वक उसने जीवनपर्यन्त श्रमणधर्म का पालन किया।

टीका–श्रमणधर्म का वास्तविक स्पर्श इस आत्मा को उस समय होता है, जब कि इसके मन, वचन और शरीर ये तीनों गुप्त हों अर्थात् इनके व्यापार में पूर्ण रूप से स्वच्छता–निर्मलता आ जाए तथा इन्द्रियों पर पूरी स्वाधीनता हो। इस प्रक्रिया के अनुसार फिर से प्रबुद्ध हुए रथनेमि ने भी जीवन-पर्यन्त दृढ़प्रतिज्ञ होकर श्रमणधर्म का स्पर्श अर्थात् आराधन किया। वह मन, वचन एवं शरीर से गुप्त हो गया, उसके मन, वचन और शरीर संयमप्रधान हो गए और इन्द्रियो पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया। अतएव निश्चलता-पूर्वक वह श्रमण-धर्म का पालन करने लगा।

वस्तुत: कुलीन पुरुषों का प्राय: यह स्वभाव होता है कि वे सदुपदेश के मिलते ही किसी कारणवश से उन्मार्ग में गई हुई अपनी आत्मा को शीघ्र ही सन्मार्ग पर ले आते हैं।

अब दोनों के विषय में कहते हैं–

उग्गं तवं चरित्ताणं, जाया दोण्णि वि केवली ।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥ ५० ॥

उग्रं तपश्चरित्वा, जातौ द्वावपि केवलिनौ ।
सर्व कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ॥ ५० ॥

पदार्थान्वय:–**उग्गं**–उग्र, **तवं**–तप को, **चरित्ताणं**–आचरण करके, **जाया**–हो गए, **दोण्णि वि**–दोनों ही, **केवली**–केवलज्ञान-युक्त पुन:, **सव्वं**–सर्व, **कम्मं**–कर्मों को, **खवित्ता**–क्षय करके, **सिद्धिं**–मुक्ति को, **पत्ता**–प्राप्त हो गए, **अणुत्तरं**–जो प्रधान है।

मूलार्थ–उग्र तप का आचरण करके राजीमती और रथनेमि वे दोनों ही केवली हो गये, फिर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सर्वप्रधान सिद्धि–मोक्षगति को प्राप्त हो गए।

टीका–फिर वे दोनों–राजीमती और रथनेमि, कर्म-शत्रुओं का विनाश करने वाले अनशनादि उग्र तप का अनुष्ठान करके केवली हो गए, अर्थात् उनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। तदनन्तर अपने आयु-कर्म को समाप्त कर सर्व प्रकार से सर्व कर्मो का क्षय करते हुए सिद्धगति–मोक्ष को प्राप्त हो गए। इस कथन से निरतिचार चारित्र के पालन का फल प्रदर्शित किया गया है। यहां पर निर्युक्तिकार लिखते हैं कि–'समुद्रविजय की रानी शिवादेवी के चार पुत्र हुए–१ अरिष्टनेमि, २ रथनेमि, ३ सत्यनेमि और ४. दृढ़नेमि। इनमें अरिष्टनेमि तो बाईसवें तीर्थंकर हुए। रथनेमि और सतनेमि ये दोनों प्रत्येकबुद्ध थे। इनमें रथनेमि चार सौ वर्ष प्रमाण गृहस्थाश्रम मे रहे, एक वर्ष छद्मस्थभाव में विचरे तथा पांच सौ वर्ष प्रमाण इन्होंने केवली-पर्याय को धारण किया। सो कुल नौ सौ एक वर्ष से कुछ अधिक आयु को भोगकर वे मोक्ष को प्राप्त हुए।

अब अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि–

एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा सो पुरिसुत्तमो ॥ ५१ ॥
त्ति बेमि ।
इति रहनेमिज्जं बावीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥ २२ ॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स पुरुषोत्तम ॥ ५१ ॥
इति ब्रवीमि।
इति रथनेमीयं द्वाविंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **करेंति**—करते हैं, **संबुद्धा**—तत्त्ववेत्ता, **पंडिया**—पंडित और, **पवियक्खणा**—प्रविचक्षण लोग, **विणियट्टंति**—विनिवृत्त हो जाते है, **भोगेसु**—भोगों से, **जहा**—जैसे, **सो**—वह रथनेमि, **पुरिसुत्तमो**—पुरुषोत्तम, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—तत्त्ववेत्ता पंडित और विचक्षण लोग इसी प्रकार करते हैं तथा भोगों से निवृत्त हो जाते हैं, जिस प्रकार वह पुरुषोत्तम रथनेमि निवृत्त हुआ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो तत्त्ववेत्ता और विशेष बुद्धि रखने वाले पडित लोग है, वे इस प्रकार से आचरण करते है जैसे कि राजकुमार रथनेमि ने पतन की ओर जाते हुए अपनी आत्मा को फिर से सयम में स्थापित कर लिया और भोगो से निवृत्त होकर तप के अनुष्ठान से केवलज्ञान द्वारा परम दुर्लभ मोक्षपद को प्राप्त कर लिया। वास्तव मे जो पुरुष भोगो से निवृत्त होकर दृढ़ता-पूर्वक संयम-मार्ग मे प्रविष्ट होता हुआ अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वही संबुद्ध, पंडित और विचक्षण तथा पुरुषोत्तम है। यही इस गाथा का भावार्थ है।

इसके अतिरिक्त '**त्ति बेमि**' का अर्थ प्रथम कई बार आ चुका है, उसी के अनुसार यहां पर भी समझ लेना चाहिए।

द्वाविंशमध्ययनम् संपूर्णम्।

अह केसिगोयमिज्जं तेवीसइमं अज्झयणं

अथ केशिगौतमीयं त्रयोविंशमध्ययनम्

इस अनन्तरोक्त अध्ययन में यह वर्णन किया गया है कि यदि किसी कारणवश संयम में शका आदि दोषों की उत्पत्ति हो जाए, अर्थात् संयम मे शिथिलता आ जाए तो रथनेमि की तरह फिर से संयम में दृढ़ हो जाना चाहिए। यदि अन्य लोगो के मन में भी उक्त शकादि दोष उत्पन्न हो जाएं तो उनकी निवृत्ति के लिए भी शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए, जैसे कि केशी और गौतम के शिष्यों की शंकाओं को निवृत्त करने का प्रयत्न किया गया है। बाईसवें और तेईसवें अध्ययन का यही परस्पर सम्बन्ध है।

अब प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपाद्य विषय की संगति के लिए प्रथम तेईसवें तीर्थंकर भगवान् श्री पार्श्वनाथ का वर्णन करते हैं, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

जिणे पासित्ति नामेणं, अरहा लोगपूइओ ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ॥ १ ॥

जिनः पार्श्व इति नाम्ना, अर्हन् लोकपूजितः ।
संबुद्धात्मा च सर्वज्ञः, धर्मतीर्थकरो जिनः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**जिणे**—परीषहों के जीतने वाले, **पासित्ति**—पार्श्व, **नामेणं**—इस नाम से प्रसिद्ध हुए, **अरहा**—अर्हन्, **लोगपूइओ**—लोकपूजित, **संबुद्धप्पा**—सबुद्ध आत्मा, **य**—और, **सव्वन्नू**—सर्वज्ञ, **धम्मतित्थयरे**—धर्मतीर्थ को प्रवर्तित करने वाले, **जिणे**—समस्त कर्मो का क्षय करने वाले।

मूलार्थ—परीषहों को जीतने वाले अर्हन्, लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ तथा धर्मरूप

तीर्थ को प्रवर्तित करने वाले और समस्त कर्मों को क्षय करने वाले पार्श्व नाम से प्रसिद्ध तीर्थंकर हुए हैं।

टीका–श्री पार्श्वनाथ इस नाम से प्रसिद्ध तेईसवे तीर्थकर का प्रस्तुत गाथा मे उल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर स्वामी से २५० वर्ष पहले इस भारतभूमि को पार्श्वनाथ नाम के एक सुप्रसिद्ध महापुरुष ने अलकृत किया था। वे जिन–सर्व प्रकार के परीषहों को जीतने वाले थे और देवेन्द्रादि से पूजित होने के अतिरिक्त वे सर्वलोकपूजित थे तथा उनकी आत्मा ज्ञानज्योति से सर्व प्रकार से आलोकित थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे एवं जीवों को संसार–समुद्र से पार करने के लिए उन्होंने धर्मरूप तीर्थ की स्थापना की और इसीलिए अरिहन्त सिद्ध और जिन नाम से उनका पुण्य स्मरण किया जाता है।

अब उनके शिष्य केशीकुमार के विषय में कहते हैं–

तस्स लोगपईवस्स, आसी सीसे महायसे ।
केसीकुमार समणे, विज्जाचरणपारगे ॥ २ ॥

तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशाः ।
केशीकुमारश्रमणः, विद्याचरणपारगः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–**तस्स**–उस, **लोगपईवस्स**–लोकप्रदीप के, **सीसे**–शिष्य, **महायसे**–महान् यशस्वी, **आसी**–हुए, **केसीकुमार**–केशीकुमार, **समणे**–श्रमण जो, **विज्जाचरणपारगे**–विद्या और चारित्र के पारगामी थे, (परिपूर्ण थे)।

मूलार्थ–उस लोकप्रदीप भगवान् पार्श्वनाथ के महान् यशस्वी केशीकुमार श्रमण नाम से प्रसिद्ध एक शिष्य हुए जो कि विद्या और चारित्र में परिपूर्ण थे।

टीका–लोकप्रदीप–संसार मे सूर्य के समान प्रकाश करने वाले भगवान् पार्श्वनाथ के केशीकुमार नामक एक शिष्य थे, जो कि बाल्यावस्था में ही वैराग्य होने पर अविवाहित ही दीक्षित हो गए थे। उनके केश बहुत ही कोमल और सुन्दर थे, इसी कारण वह श्रमण होने पर भी केशीकुमार के नाम से ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। केशीकुमार सुन्दर थे, विद्या और चारित्र मे भी परिपूर्ण थे। आबाल ब्रह्मचारी होने से विद्या और चारित्र के पारगामी भी हुए अर्थात् उनका चारित्र अतीव निर्मल था।

यहां पर इतना और ध्यान रहे कि सूत्रकर्त्ता ने केशीकुमार को जो भगवान् पार्श्वनाथ का शिष्य लिखा है, वह सामान्य निर्देश है, उसका तात्पर्य भगवान् पार्श्वनाथ के परम्परागत शिष्य से है, साक्षात् शिष्य से नही। कारण यह है कि केशीकुमार श्रमण भगवान् महावीर के समय मे विद्यमान थे, जब कि उस समय भगवान् पार्श्वनाथ को मोक्ष गए अनुमानतः अढ़ाई सौ वर्ष हो

चुके थे एवं उस समय इतनी दीर्घ आयु नहीं होती थी। इससे तो यही मानना पड़ता है कि केशीकुमार भगवान् पार्श्वनाथ के हस्तदीक्षित शिष्य नही थे, किन्तु उनकी शिष्य-परम्परा में से थे। वर्तमान समय की ऐतिहासिक गवेषणा से भगवान् महावीर स्वामी से २५० वर्ष पहले श्री पार्श्वनाथ का होना प्रमाणित होता है और श्रमण भगवान् महावीर के समय में श्रीपार्श्वनाथ के सन्तानीय शिष्य विद्यमान थे, यह भी ऐतिहासिक तथ्य है और उनमें केशीकुमार जी का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि भगवान् महावीर स्वामी के मुख्य शिष्य गौतम के साथ उनका साधुओं के आचार के विषय में बहुत ही लम्बा-चौडा संवाद हुआ था। इससे भी उनका पार्श्वनाथ का सन्तानीय शिष्य होना ही प्रमाणित होता है।

अन्य जैनागमों में भी श्रीकेशीकुमार जी का उल्लेख मिलता है, अतः उक्त गाथा मे केशीकुमार को श्री पार्श्वनाथ का शिष्य लिखा है। अन्यथा श्री महावीर स्वामी के समय में उनका विद्यमान होना संगत नही हो सकता।

अब फिर उसी विषय में कहते हैं–

ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयंते, सावत्थिं नगरिमागए ॥ ३ ॥
अवधिज्ञानश्रुताभ्यां बुद्धः, शिष्यसंघसमाकुलः ।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, श्रावस्तीं नगरीमागतः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–ओहिनाण–अवधिज्ञान, **सुए**–श्रुतज्ञान से, **बुद्धे**–बुद्ध हुए, **सीससंघ**–शिष्य समुदाय से, **समाउले**–व्याप्त–आकीर्ण, **गामाणुगामं**–ग्रामानुग्राम, **रीयंते**–विचरते हुए, **सावत्थिं**–श्रावस्ती नामक, **नगरिं**–नगरी में, **आगए**–पधारे।

मूलार्थ–अवधि और श्रुतज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले, अपने शिष्य-परिवार को साथ लेकर ग्रामानुग्राम विचरते हुए वह केशीकुमार किसी समय श्रावस्ती नामक नगरी में पधारे।

टीका–वह श्रमण श्रीकेशीकुमार जो कि मति, श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को यथावत् जानते थे, अपने शिष्यों के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए अर्थात् धर्मोपदेश के द्वारा परोपकार करते हुए श्रावस्ती नामक नगरी में पधारे।

यद्यपि मूलपाठ में केवल, अवधि और श्रुतज्ञान का ही उल्लेख हुआ है, मतिज्ञान का उसमे निर्देश नहीं किया गया, परन्तु नन्दी सिद्धान्त का कथन है कि जहां पर श्रुतज्ञान होता है, वहा पर मतिज्ञान अवश्यमेव होता है और जहां पर मतिज्ञान है, वहां पर श्रुतज्ञान भी है। इसलिए हमने मति, श्रुत और अवधि तीनों का निर्देश किया है। जैसे पुत्र का नाम निर्देश करने से पिता का ज्ञान

भी साथ ही हो जाता है, इसी प्रकार एक के ग्रहण से दोनों का ग्रहण कर लेना शास्त्र-सम्मत है।

श्रावस्ती नगरी में वे जिस स्थान पर ठहरे, अब उसी का वर्णन करते हैं-

तिन्दुयं नाम उज्जाणं, तम्मि नगरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ४ ॥

तिन्दुकं नामोद्यानं, तस्मिन् नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः-**तिन्दुयं**-तिंदुक, **नाम**-नाम वाले, **उज्जाणं**-उद्यान, **तम्मि**-उस, **नगरमण्डले**-नगर के समीप में, **फासुए**-निर्दोष, **सिज्ज**-शय्या, **संथारे**-संस्तारक पर, **तत्थ**-उस उद्यान में, **वासं**-निवास-अवस्थान को, **उवागए**-प्राप्त हुए।

मूलार्थ-उस नगर के समीपवर्ती तिन्दुक नामक उद्यान में वे निर्दोष शय्या-संस्तारक पर अवस्थान को प्राप्त हुए अर्थात् विराजमान हुए।

टीका-श्रीकेशीकुमार श्रमण ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्रावस्ती में पधारे और श्रावस्ती के समीपवर्ती तिन्दुक नामक उद्यान में उन्होंने जीव-जन्तु से रहित निर्दोष भूमि को देखकर किसी शिलाफलक आदि पर अपना आसन लगा दिया अर्थात् शांति पूर्वक समाहित चित्त से वे उस उद्यान मे निवास करने लगे।

प्रस्तुत गाथा मे '**तम्मि नयरमंडले**' इस वाक्य में '**नयरी**' के स्थान में जो लिंग का व्यत्यय है वह आर्ष वाक्य होने से किया गया है, अन्यथा स्त्रीलिंग का निर्देश होना चाहिए था। '**मंडल**' शब्द यहा पर सीमा का वाचक है जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि वह उद्यान श्रावस्ती के अति दूर व अति निकट नहीं, किन्तु नगरी के समीप ही था।

तदनन्तर जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हैं-

अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे ।
भगवं वद्धमाणित्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥ ५ ॥

अथ तस्मिन्नेव काले, धर्मतीर्थकरो जिनः ।
भगवान् वर्धमान इति, सर्वलोके विश्रुतः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः-**अह**-अनन्तर, **तेणेव**-उसी, **कालेणं**-काल में, **धम्मतित्थयरे**-धर्मरूप तीर्थ के करने वाले, **जिणे**-राग-द्वेष को जीतने वाले, **भगवं**-भगवान्, **वद्धमाणित्ति**-वर्धमान इस नाम से, **सव्वलोगम्मि**-सर्व लोक में, **विस्सुए**-विशेष रूप से प्रसिद्ध।

मूलार्थ–उस समय में सर्वलोक में विख्यात, राग-द्वेष के जीतने वाले भगवान् वर्द्धमान धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक थे।

टीका–जिस समय तेईसवें तीर्थकर भगवान् श्री पार्श्वनाथ के सन्तानीय शिष्य केशीकुमार श्रावस्ती में आए उस समय धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक भगवान् वर्द्धमान स्वामी जिन अर्थात् तीर्थंकर के नाम से लोक में विख्यात हो रहे थे। तात्पर्य यह है कि वह समय भगवान् वर्द्धमान स्वामी के शासन का था।

यहां पर '**अथ**' शब्द उपन्यास अर्थ में आया हुआ है और सप्तमी के स्थान में तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

अब उनके प्रधान शिष्य गौतममुनि के विषय में कहते हैं–

तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसे महायसे ।
भगवं गोयमे नामं, विज्जाचरणपारगे ॥ ६ ॥

तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशाः ।
भगवान् गौतमो नाम, विद्याचरणपारगः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–**तस्स**–उस, **लोगपईवस्स**–लोक-प्रदीप का, **महायसे**–महान् यश वाला, **सीसे**–शिष्य, **आसि**–हुए, **भगवं**–भगवान्, **गोयमे**–गौतम, **नामं**–नाम से प्रसिद्ध और, **विज्जा**–विद्या, **चरण**–चारित्र के, **पारगे**–पारगामी।

मूलार्थ–उन लोक-प्रदीप श्रीमहावीर के महान् यश वाले एक शिष्य थे जो भगवान् 'गौतम' के नाम से प्रसिद्ध और विद्या तथा चारित्र के पारगामी थे।

टीका–जब भगवान् श्री वर्धमान स्वामी धर्मरूप तीर्थ की स्थापना कर चुके, अर्थात् धर्मोपदेश करने में प्रवृत्त हो चुके थे तब विद्या और चारित्र के पारगामी '**गौतम**' इस नाम से विख्यात एक महान् यशस्वी पुरुष उनके शिष्य हुए जोकि भगवान् के दस गणधरों–मुख्य शिष्यों में से प्रथम थे। उन्हीं का प्रस्तुत गाथा में उल्लेख किया गया है। यद्यपि इनका असली नाम इन्द्रभूति था और गौतम उनका गोत्र था, परन्तु उनकी प्रसिद्धि गोत्र के नाम से ही हुई। इसलिए न्यायदर्शन के कर्त्ता गौतम, और बौद्धमत के प्रवर्तक गौतम बुद्ध से ये पृथक् तीसरे गौतम हैं*। ये जाति के ब्राह्मण और वेदादि शास्त्रों के पूर्णवेत्ता थे, इन्होंने भगवान् महावीर स्वामी के पास आकर उनसे शास्त्रार्थ किया और बहुत से प्रश्न पूछे। उनका यथार्थ उत्तर मिलने पर और अपने

*** बहुत से इतिहास लेखकों ने इस विषय में बड़ी भूल की है।**

सम्पूर्ण संशयों की निवृत्ति हो जाने पर इन्होंने अपने आपको भगवान् के अर्पण कर दिया, अर्थात् उनके शिष्य हो गए—उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। ये भगवान् के प्रथम गणधर हुए।

अब इनके विद्या और चारित्र के सम्बन्ध में तथा शिष्य-समुदाय और देश-यात्रा के विषय में उल्लेख करते हैं यथा—

बारसंगविऊ बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते, सेवि सावत्थिमागए ॥ ७ ॥

द्वादशाङ्गविद् बुद्धः, शिष्यसंघसमाकुलः ।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, सोऽपि श्रावस्तीमागतः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**बारसंग**—द्वादशांग के, **विऊ**—वेत्ता, **बुद्धे**—तत्त्व के ज्ञाता, **सीससंघ**—शिष्य समुदाय से, **समाउले**—व्याप्त, **गामीणुगामं**—ग्रामानुग्राम—एक से दूसरे ग्राम में, **रीयन्ते**—विचरते हुए, **सेवि**—वे भी, **सावत्थिं**—श्रावस्ती नगरी में, **आगए**—पधार गए।

मूलार्थ—द्वादशांग वाणी के जानने वाले और तत्त्वों के ज्ञाता अपने शिष्य-समुदाय से आकीर्ण, ग्रामानुग्राम विचरते हुए वे गौतम भी श्रावस्ती नगरी में पधारे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में गौतम स्वामी के विद्या और चारित्र का उल्लेख करने के साथ-साथ उनकी प्रभाविकता का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है। गौतम स्वामी द्वादशाग वाणी के पारगामी तथा तत्त्व के यथार्थ वेत्ता थे और उनका शिष्य-समुदाय भी पर्याप्त था। वे ग्रामानुग्राम विचरते हुए और अपने धर्मोपदेशों के द्वारा अनेक भव्य जीवो को प्रतिबोध देते हुए उसी श्रावस्ती नगरी मे पधारे, जहा पर कि श्री केशीकुमार श्रमण विराजमान थे।

'बुद्ध' शब्द का अर्थ है—हेय, ज्ञेय और उपादेय के जानने वाले और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिपदी के द्वारा पदार्थो के स्वरूप को यथावत् समझने और समझाने वाले।

श्रावस्ती में आने के बाद वे जिस स्थान पर विराजमान हुए अब उसका उल्लेख करते हैं, यथा—

कोट्ठगं नाम उज्जाणं, तम्मि नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ८ ॥

कोष्ठकं नामोद्यानं, तस्मिन्नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**कोट्ठगं**—कोष्ठक, **नाम**—नाम वाला, **उज्जाणं**—उद्यान, **तम्मि**—उस, **नयर**—नगर

के, **मंडले**—समीप था, **फासुए**—प्रासुक, **सिज्ज**—शय्या और, **संथारे**—संस्तारक पर, **तत्थ**—उस उद्यान में, **वासं**—निवास को, **उवागए**—प्राप्त किया।

मूलार्थ—उस नगर के समीपवर्ती कोष्ठक नाम के उद्यान में शुद्ध—निर्दोष वस्ती और संस्तारक—फलकादि पर वे विराजमान हो गए।

टीका—श्रावस्ती नगरी में पधारने के अनन्तर श्री गौतम स्वामी उसके समीपवर्ती कोष्ठक नाम के उद्यान में पहुचे। वहां पर निवास के लिए निर्दोष—जीवादि से रहित वस्ती और फलकादि की वहा के स्वामी से आज्ञा लेकर उस उद्यान में वे विराजमान हो गए। प्रासुक—निर्दोष, शय्या—वस्ती—निवास योग्य भूमि, संस्तारक—शिला-पट्टक अथवा तृण आदि लेने योग्य वस्तु। तात्पर्य यह है कि उन्होंने इन सब उपयोगी वस्तुओं को वहां के स्वामी की आज्ञा से ग्रहण किया। साधु को आज्ञा के बिना किसी भी वस्तु के ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। यदि वह बिना आज्ञा के ग्रहण क्र लेवे तो उसका तृतीय व्रत—अचौर्य व्रत दूषित हो जाता है।

श्रावस्ती नगरी के समीपवर्ती भिन्न-भिन्न दो उद्यानों मे श्रीकेशीकुमार और गौतम स्वामी ये दोनों ही मुनीश्वर अपने-अपने शिष्य-परिवार के साथ विराजमान हो गए और दोनों ही वहा पर विचरने लगे।

अब उनकी विहरणशीलता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमे य महायसे ।
उभओवि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥ ९ ॥

केशीकुमार श्रमणः, गौतमश्च महायशाः ।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्, आलीनौ सुसमाहितौ ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—केसीकुमार—केशीकुमार, **समणे**—श्रमण, **य**—और, **गोयमे**—गौतम, **महायसे**—महान् यश वाले, **उभओवि**—दोनों ही, **तत्थ**—उस श्रावस्ती नगरी में, **विहरिंसु**—विचरने लगे, **अल्लीणा**—इन्द्रियो को वश में रखने वाले, **सुसमाहिया**—समाधि से युक्त।

मूलार्थ—महान् यश वाले श्रमण केशीकुमार और श्रीगौतमस्वामी दोनों ही उस नगरी में विचरने लगे, ये दोनों ही इन्द्रियों को वश में रखने वाले और ज्ञानादि समाधि से युक्त थे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उक्त दोनों महर्षियों के श्रावस्ती में विचरने और उनके दान्त और समाहित चित्त होने का वर्णन किया गया है। ये दोनों ही महान् यशस्वी थे। विद्या और तप के प्रभाव से उनका सर्वत्र यश फैला हुआ था। वे शान्त-दान्त थे, अर्थात् मन, वचन और शरीर पर उनका पूर्ण अधिकार था। समस्त इन्द्रियां उनके वश में थीं और उनका मन निर्विकार अतएव

शान्त और समाधियुक्त था। वे दोनों महात्मा, परस्पर की निन्दा और पैशुन्यादि दोषों से सर्वथा रहित और स्वाध्याय तथा स्वात्म ध्यान में सदा निमग्न रहते थे, इसलिए श्रावस्ती में उनके विचरने अर्थात् निवास करने से धर्म की अधिकाधिक प्रभावना हो रही थी।

'विहरिंसु' यह बहुवचन की क्रिया प्राकृत में द्विवचन का अभाव होने से प्रयुक्त की गई है।

तदनन्तर जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं–

उभओ सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं ।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना, गुणवन्ताण ताइणं ॥ १० ॥

उभयोः शिष्यसंघानां, संयतानां तपस्विनाम् ।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना, गुणवतां त्रायिणाम् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–उभओ–दोनों के, **सीससंघाणं**–शिष्य वर्ग को, **संजयाणं**–संयतों को **तवस्सिणं**–तपस्वियों को, **तत्थ**–वहां पर, **चिन्ता**–शका, **समुप्पन्ना**–उत्पन्न हुई, **गुणवन्ताण**–गुणवानो और **ताइणं**–षट्काय के रक्षको को।

मूलार्थ–वहां पर दोनों के उस शिष्य-समूह के अन्तःकरण में शंका उत्पन्न हुई, जो शिष्य-समूह संयत, गुणवान् तपस्वी और षट्काय का रक्षक था।

टीका–जब केशीकुमार श्रमण और गौतम मुनि श्रावस्ती के भिन्न-भिन्न उद्यानों मे ठहरे हुए थे, तब किसी समय दोनो के शिष्य-समुदाय की–नगरी में आहारादि लाने के निमित्त आगमन होने पर–आपस मे भेंट हो गई। दोनो ने एक दूसरे की ओर देखा और परस्पर के अवलोकन से दोनो के मन में एक-दूसरे के लिए कई प्रकार के विकल्प उत्पन्न होने लगे। यद्यपि वे सब ज्ञानादि गुणो से युक्त, सयमशील और परम तपस्वी थे, तथा पट्काय की विराधना से मुक्त और उसकी रक्षा में सदा सावधान रहने वाले थे, तथापि पृथक्-पृथक् स्थानों में ठहरने और कतिपय नियमों मे एकता न होने से तथा वेष में भी विभिन्नता देखने से परस्पर एक दूसरे के लिए शकाओं और विकल्पों का मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक सी बात है, इसलिए दोनों महर्षियो के शिष्य-समुदाय के अन्तःकरण में एक दूसरे के लिए सन्देह उत्पन्न हुआ।

अब उसी सन्देह अथवा शंका के सम्बन्ध में कहते हैं–

केरिसो वा इमो धम्मो, इमो धम्मो व केरिसो ।
आयारधम्मप्पणिही, इमा वा सा वा केरिसी ॥ ११ ॥

कीदृशो वायं धर्मः, अयं धर्मो वा कीदृशः? ।
आचारधर्मप्रणिधिः, अयं वा स वा कीदृशः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—केरिसो—कैसा है, **वा**—अथवा, **इमो**—यह, **धम्मो**—धर्म, **व**—अथवा, **केरिसो**—कैसा है, **आयार**—आचार, **धम्म**—धर्म, **प्पणिही**—प्रणिधि, **इमा**—यह हमारी, **वा**—अथवा, **सा**—इनकी, **केरिसी**—कैसी है, **व**—परस्पर अर्थ में है।

मूलार्थ—हमारा धर्म कैसा है ? इनका धर्म कैसा है ? तथा हमारी और इनकी आचार एवं धर्म-प्रणिधि कैसी है?

टीका—जब दोनों का शिष्य-समुदाय एक दूसरे की ओर देखने लगा तब केशीकुमार के शिष्यों ने विचार किया कि हमारा धर्म कैसा है ? और इन गौतम के शिष्यों का धर्म कैसा है ? तथा जो बाह्य वेष है, वही धर्म हो रहा है, जिसके प्रभाव से जीव २१वें देवलोक तक जा सकते हैं। वही आचार की प्रणिधि (व्यवस्थापन) है, वह हमारी और इनकी कैसी है ? तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ के कहे हुए धर्म में भेद नहीं होना चाहिए, परन्तु यहां पर भेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, कारण यह कि इनका वेष और प्रकार का है तथा हमारा और प्रकार का। यदि हम दोनों समुदाय एक ही धर्म के अनुयायी हैं तो फिर हमारे आचार-विचार में भेद क्यों ?

इसी प्रकार का सन्देह-मूलक विचार गौतम स्वामी के शिष्यों के मन में भी उत्पन्न हुआ। '**आचार**' शब्द से यहां पर बाह्य आचार का ग्रहण अभिप्रेत है—'**आचरणमाचारो वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलाप इत्यर्थः**' अर्थात् वेष-धारणादि जो बाह्य-कलाप हैं सो आचार है। तथा '**वा**' शब्द यहां पर विकल्प और पुनः अर्थ में आया है और '**इमा**' शब्द '**अयं**' शब्द के अर्थ मे ग्रहण किया गया है। प्रणिधि शब्द से मर्यादा विधि की सूचना दी गई है।

अब उक्त चिन्ता को प्रकट करते हुए कहते हैं—

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥ १२ ॥

चातुर्यामश्च यो धर्मः, योऽयं पंचशिक्षितः ।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—चाउज्जामो—चतुर्यामरूप, **जो**—जो, **धम्मो**—धर्म, **य**—और, **जो**—जो, **इमो**—यह, **पंचसिक्खिओ**—पांच शिक्षारूप धर्म, **देसिओ**—उपदेश किया है, **वद्धमाणेण**—वर्धमान स्वामी ने, **य**—और, **पासेण**—पार्श्वनाथ, **महामुणी**—महामुनि ने।

मूलार्थ—महामुनि पार्श्वनाथ ने चतुर्यामरूप धर्म का और वर्धमान स्वामी ने पांच शिक्षारूप धर्म का उपदेश किया है।

टीका—केशीकुमार और गौतमस्वामी के शिष्यो को जिन कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ उनका आंशिक स्पष्टीकरण इस गाथा में किया गया है। भगवान् श्री पार्श्वनाथ ने तो चतुर्यामरूप

धर्म अर्थात् अहिंसा आदि चार यमों—महाव्रतों की प्ररूपणा की है और श्री वर्धमान स्वामी ने पांच शिक्षारूप धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय—अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पांच महाव्रतों का उपदेश दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि इन दोनों महापुरुषों का सिद्धान्त एक ही है तो फिर धर्म के इन नियमों में संख्या-भेद क्यों है ? महामुनि श्री पार्श्वनाथ ने साधु के महाव्रतों की सख्या चार ही मानी है, अर्थात् उनके सिद्धांत में साधु के चार ही महाव्रत हैं। वे अहिंसा, सत्य और अस्तेय इन तीन महाव्रतां के अतिरिक्त चौथा अपरिग्रहरूप महाव्रत मानते हैं, अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत को स्वतत्र न मान कर उसका अपरिग्रह में ही अन्तर्भाव कर दिया गया है, अथवा यू कहिए कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दोनों को उन्होंने चतुर्थ नियम में ही समाविष्ट कर लिया है।

श्री वर्धमान स्वामी ने इस सिद्धान्त को अगीकार नही किया, उन्होंने तो ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दोनो को स्वतत्र व्रत मानकर महाव्रतो की संख्या पांच मानी है। इस संख्यागत न्यूनाधिकता को लेकर सिद्धान्त विपयक मत-भेद की आशंका का होना कोई अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए श्रीकेशीकुमार और गौतम के शिष्यो के अन्तःकरण में संशय उत्पन्न हुआ कि इसमें सत्यता कहा पर है ? अर्थात् भगवान् श्री पार्श्वनाथ का चातुर्याम सिद्धान्त ठीक है अथवा श्री वर्धमान स्वामी का पांच शिक्षारूप सिद्धान्त सत्य है ? क्योकि धर्म की फल-श्रुति मे इनका एक ही सिद्धान्त है, अर्थात् धर्म के फल में किसी को विसंवाद नही है।

यहां पर '**महामुनि**' यह तृतीया के स्थान पर प्रथमान्त पद का प्रयोग प्राकृत के नियम से किया गया है।

इस प्रकार संख्यागत भेद के कारण धर्म के अन्तरंग नियमों में संदेह उत्पन्न होने के साथ-साथ उसके बाह्य आचार—वेषादि के विषय में उनको जो भ्रम उत्पन्न हुआ अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो ।
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ? ॥ १३ ॥

अचेलकश्च यो धर्मः, योऽयं सान्तरोत्तरः ।
एककार्यप्रपन्नयोः, विशेषे किंनु कारणम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**अचेलगो**—अचेलक, **जो**—जो, **धम्मो**—धर्म है, **य**—और, **जो**—जो, **इमो**—यह, **संतरुत्तरो**—प्रधान वस्त्ररूप अथवा बहुमूल्य वस्त्ररूप जो धर्म है, **एगकज्ज**—एक कार्य को, **पवन्नाण**—प्राप्त हुए, **विसेसे**—विशेष में, **किं**—क्या, **नु**—वितर्क अर्थ मे है, **कारणं**—कारण है।

मूलार्थ—अचेलक जो धर्म है और सचेलक जो धर्म है, एक कार्य को प्राप्त हुए इन

दोनों में इस भेद का कारण क्या? अर्थात् जब फल दोनों का एक है तो फिर इनमें भेद क्यों डाला गया है ?

टीका—भगवान् श्री वर्धमान स्वामी ने तो अचेलक धर्म स्वल्प ओर जीर्ण वस्त्र-धारणरूप का धर्म प्रतिपादन किया है और श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने विशिष्ट वस्त्र—बहुमूल्य धारण रूप का कथन किया है, तात्पर्य यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ के मत में तो साधु के लिए विशिष्ट वस्त्र—बहुमूल्य वस्त्र रखने और धारण करने का आदेश है और श्री वर्धमान स्वामी ने साधु को अचेलक रहने अर्थात् अल्प मूल्य जीर्ण-प्राय वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी है, जब कि दोनों का मतव्य एक है, दोनों की एक ही साध्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति है तो फिर वस्त्रादि के विषय में मत-भेद क्यो ? यही इस गाथा का अभिप्राय है।

यहां पर '**अचेलक**' शब्द का नञ् अल्पार्थ का वाचक है, उसका अर्थ है—मानोपेत श्वेत वस्त्र, वा कुत्सित—जीर्ण श्वेत वस्त्र। तथा जिन-कल्प की अपेक्षा अचेलक का अर्थ है—वस्त्र का अभाव अर्थात् सर्वथा वस्त्र रहित होना। सारांश यह है कि श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने तो सचेलक धर्म का प्रतिपादन किया है और उसके विरुद्ध श्री वर्धमान स्वामी तो अचेलक धर्म के संस्थापक है, अतः यह वेष-सम्बन्धी विभेद प्रत्यक्ष सिद्ध है।

शिष्यों के इस प्रकार के सन्देह-मूलक विचारों को देखकर श्री केशीकुमार श्रमण और श्री गौतम स्वामी ने जो विचार किया अब उसका वर्णन करते हैं—

अह ते तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवितक्कियं ।
समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ॥ १४ ॥

अथ तौ तत्र शिष्याणां, विज्ञाय प्रवितर्कितम् ।
समागमे कृतमती, उभौ केशिगौतमौ ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—इसके अनन्तर, **ते**—वे दोनों, **तत्थ**—उस नगरी में, **सीसाणं**—शिष्यों के, **विन्नाय**—जानकार, **पवितक्कियं**—प्रवितर्कित—प्रश्न को, **समागमे**—परस्पर मिलने में, **कयमई**—की है बुद्धि जिन्होने, **उभओ**—दोनों ही, **केसिगोयमा**—केशि और गौतम।

मूलार्थ—इसके अनन्तर केशीकुमार और गौतम मुनि इन दोनों ने शिष्यों के इस प्रकार के शंकामूलक तर्क को जानकर परस्पर समागम करने—मिलने का विचार किया।

टीका—जिस समय केशीकुमार और गौतम मुनि का शिष्य-समुदाय अपने-अपने स्थान पर पहुंचा और उनके मार्ग में मिलने से उत्पन्न हुए संशय को जब दोनों ने जाना तब उनके सन्देह को दूर करने के लिए अर्थात् भगवान् श्री पार्श्वनाथ और श्री वर्धमान स्वामी के सिद्धान्तों में जो भेद प्रतीत हो रहा था उसका वास्तविक रहस्य क्या है, इत्यादि विषय को स्पष्ट करके उनके

सन्देह को दूर करने के लिए उक्त दोनों महर्षियों ने परस्पर मिलकर वार्तालाप करना ही उचित समझा, इसलिए दोनों के अन्तःकरणों में पारस्परिक विचार-विनिमय करने की भावना उत्पन्न हुई।

इस सन्दर्भ से यह भली-भांति प्रतीत होता है कि संशय की निवृत्ति के लिए तथा संघ मे शांति की स्थापना के लिए परस्पर मिलने और एक दूसरे के स्थान पर जाकर प्रेम-पूर्वक वार्तालाप करने में सज्जन पुरुष कभी संकोच नहीं करते, क्योंकि उनके हृदय में संकीर्णता का कोई स्थान नहीं होता।

तदनन्तर क्या हुआ, इसका वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–

गोयमे पडिरूवन्नू, सीससंघसमाउले ।
जेट्ठं कुलमवेक्खन्तो, तिन्दुयं वणमागओ ॥ १५ ॥

गौतमः प्रतिरूपज्ञः, शिष्यसंघसमाकुलः ।
ज्येष्ठं कुलमपेक्षमाणः, तिन्दुकं वनमागतः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–**गोयमे**–गौतम, **पडिरूवन्नू**–विनय के जानने वाले, **सीससंघ**–शिष्य समुदाय से, **समाउले**–व्याप्त, **जेट्ठं**–ज्येष्ठ–बड़े, **कुलं**–कुल को, **अवेक्खन्तो**–देखते हुए, **तिन्दुयं**–तिन्दुक **वणं**–वन मे, **आगओ**–पधारे।

मूलार्थ–विनय धर्म के जानकार गौतम मुनि ज्येष्ठ–बड़े कुल को देखते हुए अपने शिष्य-मंडल के साथ तिन्दुक वन में, (जहां पर श्री केशीकुमार श्रमण ठहरे हुए थे) पधारे।

टीका–जब दोनो महर्षियो के मन मे परस्पर मिलन का विचार स्थिर हो गया तब विनय धर्म के ज्ञाता श्रीगौतम मुनि ने अपने मन में विचारा कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् तेईसवे तीर्थकर हैं और यह केशीकुमार उन्हीं की शिष्य-परम्परा मे से हैं, अतः भगवान् श्री पार्श्वनाथ का जो कुल है वह ज्येष्ठ है और उनकी शिष्य परम्परा में होने से केशीकुमार भी हमारे ज्येष्ठ–बड़े हैं अतः मुझे ही उनके पास जाना चाहिए। यह विचार करके गौतम मुनि अपने शिष्य-समुदाय को साथ लेकर श्रमण केशीकुमार से मिलने की इच्छा से तिन्दुक नामक उद्यान में आए।

प्रस्तुत गाथा में योग्यता, प्रतिरूपज्ञता–विनीतता और विचारशीलता तथा कुल-मर्यादा का प्रतिपालन आदि सत्पुरुषोचित गुण-समुदाय का दिग्दर्शन बड़ी ही सुन्दरता से कराया गया है। यह गुण-समुदाय सत्पुरुषों के जीवन की विशिष्टता को परखने की उत्तम कसौटी है। इसके अतिरिक्त सत्पुरुषो के समागम में आने से मुमुक्षु जनों को कितना लाभ हो सकता है और विषय-सन्तप्त हृदयों में किस अंश तक शान्ति का स्रोत बहने लगता है, इत्यादि की कल्पना भी इस प्रकरण से सहज में की जा सकती है।

जिस समय गौतम मुनि तिन्दुक उद्यान में केशीकुमार श्रमण के निकट पहुंचे उस समय उनके साथ केशीकुमार मुनि ने जिस सद्भावना को व्यक्त किया अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडिवत्तिं, सम्मं संपडिवज्जई ॥ १६ ॥

केशीकुमारश्रमणः, गौतमं दृष्ट्वाऽऽगतम् ।
प्रतिरूपां प्रतिपत्तिम्, सम्यक् संप्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—केसीकुमार समणे—केशीकुमार श्रमण, **गोयमं**—गौतम को, **आगयं**—आते हुए, **दिस्स**—देखकर, **पडिरूवं**—प्रतिरूपयोग्य, **पडिवत्तिं**—प्रतिपत्ति-भक्ति को, **सम्मं**—सम्यक्—भली प्रकार, **संपडिवज्जई**—ग्रहण करते हैं।

मूलार्थ—श्री गौतम मुनि को आते हुए देखकर श्रमण केशीकुमार ने भक्ति-बहुमान-पुरस्सर उनका स्वागत किया।

टीका—श्रमण केशीकुमार ने जब देखा कि भगवान् श्री वर्धमान स्वामी के गणधर गौतम मुनि अपने शिष्य-परिवार को साथ में लेकर तिन्दुक वन में उनके पास आ रहे हैं तब उन्होंने अभ्युत्थान देते हुए बहुमान-पुरस्सर, बड़े प्रेम के साथ उनका स्वागत किया, अर्थात् योग्य पुरुषों का, योग्य पुरुष जिस प्रकार से सन्मान करते हैं उसी प्रकार से उन्होंने (केशीकुमार श्रमण ने) गौतम स्वामी का सम्मान किया।

प्रस्तुत गाथा के द्वारा श्रमण केशीकुमार की विशिष्ट योग्यता का परिचय देने के साथ-साथ भारतीय-सभ्यता के अतिथि सेवारूप प्राचीन उज्ज्वल आदर्श का भी आंशिक परिचय दे दिया गया है और वास्तव में देखा जाए तो सत्पुरुषों का यह स्वभाव-सिद्ध व्यवहार है कि उनके पास यदि कोई साधारण व्यक्ति भी आए तो उसका भी वे उसकी योग्यता से अधिक आदर करते हैं। फिर गौतम मुनि जैसे आदर्श साधु के लिए तो जितना भी सन्मान दिया जाए उतना कम है, इसी आशय से केशीकुमार द्वारा आचरण किए जाने वाले सद्व्यवहार के लिए सूत्रकार ने **'पडिरूवं पडिवत्तिं-प्रतिरूपां प्रतिपत्तिम्'** इस वाक्य का प्रयोग किया है जिससे कि केशीकुमार की सद्भावना में अंशमात्र भी विकृति का समावेश न होने पाए।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि अपने पास आने वाले आगन्तुक पुरुष के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इस बात की शिक्षा वह इस गाथा के भावार्थ से ग्रहण करें।

अब इसी विषय को अर्थात् केशीकुमार द्वारा किए जाने वाले गौतम मुनि के सन्मान को विशेष रूप से व्यक्त करते हैं—

पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए ॥ १७ ॥

पलालं प्रासुकं तत्र, पंचमं कुशतृणानि च ।
गौतमस्य निषद्यायै, क्षिप्रं संप्रणामयति ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—पलालं—पलाल, **फासुयं**—प्रासुक, **तत्थ**—वहां पर, **कुस**—कुशा, **य**—और, **तणाणि**—तृण, **पंचमं**—पांचवां, **गोयमस्स**—गौतम के, **निसिज्जाए**—बैठने के लिए, **खिप्पं**—शीघ्र, **संपणामए**—समर्पण करने लगे—समर्पित किया।

मूलार्थ—उस वन में जो प्रासुक-निर्दोष पलाल, कुश और तृणादि थे वे गौतम मुनि के बैठने के लिए शीघ्र ही उपस्थित कर दिए गए।

टीका—तिन्दुक वन में उपस्थित हुए गौतम स्वामी का भक्ति और प्रेम-पुरस्सर स्वागत करने के अनन्तर केशीकुमार मुनि ने गौतम स्वामी के बैठने के लिए उस वन में रहे हुए पाच प्रकार के पलाल, कुश और तृणादि—जो कि मुनि के लिए उपादेय कहे गए है—शीघ्र ही उपस्थित कर दिए। तात्पर्य यह है कि आसनादि प्रदान के द्वारा उनकी प्रतिपत्ति अर्थात् भक्ति की।

शास्त्रो मे साधु के लिए पांच प्रकार के तृणादि के ग्रहण करने का विधान है, यथा—

'तिण-पणगं पुण भणियं, जिणेहिं कम्मट्ठगंठिमद्दणेहिं ।
साली वीही कोद्दव रालग रण्णेतिणाइं च ॥'

तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्र देव ने अष्टविध कर्मो के मर्दन के लिए पांच प्रकार के तृण बताए हैं, यथा—शाली, ब्रीही, कोद्दव, रालक और अरण्य-तृण आदि।

केशीकुमार ने आसनादि रूप में ये तृणादि जो कि उस समय उनके पास विद्यमान थे—उनको अर्पित किए। इसी प्रकार केशीकुमार के शिष्यों ने गौतम स्वामी के शिष्यों का यथायोग्य सत्कार किया, यह बात भी उक्त गाथा के आन्तरिक भाव पर विचार करने से ध्वनित होती है।

इस भांति पारस्परिक शिष्टाचार के अनन्तर जब वे दोनों महापुरुष अपने-अपने आसनों पर विराजमान हो गए तब उनकी शोभा किस प्रकार की थी, अर्थात् वे किस प्रकार से सुशोभित हो रहे थे, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

केसीकुमारसमणे, गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहन्ति, चन्दसूरसमप्पभा ॥ १८ ॥

केशीकुमारश्रमणः, गौतमश्च महायशाः ।
उभौ निषण्णौ शोभेते, चन्द्रसूर्यसमप्रभौ ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—केसीकुमार समणे—श्रमण केशीकुमार, **य**—और, **गोयमे**—गौतम, **महायसे**—महान् यश वाले, **उभओ**—दोनों ही, **निसण्णा**—बैठे हुए, **सोहन्ति**—शोभा पाते हैं, **चन्दसूरसमप्पभा**—चन्द्र और सूर्य के समान प्रभा वाले।

मूलार्थ—श्रमण केशीकुमार और महायशस्वी गौतम ये दोनों ही बैठे हुए ऐसे शोभा पा रहे थे जैसे अपनी कान्ति से चन्द्र और सूर्य शोभा पाते हैं।

टीका—इस गाथा में उपमा अलंकार के द्वारा केशीकुमार और गौतम मुनि को चन्द्रमा और सूर्य के रूप में वर्णित किया गया है। यथा—चन्द्रमा और सूर्य के समान प्रभा-कान्ति वाले वे दोनों महापुरुष अपने-अपने आसनों पर बैठे हुए सुशोभित हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे चन्द्रमा और सूर्य अपनी कान्ति से संसार को आल्हादित और प्रकाशित करते हैं, तद्वत् वे दोनों मुनीश्वर अपने शान्ति और तेजस्विता आदि सद्गुणों से भव्य जीवों को उपकृत कर रह थे।

यहां पर चन्द्रमा के समान केशीकुमार और सूर्य के समान गौतम मुनि को समझना चाहिए, कारण यह है कि प्रस्तुत गाथा का जो वर्णन-क्रम है उसके अनुसार ऐसा ही प्रतीत होता है। इस कल्पना के लिए एक और भी कारण है वह यह कि भगवान् श्री वर्धमान स्वामी ने अपने शासन में जिस पद्धति को स्थान दिया है, उसमें समय की अपेक्षा, भगवान श्री पार्श्वनाथ के शासन की अपेक्षा तपश्चर्या को अधिक स्थान दिया है, अतः उनके शासन पर चलने वाले गौतम मुनि में तपोबल की प्रधानता होने से उनको सूर्य से उपमित करना कुछ अधिक सुन्दर प्रतीत होता है और वास्तव मे तो दोनों—केशीकुमार और गौतम मुनि—के लिए सूर्य और चन्द्रमा की उपमा देना किसी प्रकार से असगत नहीं है।

सारांश यह है कि अपने शिष्य-समुदाय के साथ तपोवन में विराजमान हुए ये दोनों महापुरुष सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभा पा रहे थे।

इस प्रकार तिन्दुक वन में उन दोनों महात्माओं के समागम के पश्चात् जो कुछ हुआ अब उसका उपक्रम करते हुए कहते हैं—

समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगासिया ।
गिहत्थाणं अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥ १९ ॥

समागता बहवस्तत्र, पाखण्डाः कौतुकाश्रिताः ।
गृहस्थानामनेकानां, सहस्राणि समागतानि ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**समागया**—आ गए, **बहू**—बहुत से, **तत्थ**—उस स्थान पर, **पासंडा**—पाखण्डी लोग और, **कोउगासिया**—कुतूहल के आश्रित—कौतूहली लोग, **अणेगाओ**—अनेक, **गिहत्थाणं**—गृहस्थों के समूह, **साहस्सीओ**—सहस्रों हजारो, **समागया**—इकट्ठे हो गए।

मूलार्थ—उस वन में बहुत से पाखण्डी लोग और बहुत से कुतूहली लोग तथा हजारों की संख्या में गृहस्थ लोग भी एकत्रित हो गए। (उन दोनों महापुरुषों का शास्त्रार्थ सुनने के लिए)

टीका—जिस समय उस तिन्दुक वन मे वे दोनों मुनीश्वर तत्त्व-निर्णय के लिए एकत्रित हुए उस समय श्रावस्ती नगरी में भी उनके इस पारस्परिक धर्म-चर्चार्थ मिलने का पता लग गया। आम लोगों में यह बात फैल गई कि शास्त्रार्थ के लिए दोनों मुनीश्वर तिन्दुक वन में एकत्रित हो रहे हैं। इस समाचार को सुनकर लोग हजारों की संख्या में वहां पर एकत्रित हो गए। उनमें बहुत से पाखण्डी—पाखण्डव्रतों के धारण करने वाले लोग और कौतुकी—कुतूहल के देखने वाले लोग भी उपस्थित थे। कौतुकी वे लोग कहे जाते हैं जो केवल मनोरजन के लिए उपस्थित हुए हों। किसी-किसी प्रति में **'कोउगासिया'** के स्थान पर **'कोउगामिया'** ऐसा पाठ भी है, उसका अर्थ है, कौतुकी और मृग, अर्थात् मृग पशु की तरह अज्ञानी अपने हित और अहित से अनभिज्ञ।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि जब गाथा मे पाखण्डी और कौतुकी आदि लोगों के नाम का उल्लेख किया जा चुका है तो फिर श्रावक लोगो के नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका समाधान यह है कि पाखण्डी कहने से अन्य दार्शनिकों का ग्रहण है और कौतुकी कहने से धर्म से पराङ्मुख केवल उपहासप्रिय व्यक्तियो का ग्रहण अभिमत है, तथा गृहस्थ कहने से जिज्ञासु और श्रावक लोगों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार शब्दों के देखने से अर्थ का निश्चय हो जाता है। कारण यह है कि जहां पर धर्माधिकार का विधान है वहां पर प्रायः **'गिहिधम्म—गृहस्थ धर्म'** इस प्रकार का तो उल्लेख मिलता है परन्तु **'सावगधम्म-श्रावक धर्म'** इस प्रकार का उल्लेख देखने में नहीं आता, इसलिए इसी नियम को दृष्टिगोचर रखकर यहां पर भी गृहस्थ शब्द से श्रावक का ग्रहण किया जा सकता है।

इस श्रोता-समुदाय के अतिरिक्त वहां पर और कौन-कौन आए, अब इस विषय में कहते हैं—

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो ॥ २० ॥

देवदानवगन्धर्वाः, यक्षराक्षसकिन्नराः ।
अदृश्यानां च भूतानाम्, आसीत् तत्र समागमः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—**देव**—देवता, **दाणव**—दानव, **गन्धव्वा**—गन्धर्व, **जक्ख**—यक्ष, **रक्खस**—राक्षस,

किन्नरा–किन्नर, **अदिस्साणं**–अदृश्य, **भूयाणं**–भूतों का, **च**–पुनः, **आसी**–हुआ, **तत्थ**–वहां पर, **समागमो**–समागम।

मूलार्थ–देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर तथा अदृश्य भूत इन सबका भी उस वन में समागम हुआ।

टीका–तिन्दुक नामक वन में हजारों व्यक्तियों के एकत्रित होने के अतिरिक्त अनेक प्रकार के देव-दानवों का भी समागम हुआ। यथा–देव–ज्योतिषी और वैमानिक, दानव–भवनपति देव विशेष, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर–व्यन्तर जाति के देव विशेष वहां पर एकत्रित हो गए। इनके अतिरिक्त अदृश्य भूतों का केलिकिल आदि वाणव्यन्तरों का भी वहां पर आगमन हुआ, जो कि उनके किल-किल शब्द से प्रमाणित हो रहा था। तात्पर्य यह है कि कुछ देवगण तो दृश्यरूप मे वहां पर उपस्थित थे और कुछ भूतगण अदृश्यरूप में वहां पर विद्यमान थे। इस बात को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं कि–**'एते चानन्तरमदृश्य विशेषणात् दृश्यरूपाः अदृश्यानां च भूतानां केलिकिलव्यन्तरविशेषाणामासीत्'** इत्यादि। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्यों के प्रति दिखने और न दिखने वाले देवगण भी उन दोनों महापुरुषों की धर्म-चर्चा को श्रवण करने के लिए वहां पर आए।

इस प्रकार मनुष्यों और देवों का समारोह हो जाने के अनन्तर उन दोनों महर्षियों के धार्मिक वार्तालाप का आरम्भ हुआ–

पुच्छामि ते महाभाग! केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवन्तं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ २१ ॥

पृच्छामि त्वां महाभाग! केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–**महाभाग**–हे महाभाग! **ते**–तुझे, **पुच्छामि**–पूछता हू, **केसी**–केशीकुमार, **गोयमं**–गौतम को, **अब्बवी**–कहने लगे, **तओ**–तदनन्तर, **केसिं**–केशी के, **बुवन्तं**–बोलने पर–उसके प्रति, **तु**–पुनः अर्थ का वा भिन्न क्रम का वाची है, **गोयमो**–गौतम, **इणं**–इस प्रकार, **अब्बवी**–कहने लगे।

मूलार्थ–केशीकुमार गौतम मुनि के प्रति कहने लगे कि–हे महाभाग! मैं तुम से पूछता हूं। केशीकुमार के इस प्रकार कहने पर गौतम मुनि ने इस प्रकार कहा–

टीका–जिस समय तिन्दुक वन का सभा-मण्डप मनुष्यो और देव-दानवों से भर गया और सबका चित्त उक्त दोनों महापुरुषों के विचार सुनने को उत्कंठित हो रहा था उस समय केशीकुमार ने प्रश्न पूछने की इच्छा प्रकट करते हुए गौतम स्वामी को सम्बोधित करके कहा कि–

"हे महाभाग ! अर्थात् अतिशय से युक्त, अचिन्त्य शक्ति वाले महापुरुष ! क्या मैं इस समय आप से कुछ पूछ सकता हूं ?" इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य यह है कि केशीकुमार के आशय को समझते हुए गौतम स्वामी उसके प्रति इस प्रकार बोले।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में प्रश्न की विधि का भी बड़ी सुन्दरता से निदर्शन करा दिया गया है। जैसे कि प्रश्न-कर्त्ता के लिए उचित यह है कि वह प्रश्न करने से पहले जिसके प्रति वह प्रश्न करना चाहता है, अथवा जिससे वह प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने की जिज्ञासा रखता है–उससे अनुमति–आज्ञा प्राप्त कर ले और उसके बाद प्रश्न करे। इससे किसी प्रकार के मनोमालिन्य की सम्भावना नहीं रह जाती।

इस प्रकार केशीकुमार के द्वारा प्रश्न पूछने की अनुमति प्राप्त करने के प्रस्ताव में उनके प्रति गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा अब उसका उल्लेख करते हैं–

पुच्छ भन्ते ! जहिच्छं ते, केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी ॥ २२ ॥

पृच्छतु भदन्त ! यथेष्टं ते, केशिनं गौतमोऽब्रवीत् ।
ततः केशी अनुज्ञातः, गौतममिदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः–**भन्ते**–हे भगवन् ! **जहिच्छं**–यथा इच्छा, **ते**–आपकी, **पुच्छ**–पूछें, **केसिं**–केशी के प्रति, **गोयमं**–गौतम, **अब्बवी**–बोले, **तओ**–तदनन्तर, **केसी**–केशीकुमार, **अणुन्नाए**–आज्ञा के मिल जाने पर, **गोयमं**–गौतम के प्रति, **इणं**–इस प्रकार, **अब्बवी**–बोले।

मूलार्थ–हे भगवन् ! आप अपनी इच्छा के अनुसार जो कुछ पूछना चाहें वह पूछें, यह गौतम ने केशी के प्रति कहा, तदनन्तर अनुज्ञा मिल जाने पर गौतम के प्रति केशी मुनि ने इस प्रकार कहा–

टीका–जब केशीकुमार ने गौतम स्वामी से प्रश्न पूछने की अनुज्ञा प्राप्त कर ली, अर्थात्, उन्होने प्रश्न पूछने की अनुमति देते हुए उनसे यह कह दिया कि आप बड़ी खुशी से जो चाहें सो पूछ सकते हैं, तब केशीकुमार ने उनके प्रति इस प्रकार कहा। यह इस गाथा का संकलित भावार्थ है।

प्रस्तुत गाथा में तथा इससे पहली गाथा में प्रश्नोत्तर के प्रस्ताव पर उक्त दोनों महापुरुषों का जो वार्तालाप हुआ है उसमे अर्थात् परस्पर के वार्तालाप में भाषा-समिति का कितनी सुन्दरता

से उपयोग किया गया है, यह बात सब से अधिक ध्यान देने के योग्य है। इन दोनों महर्षियों के पारस्परिक वार्तालाप में कितना विनय, कितना माधुर्य और कितनी सरसता है यह बात सहज ही ध्यान में आ सकती है। धर्मचर्चा के जिज्ञासुओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है।

इसके अतिरिक्त गाथा के द्वितीय पाद में **'गोयमं'** यह प्रथमा विभक्ति के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग सुप् व्यत्यय से हुआ है।

अनुज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् गौतम स्वामी के प्रति केशीकुमार श्रमण ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥ २३ ॥

चातुर्यामश्च यो धर्मः, योऽयं पंचशिक्षितः ।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—चाउज्जामो—चतुर्यामरूप, **जो**—जो, **धम्मो**—धर्म, **य**—और, **जो**—जो, **इमो**—यह, **पंचसिक्खिओ**—पांच शिक्षारूप धर्म, **देसिओ**—उपदेश किया है, **वद्धमाणेण**—वर्धमान स्वामी ने, **य**—और, **पासेण**—पार्श्वनाथ, **महामुणी**—महामुनि ने।

मूलार्थ—वर्धमान स्वामी ने पांच शिक्षारूप धर्म का कथन किया है और महामुनि श्री पार्श्वनाथ ने चतुर्यामरूप धर्म का प्रतिपादन किया है।

टीका—केशीकुमार ने गौतम स्वामी से प्रश्न किया कि—"हे गौतम् ! श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने चातुर्याम—चार महाव्रतरूप धर्म का कथन किया है और श्री वर्धमान ने पांच शिक्षारूप—पांच महाव्रत रूप धर्म का प्रतिपादन किया है। यद्यपि धर्म-सम्बन्धी नियम दोनों के एक ही है, परन्तु संख्या में अन्तर—भेद है, सो यह भेद क्यों ?

जैसे कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार महाव्रतों के रूप में चातुर्याम धर्म तो श्री पार्श्वनाथ का है तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पांच शिक्षारूप धर्म श्री वर्धमान स्वामी का है, सो इनमें संख्यागत भेद स्पष्ट है।

तथा—

एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं? ।
धम्मे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते ॥ २४ ॥

एककार्यप्रपन्नयोः, विशेषे किन्नु कारणम् ? ।
धर्मे द्विविधे मेधाविन् ! कथं विप्रत्ययो न ते ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः–**एग**–एक, **कज्ज**–कार्य में, **पवन्नाणं**–प्रवृत्त होने वालों में, **विसेसे**–विशेष भेद होने में, **किं**–क्या, **नु**–वितर्क, **कारणं**–कारण है ? **मेहावी**–हे मेधाविन् ! **धम्मे**–धर्म के, **दुविहे**–दो भेद हो जाने पर, **कहं**–कैसे, **विप्पच्चओ**–विप्रत्यय–संशय, **ते**–तुझे, **न**–नहीं है।

मूलार्थ–हे मेधाविन् ! एक ही कार्य में प्रवृत्त होने वालों के धर्म में विशेष-भेद होने में कारण क्या है ? अथच धर्म के दो भेद हो जाने पर आप को संशय क्यों नहीं होता ?

टीका–केशीकुमार गौतम मुनि से कहते हैं कि हे गौतम् ! जब कि भगवान् श्री पार्श्वनाथ और भगवान् श्री महावीर स्वामी ये दोनो ही तीर्थंकर हैं और दोनों का लक्ष्य भी एक अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है तो फिर इनके धार्मिक नियमों में भेद क्यों है ? हे मेधाविन्! धर्म के दो भेद किए जाने पर क्या आपक मन में संशय उत्पन्न नहीं होता?

तात्पर्य यह है कि जब दोनों का कार्य एक है तो उसके साधन-भूत धर्म के नियमों में भेद क्यों किया गया ? क्या इस प्रकार नियमों में परिवर्तन करने से इन दोनों की सर्वज्ञता में तो कोई विरोध नहीं होता ? क्योंकि जब सर्वज्ञता दोनों की तुल्य है तब उनके धार्मिक नियमों मे भी कोई भेद नहीं होना चाहिए, और यदि भेद किया गया है तो इनकी सर्वज्ञता भी संदेहास्पद हो जाएगी। तात्पर्य यह है कि दोनों में एक ही सर्वज्ञ ठहरेगा, या तो भगवान् महावीर ही सर्वज्ञ ठहरेगे या भगवान् पार्श्वनाथ को ही सर्वज्ञ मानना पड़ेगा।। यहां पर तो एक तीर्थकर के धर्म-सम्बन्धी नियमो में दूसरा तीर्थंकर विभेद करके हस्तक्षेप कर रहा है, इस विचार से तो एक को अल्पज्ञ और दूसरे को सर्वज्ञ अवश्य मानना पड़ेगा। दोनों का सर्वज्ञ होना कठिन है। इसी आशय से केशीकुमार गौतम स्वामी को मेधावी का सम्बोधन देते हुए कहते हैं कि क्या आपको इस विषय में सन्देह उत्पन्न नहीं होता ?

यहां पर गौतम स्वामी के लिए जो मेधावी विशेषण दिया गया है उससे गौतम स्वामी को प्रतिभा-सम्पन्न और विशिष्ट ज्ञानवान् समझ कर उनसे पूर्वोक्त प्रश्न का यथार्थ एवं सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त करने की आशा ध्वनित की गई है।

केशीकुमार के इस प्रश्न को सुनकर उसके उत्तर में श्री गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं। यथा–

तओ केसिं बुवन्तं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं ॥ २५ ॥

ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।
प्रज्ञा समीक्षते धर्मतत्त्वं, तत्त्वविनिश्चयम् ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**तओ**—तदनन्तर, **केसिं**—केसीकुमार के, **बुवन्तं**—बोलने पर उसके प्रति, **गोयमो**—गौतम, **इणं**—यह, **अब्बवी**—कहने लगे, **पन्ना**—प्रज्ञा, **धम्मं**—धर्म के, **तत्तं**—तत्व को, **समिक्खए**—सम्यक् प्रकार से देखती है, **तत्त**—तत्त्व का, **विणिच्छियं**—विनिश्चय होता है धर्म में, **तु**—अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—तदनन्तर इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी ने कहा कि—"जीवादि तत्त्वों का विनिश्चय जिस में किया जाता है ऐसे धर्म-तत्व को प्रज्ञा ही सम्यक् देख सकती है।"

टीका—केशी कुमार के पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—जिसमें जीवादि पदार्थों का विशेषरूप से निर्णय किया जाता है ऐसे धर्म-तत्त्व का सम्यक् ज्ञान प्रज्ञा—बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। गौतम स्वामी के इस कथन का आशय यह है कि केवल वाक्य के श्रवण मात्र से उसके अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता, किन्तु वाक्य-श्रवण के अनन्तर उसके अर्थ का विनिश्चय—विशिष्ट निर्णय—बुद्धि करती है। अर्थात् बुद्धि के द्वारा ही वाक्यार्थ का यथार्थ निर्णय होता है।*

अब इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं यथा—

पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्कजडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥ २६ ॥

पूर्वे ऋजुजडास्तु, वक्रजडाश्च पश्चिमाः ।
मध्यमा ऋजुप्रज्ञास्तु, तेन धर्मो द्विधा कृतः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**पुरिमा**—पहले, प्रथम तीर्थकर के मुनि, **उज्जुजडा**—ऋजुजड थे, **उ**—जिससे, **पच्छिमा**—पीछे के—चरम तीर्थंकर के मुनि, **वक्कजडा**—वक्रजड़ हैं, **य**—और, **मज्झिमा**—मध्य के—मध्यम तीर्थकरों के मुनि, **उज्जुपन्ना**—ऋजुप्राज्ञ हैं, **तेण**—इस हेतु से, **धम्मे**—धर्म, **दुहा**—दो भेद वाला, **कए**—किया गया, **उ**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—प्रथम तीर्थकर के मुनि ऋजुजड़ और चरम तीर्थंकर के मुनि वक्रजड़ हैं, किन्तु मध्यम तीर्थकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ होते हैं, इस कारण से धर्म के दो भेद किए गए हैं।

---

* प्रज्ञा—बुद्धिः, समीक्षते—सम्यक् पश्यति धर्म-तत्त्वम्—धर्म परमार्थम्, तत्वाना जीवादीनां विनिश्चयो—विशिष्ट-निर्णयात्मको यस्मिंस्तथा। इदमुक्तं भवति न वाक्यश्रवणमात्रादेव वाक्यार्थ-निर्णयो भवति, किन्तु प्रज्ञावशात्' इति वृत्तिकारः।

टीका—धर्म-तत्त्व का निर्णय प्रज्ञा द्वारा ही होता है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए गौतम स्वामी, केशीकुमार के पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं—धर्म के दो भेद क्यों किए गए, इसका कारण अधिकारियों की बुद्धि का तारतम्य है जो कि मुनियों का ऋजुवक्र, जड़वक्र और ऋजुप्राज्ञ होने पर निर्भर है। जैसे कि—

प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव के साधु ऋजुजड़ थे, अर्थात् सरल होने पर भी उनमें जड़ता थी, वे पदार्थ को बड़ी कठिनता से समझते थे और चरम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी के साधु वक्रजड़ है, जो कि शिक्षित किए जाने पर भी अनेक प्रकार के कुतर्कों द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने में उद्यत रहते हैं तथा वक्रता के कारण छल-पूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी मूर्खता को चतुरता के रूप मे प्रदर्शित करते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य के बाईस तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ अर्थात् सरल और बुद्धिमान् थे। उनको समझाने में—शिक्षित करने में किसी प्रकार की भी कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी, वे तो किसी विषय का संकेत-मात्र कर देने पर ही उसके मर्म तक पहुच जाते थे, अर्थात् अपनी बुद्धि के द्वारा प्रस्तुत किए गए उस तत्त्व के साधक बाधक विषयों को अवगत कर लेते थे। गुरुजनों द्वारा मिली हुई शिक्षा में फलाफल का विचार और तत्सबन्धी ऊहापोह भी भली प्रकार से कर लेते थे, अत: धर्म के नियमों मे भेद किया गया, अर्थात् उसकी सख्या मे न्यूनाधिक्य किया गया।

तात्पर्य यह है कि प्रथम और चरम तीर्थकरो के साधुओं की मानसिक स्थिति का विचार करके अहिंसा आदि पांच शिक्षाओं—पांच महाव्रतो का विधान किया गया और मध्यवर्ती तीर्थकरो के मुनियों की बुद्धि का विचार करके चातुर्याम अर्थात् चार महाव्रतों का उपदेश किया गया। यह सब कुछ काल के प्रभाव से अधिकारी-भेद को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है, न कि सर्वज्ञ-प्रोक्त नियमों मे किसी प्रकार की न्यूनता को देखकर उसमे सुधार करने की दृष्टि से किया गया है। इसलिए दोनो तीर्थकरों की सर्वज्ञता पर इस नियम-भेद का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न ही इसमे किसी प्रकार विरोध है।

सारांश यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को दृष्टिगोचर रखते हुए जिस प्रकार के अधिकारी पुरुष होते है, उनको शिक्षित करने के लिए उसी प्रकार के उपायों और नियमो की योजना करनी पडती है। जैसे कि पाच भरत और पाच ऐरावत क्षेत्रो में, उत्सर्पिणी ओर अवसर्पिणीरूप दोनो काल-चक्र चलते है, इसलिए दोनों को दृष्टि में रखकर धर्म-सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है, उसमें समय और अधिकारी भेद से भेद होना, या करना परम आवश्यक है। इससे साध्य या लक्ष्य एक होने पर भी उसके साधन में भेद का होना किसी प्रकार से भी असंगत एवं सन्देह का उत्पादक नही हो सकता। यह जो नियमों में भेद किया गया है सो केवल समयानुसार केवल मनुष्य प्रकृति को ही ध्यान में रखकर किया गया है, इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं।

आप मध्यम तीर्थंकर की सन्तान हैं, अतः आपके लिए इस चातुर्यामिक—चार व्रतरूप धर्म का विधान है और हम चरम तीर्थंकर की शिष्य-परम्परा के हैं, अतः हमारे पांच शिक्षारूप—पांच महाव्रतरूप धर्म के पालन का आदेश है। इसमें विरोध या संशय की उद्भावना करना व्यर्थ है। यही प्रस्तुत गाथा का अभिप्राय है।

अब फिर इसी विषय को पल्लवित करते हुए कहते हैं—

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥ २७ ॥

पूर्वेषां दुर्विशोध्यस्तु तु, चरमाणां दुरनुपालकः ।
कल्पो मध्यमगानां तु, सुविशोध्यः सुपालकः ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—पुरिमाणं—पूर्व के मुनियों का, **कप्पो**—कल्प, **दुव्विसोज्झो**—दुर्विशोध्य था, उ—और, **चरिमाणं**—चरम मुनियों का—कल्प, **दुरणुपालओ**—दुरनुपालक है, **मज्झिमगाणं**—मध्यकालीन मुनियों का कल्प, **सुविसोज्झो**—सुविशोध्य, **तु**—और, **सुपालओ**—सुपालक है।

मूलार्थ—प्रथम तीर्थकर के मुनियों का कल्प दुर्विशोध्य और चरम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प दुरनुपालक, किन्तु मध्यवर्ती तीर्थकरों के मुनियों का कल्प सुविशोध्य और सुपालक है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे केशीकुमार के प्रश्न के उत्तर को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है। गौतम स्वामी कहते हैं कि प्रथम तीर्थकर के समय के मुनियो को साधु-कल्प—साधु के आचार का समझाना बहुत कठिन था, कारण कि वे ऋजु-जड़ प्रज्ञा-सरल और मन्द-बुद्धि थे, अतः सरल होने पर भी उनकी बुद्धि शीघ्रता से पदार्थो के अवधारण करने में समर्थ नहीं थी। चरम तीर्थंकर के मुनियों का शिक्षित करना तो विशेष कठिन नहीं है, किन्तु इनके लिए कल्प का पालन करना अतीव कठिन है, क्योकि इस काल के जीव कुतर्क उत्पन्न करने के लिए बड़े कुशल है और सद्धेतु को हेत्वाभास बनाने मे अपने बुद्धि-बल का विशेष उपयोग करते हैं।

मध्य के २२ तीर्थंकरों के समय के मुनियों को साधु-कल्प के लिए शिक्षित करना या साधु-कल्प का उनको बोध देना और उनके द्वारा उसका पालन किया जाना ये दोनों ही सुलभ थे। तात्पर्य यह है कि मध्य के तीर्थकरों के भिक्षु साधु-कल्प की शिक्षा भी सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं और उसका पालन भी उनके लिए सुलभ है, इसी हेतु से प्रथम और चरम तीर्थकर के समय में पांच महाव्रतों की शिक्षा का विधान है और श्री अजितनाथ प्रभु से लेकर भगवान् श्री पार्श्वनाथ के समय तक चार महाव्रतों की शिक्षा का प्रतिपादन किया गया है जो कि २३वें तीर्थंकर के समय तक एक रूप से चला आया है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु ऋजु-प्राज्ञ होते हैं, अतः उनके लिए शिक्षाव्रतों का ग्रहण और उनका पालन ये दोनों ही सुकर हैं, इसलिए अपेक्षाभेद से नियमों में भेद किया गया है न कि किसी प्रकार की त्रुटि—न्यूनाधिकता को लेकर इसकी कल्पना हुई है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई यह शंका करे कि—वाचक भी तो उसी समय के होते हैं, तो इसका समाधान यह है कि बुद्धि की कल्पना नाना प्रकार की होती है, सब की प्रज्ञा एक जैसी नहीं होती, इसलिए मुख्यता पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है तथा इस कथन से यह भी भली-भांति प्रमाणित होता है कि समय के अनुसार नियमों में भी परिवर्तन किया जा सकता है, जिसे धर्म-भेद कहना अथवा उसमें विरोध का उद्भावन करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं कहा जा सकता।

गौतम स्वामी की ओर से दिए गए इस पूर्वोक्त उत्तर को सुनने के पश्चात् श्रमण केशीकुमार ने उनके प्रति जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं। यथा

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ २८ ॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मे, तं मां कथय गौतम ! ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—साहु—श्रेष्ठ है, **पन्ना**—प्रज्ञा, **ते**—तुम्हारी, **गोयम**—हे गौतम । **छिन्नो**—आप ने छेदन किया, **इमो**—यह, **मे**—मेरा, **संसओ**—सशय, **अन्नोवि**—और भी, **मज्झं**—मेरा, **संसओ**—संशय है, **तं**—उसको, **मे**—मुझे, **गोयमा**—हे गौतम ! **कहसु**—कहो।

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है, आपने मेरे सन्देह को दूर कर दिया है। मेरा एक और भी संशय है, हे गौतम ! आप उसका अर्थ भी मुझसे कहें।

टीका—केशीकुमार ने अपने प्रथम प्रश्न का उत्तर प्राप्त करके दूसरे प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए गौतम स्वामी से कहा कि "हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा बड़ी श्रेष्ठ है, अतः आपने मेरे संशय को दूर कर दिया। अब मेरा जो दूसरा संशय है उसको भी दूर कीजिए।" केशीकुमार के इस कथन में जो साधुता और सरलता है यह अनायास ही प्रतीत हो रही है।

यहां पर इतना ध्यान रहे कि केशीकुमार के द्वारा उद्भावन किए गए संशय का गौतम स्वामी के द्वारा निराकरण करना तथा अन्य संशय के निराकरणार्थ प्रस्ताव करना इत्यादि प्रश्नोत्तररूप जितना भी सन्दर्भ है वह सब नाम मात्र इन दोनों महापुरुषों के शिष्य-परिवार के हृदय में उत्पन्न हुए सन्देहो की निवृत्ति के लिए ही है, अन्यथा केशीकुमार के हृदय में तो इस प्रकार की न कोई

शंका थी और न उसकी निवृत्ति के लिए गौतम स्वामी का प्रयास था। कारण कि मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञान वालों में इस प्रकार के संशय का अभाव होता है, अतः यह प्रश्नोत्तररूप समग्र सन्दर्भ स्वशिष्यों तथा सभा में उपस्थित हुए अन्य धर्म-जिज्ञासु सद्गृहस्थों के संशयों को दूर करने के लिए प्रस्तावित किया गया है।

इस गाथा में अभिमान से रहित होकर सत्य के ग्रहण करने का जो उपदेश ध्वनित किया गया है उसका अनुसरण प्रत्येक जिज्ञासु को करना चाहिए।

अब लिंग विषयक दूसरे प्रश्न का वर्णन करते हैं–

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा ॥ २९ ॥

अचेलकश्च यो धर्मः, योऽयं सान्तरोत्तरः* ।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महायशसा ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः–**अचेलगो**–अचेलक, **जो**–जो, **धम्मो**–धर्म, **य**–और, **जो**–जो, **इमो**–यह, **संतरुत्तरो**–प्रधान वस्त्र धारण करना, **देसिओ**–उपदेशित किया, **वद्धमाणेण**–वर्द्धमान स्वामी ने, **य**–और, **पासेण**–पार्श्वनाथ, **महाजसा**–महा यशस्वी (मुनि) ने।

मूलार्थ–हे गौतम ! वर्द्धमान स्वामी ने अचेलक धर्म का उपदेश दिया है और महामुनि पार्श्वनाथ स्वामी ने सचेलक धर्म का प्रतिपादन किया है।

टीका–केशीकुमार के प्रश्न का आशय यह है कि भगवान् श्री पार्श्वनाथ और भगवान् वर्धमान स्वामी ये दोनों ही तीर्थंकर महापुरुष सर्वज्ञता में समान हैं, परन्तु साधु के लिंग–वेष के विषय मे इनकी प्ररूपणा में भेद नजर आता है, यथा–भगवान् पार्श्वनाथ ने तो सचेलक-धर्म का उपदेश दिया है और भगवान् वर्द्धमान स्वामी अचेलक-धर्म का विधान करते हैं। इस प्रकार दोनों के कथन में विरोध प्रतीत होता है। दोनों के साधुओं मे वेष की विभिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है, सो ऐसे क्यों ?

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ? ।
लिंगे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ॥ ३० ॥

---

* जो इमोत्ति–यश्चायं सान्तराणि वर्द्धमान-शिष्य-वस्त्रापेक्षया कस्यचित् कदाचिण्मान् वर्ण-विशेषितानि, उत्तराणि च बहुमूल्यतया प्रधानानि वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरोधर्मः (कमलसंयमी टीका)।

एककार्यप्रपन्नयोः, विशेषे किन्नु कारणम् ? ।
लिङ्गे द्विविधे मेधाविन् ! कथं विप्रत्ययो न ते ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**एग**—एक, **कज्ज**—कार्य, **पवन्नाणं**—प्रवृत्त हुओं के, **विसेसे**—विशेष भेद, **किं**—क्या है, **नु**—निश्चय में है, **कारणं**—हेतु, **मेहावी**—हे मेधाविन् ! **लिंगे**—लिंग के, **दुविहे**—दो भेद हो जाने पर, **कहं**—कैसे, **विप्पच्चओ**—विप्रत्यय—संशय, **ते**—आपको, **न**—नहीं है।

मूलार्थ—हे गौतम ! एक ही कार्य में प्रवृत्त हुओं में विशेषता क्या है ? इसमें हेतु क्या है ? हे मेधाविन् ! लिंग—वेष के दो भेद हो जाने पर क्या आपके मन में विप्रत्यय अर्थात् संशय उत्पन्न नहीं होता ?

टीका—श्रमण केशीकुमार अपने प्रश्न की उपपत्ति करते हुए कहते हैं कि जब दोनों महापुरुष—श्री पार्श्वनाथ और वर्धमान स्वामी—एक ही कार्य की सिद्धि में उद्यत हुए हैं तो फिर इन्होंने परस्पर के लिंग मे भेद क्यों डाला ? तात्पर्य यह है कि इनके अनुयायी मुनियो के वेष मे भेद क्यो पड़ा ? क्या लिंग—वेष में भेद किए जाने पर आपके मन मे विप्रत्यय अर्थात् अविश्वास उत्पन्न नहीं होता ?

यहा पर लिंग शब्द का अर्थ वेष है और उसी से साधु की पहचान होती है **'लिंग्यते—गम्यते अनेनायं व्रतीति लिंगं वर्षाकल्पादिरूपो वेषः'** सो जब कि लिंग परीक्षा के लिए है तो फिर अचेलक और सचेलक रूप दो प्रकार का भेद क्यों किया गया ? श्रीवर्धमान स्वामी ने अचेलक और मानोपेत कुत्सित वस्त्र के धारण करने की आज्ञा दी है और भगवान् श्री पार्श्वनाथ ने इसके प्रतिकूल सचेलक-धर्म, अथ च बहुमूल्य वस्त्रों के धारण करने की आज्ञा प्रदान की है, तो क्या यह परस्पर सर्वज्ञता में भेद जताने का कारण नहीं है ? क्या आपके मन में इस प्रकार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता?

इस पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

केसिं एवं बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥ ३१ ॥

केशिनमेवं ब्रुवाणं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।
विज्ञानेन समागम्य, धर्मसाधनमीप्सितम् ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—**केसिं**—केशीकुमार के, **एवं**—इस प्रकार, **बुवाणं**—बोलने पर उसके प्रति, **गोयमो**—गौतम, **इणं**—यह, **अब्बवी**—कहने लगे, **विन्नाणेण**—विज्ञान से, **समागम्म**—जानकर, **धम्मसाहणं**—धर्म-साधन के उपकरण की, **इच्छियं**—अनुमति दी है, **तु**—अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ–केशीकुमार के इस प्रकार बोलने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने कहा कि "भगवन्! विज्ञान से जानकर ही धर्म-साधन के उपकरणों की आज्ञा प्रदान की गई है।"

टीका–केशीकुमार के उपपत्ति-पूर्वक प्रश्न कर चुकने के बाद उसके उत्तर में गौतम स्वामी ने कहा कि श्री पार्श्वनाथ और वर्धमान स्वामी ने केवलज्ञान द्वारा जानकर ही धर्म-साधना के लिए वस्त्रादि के धारण की आज्ञा दी है। श्री पार्श्वनाथ ने जो पांच वर्ण के वस्त्रों या बहुमूल्य वस्त्रों की आज्ञा दी है उसका कारण यह था कि उनके शासन के साधु ऋजुप्राज्ञ होने से ममत्व रहित थे, अतएव वस्त्रों के रंगने आदि में प्रवृत्त नहीं होते थे, अत: उनके लिए बहुमूल्य वस्त्रों की आज्ञा थी, परन्तु श्री वर्धमान स्वामी के अनुयायी साधु वक्र-जड़ होने के कारण ममत्व विशेष से रंगने आदि में प्रवृत्ति करने वाले हो जाने की संभावना से उनके लिए मानोपेत केवल श्वेतवस्त्र और जीर्णवस्त्रों के ही धारण करने का ओदश दिया गया है, इसलिए दोनों महापुरुषो की सर्वज्ञता में कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि ये दोनों आज्ञाएं विज्ञान-मूलक हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥ ३२ ॥

प्रत्ययार्थं च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम् ।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिङ्गप्रयोजनम् ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः–पच्चयत्थं–प्रतीति के लिए, **लोगस्स**–लोक के, **नाणाविह**–नानाविध, **विगप्पणं**–विकल्प करना, **च**–और, **जत्तत्थं**–यात्रार्थ–संयम-निर्वाह के लिए, **गहणत्थं**–ज्ञानादि ग्रहण के लिए–वा पहचानने के लिए, **च**–समुच्चय अर्थ में, **लोगे**–लोक में, **लिंग**–लिंग का, **पओयणं**–प्रयोजन है।

मूलार्थ–लोक में प्रत्यय–साधुता के विश्वास के लिए, वर्षादि काल में संयम की रक्षा के लिए तथा संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए, ज्ञानादि के ग्रहण के लिए, अथवा यह साधु है ऐसी पहचान के लिए लोक में लिंग का प्रयोजन है।

टीका–केशीकुमार के दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने उनके प्रति कहा कि "हे भगवन्। लिंग अर्थात् वेष के विषय में आपने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर केवल इतना ही है कि लोक मे ऐसी प्रतीति हो कि यह साधु है, यदि ऐसा न हो तब तो प्रत्येक व्यक्ति यथारुचि वेष धारण करके अपनी पूजा के लिए अपने आपको साधु कहलाने का साहस कर सकता है, इसलिए लोक में, प्रत्यय अर्थात् विश्वास उत्पन्न करना, लिंग का प्रयोजन है।" तथा वर्षाकालादि में नानाविध उपकरणों की जो यति के लिए आज्ञा है वह भी साधुवृत्ति की प्रतीति

और पूर्ति के लिए है एवं संयमरूप यात्रा के निर्वाह के लिए और ज्ञानादि का ग्रहण करने के लिए अथवा पहचान के लिए लोक में लिंग की आवश्यकता है। यहां पर इतना ध्यान रहे कि साधु-वेष का मुख्य प्रयोजन तो एकमात्र प्रतीति ही है और बाकी के प्रयोजन तो गौण हैं। जैसे कि–कदाचित् कर्मोदय से मन में किसी प्रकार का विप्लव-विकार उत्पन्न हो जाए तो उस समय अपने साधुवेष की ओर ध्यान देने से चित्त की वृत्ति ठीक हो सकती है, अतः इस पूर्वोक्त लिंग-भेद से सर्वज्ञता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हो सकती।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणा ।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥ ३३ ॥

अथ भवेत्प्रतिज्ञा तु, मोक्षसद्भूतसाधनानि ।
ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं चैव निश्चये ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः–**अह**–अथ–उपन्यास अर्थ में है, उ–निश्चयार्थ में, **भवे**–है, **पइन्ना**–प्रतिज्ञा **मोक्ख**–मोक्ष का, **सब्भूय**–सद्भूत, **साहणा**–साधना, **नाणं**–ज्ञान, **च**–और, **दंसणं**–दर्शन, **च**–पुनः **चरित्तं**–चारित्र, **च**–पुनः, **एव**–निश्चयार्थ में है, **निच्छए**–निश्चय नय में।

मूलार्थ–हे भगवन्! वस्तुतः दोनों तीर्थंकरों की प्रतिज्ञा तो यही है कि निश्चय में मोक्ष के सद्भूत साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप ही हैं।

टीका–श्रमण केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी फिर कहते हैं कि "हे भगवन्! श्री पार्श्वनाथ और वर्धमान स्वामी इन दोनों महापुरुषों की यही प्रतिज्ञा है कि निश्चय में मोक्ष के सद्भूत साधन तो सम्यक् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र ही हैं। बाह्य वेष तो केवल व्यवहारोपयोगी है, इसलिए वह मोक्ष का मुख्य साधन नहीं, किन्तु असयम-मार्ग का निवर्त्तक होने से कथंचित् यह परम्परया गौण साधन है, वास्तविक साधन तो रत्नत्रयी–सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप को माना है। अपि च–भरतादि अनेक भव्य जीवों को साधु के बाह्य वेष के बिना ही केवलज्ञान की उत्पत्ति हो गई। इसलिए निश्चय में दोनों ही महापुरुषो की यही एक प्रतिज्ञा है कि बाह्य वेष, मोक्ष- साधना मे कोई सर्वथा आवश्यक वस्तु नहीं है और व्यावहारिक दृष्टि से दोनों की वेष-विषयक सम्मति समयानुसार है, अतः इसमें विप्रत्यय अर्थात् अविश्वास को कोई स्थान नहीं है। कारण यह कि वास्तविक प्रतिज्ञा तो दोनों की समान ही है।

गौतम मुनि के इस उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं–

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ३४ ॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ॥ ३४ ॥

मूलार्थ–हे गौतम आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, आपने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य प्रश्न है, अब उसके विषय में भी कुछ कहें।

टीका–प्रस्तुत गाथा में केशीकुमार ने उत्तर की स्वीकारिता, अपनी निरभिमानता और गौतम स्वामी के ज्ञान की प्रशंसा आदि करते हुए अपने सत्पुरुषोचित गुणों का जिस उदार भाव से परिचय दिया है वह उन्हीं के अनुरूप है।

विशेष–धर्म का विषय और लिंग-भेद का विषय इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में शिष्यवर्ग के अन्तःकरण में जो शंका उत्पन्न हुई थी उसका तो सैद्धान्तिक दृष्टि से निराकरण हो गया और शिष्यवर्ग भी सब प्रकार से निःशंकित हो गया। परन्तु इस धर्मचर्या में जो श्रावस्ती नगरी के अनेक सद्गृहस्थ उपस्थित हुए थे उनको भी धर्म का कुछ लाभ मिल जाए, इस आशय से केशीकुमार मुनि अब तीसरे प्रश्न को प्रस्तावित करते हैं जिससे कि सभा में उपस्थित हुई अन्य जनता भी कुछ धर्म का सन्देश प्राप्त कर सके।

श्रमण केशीकुमार ने तीसरे द्वार में गौतम स्वामी के प्रति जिस प्रश्न को उपस्थित किया अब उसका वर्णन करते हैं–

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा ।
ते य ते अहिगच्छन्ति, कहं ते निज्जिया तुमे ॥ ३५ ॥

अनेकानां सहस्राणां, मध्ये तिष्ठसि गौतम ।
ते च त्वामभिगच्छन्ति, कथं ते निर्जितास्त्वया ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः–**अणेगाणं**–अनेक, **सहस्साणं**–सहस्रों के, **मज्झे**–मध्य में, **गोयमा**–हे गौतम् ! **चिट्ठसि**–तू ठहरता है, **ते**–वे शत्रु, **य**–फिर, **ते**–तेरे को जीतने के लिए, **अहिगच्छन्ति**–सन्मुख आते हैं, **कहं**–किस प्रकार, **ते**–वे शत्रु, **तुमे**–तूने, **निज्जिया**–जीते हैं।

मूलार्थ–हे गौतम ! आप अनेक सहस्र शत्रुओं के मध्य में खड़े हैं और वे शत्रु आपको जीतने के लिए आपके सन्मुख आ रहे हैं, आपने किस प्रकार उन शत्रुओं को जीता है ?

टीका–इस प्रश्न में मुनि केशीकुमार ने जनता को सद्बोध देने के लिए एक बड़ा ही

मनोरंजक और शिक्षाप्रद विचार उपस्थित किया है। केशीकुमार कहते हैं कि "हे गौतम ! आप हजारों शत्रुओं के बीच घिरे खड़े हैं और वे शत्रु भी आपको जीतने के लिए आपकी ओर भागे चले आते हैं, तो फिर आपने इन शत्रुओं को कैसे पराजित किया है ?"

कहने का तात्पर्य यह है कि आप अकेले हो और आपके शत्रु अनेक हैं, अनेकों पर एक का विजय प्राप्त करना निस्सन्देह विस्मयजनक है, परन्तु आपने उनको परास्त कर दिया है, अतः आप बताए कि आपने किस प्रकार इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है ?

केशीकुमार के इस उक्त प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने कहा–

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥ ३६ ॥

एकस्मिन् जिते जिताः पञ्च, पञ्चसु जितेषु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः–**एगे जिए**–एक के जीतने पर, **जिया**–जीते गए, **पंच जिए**–पांचो के जीतने पर, **जिया**–जीते गए, **दस**–दश, **उ**–फिर, **दसहा**–दश प्रकार के शत्रुओं को, **जिणित्ता**–जीतकर, **सव्वसत्तू**–सर्व शत्रुओं को, **अहं**–मै, **जिणाम**–जीतता हूं, **णं**–वाक्यालकार में है।

मूलार्थ–एक के जीतने पर पांच जीते गए, पांचों के जीतने पर दश जीते गए तथा दश प्रकार के शत्रुओं को जीतकर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।

टीका–केशीकुमार के प्रति गौतम कहते हैं कि मैने पहले सबसे बड़े शत्रु को जीत लिया, उसके जीतने के साथ ही चार और भी जीते गए, जब मैंने पूर्वोक्त पांचों को जीता तब मैंने दशप्रकार के प्रधान शत्रुओं को भी जीत लिया और जब मैंने दश प्रकार के प्रधान शत्रुओ को जीत लिया तब मैने सभी शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर ली।

तात्पर्य यह है कि जो शत्रु मेरी ओर धावा करने आ रहे थे उनको मैंने इस प्रकार से परास्त कर दिया। यहां इतना स्मरण रहे कि यह गाथा गुप्तोपमालकार से वर्णन की गई है, क्योंकि वहां पर बैठी हुई जनता का इसके परमार्थ की अभी तक प्राप्ति नहीं हुई और वे इस ध्यान में लगी हुई है कि वे शत्रु कौन से है ? और किस प्रकार जीते गए ? अतएव केशीकुमार ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए फिर प्रश्न किया–

सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ३७ ॥

शत्रवश्च इति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः—**सत्तू**—शत्रु, **य**—पुनः, **के**—कौन, **वुत्ते**—कहे गए हैं, **इइ**—इस प्रकार, **केसी**—केशीकुमार श्रमण, **गोयमं**—गौतम के प्रति, **अब्बवी**—कहने लगे, **तओ**—तदनन्तर, **केसिं**—केशीकुमार के, **बुवंतं**—कहने पर उसके प्रति, **गोयमो**—गौतम, **इणं**—इस प्रकार, **अब्बवी**—कहने लगे, **तु**—अवधारणार्थ में है।

मूलार्थ—हे गौतम ! वे शत्रु कौन से कहे गए हैं ? केशीकुमार के इस कथन के अनन्तर उनके प्रति गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे।

टीका—केशीकुमार ने गौतम स्वामी से पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर को स्पष्ट कराने के लिए पुनः यह प्रश्न किया कि "वे पांच और दश शत्रु कौन से हैं और उन पर आपने किस प्रकार से विजय प्राप्त की?" यद्यपि केशी मुनि को इन बातों का स्वयं ज्ञान था, परन्तु जनता के बोध के लिए उन्होंने यह प्रश्न किया है।

अब गौतम स्वामी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। यथा—

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ॥ ३८ ॥

एक आत्माऽजितः शत्रुः, कषाया इन्द्रियाणि च ।
तान् जित्वा यथान्यायं, विहराम्यहं मुने ! ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**एगप्पा**—एक आत्मा, **अजिए**—न जीता हुआ, **सत्तू**—शत्रु है, **कसाया**—कषाय, **य**—और, **इन्दियाणि**—इन्द्रियां भी शत्रु हैं, **ते**—उनको, **जिणित्तु**—जीतकर, **जहानायं**—न्यायपूर्वक, **मुणी**—हे मुने ! **विहरामि**—मैं विचरता हूं।

मूलार्थ—हे महामुने ! वशीभूत न किया हुआ एक आत्मा शत्रु रूप है एवं कषाय और इन्द्रियां भी शत्रु रूप हैं, उनको न्याय-पूर्वक जीतकर मैं विचरता हूं।

टीका—श्रमण केशीकुमार के किए हुए प्रश्न के उत्तर को फिर से स्पष्ट करते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि हे महामुने ! वशीभूत न किया हुआ एक अपना आत्मा शत्रुरूप है, क्योंकि सर्व प्रकार के अनर्थ इसी से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अवशीभूत आत्मा अथवा मन, सबसे बड़ा शत्रु है। जब आत्मा वशीभूत नहीं हुआ तब क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार शत्रु और भी युद्ध के लिए उपस्थित हो गए, जब ये पूर्वोक्त पांच शत्रु बन गए तब पांचों इन्द्रियां भी शत्रुरूप बन गईं। इस प्रकार जब दश शत्रु उत्पन्न हो गए तब, नोकषाय आदि उत्तरोत्तर सहस्रों शत्रु खड़े

हो गए। इस प्रकार इन बढ़े हुए शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए सबसे प्रथम न्यायपूर्वक—न्याय की शैली से अपने आत्मा अर्थात् मन को अपने वश में किया (यही उसका जीतना है)। मन के वशीभूत हो जाने पर उक्त चारों कषाय भी वश में हो गए और जब कषायों को जीत लिया तब पांचों इन्द्रियां भी वशीभूत हो गई। इनके वश में आने से अन्य सब नोकषाय आदि शत्रुओं को मैंने परास्त कर दिया। इस प्रकार न्याय-पूर्वक समस्त शत्रुवर्ग पर विजय प्राप्त करके मैं निर्भय होकर विचरता हू।

यह गौतम स्वामी का केशी मुनि के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है, जैसे कि ऊपर बताया गया है कि प्रथम एक को जीता, फिर चार पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार जब पांचों को जीत लिया, तब दश जीते गए और दश के जीतने से बाकी के भी सब शत्रु परास्त हो गए, इत्यादि कथन का जो रहस्य था उसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत गाथा के द्वारा किया गया है। यदि सक्षेप में कहा जाए तो इतना ही है कि आत्मा अर्थात् मन के जीतने से ही सब पर विजय पाई जा सकती है। **'मन जीते जग जीत'** यह लोकोक्ति भी इसी रहस्य का उद्‌घाटन कर रही है।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने सन्तोष प्रकट करते हुए उनसे फिर कहा कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥ ३९ ॥

साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥ ३९ ॥

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है, आपने मेरा यह संशय भी निवृत्त कर दिया है, अभी मेरा एक अन्य संशय भी है, अब आप उसके विषय में भी कुछ कहें।

टीका—भावार्थ सर्वथा स्पष्ट है।

अब चतुर्थ प्रश्न उपस्थित करते हुए केशीकुमार कहते हैं—

दीसन्ति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसी मुणी! ॥ ४० ॥

दृश्यन्ते बहवो लोके, पाशबद्धाः शरीरिणः ।
मुक्तपाशो लघुभूतः, कथं त्वं विहरसि मुने ! ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः—दीसन्ति—देखे जाते है, **बहवे**—बहुत से, **लोए**—लोक में, **पासबद्धा**—पाश से

बंधे, **सरीरिणो**–जीव, **मुक्कपासो**–मुक्तपाश, **लहुब्भूओ**–और लघुभूत होकर, **मुणी**–हे मुने ! **तं**–तू, **कहं**–कैसे, **विहरसी**–विचरता है।

मूलार्थ–हे मुने ! लोक में बहुत से जीव पाश से बंधे हुए देखे जाते हैं, परन्तु तुम पाश से मुक्त और लघुभूत होकर कैसे विचरते हो ?

टीका–श्रमण केशीकुमार इस चतुर्थ द्वार में गणधर श्री गौतम से पुनः पूछते हैं कि–"हे गौतम ! इस संसार में बहुत से जीव पाश के द्वारा बंधे हुए दीखते हैं, अतएव वे दुःखों का अनुभव कर रहे हैं, परन्तु आप उक्त पाश से मुक्त और वायु की तरह अति लघु अर्थात् अप्रतिबद्ध होकर संसार में विचर रहे हैं, सो कैसे ?" उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जो प्रतिबद्ध है और लघुभूत भी नहीं है, उसका स्वेच्छा-पूर्वक विचरना नही हो सकता, अथवा यों कहिए कि जैसे पशु आदि जीव पाश के बन्धन से दुःख पाते हैं, उसी प्रकार भव-पाश से बंधे हुए मनुष्यादि जीन संसार-चक्र में घूमते हुए दुःख पा रहे हैं, परन्तु हे मुने ! आप इस पाश से मुक्त होकर ससार मे यथारुचि विचर रहे है, इसका कारण क्या है ? तात्पर्य यह है कि उक्त पाश से आप किस प्रकार मुक्त हुए है ?

अब गौतम स्वामी केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हैं। यथा–

ते पासे सव्वसो छित्ता, निहन्तूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ! ॥ ४१ ॥

तान् पाशान् सर्वशश्छित्त्वा, निहत्योपायतः ।
मुक्तपाशो लघुभूतः, विहराम्यहं मुने ! ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः–**ते**–उन, **पासे**–पाशों की, **सव्वसो**–सर्व प्रकार से, **छित्ता**–छेदन करके, **निहन्तूण**–और हनन करके, **उवायओ**–उपाय से, **मुक्कपासो**–मुक्तपाश और, **लहुब्भूओ**–लघुभूत होकर, **मुणी**–हे मुने ! **अहं**–मैं, **विहरामि**–विचरता हू।

मूलार्थ–हे मुने ! मैं उन पाशों को सर्व प्रकार से छेदन कर तथा उपाय से विनष्ट कर, मुक्तपाश और लघुभूत होकर विचरता हूं।

टीका–गौतम स्वामी कहते हैं कि "हे मुने ! जिन पाशो से संसारी जीव बधे हुए है, मैंने उन सर्व पाशों को तोड़कर तथा फिर–उनसे बाधा न जाऊं–इस आशय से उपाय द्वारा उनका समूल घात करके, मुक्तपाश और लघुभूत होकर इस ससार में अप्रतिबद्ध होकर विचरता हूं। यहां पर '**उपाय**' से सद्‌भूत भावना का निरन्तर अभ्यास अभिमत है। तथा–'**सव्वसो–सर्वशः**' यह '**सर्वान्**' पद के स्थान पर अर्थात् उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पूर्व की भांति यह प्रश्न भी गुप्तोपमालंकार से वर्णित है। अतएव जब गौतम स्वामी

इस प्रकार कह चुके तब जनता की हित बुद्धि से केशी कुमार उक्त प्रश्न के विषय में फिर पूछते हैं। यथा–

पासा य इइ के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ४२ ॥

पाशाश्चेति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत् ।
केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः–पासा–पाश, **के**–कौन से, **वुत्ता**–कहे गए हैं, **केसी**–केशीकुमार, **गोयमं**–गौतम के प्रति, **इइ**–इस प्रकार, **अब्बवी**–बोले, **तु**–तदनन्तर, **केसिं**–केशीकुमार के, **बुवंतं**–बोलने से उसके प्रति, **गोयमो**–गौतम, **इणं**–इस प्रकार, **अब्बवी**–बोले।

मूलार्थ–वे पाश कौन से कहे हैं ? केशीकुमार द्वारा यह पूछने पर गौतम स्वामी कहने लगे।

टीका–केशीकुमार मुनि ने जनता के बाध के लिए फिर यह पूछा कि–"हे गौतम ! वे पाश क्या है जिनसे ये संसारी जीव बधे हुए हैं, आप उनसे किस प्रकार मुक्त हुए है, जिससे कि इस समय आप सुख-पूर्वक विचर रहे है, इत्यादि।"

यहा इतना ध्यान रहे कि इस प्रकार के स्पष्टीकरण से ही साधारण जनता को सुख-पूर्वक बोध हो सकता है तथा जनता के सन्मुख ऐसे ही प्रश्नोत्तरो की आवश्यकता है कि जिनसे उनको विशेष लाभ पहुचने की सभावना हो सके।

अनेक प्रतियो में उक्त गाथा के तृतीय चरण का पाठ–'**केसिमेयं बुवंतं तु**' इस प्रकार का भी देखा जाता है।

केशीकुमार के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि–

रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा ।
ते छिन्दित्ता जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥ ४३ ॥

रागद्वेषादयस्तीव्राः, स्नेहपाशा भयंकराः ।
तान् छित्त्वा यथान्यायं, विहरामि यथाक्रमम् ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः–रागद्दोसादओ–रागद्वेषादि, **तिव्वा**–तीव्र, **नेह**–स्नेह, **पासा**–पाश, **भयंकरा**–भयकर है, **ते**–उनको, **छिन्दित्ता**–छेदन करके, **जहानायं**–न्याय-पूर्वक, **विहरामि**–विचरता हूं, **जहक्कमं**–यथाक्रम।

मूलार्थ–हे भगवन्! रागद्वेषादि और तीव्र स्नेहरूप पाश बड़े भयंकर हैं, इनको यथान्याय साधु-मर्यादा एवं साध्वाचार के पालन द्वारा छेदन करके मैं यथाक्रम विचरता हूं।

टीका–गौतम मुनि केशीकुमार से कहते हैं कि प्रगाढ़ रागद्वेष, मोह और तीव्र स्नेह ये भयंकर पाश हैं, जैसे पाश में बंधे हुए पशु आदि जीव परवश होते हैं उसी प्रकार रागद्वेषादि के वश में पड़े हुए प्राणी भी पराधीन हो रहे हैं। मैंने इन पाशों को यथान्याय अर्थात् साधु-मर्यादा एवं साधुजनोचित तप-त्याग द्वारा जिन-प्रवचन के अनुसार छेदन कर दिया है, अतएव मैं यथाक्रम–यथोचित विहार-क्रम के अनुरूप इस संसार में विचरता हूं। तात्पर्य यह है कि स्नेहरूप पाश से बंधे हुए ये संसारी जीव भयंकर से भयंकर कष्टों का सामना कर रहे हैं और जो आत्मा इन पाशों को तोडकर इनसे मुक्त हो गए हैं, वे सुख-पूर्वक इस संसार में विचरते हैं।

इस गाथा मे दिए गए 'आदि' शब्द से मोह का ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार गौतम स्वामी के कथन को सुनकर केशीकुमार कहते हैं–

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥ ४४ ॥

साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ॥ ४४ ॥

मूलार्थ–हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, आपने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है, मेरे मन में एक अन्य संशय भी है, अब आप कृपया उसके विषय में कुछ बताएं।

टीका–गाथा का भावार्थ स्पष्ट है।

इस प्रकार प्रश्न के चतुर्थ द्वार का वर्णन करने के अनन्तर अब पंचम द्वार का वर्णन करते हैं, जिसके लिए ऊपर की गाथा में केशीकुमार के द्वारा प्रस्ताव किया गया है। तथाहि–

अन्तोहिययसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा! ।
फलेइ विसभक्खीणि, सा उ उद्धरिया कहं? ॥ ४५ ॥

अन्तर्हृदयसंभूता, लता तिष्ठति गौतम! ।
फलति विषभक्ष्याणि, सा तूद्धृता (उत्पाटिता) कथम्? ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः–अन्तो–भीतर, **हिययसंभूया**–हृदय के भीतर उत्पन्न हुई, **लया**–लता, **गोयमा**–हे गौतम, **चिट्ठइ**–ठहरती है, **फलेइ**–फल देती है, **विसभक्खीणि**–विष-फलों का, **स**–वह, **उ**–फिर, **कहं**–किस प्रकार आपने, **उद्धरिया**–उखाड़ी है।

मूलार्थ–हे गौतम् हृदय के भीतर एक ऐसी लता उत्पन्न होती है जिसके फल विष के समान (परिणाम में दारुण) हैं, आपने उस लता को किस प्रकार से उखाड़ फेंका है ?

टीका–मुनि केशीकुमार श्री गौतम स्वामी से कहते हैं कि "हे गौतम ! मानव मन में एक विषरूप फलों को प्रदान करने वाली लता है, आपने उस लता को मन मे से किस प्रकार उखाड़ फेंक दिया है ?"

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक संसारी जीव के हृदय में विषाक्त फलों को उत्पन्न करने वाली एक लता विद्यमान है, जिसको कि हृदय से अलग करना बड़ा ही कठिन है, परन्तु आपने उस विषलता को अपने हृदय-स्थान से उखाड़कर फेक दिया है, सो कैसे ? विषफल उसको कहते हैं कि जो देखने में सुन्दर, स्पर्श में कोमल और खाने में मधुर हो, परन्तु जिसका परिणाम मृत्यु हो।

इस प्रश्न के उत्तर में अब गौतम स्वामी कहते हैं कि–

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं ।
विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥ ४६ ॥

तां लतां सर्वतश्छित्त्वा, उद्धृत्य समूलिकाम् ।
विहरामि यथान्यायं, मुक्तोऽस्मि विषभक्षणात् ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–**तं**–उस, **लयं**–लता को, **सव्वसो**–सर्व प्रकार से, **छित्ता**–छेदन करके, **समूलियं**–जड-सहित, **उद्धरित्ता**–उखाड़कर, **जहानायं**–यथान्याय मैं, **विहरामि**–विचरता हूं, **मुक्कोमि**–मैं मुक्त हूँ, **विसभक्खणं**–विष रूप फलों के भक्षण से।

मूलार्थ–मैंने उस लता को सर्व प्रकार से छेदन तथा खंड-खंड करके मूल सहित उखाड़कर फेंक दिया है, अतः मैं न्यायपूर्वक–साधु-मर्यादा के अनुकूल विचरता हूं और विषरूप फलों के भक्षण से मुक्त हो गया हूं।

टीका–गौतम स्वामी मुनि केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए उनसे कहते है कि "मैने उस लता–विषबेल का सर्व प्रकार से छेदन कर दिया है और उसे मूलसहित उखाड दिया है, अर्थात् उसका जो मूल (राग-द्वेष) है उसको मैंने अपने हृदय से निकाल दिया है, इसलिए अब मै सुख-पूर्वक विचरता हू। जब कि लता ही नहीं रही तो फिर उसके विषरूप फल कहां है ? इसलिए मै विषरूप फलों के भक्षण से भी मुक्त हो गया हूं। इसी का यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि मै शांति-पूर्वक विचर रहा हूं।"

विसभक्खणं–(विषभक्षणात्) इस पद मे सुप् का व्यत्यय किया हुआ है, अर्थात् पञ्चमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार गौतम स्वामी के उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने फिर जो कुछ कहा और गौतम स्वामी ने उसका जो उत्तर दिया अब उसका उल्लेख करते हैं–

लया य इइ का वुत्ता ?, केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ४७ ॥

लता च इति का उक्ता, केशी गौतममब्रवीत् ।
केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः–**लया**–लता, **का**–कौन सी, **वुत्ता**–कही गई है, **इइ**–इस प्रकार, **केसी**–केशीकुमार, **गोयमं**–गौतम के प्रति, **अब्बवी**–कहने लगे, **य**–और, **तु**–तदनन्तर, **बुवंतं**–बोलते हुए, **केसिं**–केशीकुमार के प्रति, **गोयमो**–गौतम स्वामी, **इणं**–इस प्रकार, **अब्बवी**–कहने लगे।

मूलार्थ–"हे गौतम ! वह लता कौन सी कही गई है ?" इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा।

टीका–पास में बैठी हुई जनता को समझाने के उद्देश्य से केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से फिर पूछा कि हे गौतम ! वह लता कौन सी है कि जिसके फलों को विषरूप वर्णन किया गया है।

तात्पर्य यह है कि जिस विष-लता का समूल घात करके आप शांति-पूर्वक विचर रहे हैं उसका स्वरूप क्या है? बृहद्वृत्ति में उक्त गाथा के तृतीय चरण का पाठ–**'केसिमेवं बुवंतं तु'** इस प्रकार से दिया गया है, परन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

अब गौतम स्वामी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए इस प्रकार कहते हैं–

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ।
तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ! ॥ ४८ ॥

भवतृष्णा लता उक्ता, भीमा भीमफलोदया ।
तामुच्छित्य यथान्यायं, विहरामि महामुने ! ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः–**भवतण्हा**–भव-संसार में, **तण्हा**-तृष्णा, **लया**–लता, **वुत्ता**–कही गई है, **भीमा**–भीम है, **भीमफलोदया**–भीम-भयंकर-फलो के देने वाली है, **तं**–उसका, **उच्छित्तु**–उच्छेदन करके, **जहानायं**–न्यायपूर्वक, **महामुणी**–हे महामुने । **विहरामि**–मैं विचरता हूं।

मूलार्थ–हे महामुने ! संसार में संसारी जीवों की मनोभूमि में उत्पन्न होने वाली तृष्णा रूप लता है जो कि बड़ी भयंकर और भयंकर फलों को देने वाली है। उसका न्याय-पूर्वक उच्छेदन करके मैं विचरता हूं।

टीका—केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी कहते हैं कि इस संसार में जो तृष्णा है वही विष-लता है, इसीलिए यह बड़ी भयंकर और दुःखरूप फलों को उत्पन्न करने वाली कही गई है। इस लता को मैंने न्याय-पूर्वक अर्थात् जिन-प्रवचन के अनुसार अपनी मनोभूमि में से उखाड़ दिया है, अर्थात् इसका समूलोन्मूलन कर दिया है, इसीलिए मैं इस संसार में आनन्द-पूर्वक विचरण करता हूं।

प्रस्तुत गाथा के द्वारा यह समझाया गया है कि इस संसार में समस्त प्रकार के दुःखों का मूल 'तृष्णा' है, इसीलिए इसको विष-लता—विष की बेल कहते हैं, क्योंकि इससे विष के समान नाना प्रकार के दुःखरूप फल उत्पन्न होते हैं, अतः जिन आत्माओं ने इस तृष्णा का सर्वथा विनाश कर दिया है, वे ही आत्मा वास्तव में सुखी है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि वे जहां तक हो सके, वहां तक तृष्णा का क्षय करने का प्रयत्न करें।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर केशीकुमार मुनि बोले कि—

साहु गोयम! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयम ! ॥ ४९ ॥

साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥ ४९ ॥

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, आपने मेरा यह सन्देह भी दूर कर दिया है। मेरा एक और भी सन्देह है, अब उसके विषय में भी कुछ कहें।

टीका—भावार्थ पूर्ववत् स्पष्ट है।

अब प्रश्न के छठे द्वार का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार मुनि, अग्नि को शान्त करने के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। यथा—

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! ।
जे डहन्ति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे ॥ ५० ॥

संप्रज्वलिता घोराः, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौतम ! ।
ये दहन्ति शरीरस्थाः, कथं विध्यापितास्त्वया ॥ ५० ॥

पदार्थान्वयः—**संपज्जलिया**—सप्रज्वलित, **घोरा**—रौद्र, **गोयमा**—हे गौतम ! **अग्गी**—अग्नि, **चिट्ठइ**—ठहरती है, **जे**—जो, **डहन्ति**—भस्म करती है, **सरीरत्था**—शरीर में रही हुई, **कहं**—किस प्रकार, **तुमे**—तुमने, **विज्झाविया**—बुझाई है।

मूलार्थ–हे गौतम ! प्राणियों के शरीर में जो अग्नियां ठहरी हुई हैं जोकि संप्रज्वलित हो रही हैं जो घोर वा प्रचंड हैं तथा शरीर को भस्म करने वाली हैं, उनको आपने कैसे शान्त किया, अर्थात् वे अग्नियां आपने कैसे बुझाईं ?

टीका–केशीकुमार पूछते हैं कि हे गौतम् ! प्राणिमात्र के शरीर में जो अग्नियां प्रज्वलित हो रही हैं और आत्मा के गुणों को भस्मसात् कर रही हैं, उन अग्नियों को आपने कैसे बुझाया, कैसे शान्त किया, क्योंकि वे बड़ी रौद्र और भयानक हैं।

इस गाथा में **'शरीरस्थ'** शब्द आया है, इसलिए उपचारनय से उसका अर्थ आत्मा करना चाहिए, क्योंकि अग्नियों की स्थिति आत्मा में है और आत्मा का शरीर के साथ नीर-क्षीर की तरह अभेद सम्बन्ध बना हुआ है तथा तैजस और कार्मण शरीर तो मोक्षान्तभावी हैं, अर्थात् जब तक यह आत्मा मुक्त नहीं होती, तब तक ये आत्मा से किसी समय में भी पृथक् नहीं होते। इसलिए शरीरस्थ का अर्थ यहां पर **'आत्मा में स्थित'** ऐसा करना उचित है।

'अग्गी चिट्ठइ' यहां पर सुप् का व्यत्यय करने से बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग किया गया है।

अब इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि–

महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं ।
सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नो डहन्ति मे ॥ ५१ ॥

महामेघप्रसूतात्, गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् ।
सिञ्चामि सततं देहं, सिक्ता न च दहन्ति माम् ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः–महामेह–महामेघ से, **प्पसूयाओ**–प्रसूत, **गिज्झ**–ग्रहण करके, **जलुत्तमं**–उत्तम जल को, **वारि**–पवित्र पानी को, **सिंचामि**–मैं सिंचन करता हूं, **सययं**–निरन्तर, **ते**–उनको, **उ**–फिर, **सित्ता**–सिंचन की गई, **मे**–मुझे वे, **नो**–निश्चय नहीं–**डहन्ति**–दहन करतीं–जलातीं।

मूलार्थ–महामेघ से प्रसूत उत्तम और पवित्र जल को ग्रहण करके मैं उन अग्नियों पर निरन्तर सींचता रहता हूं, अतः सिंचन की गई वे अग्नियां मुझे नहीं जला पातीं।

टीका–श्री गौतम स्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! मैं महामेघ के स्रोत से उत्तम जल लेकर उसके द्वारा उन अग्नियों पर निरन्तर जल के छींटे देता रहता हूं, अतः सिंचन की गई वे अग्नियां मुझे जला नहीं सकतीं, अर्थात् मेरे आत्म-गुणों को भस्म करने में वे समर्थ नहीं हो सकतीं। जैसे कि प्रज्वलित हुई बाह्य अग्नि तब तक ही किसी वस्तु को भस्म कर सकती है, जब तक कि वह जल के द्वारा शान्त न की जाए और जल के द्वारा शान्त की गई अग्नि जैसे किसी भी वस्तु को जलाने में

समर्थ नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा में विद्यमान अग्नि-ज्वाला को जल के अभिषेक से शान्त कर देने पर वह आत्म-गुणों को भस्म नहीं कर सकती, इसीलिए मैं शांति-पूर्वक विचरता हूं।

अब उक्त विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए केशीकुमार मुनि फिर पूछते हैं। यथा–

अग्गी य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ५२ ॥

अग्नयश्चेति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वयः–**अग्गी**–अग्नियां, **के**–कौन सी, **वुत्ते**–कही गई है, **इइ**–इस प्रकार, **केसी**–केशीकुमार, **गोयमं**–गौतम के प्रति, **अब्बवी**–कहने लगे, **तओ**–तदनन्तर, **बुवंतं**–बोलते हुए, **केसिं**–केशीकुमार के प्रति, **गोयमो**–गौतम स्वामी, **इणं**–इस प्रकार, **अब्बवी**–कहने लगे, **तु**–अवधारण अर्थ मे है।

मूलार्थ–हे गौतम ! वे अग्नियां कौनसी कही गई हैं ? (उपलक्षणरूप से महामेघ कौन सा है और पवित्र जल किसका नाम है ?) इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा।

टीका–आत्मा में प्रज्वलित हुई अग्नि को महामेघ के पवित्र जल से शान्त करन के रहस्य को सभा में उपस्थित हुई जनता को समझाने के निमित्त से कशीकुमार मुनि फिर गोतम स्वामी से पूछते हैं कि वे अग्निया कौन-सी हैं, तथा महामेघ किसको कहते है, तथा वह उत्तम जल कौन सा है, जिसके द्वारा आप इन उक्त अग्नि-ज्वालाओं को शान्त करते हैं, इत्यादि।

अब गौतम स्वामी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए इस प्रकार कहते हैं–

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं ।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥ ५३ ॥

कषाया अग्नय उक्ताः, श्रुतशीलतपो जलम् ।
श्रुतधाराभिहताः सन्तः, भिन्नाः खलु न दहन्ति माम् ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वयः–**कसाया**–कषाय, **अग्गिणो**–अग्निरूप, **वुत्ता**–कही गई है, **सुयसीलतवो**–श्रुत, शील और तप, **जलं**–जल है, **सुयधाराभिहया**–श्रुतधारा से ताडित, **सन्ता**–की हुई, **भिन्ना**–भेदन की हुई, **हु**–जिससे, **मे**–मुझे, **न**–नही, **डहन्ति**–जलातीं।

मूलार्थ–हे मुने! (क्रोध, मान, माया और लोभ रूप) चार कषाय अग्नियां हैं, श्रुत,

शील और तपरूप जल कहा जाता है तथा श्रुतरूप जलधारा से सिंचित किए जाने पर नष्ट हुईं वे अग्नियां मुझे नहीं जला पातीं।

टीका—श्री गौतम स्वामी केशीकुमार के प्रति कहते हैं कि हे मुने ! क्रोध, मान, माया और लोभरूप चारों विषय अग्नियां हैं, जो कि आत्मा के शांति आदि गुणों का निरन्तर शोषण कर रही हैं। श्री तीर्थंकर देव महामेघ के समान हैं और जैसे मेघ से पवित्र जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भगवान् के पवित्र मुख से श्रुतरूप उत्तम जल उत्पन्न होता है जो कि **'आगम'** के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें वर्णित हुआ श्रुत-ज्ञान, शील—पञ्चमहाव्रतरूप और द्वादशविध तपरूप जल है एवं श्रुतरूप जल धारा से जब वे सिंचित कर बुझाई जाती हैं, अर्थात् श्रुतरूप जलधारा जब उन पर पडती है, तब वे शान्त हो जाती हैं, अत: शान्त हुई वे अग्नियां मुझे जला नहीं सकतीं।

तात्पर्य यह है कि आक्रोश, हनन, तर्जन, धर्मभ्रंश और अलाभ आदि जब निमित्त मिलते हैं, तब ही उन कषायरूप अग्नियों के प्रचड होने की सभावना होती है, परन्तु श्रुतधारारूप आगम के सत्योपदेश से जब वे अग्नियां शान्त कर दी जाती हैं, तब उनका आत्म-गुणों पर कोई प्रभाव नहीं हो पाता। इसलिए गौतम मुनि कहते हैं कि हे मुने ! इस प्रकार शान्त हो जाने से इनका मेरी आत्मा पर कोई असर नहीं होता, अर्थात् मेरे शांति आदि आत्म-गुणों में किसी प्रकार की भी विकृति नही आ पातो। सारांश यह है कि जिस प्रकार अग्नि को शान्त करने के लिए जल का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार अन्तरात्मा में प्रदीप्त हुई कषायरूप अग्नि को शांत करने के लिए निर्ग्रन्थ-प्रवचनरूप महास्रोत से उत्पन्न होने वाले श्रुत, ज्ञान, शील और तपरूप निर्मल जलधारा का उपयोग करना चाहिए।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर केशीकुमार कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ५४ ॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥ ५४ ॥

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है, आपने मेरे इस सन्हेद को भी दूर कर दिया है। किन्तु, अभी मेरे मन में एक अन्य संशय भी है, कृपया उसके विषय में भी कुछ कहें (कहने की कृपा करें)।

टीका—गाथा का भाव स्पष्ट ही है।

इस प्रकार छठे द्वार का वर्णन हो जाने के पश्चात् अब सातवें प्रश्न-द्वार का उल्लेख करते हैं। उसमें अश्व-निग्रह सम्बन्धी प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार कहते हैं—

अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।
जंसि गोयम ! आरूढो, कहं तेण न हीरसि ? ॥ ५५ ॥

अयं साहसिको भीमः, दुष्टाश्वः परिधावति ।
यस्मिन् गौतम ! आरूढः, कथं तेन न ह्रियसे ॥ ५५ ॥

पदार्थान्वयः–**अयं**–यह, **साहसिओ**–साहसिक, **भीमो**–भीम–बलवान्, **दुट्ठस्सो**– दुष्ट अश्व–घोड़ा, **परिधावइ**–सर्व प्रकार से भागता है, **जंसि**–जिस पर, **गोयम**–हे गौतम ! **आरूढो**–चढ़ा हुआ है, **कहं**–कैसे, **तेण**–उस अश्व के द्वारा, **न**–नहीं, **हीरसि**–दुष्ट मार्ग में ले जाया गया।

मूलार्थ–हे गौतम ! यह साहसिक और भीम दुष्ट घोड़ा चारों ओर भाग रहा है, उस पर चढ़े हुए आप उसके द्वारा कैसे उन्मार्ग में नहीं ले जाए गए ? अर्थात् वह दुष्ट घोड़ा आपको उन्मार्ग में क्यों नहीं ले गया ?

टीका–केशी मुनि कहते है कि हे गौतम ! यह प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाला दुष्ट घोड़ा जो कि बडा ही चचल और भयंकर है, अर्थात् दुष्ट मार्ग में ले जाकर पटकने वाला तथा महान् उपद्रवों को करने वाला है, आश्चर्य यह है कि आप उस पर सवार हो रहे हैं, परन्तु उसने आपको उन्मार्ग मे ले जाकर कहीं पर नहीं पटका, इसका क्या कारण है? आप कृपा करके इसके रहस्य को समझाने का कष्ट करें।

प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि–

पहावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥ ५६ ॥

प्रधावन्तं निगृण्हामि, श्रुतरश्मिसमाहितम् ।
न मे गच्छत्युन्मार्गं, मार्गं च प्रतिपद्यते ॥ ५६ ॥

पदार्थान्वय–**पहावन्तं**–भागते हुए को, **निगिण्हामि**–पकड़ता हूं, **सुयरस्सी**–श्रुत रश्मि के द्वारा, **समाहियं**–समाहित–बंधे हुए को, अतः, **मे**–मेरा अश्व, **उम्मग्गं**–उन्मार्ग को, **न गच्छइ**–नहीं जाता, **च**–पुनः, **मग्गं**–मार्ग को, **पडिवज्जइ**–ग्रहण करता है।

मूलार्थ–हे मुने ! भागते हुए दुष्ट अश्व को पकड़ कर मैं श्रुतरूप रस्सी से बांध कर रखता हूं, इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग में नहीं जाता, किंतु सन्मार्ग पर ही चलता रहता है।

टीका–गौतम स्वामी कहते हैं कि जिस समय यह दुष्ट अश्व कुमार्ग पर जाने का प्रयास करने लगता है, तो मै उसी समय उसको पकड लेता हूं–निरोध कर लेता हू और श्रुत रश्मि–श्रुतरूप-रज्जु से उसको बांध देता हूं, जिससे कि वह उन्मार्ग में नहीं जा सकता, किन्तु

सन्मार्ग की ही ओर जाता है। इसलिए वह मेरे को उन्मार्ग में ले जाकर नहीं पटकता।

तात्पर्य यह है कि उसका नियन्त्रण मेरे हाथ में है, अत: मैं उस पर सुख-पूर्वक आरूढ़ होता हूं।*

गौतम स्वामी के उपर्युक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार मुनि और गौतम स्वामी का इस प्रश्न के सम्बन्ध में जो कुछ विचार हुआ अब उसका वर्णन करते हैं–

आसे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ५७ ॥

अश्वश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

पदार्थान्वयः--**आसे**–अश्व, **के**–कौन सा, **वुत्ते**–कहा गया है, **इइ**–इस प्रकार, **केसी**–केशीकुमार, **गोयमं**–गौतम के प्रति, **अब्बवी**–कहने लगे, **तओ**–तदनन्तर, **बुवंतं**–बोलते हुए, **केसिं**–केशीकुमार के प्रति, **गोयमो**–गौतम स्वामी, **इणं**–इस प्रकार, **अब्बवी**–कहने लगे, **तु**–अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ–हे गौतम ! आप अश्व किसको कहते हैं ? केशीकुमार के इस कथन को सुनकर गौतम स्वामी ने उनके प्रति इस प्रकार कहा।

टीका–सभा में उपस्थित हुए अन्य लोगों के बोधार्थ केशीकुमार ने गौतम स्वामी से फिर कहा कि हे गौतम ! आप अश्व किसको कहते हैं ? अर्थात् आपके मत में वह अश्व कौन-सा है तथा उपलक्षण से सन्मार्ग और कुमार्ग आप किसे समझते हैं ? एवं श्रुत-रश्मि से आपका क्या तात्पर्य है ?

यहा पर भी केशीकुमार ने गौतम के प्रति उक्त गाथा में कहे हुए अश्वादि के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, अर्थात् इस प्रश्न से उनका तात्पर्य यह था कि पास में बैठे हुए सभ्य पुरुषों को भी वस्तु-तत्त्व का परिज्ञान हो जाए।

अब गौतम स्वामी के उत्तर का वर्णन करते हैं–

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थगं ॥ ५८ ॥

---

* श्रुतरश्मि·–श्रुतम् आगमो नियन्त्रकतया रश्मिरिव रश्मि·–प्रग्रह. श्रुतरश्मिस्तेन समाहितो बद्ध. श्रुतरश्मिसमाहितस्तम्' इति वृत्तिकारः।

मनः साहसिको भीमः, दुष्टाश्वः परिधावति ।
तं सम्यक् तु निगृण्हामि, धर्मशिक्षायै कंथकम् (इव) ॥ ५८ ॥

पदार्थान्वयः–**मणो**–मन, **साहस्सिओ**–साहसिक, **भीमो**–रौद्र, **दुट्ठस्सो**–दुष्ट अश्व है, जो, **परिधावइ**–चारों ओर भागता है, **तं**–उसको, **सम्मं**–सम्यक् प्रकार से, **निगिण्हामि**–निग्रह करता हूं, **धम्मसिक्खाइ**–धर्मशिक्षा से, **कन्थगं**–जातिवान् अश्व की तरह।

मूलार्थ–हे मुने ! यह मन ही साहसी, रौद्र और दुष्ट अश्व है जो कि चारों ओर भागता है, मैं उसको कन्थक–जातिवान् अश्व की तरह धर्मशिक्षा के द्वारा निग्रह करता हूं।

टीका–केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि यह मन ही दुष्ट अश्व है जो कि बड़ा रौद्र है और उन्मार्ग में ले जाने वाला है। उस मन रूप अश्व को मैं धर्म शिक्षा के द्वारा अपने वश में रखता हूं, अर्थात् जिस प्रकार विशिष्ट जाति के अश्व को अश्व-वाहक सवार सुधार लेता है, उसी प्रकार धर्म-शिक्षा के द्वारा मैंने इस मनरूप अश्व को निगृहीत कर लिया है, जिससे कि उन्मार्गगामी होने के स्थान में यह सन्मार्ग को ही ग्रहण करता है, अतएव मुझे यह कुपथ में नहीं ले जा सकता।

प्रस्तुत गाथा से जो शिक्षा प्राप्त हो रही है, वह प्रत्यक्ष है अर्थात् मन रूप घोड़ा इस जीवात्मा को जिधर चाहे ले जा सकता है, ऊंची-नीची जिस गति में चाहे धकेल सकता है, इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि अपने मन को सुधार ले–उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे।

गौतम स्वामी के इस उक्त उत्तर को सुनकर उनके प्रति केशीकुमार मुनि कहते हैं कि–

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ५९ ॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥ ५९ ॥

मूलार्थ–हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है, आपने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है, अब मेरी एक अन्य शंका है कृपया उसके विषय में भी कुछ कहें।

टीका–भावार्थ अत्यन्त स्पष्ट है।

अब आठवें द्वार में मुनि केशीकुमार पूछते हैं कि वह मार्ग कौन-सा है जिस पर चलने से आप या अन्य कोई पुरुष विनाश को प्राप्त नहीं होता ? यथा–

कुप्पहा बहवे लोए, जेहिं नासन्ति जन्तवो ।
अद्धाणे कहं वट्टन्तो, तं न नाससि गोयमा ! ॥ ६० ॥

कुपथा बहवो लोके, यैर्नश्यन्ति जन्तवः ।
अध्वनि कथं वर्तमानः, त्वं न नश्यसि गौतम ! ॥ ६० ॥

पदार्थान्वयः—**कुप्पहा**—कुपथ, **बहवे**—बहुत से हैं, **लोए**—लोक में, **जेहिं**—जिनसे, **जन्तवो**—जीव, **नासन्ति**—नाश पाते हैं, **अद्धाणे**—मार्ग में, **कहं**—कैसे, **तं**—तुम, **वट्टन्तो**—वर्तते हो, **गोयमा**—हे गौतम ! **न नाससि**—नाश को प्राप्त नहीं होता ।

टीका—मुनि केशीकुमार कहते हैं कि संसार में ऐसे बहुत से कुमार्ग हैं, जिन पर चलने से जीव सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, परन्तु आप सन्मार्ग में प्रवृत्त हो रहे हैं और उससे कभी भ्रष्ट नहीं होते। इसका क्या कारण है ? तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य जीव, सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर नाश को प्राप्त हो रहे हैं और नाना प्रकार के दु:खों का अनुभव कर रहे हैं, उसी प्रकार आप भी सन्मार्ग से गिरकर दु:खो को प्राप्त क्यों नहीं होते, इसका कारण क्या है, कृपया यह बताइए !

अब इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि—

जे य मग्गेण गच्छन्ति, जे य उम्मग्गपट्ठिया ।
ते सव्वे वेइया मज्झं, तो न नस्सामहं मुणी ॥ ६१ ॥

ये च मार्गेण गच्छन्ति, ये चोन्मार्गप्रस्थिताः ।
ते सर्वे विदिता मया, तस्मान्न नश्याम्यहं मुने ! ॥ ६१ ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो, **मग्गेण**—मार्ग से, **गच्छन्ति**—जाते हैं, **य**—और, **जे**—जो, **उम्मग्ग**—उन्मार्ग में, **पट्ठिया**—प्रस्थित हैं, **ते**—वे, **सव्वे**—सर्व, **वेइया**—विदित हैं, **मज्झं**—मेरे को, **तो**—इसलिए, **मुणी**—हे मुने ! **हं**—मैं, **न नस्सामि**—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

मूलार्थ—हे मुने ! जो सन्मार्ग पर चलते हैं तथा जो उन्मार्ग पर चलते हैं, मै उन सबको जानता हूं, अतः मैं सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि हे मुने ! जो जीव सन्मार्ग पर चल रहे हैं तथा जो उन्मार्ग पर चल रहे हैं, उन दोनों को मैं भली-भांति जानता हूं, अतः मेरा आत्मा सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि जो साधक सुमार्ग और कुमार्ग इन दोनों को जानते हैं और जो अपने हित के इच्छुक होते हैं, वे कभी कुमार्ग में प्रवृत्त नहीं होते, क्योंकि कुमार्ग के फल का उन्हें यथार्थ रूप से ज्ञान होता है। अतः मुझे इन सबका ज्ञान है, अतः मैं सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं हो पाता।

प्रस्तुत गाथा से जो शिक्षा प्राप्त होती है वह यह है कि गमन करने से पूर्व, मार्ग का निश्चय अवश्य कर लेना चाहिए, जिससे कि फिर आपत्ति का सामना न करना पड़े।

अब श्रमण केशीकुमार गौतम स्वामी से 'मार्ग' का तात्पर्य जानने के लिए प्रश्न करते हैं—

मग्गे य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ६२ ॥

मार्गश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ६२ ॥

पदार्थान्वयः—मग्गे—मार्ग, **य**—और, कुमार्ग, **के**—कौन-सा, **वुत्ते**—कहा है, **इइ**—इस प्रकार, **केसी**—केशीकुमार, **गोयमं**—गौतम के प्रति, **अब्बवी**—कहने लगे, **तओ**—तदनन्तर, **बुवन्तं**—बोलते हुए, **केसिं**—केशीकुमार के प्रति, **गोयमो**—गौतम स्वामी, **इणं**—इस प्रकार, **अब्बवी**—कहने लगे, **तु**—अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—हे गौतम ! वह मार्ग कौन-सा है ? इस प्रकार केशीकुमार गौतम से बोले। तब इस प्रकार कहते हुए केशी से गौतम कहने लगे।

टीका—जनता के बोध के लिए केशीकुमार मुनि गौतम से कहते हैं कि वह सन्मार्ग कौन-सा है, और कुमार्ग आप किसे समझते हैं तथा सन्मार्ग मे जीव किस प्रकार प्रस्थान करते हैं और कुमार्ग में किस प्रकार प्रयाण करते हैं। इत्यादि प्रश्नों का उत्तर गौतम स्वामी ने अन्तिम गाथा के द्वारा दिया है।

अब गौतम स्वामी के द्वारा दिए गए उत्तर का उल्लेख करते हैं—

कुप्पवयणपासण्डी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥ ६३ ॥

कुप्रवचनपाखण्डिनः, सर्व उन्मार्गप्रस्थिताः ।
सन्मार्ग तु जिनाख्यातम्, एष मार्गो हि उत्तमः ॥ ६३ ॥

पदार्थान्वयः—कुप्पवयण—कुप्रवचन के मानने वाले, **पासण्डी**—पाखण्डी लोग, **सव्वे**—सभी, **उम्मग्ग**—उन्मार्ग मे, **पट्ठिया**—प्रस्थित हैं, **सम्मग्गं**—सन्मार्ग तो, **जिणक्खायं**—जिनभाषित है, **एस**—यह, **मग्गे**—मार्ग, **हि**—निश्चय से, **उत्तमे**—उत्तम है, **तु**—प्राग्वत् ।

मूलार्थ—कुदर्शनवादी सभी पाखण्डी लोग उन्मार्ग में चलते हैं, सन्मार्ग तो जिनभाषित है और यही उत्तम मार्ग है।

टीका–गौतम स्वामी कहते हैं कि जितने भी कुप्रवचन को मानने वाले अर्थात् जिनेन्द्र-प्रवचन पर श्रद्धा न रखने वाले पाखण्डी लोग हैं, वे सभी उन्मार्ग पर चलने वाले हैं, अर्थात् उनका जो कथन है वह उन्मार्ग है। सन्मार्ग तो जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ ही है, इसलिए यही उत्तम मार्ग है।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि पाखण्डियों के मार्ग में पदार्थों का स्वरूप यथातथ्य रूप में वर्णन नहीं किया गया, अतः उसको उन्मार्ग के तुल्य कहा गया है और विपरीत इसके जिनेन्द्र प्रभु के मार्ग में पदार्थों का स्वरूप यथार्थ प्रतिपादन किया गया है, इसलिए वह सन्मार्ग के समान है। उदाहरणार्थ–जीवादि पदार्थों का जो स्वरूप जिनेन्द्रदेव ने प्रतिपादन किया है, उसके समान अन्य किसी दर्शन ने भी प्रतिपादन नहीं किया। अथवा ऐसा कहिए कि वस्तु-तत्त्व के अनुरूप जीवादि पदार्थों का जिस प्रकार का स्वरूप जिनदर्शन में प्रतिपादन किया गया है, वैसा यथातथ्य स्वरूप अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं होता, अतः वे लोग राग-द्वेषादि दोषों से युक्त होने के कारण यथार्थवक्ता या आप्त पुरुष नहीं हो सकते और विपरीत इसके जिनेन्द्रदेव रागादि दोषों से मुक्त हैं, इसलिए उनके कथन में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं आ सकता, अतः उनका जो कथन है, वह वस्तु-स्वरूप के यथार्थ तथ्य को प्रकट करने वाला होने से निर्दोष है, क्योंकि वीतराग होने से वे यथार्थवक्ता और आप्त पुरुष हैं। इससे सिद्ध हुआ कि उनका जो कथन है, वह सर्वोत्तम मार्ग है। उस पर चलने वाले पुरुष का कभी भी पतन नहीं होता।

यह सुनकर केशीकुमार कहते हैं कि–

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ६४ ॥

साधु गौतम प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ॥ ६४ ॥

मूलार्थ–हे गौतम ! आपकी प्रतिभा श्रेष्ठ है, आपने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है, अभी मेरे मन में एक अन्य संशय भी है, उसके विषय में भी कुछ कहिए।

टीका–गाथा का भावार्थ स्पष्ट है।

अब प्रश्न के नौवें द्वार का वर्णन किया जाता है–

महाउदगवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
सरणं गइं पइट्ठं च, दीवं कं मन्नसी ? मुणी ! ॥ ६५ ॥

महोदकवेगेन, उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
शरणं गतिं प्रतिष्ठां च, द्वीपं कं मन्यसे ? मुने ! ॥ ६५ ॥

पदार्थान्वयः—महाउदगवेगेणं—महान् उदक के वेग से, **वुज्झमाणाण**—डूबते हुए, **पाणिणं**—प्राणियों को, **सरणं**—शरण रूप, **गइं**—गतिरूप, **च**—और, **पइट्ठं**—प्रतिष्ठा रूप, **दीवं**—द्वीप, **कं**—कौन-सा, **मन्नसी**—मानते हो, **मुणी**—हे मुने।

मूलार्थ—हे मुने ! महान् उदक के वेग में बहते हुए प्राणियों को शरण, गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप आप किसको मानते हैं ?

टीका—केशीकुमार गौतम स्वामी से पूछते है कि हे मुने ! महान् उदक—महास्रोत के वेग—प्रवाह में जो प्राणी बह रहे हैं—डूब रहे हैं, उनके सहारे के लिए अर्थात् जहां जाकर स्थिरता-पूर्वक निवास किया जा सके ऐसा शरण, गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप कौन-सा है ? तात्पर्य यह है कि जिस समय पानी का महाप्रवाह चलता है, उस समय अल्प सत्त्व वाले जीव उसमें बहने एवं डूबने लगते है, अतः उन डूबते हुए जीवो के बचाव के लिए कौन-सा ऐसा द्वीप है कि जहां जाकर शातिपूर्वक निवास किया जाए ? क्योंकि बहते हुए प्राणी को किसी आश्रय का मिल जाना उसकी रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए महाप्रवाह में बहते हुए प्राणियों को शरण, गति और प्रतिष्ठा को देने वाले द्वीप के स्वरूप का आप अवश्य वर्णन करें।

उक्त प्रश्न के उत्तर में श्री गौतम स्वामी ने कहा—

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ ।
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥ ६६ ॥

अस्त्येको महाद्वीपः, वारिमध्ये महालयः ।
महोदकवेगस्य, गतिस्तत्र न विद्यते ॥ ६६ ॥

पदार्थान्वयः—अत्थि—है, **एगो**—एक, **महादीवो**—महाद्वीप, **वारिमज्झे**—जल के मध्य में, **महाउदगवेगस्स**—महान उदक वेग की, **तत्थ**—वहा पर, **गई**—गति, **न विज्जई**—नही है।

मूलार्थ—समुद्र के मध्य में एक महाद्वीप है, वह बड़े विस्तार वाला है। जल के महान् वेग की वहां पर गति नहीं है।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि समुद्र के मध्य में एक बडा भारी द्वीप ह, वह द्वीप लम्बाई और चौड़ाई में बड़ा विस्तृत है तथा जल से बहुत ऊंचा है, अतः जल के वेग की वहां तक पहुच नहीं हो पाती। तात्पर्य यह है कि पानी का प्रवाह उस महाद्वीप में प्रवेश नही कर सकता। इसलिए वह द्वीप डूबते हुए प्राणियों का पूर्ण सहायक है, अर्थात् वहा पहुच जाने पर फिर जल के प्रवाह का भय नहीं रहता, किन्तु वहां पर पहुंच जाने के बाद हर एक प्राणी आनन्दपूर्वक रह सकता है, परन्तु नियम यह है कि पानी के वेग से पीड़ित जीवो को किसी प्रकार उस द्वीप मे पहुंच जाना चाहिए।

गौतम स्वामी के इस कथन को सुनकर केशीकुमार कहते हैं—

दीवे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ६७ ॥

द्वीपश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ६७ ॥

पदार्थान्वयः—**दीवे**—द्वीप, **के**—कौन-सा, **वुत्ते**—कहा गया है, **इइ**—इस प्रकार, **केसी**—केशीकुमार ने, **गोयमं**—गौतम के प्रति, **अब्बवी**—कहा, **तओ**—तब, **केसिं**—केशीकुमार को, **बुवन्तं**—कहते हुए, **गोयमो**—गौतम ने, **इणं**—इस प्रकार, **अब्बवी**—कहा, **तु**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—हे गौतम ! वह महाद्वीप कौन-सा कहा गया है ? इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी इस प्रकार बोले।

टीका—यद्यपि गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया, उसको केशीकुमार ने अच्छी तरह से समझ लिया था, परन्तु पास मे बैठी हुई जनता को उसका स्पष्ट रूप से रहस्य समझाने के लिए केशीकुमार मुनि ने उनस उस द्वीप के विषय में फिर प्रश्न किया कि वह महाद्वीप कौन-सा है, जहा पर जाने से प्राणियो को समुद्र के प्रवाह में डूबने का फिर भय नहीं रहता। इत्यादि।

उक्त प्रश्न का गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया अब उसका वर्णन करते हैं—

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥ ६८ ॥

जरामरणवेगेन, उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥ ६८ ॥

पदार्थान्वयः—**जरा**—बुढ़ापा, **मरण**—मृत्यु के, **वेगेणं**—वेग से, **वुज्झमाणाण**—डूबते हुए, **पाणिणं**—प्राणियों को, **धम्मो**—धर्म, **दीवो**—द्वीप है, **पइट्ठा**—प्रतिष्ठान है, **य**—और, **गई**—गति रूप है, **सरणं**—शरणभूत है, **उत्तमं**—उत्तम है।

मूलार्थ—जरा-मरण के वेग में डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा है और उत्तम शरण रूप है।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न को सुनकर गौतम स्वामी ने कहा कि संसार रूप महासमुद्र मे जरा-मरण रूप जल है, जिसके प्रबल प्रवाह में समस्त प्राणी बह रहे है। उन बहते अर्थात् डूबते हुए प्राणियों को आश्रय देने वाला धर्म (श्रुत-चारित्र रूप) ही महाद्वीप है। जिस समय संसारी जीव जन्म, जरा और मरण तथा आधि-व्याधि रूप जलराशि के महान वेग में बहते हुए व्याकुल

हो उठते हैं, उस समय इस धर्म रूप महाद्वीप की शरण में जाने से अर्थात् उसको प्राप्त कर लेने से उनकी रक्षा हो जाती है।

यहां पर जन्म, जरा और मृत्यु को समुद्र-जल के समान कहा गया है और श्रुत-चारित्र रूप धर्म को महाद्वीप बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे महाद्वीप में जल के वेग का प्रवेश नहीं होता, तद्वत् श्रुत और चारित्र रूप महाद्वीप में जन्म, जरा और मृत्यु आदि भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। कारण यह है कि मोक्ष में इनका सर्वथा अभाव है, इसलिए संसार रूप समुद्र के जरा-मरणादि रूप जल-प्रवाह में बहते हुए प्राणियों को इसी धर्म रूप महाद्वीप का सहारा है और इसी की शरण मे जाना परमोत्तम है।

इस प्रकार गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर केशीकुमार ने कहा कि-

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो में संसओ इमो ।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ६९ ॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥ ६९ ॥

पदार्थान्वयः-पूर्ववत्।

मूलार्थ-हे गौतम ! आपकी प्रतिभा उत्तम है, उसने मेरे संशय को दूर कर दिया है, अभी मेरे मन में एक अन्य संशय भी है, कृपया उसके विषय में भी कुछ कहें।

टीका-गाथा का आशय सर्वथा स्पष्ट है।

अब प्रश्न के दशवें द्वार का प्रस्ताव करते हुए कहते हैं-

अण्णवंसि महोहंसि, नावा विपरिधावई ।
जंसि गोयममारूढो, कहं पारं गमिस्ससि ? ॥ ७० ॥

अर्णवे महौघे, नौर्विपरिधावति ।
यस्यां गौतम ! आरूढः, कथं पारं गमिष्यसि ? ॥ ७० ॥

पदार्थान्वयः-**अण्णवंसि**-समुद्र में, **महोहंसि**-महाप्रवाह वाले में, **नावा**-नौका भी, **विपरिधावई**-विपरीत रूप से चारो ओर जा रही है, **जंसि**-जिसमें, **गोयम**-हे गौतम् ! तू, **आरूढो**-सवार हो रहा है, **कहं**-कैसे, **पारं**-पार को, **गमिस्ससि**-प्राप्त होगा ?

मूलार्थ-हे गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र में एक नौका विपरीत रूप से चारों ओर भाग रही है, जिसमें कि आप आरूढ वा सवार हो रहे हैं तो फिर आप कैसे पार जा सकेंगे ?

टीका–महान् जलराशि और महान् वेग वाले समुद्र में विपरीत गमन करने वाली अथव समुद्र के मध्य में इधर-उधर भटकने वाली नौका पर पार जाने की इच्छा से आरूढ हुए किर्स पुरुष को देखकर जैसे उसके किनारे लगने की बहुत कम सम्भावना होती है और उसकी इर दशा को देखकर मन में उसके लिए नाना प्रकार के संशय उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विपरीः गमन करने वाली अर्थात् इधर-उधर घूमने वाली नौका पर आरूढ हुए गौतम स्वामी को लक्ष्‍ में रखकर केशीकुमार मुनि उनसे पार होने के विषय में प्रश्न करते हैं कि आप इतने बड़े अगाध जल-प्रवाह में उच्छृंखल प्रवृत्ति से गमन करने वाली नौका पर आरूढ होकर किस प्रकार इर समुद्र को पार कर सकेंगे।

अब इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि–

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिनी ॥ ७१ ॥

या त्वास्राविणी नौः, न सा पारस्य गामिनी ।
या निरास्राविणी नौः, सा तु पारस्य गामिनी ॥ ७१ ॥

पदार्थान्वयः- **जा**–जो, **अस्साविणी**–छिद्रसहित, **नावा**–नौका है, **न**–नहीं, **सा**–वह **पारस्स**–पार, **गामिणी**–जाने वाली है, **उ**–पुनः, **जा**–जो, **निरस्साविणी**–छिद्ररहित, **नावा**–नौक है, **सा**–वह, **उ**–निश्चय ही, **पारस्स**–पार, **गामिणी**–जाने वाली है–पार पहुंचाने वाली है।

मूलार्थ–जो नौका छिद्रों वाली होती है, वह पार ले जाने वाली नहीं होती, किन जो नौका छिद्रों से रहित होती है, वह अवश्य पार ले जाने वाली होती है।

टीका–केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि भगवन् ! जो ना छिद्रों वाली है, उस पर आरूढ हुआ पुरुष कभी पार नहीं हो सकता, क्योंकि छिद्रों के द्वारा उस जल भरता चला जाता है, अतः वह पार ले जाने को समर्थ नहीं होती, वह तो मध्य में ही डूब देती है, जो नौका छिद्रो से रहित होती है उस पर आरूढ हुआ पुरुष अवश्य पार हो जाता है क्योकि छिद्र रहित होने से उसमें जल का प्रवेश नहीं हो पाता, इसलिए वह पार ले जाने में सम होती है।

गौतम स्वामी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि समुद्र को पार करने के लिए मैंने जि नौका का आश्रय लिया है, वह छिद्रों सहित नहीं है, किन्तु छिद्रों से रहित है, अतएव विपरी चलने वाली नहीं है। इसलिए उक्त प्रकार की सुदृढ़ नौका पर आरूढ होता हुआ मैं इस संसार-समु को अवश्यमेव पार कर जाने का विश्वास रखता हूं।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने उनके प्रति जो कुछ कह अब उसका वर्णन करते हैं–

नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ७२ ॥

नौश्चेति कोक्ता, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ७२ ॥

पदार्थान्वयः-नावा-नौका, **य**-और, **का**-कौन-सी, **वुत्ता**-कही है, **केसी**-केशीकुमार ने, **गोयमं**-गौतम स्वामी से, **अब्बवी**-यह कहा। **तओ**-तब, **केसिं**-केशीकुमार से, **बुवंतं**-प्रश्न करते हुए को, **तु**-पादपूर्त्यर्थ, **गोयमो**-गौतम स्वामी ने, **इणं**-इस प्रकार, **अब्बवी**-कहा।

मूलार्थ-श्री केशीकुमार ने श्री गौतम स्वामी से कहा-वह नौका कौन-सी कही गई है ? तब प्रश्न करते हुए केशीकुमार जी से गौतम स्वामी जी ने यह कहा।

टीका-वह नौका कौन-सी है ? उपलक्षण से नाविक कौन है तथा यह समुद्र और इस समुद्र का परला किनारा क्या है, केशी मुनि ने इत्यादि प्रश्न किए।

अब इसके प्रत्युत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि-

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥ ७३ ॥

शरीरमाहुर्नौरिति, जीव उच्यते नाविकः ।
संसारोऽर्णव उक्तः, यं तरन्ति महर्षयः ॥ ७३ ॥

पदार्थान्वयः-सरीरं-यह शरीर, **नावत्ति**-नौका है, इस प्रकार, **आहु**-तीर्थकर देव कहते है, **जीवो**-जीव, **नाविओ**-नाविक, **वुच्चइ**-कहा जाता है, **संसारो**-संसार को, **अण्णवो**-समुद्र, **वुत्तो**-कहा जाता है, **जं**-जिसको, **महेसिणो**-महर्षि लोग, **तरंति**-तैर जाते हैं।

मूलार्थ-तीर्थंकर देव ने इस शरीर को नौका के समान कहा है और जीव नाविक है तथा यह संसार ही समुद्र है, जिससे महर्षि लोग तैर जाते हैं-पार हो जाते हैं।

टीका-गौतम मुनि कहते है कि यह शरीर ही नाव है तथा इस पर सवार होने वाला जीव ही नाविक माना गया है। यह संसार ही समुद्र के तुल्य होने से समुद्र कहलाता है, जिसको महर्षि लोग तैरते हैं-पार कर जाते हैं।

प्रस्तुत गाथा में शरीर को नौका माना गया है और जीव को नाविक कहा गया है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार जीवाजीवादि की नाव आधारभूत है, उसी प्रकार यह शरीर भी ज्ञान-दर्शन और चारित्र आदि का आधारभूत है। जब कि शरीर को नौका की उपमा दी गई है तो उसके अधिष्ठाता जीव को नाविक कहा ही जाएगा, क्योंकि शरीर रूप नौका का संचालन

जीव द्वारा ही हो सकता है तथा नौका समुद्र में रहती है और वह इन संसारी जीवों को उसके पार ले जाती है, अतः यह संसार ही एक प्रकार का बड़ा भारी समुद्र है, जिसको महर्षि लोग पार कर जाते हैं। जैसे नाव के द्वारा पार होने वाले जीव पार हो जाने पर नौका को छोड़कर इच्छित स्थान पर चले जाते हैं, ठीक इसी प्रकार संसार-समुद्र से पार हो जाने वाले जीव इस शरीर को यहां पर छोड़ कर मोक्ष में चले जाते हैं, क्योंकि जैसे समुद्र को पार करने के लिए नौका एक साधन-मात्र है और समुद्र को पार कर लेने के अनन्तर फिर उसकी आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार शरीर भी संसार-समुद्र से पार होने का एक साधनमात्र है, अतः पार होने के बाद अर्थात् मोक्ष में चले जाने के अनन्तर इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर अब अन्य प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार कहते हैं–

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ७४ ॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥ ७४ ॥

पदार्थान्वयः–पूर्ववत्।

मूलार्थ–हे गौतम् ! आपकी प्रतिभा श्रेष्ठ है, आपने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है, मेरे मन में एक अन्य संशय भी है, उसके विषय में कुछ कहें।

टीका–गाथा का भावार्थ स्पष्ट है।

अब ग्यारहवें प्रश्न-द्वार का प्रस्ताव करते हुए प्रश्नोत्तर रूप से अन्धकार के विषय का वर्णन करते हैं–

अंधयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोयं ?, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥ ७५ ॥

अन्धकारे तमसि घोरे, तिष्ठन्ति प्राणिनो बहवः ।
कः करिष्यत्युद्योतं ?, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥ ७५ ॥

पदार्थान्वयः–अंधयारे–अन्धकार, **घोरे**–घोर, **तमे**–तमरूप में, **बहू**- बहुत से, **पाणिणो**–प्राणी, **चिट्ठंति**–ठहरते हैं, **को**–कौन, **उज्जोयं**–उद्योत, **करिस्सइ**–करेगा, **सव्वलोगम्मि**–सर्वलोक में, **पाणिणं**–प्राणियों को।

मूलार्थ–हे गौतम ! बहुत से प्राणी घोर अन्धकार में रह रहे हैं, इन सब प्राणियों के लिए लोक में कौन प्रकाश करेगा?

टीका–केशीकुमार श्रमण कहते हैं कि हे गौतम। इस संसार में चारों ओर घोर भयानक अन्धकार है, उस अन्धकार में बहुत से जीव भटक रहे हैं, इन प्राणियों को लोक में कौन उद्योत—प्रकाश देने में समर्थ है ? तात्पर्य यह है कि अन्धकार की दशा में मनुष्य अभीष्ट क्रियाओं के यथारुचि सम्पादन करने में असमर्थ होता है, इसलिए उसे प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। जैसे कोई अन्धा पुरुष वस्तु के ग्रहण अथवा विसर्जन आदि का काम यथाविधि नहीं कर सकता, इसी प्रकार अन्धकार से घिरा हुआ व्यक्ति भी किसी कार्य को व्यवस्था-पूर्वक सम्पादन नहीं कर सकता।*

अब गौतम स्वामी कहते हैं–

उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोयपभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥ ७६ ॥

उद्गतो विमलो भानुः, सर्वलोकप्रभाकरः।
सः करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥ ७६ ॥

पदार्थान्वयः–उग्गओ–उदय हुआ है, **विमलो**–निर्मल, **भाणू**–सूर्य, **सव्वलोय- पभंकरो**–सर्वलोक में प्रकाश करने वाला, **सो**–वह, **उज्जोयं**–उद्योत, **करिस्सइ**–करेगा, **सव्वलोगम्मि**–सर्व लोक में, **पाणिणं**–प्राणियों को।

मूलार्थ–हे भगवन् ! सर्वलोक में प्रकाश करने वाला उदय हुआ निर्मल सूर्य इस लोक में सर्व प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

टीका–गौतम स्वामी कहते हैं कि जगत् में फैले हुए घोर अन्धकार से व्याप्त प्राणियों को सर्वलोक में प्रकाश करने वाला उदय हुआ निर्मल सूर्य ही प्रकाश देगा, क्योंकि अन्धकार को दूर करके प्रकाश को देने वाला एकमात्र सूर्य ही है, अतः वही उद्योत करेगा।

यहां पर 'विमलो'–'निर्मल' यह सूर्य का विशेषण इसलिए दिया गया है कि बादलो से घिरे हुए सूर्य में उतना प्रकाश देने की शक्ति नहीं होती, जितनी कि निर्मल सूर्य में होती है।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए केशीकुमार और गौतम स्वामी के बीच्च जो प्रश्नोत्तर हुआ, अब उसका वर्णन करते हैं। यथा–

---

* 'अन्धमि-वान्ध चक्षु, प्रवृत्तिनिवर्त्तकत्वेनार्थात् जनं करोत्यन्धकारस्तस्मिन्, तमसि प्रतीते'।

भाणू अ इइ के वुत्ते केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥ ७७ ॥

भानुश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ७७ ॥

मूलार्थ–श्रमण केशीकुमार ने श्री गौतम स्वामी से कहा–आप सूर्य किसे कहते हैं ? तब प्रश्न पूछते हुए केशीकुमार से गौतम स्वामी ने यह कहा।

टीका–गाथा का भावार्थ स्वतः स्पष्ट है–

अब गौतम स्वामी उत्तर देते हैं।

उग्गओ खीणसंसारो, सव्वण्णू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥ ७८ ॥

उद्गतः क्षीणसंसारः, सर्वज्ञो जिनभास्करः ।
स करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम्, ॥ ७८ ॥

पदार्थान्वयः–**उग्गओ**–उदय हुआ, **खीणसंसारो**–क्षीण हो गया है संसार जिसका, **सव्वण्णू**–सर्वज्ञ, **जिणभक्खरो**–जिनभास्कर, **सो**–वह, **करिस्सइ**–करेगा, **उज्जोयं**–उद्योत, **सव्वलोगम्मि**–सर्वलोक में, **पाणिणं**–प्रणियों को।

मूलार्थ–जिनका संसार क्षीण हो गया है, ऐसे सर्वज्ञ जिनेन्द्र रूप भास्कर का उदय हुआ है, वही सर्वलोक में प्राणियों को प्रकाशित करेंगे–उन्हें धर्म का प्रकाश देंगे।

टीका–गौतम स्वामी कहते हैं कि जिनका संसार-भ्रमण क्षय हो चुका है, जिन्होंने चारों प्रकार के घाती कर्मो का नाश करके कैवल्य पद प्राप्त कर लिया है, अतएव वे सर्वज्ञ और समदर्शी हो गए हैं, वे ही जिनेन्द्र भगवान् श्री महावीर स्वामी वास्तव में सूर्य हैं, जिनका कि इस समय उदय हुआ है। इसलिए लोक को–अन्धकारव्याप्त समस्त प्राणियों को वे ही प्रकाश देने वाले हैं और देंगे।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जैसे उदय को प्राप्त हुआ सूर्य संसार के सब अन्धकार को दूर कर देता है, ठीक उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् भी आत्मगत अज्ञान और मिथ्यात्वरूप अन्धकार को दूर करने में दूसरे भास्कर हैं।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा से प्रतीत होता है कि भगवान् वर्धमान स्वामी के अवतरण से पूर्व इस आर्यभूमि में अज्ञानता और अन्धविश्वासों का अधिक प्राबल्य था, बहुत से भव्य जीव

अज्ञानता के अन्धकारमय भयानक जंगल में भटक रहे थे। इन सब कुसंस्कारों को जिनेन्द्र भगवान् श्री वर्धमान स्वामी ने दूर किया है।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर, अन्य प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए अब केशीकुमार फिर कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥ ७९ ॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥ ७९ ॥

पदार्थान्वयः—पूर्ववत्।

मूलार्थ—हे गौतम् ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, आपने मेरे इस संशय को भी दूर कर दिया है, अभी मेरे हृदय में एक अन्य संशय भी है, उसके विषय में कहें।

टीका—गाथा का आशय स्पष्ट ही है।

अब बारहवें प्रश्नद्वार का आरम्भ करते हैं कि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्माओं की सदैव काल स्थिति कहां पर है ? इस अभिप्राय से प्रेरित होकर केशीकुमार ने जिस प्रश्न का प्रस्ताव किया है, अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

सारीरमाणसे दुक्खे, बज्झमाणाण पाणिणं ।
खेमं सिवमणाबाहं, ठाणं किं मन्नसी मुणी ! ॥ ८० ॥

शारीरमानसैर्दुःखैः, बाध्यमानानां प्राणिनाम् ।
क्षेमं शिवमनाबाधं, स्थानं किं मन्यसे मुने ! ॥ ८० ॥

पदार्थान्वयः—**सारीर**—शारीरिक और, **माणसे**—मानसिक, **दुक्खे**—दुःखों से, **बज्झमाणाण**—बाध्यमान, **पाणिणं**—प्राणियो को, **खेमं**—क्षेम-व्याधि-रहित, **सिवं**—सर्वोपद्रव-रहित, **अणाबाहं**—स्वाभाविक पीड़ारहित, **ठाणं**—स्थान, **किं**—कौन-सा, **मन्नसी**—मानते हो, **मुणी**—हे मुने!

मूलार्थ—हे मुने ! शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम और शिव रूप तथा बाधाओं से रहित आप कौन-सा स्थान मानते हैं ?

टीका—श्रमण केशीकुमार गौतम स्वामी से पूछते हैं कि हे मुने ! जो प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं, उनके लिए क्षेम—व्याधि-रहित और शिव—सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित कौन-सा स्थान है ? तात्पर्य यह है कि जिस स्थान में जाकर ये प्राणी सर्व प्रकार

के दुःखों से रहित होकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकें, ऐसा कौन-सा स्थान है। कारण कि लोक में त्यागवृत्ति का अनुसरण करते हुए तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों में जितने भी कष्ट जीव सहते हैं उन सबका एकमात्र प्रयोजन सर्व प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत सुख की प्राप्ति ही है, अतः इस प्रकार के शाश्वत सुख का अगर कोई स्थान नहीं तो यह सब व्यर्थ हो जाता है, अतः कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहां पहुंचने पर इन संसारी प्राणियों को परम शांति की प्राप्ति हो सकती है, इसलिए आप कृपा करके ऐसे स्थान का निर्देश करें।

बृहद्वृत्तिकार ने–'**बज्झमाणाण**' के स्थान पर '**पच्चमाणाण**' पाठ दिया है, उसका अर्थ है '**पच्यमानानामिव**' अर्थात् दुःखों से आकुलीभूत। यदि संक्षेप में कहें तो जन्म, मरण आदि का दुःख जहां पर नहीं वह कौन-सा स्थान है, इतना ही भाव उक्त गाथा में आए हुए प्रश्न का है।

इस प्रश्न के उत्तर में गौतम मुनि ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं–

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥ ८१ ॥

अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरामृत्यू, व्याधयो वेदनास्तथा ॥ ८१ ॥

पदार्थान्वयः–**एगं**–एक, **धुवं**–ध्रुव, **ठाणं**–स्थान, **अत्थि**–है, **लोगग्गम्मि**–लोक के अग्रभाग में, **दुरारुहं**–दुरारोह–दुःख से आरोहण करने योग्य, **जत्थ**–जहां पर, **नत्थि**–नहीं है, **जरा**–बुढ़ापा, **मच्चू**–मृत्यु, **तहा**–तथा, **वाहिणो**–व्याधियां और, **वेयणा**–वेदनाएं।

मूलार्थ–लोक के अग्रभाग में एक ध्रुव–निश्चल स्थान है, जहां पर जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदनाएं नहीं हैं, परन्तु उस स्थान तक पहुंचना नितान्त कठिन है।

टीका–केशी मुनि को उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि लोक के अग्रभाग में ऐसा एक स्थान है कि जहां पर जरा और मृत्यु का अभाव है तथा किसी प्रकार की व्याधि और वेदना की भी वहां पर सत्ता नहीं है एवं वह स्थान ध्रुव, निश्चल अर्थात् शाश्वत है, परन्तु उस स्थान तक पहुंचना अत्यन्त कठिन है। तात्पर्य यह है कि उस स्थान पर पहुंचने के लिए सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप तीन साधन हैं, उनके द्वारा ही वहां पर पहुंचा जा सकता है, परन्तु इनका सम्यक्तया सम्पादन करना बहुत कठिन है।

यहां पर गाथा में जो '**ध्रुव**' पद दिया है, उसका अभिप्राय यह है कि वह स्थान अल्पकालभावी नहीं, किन्तु शाश्वत अर्थात् सदा रहने वाला है।

इसके अनन्तर उक्त विषय में इन दोनों महापुरुषों का जो प्रश्नोत्तर होता है अब शास्त्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

ठाणे य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ८२ ॥

स्थानं चेति किमुक्तं ? केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

पदार्थान्वयः—**ठाणे**—स्थान, **य**—और, **इइ**—वह, **के**—कौन-सा—**वुत्ते**—कहा गया है, **केसी**—केशीकुमार ने, **गोयमं**—गौतम जी से, **इणं**—इस प्रकार, **अब्बवी**—कहा, **तओ**—तदनन्तर, **केसिं**—केशीकुमार से, **बुवन्तं**—कहते हुए को, **तु**—पादपूर्त्यर्थ, **गोयमो**—श्रीगौतम स्वामी ने, **इणं**—इस प्रकार, **अब्बवी**—बोले।

मूलार्थ—वह स्थान कौन-सा है ? जब केशीकुमार ने यह पूछा तो प्रश्न करते हुए केशीकुमार से गौतम स्वामी इस प्रकार बोले।

टीका—केशीकुमार ने फिर कहा कि हे गौतम ! वह स्थान कौन-सा कहा गया है—कौन-सा माना गया है कि जिस स्थान पर जन्म, जरा और मृत्यु तथा शोक, रोग आदि दुःखों का अभाव है, तथा जिस स्थान पर जाकर यह जीव अजर, अमर आदि नामो से युक्त हो जाता है, क्योंकि जो लोग आस्तिक है उनका सारा उद्योग उसी स्थान के लिए है कि जहां पर उक्त प्रकार की आधि-व्याधियों को स्थान नहीं है। कृपया आप उस स्थान का स्पष्ट शब्दों में निर्देश करें।

केशीकुमार के उक्त कथनानुसार गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया अब उसका उल्लेख करते हैं। यथा—

निव्वाणंति अबाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥ ८३ ॥

निर्वाणमित्यबाधमिति, सिद्धिर्लोकाग्रमेव च ।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यच्चरन्ति महर्षयः ॥ ८३ ॥

पदार्थान्वयः—**निव्वाणं**—निर्वाण, **ति**—इस प्रकार—पूर्व परामर्श में, **अबाहं**—बाधारहित, **ति**—प्राग्वत्, **सिद्धी**—मोक्ष, **लोगग्गं**—लोकाग्र, **एव**—पादपूर्ति में है, **य**—समुच्चयार्थक है, **खेमं**—क्षेम, **सिवं**—शिव, **अणाबाहं**—बाधारहित, **जं**—जिस स्थान को, **महेसिणो**—महर्षि लोग, **चरंति**—आचरण करते हैं और प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ–हे मुने ! जिस स्थान को महर्षि लोग प्राप्त करते हैं वह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध इन नामों से विख्यात है, तात्पर्य यह है कि जिस स्थान का मैंने ऊपर उल्लेख किया है उसके ये नाम हैं।

टीका–केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि वह स्थान निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है, सर्व प्रकार के कषायों से निवृत्त होकर परम शान्त अवस्था को प्राप्त होने से उस स्थान को निर्वाण कहते हैं तथा उसमें सर्व प्रकार की शारीरिक और मानसिक बाधाओं का अभाव होने से उसका अव्याबाध नाम भी है एवं सर्वकार्यों की उसमें सिद्धि हो जाने से उसका सिद्धि नाम भी है। लोक के अग्र–अन्त भाग में होने से उसको लोकाग्र के नाम से भी पुकारते हैं। वहां पहुंचने पर किसी प्रकार का भी कष्ट न होने तथा परम आनन्द की प्राप्ति होने से उसको क्षेम और शिवरूप तथा अनाबाध भी कहते हैं। परन्तु इस स्थान को पूर्णरूप से संयम का पालन करने वाले महर्षि लोग ही प्राप्त कर पाते हैं, क्योंकि यह स्थान सर्वोच्च तथा सब के लिए उपादेय है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

तं ठाणं सासयंवासं, लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी ॥ ८४ ॥

तत् स्थानं शाश्वतावासं, लोकाग्रे दुरारोहम् ।
यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ति, भवौघान्तकरा मुने ! ॥ ८४ ॥

पदार्थान्वयः–तं–वह, **ठाणं**–स्थान, **सासयंवासं**–शाश्वत वासरूप है, **लोगग्गंमि**–लोक के अग्रभाग मे, **दुरारुहं**–दु:ख से–आरोहण योग्य, **जं**–जिसको, **संपत्ता**–प्राप्त करके, **न**–नहीं, **सोयन्ति**–सोच करते, **भवोहन्तकरा**–भव–संसार–के प्रवाह–जन्म-मरण–का अन्त करने वाले, **मुणी**–मुनि लोग–हे मुने !

मूलार्थ–हे मुने ! वह स्थान शाश्वत वासरूप है, लोक के अग्रभाग में स्थित है, परन्तु दुरारोह है तथा उस स्थान को प्राप्त करके भव-परम्परा का अन्त करने वाले मुनि जन सोच नहीं करते।

टीका–गौतम मुनि कहते हैं कि वह स्थान नित्य वासरूप है और सर्वोपरि होने के कारण लोकाग्र मे स्थित है, परन्तु वहां पर पहुंचना अत्यन्त कठिन है। जो भव्य जीव इस स्थान को प्राप्त कर लेते हैं, वे भव-परम्परा का अन्त करके फिर किसी प्रकार के शोक को प्राप्त नही होते। तात्पर्य यह है कि जिन आत्माओं ने केवल ज्ञान को प्राप्त करके जन्म-मरणरूप भव-परम्परा का

अन्त कर दिया है,* वे मुनिजन ही इस शाश्वत स्थान को प्राप्त होते हैं और इसको प्राप्त करके वे शोक दु:खादि से सर्वथा रहित हो जाते हैं।

'सासयं' इस पद में बिन्दु अलाक्षणिक है। प्रस्तुत गाथा में मोक्ष को नित्य और उसको प्राप्त करने वाले का अपुनरावर्तन ये बातें सूचित की गई हैं।

इस पर केशीकुमार पुनः कहते हैं–

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयातीत ! सव्वसुत्तमहोयही ॥ ८५ ॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
नमस्तुभ्यं संशयातीत ! सर्वसूत्रमहोदधे ! ॥ ८५ ॥

पदार्थान्वयः–साहु–साधु उत्तम है, **गोयम**–हे गौतम ! **ते**–तेरी, **पन्ना**–प्रज्ञा, **मे**–मेरा, **इमो**–यह, **संसओ**–संशय, **छिन्नो**–छेदन कर दिया आपने, **संसयातीत**–हे संशयातीत ! **सव्वसुत्त- महोयही**–हे सर्वसूत्रमहोदधे ! **नमो**–नमस्कार हो, **ते**–आपको।

मूलार्थ–हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा साधु है, आपने मेरे संशय को छेदन कर दिया है, अत: हे संशयातीत ! हे सर्वसूत्र-महोदधे ! आपको नमस्कार है।

टीका–मुनि केशीकुमार गौतम स्वामी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि हे गौतम! आपकी प्रज्ञा धन्य है, क्योकि आपने मेरे सारे सन्देह दूर कर दिए है। आप समस्त आगमों के समुद्र हैं और सर्व प्रकार के सशयों से रहित हैं, अत: आपको मेरा बार-बार नमस्कार है।

प्रस्तुत गाथा मे केशीकुमार मुनि के ज्ञान और ज्ञानवान् के विनय का दिग्दर्शन कराते हुए विनयधर्म के आदर्श का जो चित्र खींचा गया है, वह प्रत्येक भव्य जीव के लिए दर्शनीय और अनुकरणीय है।

इस प्रकार केशीकुमार द्वारा मन और वाणी से की गई विनय का वर्णन करके अब उसकी कायिक विनय का दिग्दर्शन कराते हुए साथ में उक्त शास्त्रार्थ के परिणाम का भी वर्णन करते हैं। यथा–

एवं तु संसए छिन्ने, केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवन्दित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ॥ ८६ ॥

---

* भवा नरकादयस्तेषामोघ –'पुन पुनर्भवरूपप्रवाहस्तस्यान्तकरा· पर्यन्तविधायिनो भवौघान्तकरा:' इति वृत्तिकार:।

पंचमहव्वयधम्मं, पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिममम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥ ८७ ॥

एवं तु संशये छिन्ने, केशी घोरपराक्रमः ।
अभिवन्द्य शिरसा, गौतमं तु महायशसम् ॥ ८६ ॥
पञ्चमहाव्रतधर्मं, प्रतिपद्यते भावतः ।
पूर्वस्य पश्चिमे, मार्गे तत्र सुखावहे ॥ ८७ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **तु**—निश्चय, **संसए**—संशय, **छिन्ने**—छेदन हो जाने पर, **केसी**—मुनि केशीकुमार, **घोरपरक्कमे**—घोर पराक्रम वाले, **महायसं**—महान् यश वाले, **गोयमं**—गौतम को, **अभिवन्दित्ता**—वन्दना करके, **सिरसा**—सिर से, **तु**—पुनः, **पंचमहव्वयधम्मं**—पांच महाव्रतरूप धर्म को, **भावओ**—भाव, से, **पडिवज्जइ**—ग्रहण किया, **पुरिमस्स**—पूर्व तीर्थकर के और, **पच्छिमम्मि**—पश्चिम तीर्थंकर के, **मग्गे**—मार्ग में, **सुहावहे**—सुख के देने वाले, **तत्थ**—उस वन में।

मूलार्थ—इस प्रकार संशयों के दूर हो जाने पर घोर पराक्रम वाले केशीकुमार ने महायशस्वी गौतम स्वामी को सिर से वन्दना करके उस तिन्दुक वन में पांच महाव्रतरूप धर्म को भाव से ग्रहण किया, कारण यह कि प्रथम और चरम तीर्थंकर के मार्ग में पंच यमरूप धर्म का पालन करना बताया गया है, जो कि सुख देने वाला है।

टीका—जब श्रमण केशीकुमार के द्वारा किए जाने वाले सभी प्रश्नों का उत्तर भली प्रकार से गौतम स्वामी ने दे दिया, तब केशीकुमार ने गौतम स्वामी को बड़े विनम्रभाव से वन्दना की और भाव से—अन्तःकरण से चतुर्याम-रूप धर्म को पंचमहाव्रतों के रूप में ग्रहण किया, क्योंकि आद्य और चरम तीर्थंकर के शासन में इसी धर्म का आदेश है जो कि सुख देने वाला है। जबकि इस समय चरम तीर्थंकर भगवान् वर्धमान स्वामी का शासन प्रवृत्त हो रहा है, तब मुझको भी उसी के अनुसार प्रवृत्ति करनी होगी, इस विचार से ही श्रमण केशीकुमार ने चतुर्याम के बदले पञ्चयाम रूप धर्म को अन्तःकरण से ग्रहण किया। यही उक्त गाथाद्वय का अभिप्राय है।

'सुहावहे' यह **'मग्गे—मार्गे'** का विशेषण है, (**सुखावहे—कल्याणप्रापके**)। इस कथन से केशीकुमार मुनि की सरलता, निष्पक्षता और सत्यप्रियता आदि मुनिजनोचित गुणों का परिचय विशेष रूप से मिल रहा है, जो कि कल्याण की इच्छा रखने वाले मुनिवर्ग के लिए विशेष माननीय और अनुकरणीय है।

अब इन दोनों महापुरुषों के समागम के फल का वर्णन करते हैं—

केसीगोयमओ निच्चं, तम्मि आसि समागमे ।
सुयसीलसमुक्करिसो, महत्थत्थविणिच्छओ ॥ ८८ ॥

केशिगौतमयोर्नित्यं, तस्मिन्नासीत् समागमः ।
श्रुतशीलसमुत्कर्षः, महार्थार्थविनिश्चयः ॥ ८८ ॥

पदार्थान्वयः—**तम्मि**—उस वन में, **केसीगोयमओ**—केशी और गौतम का, **निच्चं**—नित्य—सदा, **समागमे**—समागम में, **आसि**—हुआ, **सुयसील**—श्रुत और शील का, **समुक्करिसो**—सम्यक् उत्कर्ष, **महत्थत्थ**—महार्थ—मुक्ति के अर्थ का साधक शिक्षा व्रतादिरूप अर्थ का, **विणिच्छओ**—विशिष्ट निर्णय।

मूलार्थ—उस वन में केशीकुमार मुनि और गौतम स्वामी का जो नित्य—निरन्तर समागम हुआ उसमें श्रुत, शील, ज्ञान और चारित्र का सम्यक् उत्कर्ष था, उसके द्वारा मुक्ति के साधक शिक्षा व्रत आदि नियमों का विशिष्ट निर्णय हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे केशीकुमार और गौतम स्वामी के पारस्परिक समागम में महाप्रयोजन रूप मोक्ष के अर्थ का विशिष्ट निर्णय किया गया है। मोक्षदशा में एवं जीवन्मुक्त दशा में ज्ञान और चारित्र का पूर्ण अतिशय होता है। मोक्ष के साधन रूप जो शिक्षाव्रतादि नियम हैं, उनके अर्थ का विनिश्चय अर्थात् विशिष्ट निर्णय उस समागम मे हुआ। यद्यपि निर्णय—सन्देहरहित निश्चय तो शिष्यों का हुआ, तथापि शिष्यसमुदाय का पक्ष लेकर प्रश्न करने से केशीकुमार के नाम का निर्देश किया गया है।

गाथा मे आए हुए **'नित्य'** शब्द का अभिप्राय यह है कि जब तक वे दोनों महापुरुष उस नगरी में रहे, तब तक विशेष रूप से अर्थो का निर्णय होता रहा। विशिष्ट निर्णय का फल है विभिन्नता का अभाव और एकता की स्थापना, अर्थात् दोनो के शिष्य-समुदाय में क्रिया-भेद अथवा वेष-भेद से दृष्टिगोचर होने वाली विभिन्नता जाती रही।

इस प्रकार दोनों महर्षियों के संवाद से जब धर्म-सम्बन्धी निर्णय हो चुका, तब उससे परिषत् अर्थात् पास में बैठे हुए अन्य सभ्यजनों को जो लाभ पहुंचा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया ।
संथुया ते पसीयन्तु, भयवं केसिगोयमे ॥ ८९ ॥

त्ति बेमि ।

केसिगोयमिज्जं तेवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥ २३ ॥

तोषिता परिषत् सर्वा, सन्मार्ग समुपस्थिता ।
संस्तुतौ तौ प्रसीदताम्, भगवन्तौ केशिगौतमौ ॥ ८९ ॥

इति ब्रवीमि ।

केशिगौतमीयं त्रयोविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**तोसिया**—सन्तुष्ट हुई, **परिसा**—परिषत्, **सव्वा**—सर्व और, **सम्मग्गं**—सन्मार्ग में, **समुवट्ठिया**—समुपस्थित हुई—**भयवं**—भगवान्, **केसिगोयमे**—केशी और गौतम, **संथुया**—स्तुति किए गए, **ते**—वे दोनों, **पसीयन्तु**—प्रसन्न होवें, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं। यह केशिगौतमीय अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—सर्वपरिषत् उक्त संवाद को सुनकर—सन्मार्ग में प्रवृत्त हुई तथा "भगवान् केशीकुमार और गौतम स्वामी प्रसन्न हों," इस प्रकार परिषत् ने उनकी स्तुति की।

टीका—उक्त दोनों महर्षियों के धार्मिक संवाद में जो धर्म-सम्बन्धी निर्णय हुआ उसको सुनकर देवों और मनुष्यों की परिषद् को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह सन्मार्ग में प्रवृत्त होने को उद्यत हो गई। अतएव उसने केशीकुमार और गौतम स्वामी की उचित शब्दों में प्रशंसा करते हुए उनमें अपनी विशिष्ट श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया।

वास्तव में, महापुरुषो के संवादों द्वारा होने वाले तत्त्व-निर्णय से अनेक भव्य पुरुषों को लाभ पहुंचता है, इसलिए परिषद् के द्वारा इन दोनों महापुरुषों की स्तुति का किया जाना सर्वथा समुचित है।

इस सन्दर्भ मे प्रथम दो प्रश्नों को छोड़कर शेष दश प्रश्नों को गुप्तोपमालंकार के माध्यम से उत्तरित किया गया है ताकि श्रोताओं को प्रश्नविषयक स्पष्ट उत्तर जानने की पूरी इच्छा बनी रहे।

इसके अतिरिक्त **'त्ति बेमि'** की व्याख्या पूर्व की ही भांति समझ लेनी चाहिए।

त्रयोविंशमध्ययनं सम्पूर्णम्

अह समिइओ चउवीसइमं अज्झयणं

अथ समितयः (इति) चतुर्विंशमध्ययनम्

गत तेईसवें अध्ययन मे इस बात का वर्णन किया गया है कि यदि चित्त में किसी प्रकार की शंका उत्पन्न हो जाए तो केशी मुनि और गौतम गणधर की तरह उसकी निवृत्ति करने का उपाय करना चाहिए, परन्तु शकाओं के निराकरण में सम्यक् वचन-योग का होना नितान्त आवश्यक है और वाग्योग के लिए प्रवचन-माताओं के ज्ञान की आवश्यकता है, अतः इस चौबीसवे अध्ययन में प्रवचन-माताओ के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं। यथा-

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिया ॥ १ ॥

अष्टौ प्रवचनमातरः, समितयो गुप्तयस्तथैव च ।
पञ्चैव च समितयः, तिस्रो, गुप्तय आख्याताः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः-अट्ठ-आठ, **पवयण**-प्रवचन, **मायाओ**-माताएं हैं, **समिई**-समिति, **य**-और, **तहेव**-उसी प्रकार, **गुत्ती**-गुप्तियां, **पंच**-पाच, **एव**-निश्चय मे, **समिईओ**-समितियां, **य**-और, **तओ**-तीन, **गुत्तीउ**-गुप्तिया, **आहिया**-कही गई है।

मूलार्थ-समिति और गुप्तिरूप आठ प्रवचन माताएं हैं, जैसे कि पांच समितियां और तीन गुप्तियां कही गई हैं।

टीका-समितियों और गुप्तियों को प्रवचन-माता इसलिए कहा गया है कि ये प्रवचन को प्रसूत अर्थात् उत्पन्न करने वाली हैं। तात्पर्य यह हे कि जैसे द्रव्य-माता पुत्र को जन्म देती है, उसी

प्रकार भाव-माता, समिति और गुप्तिरूप हैं जो कि प्रवचन को जन्म देती हैं। ये प्रवचन-माताएं आठ हैं। इनमें पांच "**समिति**" के नाम से प्रसिद्ध हैं और तीन "**गुप्ति**" के नाम से विख्यात हैं। इनके अतिरिक्त ये आठों ही प्रवचन-माताएं प्रवचन की उत्पादक होने के साथ-साथ उसकी संरक्षक भी हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे माता पुत्र को जन्म देने के पश्चात् उसकी सर्व प्रकार से रक्षा भी करती है, उसी प्रकार ये समिति-गुप्तिरूप माताएं प्रवचनरूप पुत्र को जन्म देकर उसका सरक्षण भी करती हैं, जिससे कि श्रुतज्ञान के द्वारा सम्यक् शिक्षा को प्राप्त करता हुआ भव्य जीव मोक्ष-मंदिर में पहुंच जाता है। प्रवचन के अनुसार आत्मा की जो चेष्टा है, उसे समिति कहते हैं और मन, वचन, काया के सम्यग्योग अर्थात् निग्रह का नाम गुप्ति है। यह इनकी शास्त्रप्रसिद्ध संज्ञा है।

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर भगवान् ने इनका इसी तरह से निर्देश किया है, अतः मुमुक्षु-जनों के लिए इनकी आराधना परम आवश्यक है।

अब प्रवचन-माताओं के नामों का निर्देश किया जाता है। यथा–

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥ २ ॥

ईर्याभाषैषणादानोच्चाररूपाः समितय इति ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः, कायगुप्तिश्चाष्टमी ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–इरिया–ईर्या, **भासे**–भाषा, **एसणा**–एषणा, **आदाणे**–आदान, **य**–और, **उच्चारे**–उच्चार, **समिई**–समितिया है, **इय**–यही, **मणगुत्ती**–मनोगुप्ति, **वयगुत्ती**–वचनगुप्ति, **य**–और, **कायगुत्ती**–कायगुप्ति, **अट्ठमा**–आठवीं।

मूलार्थ–ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-समिति और उच्चार-समिति तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और आठवीं कायगुप्ति है, यही आठ प्रवचन माताएं हैं।

टीका–इस गाथा मे पांचो समितियों और तीनों गुप्तियों के नामों का निर्देश किया गया है। इनमें ईर्या समिति–गति-परिमाण, भाषा-समिति–भाषण-विधि, एषणा-समिति–निर्दोष आहारादि का विधिपूर्वक ग्रहण करना, आदान-समिति–वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों के ग्रहण और निक्षेप में यतना से काम लेना और उच्चार-समिति–मल-मूत्रादि त्याज्य पदार्थो मे भी यत्ना से पराङ्मुख न होना, ये पांचों समितियां कहलाती हैं। मनोगुप्ति–मन को वश में रखना, वचनगुप्ति–वाणी पर काबू रखना और कायगुप्ति शरीर को सयम में रखना, ये तीनों गुप्तियां कहलाती हैं, इन्हीं आठ को प्रवचन माता कहते हैं।

गुप्ति शब्द का निर्वचन वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है–**'प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्था-पनमुन्मार्गनिवारणं गुप्ति'**: अर्थात् प्रवचन-विधि से सन्मार्ग में व्यवस्थापन और उन्मार्ग-गमन से निवारण करने का नाम गुप्ति है। यद्यपि गुप्ति का यह लक्षण आंशिक रूप से समिति में भी पाया जाता है, तथापि समिति के प्रविचार रूप और गुप्ति के प्रविचार और अविचार–उभयरूप होने से इनमें परस्पर भेद है।

अब इनके विषय में फिर कहते हैं–

एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया ।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥ ३ ॥

एता अष्टौ समितयः, समासेन व्याख्याताः ।
द्वादशांगं जिनाख्यातं, मातं यत्र तु प्रवचनम् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–एयाओ–ये, **अट्ठ**–आठ, **समिईओ**–समितियां, **समासेण**–सक्षेप से, **वियाहिया**–वर्णन की गई हैं, **दुवालसंगं**–द्वादशांग, **जिणक्खायं**–जिनकथित, **पवयणं**–प्रवचन, **उ**–निश्चय ही, **जत्थ**–जिसमें, **मायं**–समाविष्ट अन्तर्भूत है।

मूलार्थ–ये आठ समितियां संक्षेप से वर्णन की गई हैं, जिनभाषित द्वादशांग रूप प्रवचन इन्हीं के अन्दर समाया हुआ है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन-माताओं के महत्त्व का वर्णन किया गया है, इसीलिए शास्त्रकार कहते है कि इन आठों मे जिन-भाषित द्वादशांग रूप समग्र प्रवचन अर्थात् आगम–समाया हुआ है। तात्पर्य यह है कि ये आठों सारे जिन-प्रवचन की मूल स्थान है। अथवा यो कहे कि यहां संक्षेप से इनका नामनिर्देश मात्र कर दिया गया है और विशेष रूप से इनका निर्वचन तो समग्र जिनप्रवचन है, अर्थात् द्वादशांग रूप समग्र जैनागम इनकी व्याख्या स्वरूप हैं। यथा–ईर्यासमिति मे प्राणातिपातविरमण–अहिंसा–व्रत का और भाषा–समिति मे समाये हुए सत्यव्रत में सर्वद्रव्य और सर्व पर्यायों का समावेश हो जाता है, क्योंकि जब तक समस्त द्रव्यो और समस्त पर्यायों के स्वरूप का बोध नही होता, तब तक सत्य का यथार्थ भाषण नही हो सकता। इसी प्रकार अन्य समितियों के विषय में भी विचार कर लेना चाहिए। ज्ञान-दर्शन के अविनाभावी होने मे चारित्र भी इनके सहगत ही है, इस प्रकार जब कि इन तीनों का आठ प्रवचन माताओं मे समावेश है तो फिर और कौन-सा विषय शेष रह जाता है कि जो इनके अन्तर्भूत न हो सकता हो ? इसलिए इन आठों को प्रवचन-माता यह नाम दिया गया है।

अब अनुक्रम से इनकी व्याख्या करते हुए प्रथम ईर्या-समिति का वर्णन करते हैं। यथा–

आलम्बणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य ।
चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए ॥ ४ ॥
आलम्बनेन कालेन, मार्गेण यतनया च ।
चतुष्कारणपरिशुद्धां, संयत ईर्यां रीयेत ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—आलम्बणेण—आलम्बन से, **कालेण**—काल से, **मग्गेण**—मार्ग से, **य**—और, **जयणाइ**—यतना से, **चउकारण**—चार कारणों से, **परिसुद्धं**—परिशुद्ध, **इरियं**—ईर्या का पालन करते हुए, **संजए**—संयत पुरुष, **रिए**—गमन करे।

मूलार्थ—आलम्बन, काल, मार्ग और यतना इन चार कारणों की परिशुद्धि से संयती अर्थात् साधक गमन करे।

टीका—इस गाथा में ईर्यासमिति के लक्षण और स्वरूप का वर्णन किया गया है। ईर्या का अर्थ है गमन, अर्थात् गमन करते समय आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों का ध्यान रखना ईर्या-समिति कहलाती है। यदि संक्षेप से कहें तो प्रमाद-रहित जो गमन है, वही ईर्या-समिति है। इसके द्वारा सम्पादित किया गया व्यवहार कार्य का साधक होता है, अर्थात् कर्मबन्ध का हेतु नहीं होता।

अब आलम्बनादि कारणों के विषय में कहते हैं—

तत्थ आलम्बणं नाणं, दंसणं चरणं तहा ।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवज्जिए ॥ ५ ॥
तत्रालम्बनं ज्ञानं, दर्शनं चरणं तहा ।
कालश्च दिवस उक्तः, मार्ग उत्पथवर्जितः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—तत्थ—उक्त चारों में, **आलम्बणं**—आलम्बन, **नाणं**—ज्ञान, **दंसणं**—दर्शन, **तहा**—तथा, **चरणं**—चारित्र है, **य**—और, **काले**—काल, **दिवसे**—दिवस, **वुत्ते**—कहा गया है, **मग्गे**—मार्ग, **उप्पह**—उत्पथ से, **वज्जिए**—वर्जित—रहित।

मूलार्थ—ईर्या के उक्त चार कारणों में से आलंबन ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। काल दिवस है, और उत्पथ का त्याग मार्ग है।

टीका—इस गाथा में ईर्या के आलम्बनादि कारणों का वर्णन किया गया है, जैसे कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र का नाम आलम्बन है जिसको आश्रित करके गमन किया जाए, वह आलम्बन कहलाता है। पदार्थो के यथार्थ बोध का नाम ज्ञान, तत्त्वाभिरुचि दर्शन और सदाचार को चारित्र कहते हैं। इनको आश्रित करके जो गमन किया जाता है, वही सम्यक्-ज्ञान या **'ईर्या-समिति'**

है। अतः ये तीनों ईर्या में आलम्बन रूप माने गए हैं। इनके बिना अर्थात् इनकी उपेक्षा करके जो गमन है, वह निरालम्बन–आलम्बनरहित गमन है जिसकी कि साधु के लिए आज्ञा नहीं।

ईर्या की शुद्धि में दूसरा कारण काल है, काल से यहां पर दिवस का ग्रहण अभिप्रेत है, अर्थात् साधु के लिए गमनागमन का जो समय है वह दिवस ही है क्योंकि रात्रि में प्रकाश का अभाव होने से चक्षुओं की पदार्थो के साक्षात्कार में गति नहीं हो सकती। इसीलिए रात्रि में बाहर गमन करने की साधु के लिए आज्ञा नही है। तात्पर्य यह है कि ईर्या का समय दिन ही माना गया है।

ईर्या-शुद्धि में तीसरा कारण मार्ग है जो कि उत्पथरहित है। तात्पर्य यह है कि उत्पथरहित जो पथ है, उसे मार्ग कहा गया है और उसी से गमन करना शास्त्र-सम्मत और युक्तियुक्त है, क्योंकि उत्पथ में गमन करने से आत्मा और संयम इन दोनो की विराधना सम्भव है। अतः ईर्या का मुख्य मार्ग उत्पथ का त्याग है। इस सारे कथन का सारांश यह है कि सयमशील पुरुष के गमन मे उक्त प्रकार से आलम्बन, काल और मार्ग की शुद्धि परम आवश्यक है।

अब यतना के विषय में कहते हैं। यथा–

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥ ६ ॥

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव, कालतो भावतस्तथा ।
यतनाश्चतुर्विधा उक्ताः, ता मे कीर्तयतः शृणु ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–दव्वओ–द्रव्य से, **खेत्तओ**–क्षेत्र से, **च**–समुच्चय अर्थ में, **एव**–निश्चय अर्थ मे, **कालओ**–काल से, **तहा**–उसी प्रकार, **भावओ**–भाव से, **जयणा**–यतना, **चउव्विहा**–चार प्रकार की, **वुत्ता**–कही गई है, **तं**–उसे, **कित्तयओ**–कहत हुए, **मे**–मुझसे, **सुण**–श्रवण करो।

मूलार्थ–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना चार प्रकार की है, मैं तुमसे कहता हूं, तुम सुनो।

टीका–श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि यतना के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार भेद है, अर्थात् इन भेदो से यतना चार प्रकार की कही गई है। मैं इन चार भेदो को तुमसे कहता हू, तुम सुनो।

कारण यह है कि आलम्बनादि चारो कारणों में से यतना प्रधान कारण है। यदि यतनापूर्वक ईर्या अर्थात् गति की जाए तो उसमे किसी प्रकार के भी विघ्न की आशका नहीं रहती। इसीलिए प्रस्तुत गाथा में आए हुए–'**कित्तयओ–कीर्तयतः**' का अर्थ करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं–**'सम्यक्**

स्वरूपाभिधानद्वारेण संशब्दयतः श्रृणु—आकर्णय शिष्य! अर्थात् हे शिष्य! मेरे द्वारा किए गए यतना के सम्यग् निर्णय को तू श्रवण कर।

अब यतना के द्रव्यादि चारों भेदों के पृथक्-पृथक् स्वरूप का वर्णन करते हैं।

दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥ ७ ॥

द्रव्यतश्चक्षुषा प्रेक्षेत् युगमात्रं च क्षेत्रतः ।
कालतो यावद्रीयेत, उपयुक्तश्च भावतः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**दव्वओ**—द्रव्य से, **चक्खुसा**—आखों से, **पेहे**—देखकर चले, **च**—और, **खेत्तओ**—क्षेत्र से, **जुगमित्तं**—चार हाथ प्रमाण देखे, **कालओ**—काल से, **जाव**—जब तक, **रीइज्जा**—चले, तब तक देखे, **य**—और, **भावओ**—भाव से, **उवउत्ते**—उपयोगपूर्वक चले—गमन करे।

मूलार्थ—द्रव्य से आंखों से देखकर चले, क्षेत्र से चार हाथ प्रमाण देखे, काल से जब तक चलता रहे और भाव से—उपयोगपूर्वक गमन करे।

टीका—इस गाथा में यतना के चारों भेदो के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। ऊपर बताया गया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना के चार भेद हैं। यथा—द्रव्य-यतना, क्षेत्र-यतना, काल-यतना और भाव-यतना। इनमें जीव-अजीव आदि द्रव्यों को नेत्रों से देखकर चलना द्रव्य-यतना है, चार हाथ प्रमाण भूमि को आगे से देखकर चलना क्षेत्र-यतना है। जब तक चले तब तक देखे यह काल-यतना है और उपयोग से—सावधानीपूर्वक गमन का नाम भावयतना है। इस प्रकार यतना के चार भेद हैं।

अब भाव-यतना के विषय में कुछ और विशेष कहते हैं—

इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पञ्चहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य, स्वाध्यायं चैव पञ्चधा ।
तन्मूर्त्तिः (सन्) तत्पुरस्कारः, उपयुक्त ईर्या रीयते ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः:—**इन्दियत्थे**—इन्द्रियों के अर्थो को, **विवज्जित्ता**—छोड़कर, **च**—और, **सज्झायं**—स्वाध्याय, **एव**—भी, **पञ्चहा**—पांच प्रकार की, **तम्मुत्ती**—तन्मय होकर, **तप्पुरक्कारे**—उसी को आगे कर, **उवउत्ते**—उपयोगपूर्वक, **रियं**—ईर्या में, **रिए**—गमन करे।

मूलार्थ—इन्द्रियों के विषयों और पांच प्रकार के स्वाध्याय का परित्याग करके तन्मय होकर ईर्या को सम्मुख रखता हुआ उपयोगपूर्वक गमन करे।

टीका—इस गाथा में उपयोगपूर्वक गमन करने के विषय में कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया गया है, **यथा**—जब चलने का समय हो और चल पड़े तब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि जो इन्द्रियों के विषय है उनको छोडकर चले, अर्थात् इन विषयों की ओर ध्यान न देवे। मार्ग में चलता हुआ—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, धर्मकथा और अनुप्रेक्षा—के रूप में पांच प्रकार के स्वाध्याय का भी परित्याग कर दे, किन्तु चलते समय तन्मूर्ति—तन्मय होकर—ईर्या समिति रूप होकर और उसी को सम्मुख रखकर उपयोगपूर्वक मार्ग में चले।

तात्पर्य यह है कि वचन और काया की चञ्चलता का परित्याग करके मार्ग में गमन करना चाहिए। उसमे भी उपयोग का भग नहीं होना चाहिए, अन्यथा किसी जीव के उपघात हो जाने की सम्भावना रहती है।

यहा पर **'तन्मूर्ति और पुरस्कार'** इन दोनों शब्दो की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—**'ततश्च तस्यामेवेर्यायां मूर्तिः—शरीरमर्थाद् व्याप्रियमाणा यस्यासौ तन्मूर्तिः, तथा तामेव पुरस्करोति तत्र वोपयुक्ततया प्राधान्येनाङ्गीकुरुत इति पुरस्कारः'**।

इस प्रकार ईर्यासमिति का निरूपण करने के अनन्तर अब भाषा-समिति के विषय में कहते हैं, यथा—

कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया ।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य ॥ ९ ॥

क्रोधे माने च मायायां, लोभे चोपयुक्तता ।
हास्ये भये च मौखर्ये, विकथासु तथैव च ॥ ९ ॥

पदार्थान्वय.—**कोहे**—क्रोध मे, **माणे**—मान मे, **य**—और, **मायाए**—माया म, **य**—पुनः, **लोभे**—लोभ मे, **हासे**—हास्य में, **भए**—भय मे, **मोहरिए**—मुखरता मे, **तहेव**—उसी प्रकार, **विकहासु**—विकथा मे, **य**—पुनः, **उवउत्तया**—उपयुक्तता—उपयोगपना।

मूलार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा में उपयुक्तता होनी चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भाषा-समिति का वर्णन किया गया है। भाषा-समिति की रक्षा के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ मे तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा में उपयुक्तता होनी चाहिए अर्थात् भाषण करते समय इन उपर्युक्त दोषों के सम्पर्क का पूरे विवेक से ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि इनके कारण ही असत्य बोला जाता है, अर्थात् क्रोधादि के वशीभूत होकर सत्यप्रिय मनुष्य भी असत्य बोलन को तैयार हो जाता है। अतः सत्य की रक्षा के लिए इन क्रोधादि का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। मौखर्य—मुखरता का अर्थ है दूसरे की निन्दा, चुगली आदि

करना, यह दोष भी सत्य का विघातक है। मुखरता-प्रिय जीव अपने सम्भाषण में असत्य का अधिक व्यवहार करते हैं। यहां पर **'उपयुक्तता'** से यह अभिप्राय है कि कदाचित् क्रोधादि के कारण संभाषण में असत्य के सम्पर्क की संभावना हो जाए तो विवेकशील आत्मा उस पर अवश्य विचार करे और उससे बचने का प्रयत्न करे। कारण यह है कि असत्य का प्रयोग प्रायः उपयोग-रहित दशा में ही होता है।

इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि–

एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजए ।
असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥ १० ॥

एतान्यष्टौ स्थानानि, परिवर्ज्य संयतः ।
असावद्यां मितां काले, भाषां भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–**एयाइं**–ये अनन्तरोक्त, **अट्ठ**–आठ, **ठाणाइं**–स्थान, **संजए**–संयत, **परि-वज्जित्तु**–छोड़कर, **असावज्जं**–असावद्य, **मियं**–परिमित–स्तोकमात्र, **काले**–समय पर, **भासं**–भाषा को, **पन्नवं**–प्रज्ञावान्–बुद्धिमान्, **भासिज्ज**–बोले।

मूलार्थ–बुद्धिमान् संयत पुरुष उक्त आठ स्थानों को छोड़कर यथासमय परिमित और असावद्य भाषा बोले।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे भाषासमिति के संरक्षण के उपाय और विधि का वर्णन किया गया है। बुद्धिमान् साधु ऊपर बताए गए क्रोधादि आठ स्थानों को छोड़कर ही निरवद्य–निर्दोष भाषा का व्यवहार करे। वह भी जब तक भाषण करने की आवश्यकता हो तब तक करे तथा पूछे हुए प्रश्न का उत्तर भी परिमित शब्दों में ही देने का प्रयत्न करे। इस कथन का सारांश यह है कि सयमशील बुद्धिमान् साधु बोलते समय क्रोधादि के वशीभूत न हो तथा अपने भाषण को परिमित और समयानुकूल रखे। इस प्रकार भाषा का व्यवहार करने से भाषा-समिति का संरक्षण होता है, अर्थात् असत्य सम्भाषण की बहुत ही कम सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त समय पर किया हुआ भाषण कभी निष्फल भी नहीं जाता। इसलिए प्रज्ञाशील साधु को भाषा-समिति के संरक्षण का ध्यान रखते हुए हित, मित और निर्दोष भाषा का ही व्यवहार करना चाहिए, यही उक्त गाथा का शास्त्र-सम्मत भाव है।

अब एषणा-समिति के विषय में कहते हैं–

गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा ।
आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए ॥ ११ ॥

गवेषणायां ग्रहणे च, परिभोगैषणा च या ।
आहारोपधिशय्यासु, एतास्तिस्त्रोऽपि शोधयेत् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**गवेसणाए**—गवेषणा में, **य**—और, **गहणे**—ग्रहणैषणा में, **य**—तथा, **परिभोगेसणा**—परिभोगैषणा, **जा**—जो, **आहार**—आहार, **उवहि**—उपधि, **सेज्जाए**—शय्या में, **एए**—इन, **तिन्नि**—तीन स्थानों की, **विसोहए**—विशुद्धि करे।

मूलार्थ—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा तथा आहार, उपधि और शय्या इन तीनों की शुद्धि करे।

टीका—भाषा-समिति के अनन्तर अब सूत्रकार एषणा-समिति का वर्णन करते हैं। एषणा का अर्थ है उपयोग-पूर्वक विचार करना। उसके गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा ये तीन भेद हैं।

गवेषणा—आहार आदि की इच्छा के निमित्त गोचरी—गोवत् चर्या मे प्रवृत्त होना गवेषणा है।

ग्रहणैषणा—विचारपूर्वक निर्दोष आहार का ग्रहण करना ग्रहणैषणा है।

परिभोगैषणा—जब आहार करने का समय हो, तब आहार-सम्बन्धी निन्दा-स्तुति से रहित होकर आहार करना परिभोगैषणा कहलाती है।

इनके अतिरिक्त उपधि और शय्या आदि के विषय मे भी इन तीनों एषणाओं की शुद्धि रखनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भिक्षा के अन्वेषण, ग्रहण और भक्षण में एषणा-समिति की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उपधि—उपकरण और शय्या—उपाश्रय और तृणसंस्तारकादि के विषय मे भी एषणा-समिति को व्यवहार मे लाना चाहिए। साराश यह है कि निर्दोष आहार, उपधि और शय्या आदि के ग्रहण में साधु को हेयोपादेय आदि सब बातों का पूरा विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि सामान्य रूप से 'एषणा' इच्छा का नाम है, तथापि निर्दोष पदार्थो को देखने या ग्रहण करने में शास्त्रविधि के अनुसार विचारपूर्वक जो प्रवृत्ति है, उसी को यहां पर एषणा शब्द से व्यवहृत किया गया है।

'**आहारोवहिसेज्जाए**' इस वाक्य में वचन-व्यत्यय और '**तिन्नि**' पद से लिङ्गव्यत्यय है, जो कि प्राकृत के नियम से है।

अब आहारादि की शुद्धि का प्रकार बताते हैं, यथा—

उग्गमुप्पायणं पढमे, बीए सोहेज्ज एसणं ।
परिभोयम्मि चउक्कं, विसोहेज्ज जयं जई ॥ १२ ॥

उद्गमनोत्पादनदोषान् प्रथमायां, द्वितीयायां शोधयेदेषणादोषान् ।
परिभोगैषणायां चतुष्कं, विशोधयेद् यतमानो यतिः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**उग्गमुप्पायणं**—उद्गम और उत्पादन दोष, **पढमे**—प्रथम एषणा में, **बीए**—दूसरी एषणा में, **एसणं**—एषणा दोषों—शंका आदि दोषों की, **सोहेज्ज**—विशुद्धि करे, **परिभोयम्मि**—परिभोगैषणा में, **चउक्कं**—चतुष्क—आहार, वस्त्र, पात्र और शय्या की, **विसोहेज्ज**—विशुद्धि करे, **जयं**—यत्नवान—यतना वाला, **जई**—यति साधु।

मूलार्थ—संयमशील यति प्रथम एषणा में उद्गम और उत्पादन आदि दोषों की शुद्धि करे। दूसरी एषणा में—शंकितादि दोषों की शुद्धि करे, तीसरी एषणा में पिंड—शय्या, वस्त्र और पात्र आदि की शुद्धि करे।

टीका—एषणा-समिति के अवान्तर भेदों में किन-किन दोषों की शुद्धि—पर्यालोचन करना चाहिए, प्रस्तुत ग।था में इसी विषय का विश्लेषण किया गया है।

प्रथम एषणा—गवेषणा में सोलह उद्गम-सम्बन्धी और सोलह उत्पादन-सम्बन्धी दोष हैं, इनकी शुद्धि करनी चाहिए।

दूसरी एषणा—ग्रहणैषणा में शंकितादि दस दोष हैं, जिनकी शुद्धि करना नितान्त आवश्यक है।

तीसरी एषणा—परिभोगैषणा मे वस्त्र, पात्र, पिंड और शय्या तथा आहार करते समय निन्दा, स्तुति आदि के द्वारा जो पांच दोष उत्पन्न होते हैं, उनको शुद्ध करना, अर्थात् आहार-सम्बन्धी निन्दा स्तुति के त्याग द्वारा उनको दूर करना चाहिए। यह एषणा-समिति के विषय मे संयमशील यति का कर्त्तव्य वर्णन किया गया है।

तात्पर्य यह है कि यत्नशील यति भिक्षा-सम्बन्धी उक्त बयालीस और निन्दा-स्तुति-जन्य पांच—इस प्रकार सैंतालीस दोषों की शुद्धि करके आहारादि का ग्रहण करे। यह एषणा-समिति के स्वरूप का दिग्दर्शन है। इसके अनुसार आहारादि क्रियाओं के अनुष्ठान से हिंसादि दोषों का सम्पर्क नहीं होता। अन्यथा दोषादि के लगने की संभावना बनी रहती है।

अब आदान-समिति के विषय में कहते हैं—

ओहोवहोवग्गहियं, भण्डगं दुविहं मुणी ।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो वा, पउंजेज्ज इमं विहिं ॥ १३ ॥

ओघोपधिमौपग्रहिकोपधिं, भाण्डकं द्विविधं मुनिः ।
गृण्हन्निक्षिपंश्च, प्रयुञ्जीतेमं विधिम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**ओहोवहो**—ओघोपधि, **वग्गहियं**—औपग्रहिकोपधि, **भण्डगं**—भाण्डोपकरण,

दुविहं—दो प्रकार का, **मुणी**—मुनि, **गिण्हन्तो**—ग्रहण करता हुआ, **वा**—और, **निक्खिवन्तो**—रखता हुआ, **इमं**—वक्ष्यमाण, **विहिं**—विधि का, **पउंजेज्ज**—प्रयोग करे।

मूलार्थ—ओघोपधि और औपग्रहिकोपधि तथा दो प्रयोग का उपकरण—इनका ग्रहण और निक्षेप करता हुआ वह साधु वक्ष्यमाण विधि का अनुसरण करे, अर्थात् इनका ग्रहण और निक्षेप विधि-पूर्वक करे।

टीका—इस गाथा में आदान-निक्षेप रूप चतुर्थ समिति का विवेचन किया गया है। यथा—आदान का अर्थ ग्रहण और निक्षेप का अर्थ स्थापन करना या रखना है। किसी भी वस्तु के ग्रहण या निक्षेप करने में साधु के लिए शास्त्रोक्त विधि का अनुसरण करना आवश्यक होता है, अतः प्रस्तुत गाथा में साधु के लिए यह आज्ञा दी गई है कि वह अपने उपकरणों के ग्रहण अथवा स्थापन मे आगे बताई गई विधि का प्रयोग करे, आगे कही गई विधि के अनुसार वर्तन करे।

साधु के उपकरण को उपधि कहते हैं। वह दो प्रकार की है—एक ओघ अर्थात् औपाधिक, दूसरी औपग्रहिक। इस प्रकार उपधि के औपाधिकोपदि और औपग्रहिकोपधि ये दो भेद हुए। इनमें रजोहरणादि तो औपाधिक उपधि है और दण्डादि को औपग्रहिक उपधि माना गया है।

साराश यह है कि इन दोनो प्रकार की उपधियो का ग्रहण और निक्षेप मुनि को विधिपूर्वक करना चाहिए, अर्थात् विधिपूर्वक ही ग्रहण करे और विधिपूर्वक ही निक्षेप करे। तभी वह आदान-निक्षेपसमिति का यथावत् पालन कर सकता है। इसका कारण यह है कि विधि-पूर्वक की गई क्रिया, कर्म की निर्जरा अथवा पुण्य के बन्धन का कारण बनती है अन्यथा निष्फल या अशुभ कर्म के बन्ध का हेतु जो जाती है, इसलिए आदान-समिति में उपधि के ग्रहण और त्याग में विधि का अवश्य अनुसरण करना चाहिए, जिससे कि उक्त समिति का पूर्णरूप से आराधन हो जाए।

अब विधि का उल्लेख करते हैं, यथा—

चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ॥ १४ ॥

चक्षुषा प्रतिलेख्य, प्रमार्जयेत् यतो यतिः ।
आददीत निक्षिपेद् वा, द्विधाऽपि समितः सदा ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—चक्खुसा—आंखो से, **पडिलेहित्ता**—देखकर, **जयं**—यतना वाला संयमी, **जई**—यति—साधु, **पमज्जेज्ज**—प्रमार्जन करे, **आइए**—ग्रहण करे, **वा**—अथवा, **निक्खिवेज्जा**—निक्षेपण, **दुहओवि**—दोनों प्रकार की उपधि मे, **सया**—सदा, **समिए**—समिति वाला हो।

मूलार्थ—संयमी साधु आंखों से देखकर दोनों प्रकार की उपधि का प्रमार्जन करे तथा उसके ग्रहण और निक्षेप में सदा समिति वाला हो।

टीका—इस गाथा में आदान-निक्षेप-समिति में वर्णन किए गए दो प्रकार के उपकरणों के ग्रहण और निक्षेप की विधि का उल्लेख किया गया है। पूर्व गाथा में साधु की दोनों प्रकार की उपधि—उपकरणों का वर्णन आ चुका है। उनको उठाते वा रखते प्रथम नेत्रों से अच्छी तरह देखकर फिर रजोहरण से उनका प्रमार्जन करके संयमवान् साधु उनको ग्रहण करे, अथवा भूमि पर रखे। यह इनके ग्रहण और निक्षेप की विधि अर्थात् शास्त्र-विहित मर्यादा है।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि साधु अपने किसी भी उपकरण को बिना देखे-भाले और बिना प्रमार्जन किए अपने व्यवहार में न लाए तथा उसमें भी उपयोगपूर्वक यतना से काम करे, जिससे कि उपकरणों के आदान-निक्षेप में प्रमादवश किसी प्रकार की विराधना न हो जाए। इसी आशय से प्रस्तुत गाथा में—'**समिए—समितः**' पद दिया गया है, जिसका अर्थ है समिति का आराध क अर्थात् अनुसरण करने वाला।

अब पांचवीं उच्चार-समिति का वर्णन करते हैं, यथा—

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं ।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ १५ ॥

उच्चारं प्रस्रवणं, खेलं सिंघाणं जल्लकम् ।
आहारमुपधिं देहं, अन्यद्वापि तथाविधम् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**उच्चारं**—पुरीष—मल, **पासवणं**—मूत्र, **खेलं**—मुख का मल, **सिंघाण**—नासिका का मल, **जल्लियं**—शरीर का मल, **आहारं**—आहार, **उवहिं**—उपधि, **देहं**—शरीर, **वा**—अथवा, **अन्नं**—अन्य पदार्थ, **आवि**—भी, **तहाविहं**—वैसा—फैंकने योग्य।

मूलार्थ—मल—विष्ठा, मूत्र, मुख का मल, नासिका का मल, शरीर का मल, आहार, उपधि, शरीर तथा और भी इसी प्रकर के फेंकने योग्य पदार्थ, इन सब को विधि—यतना से फैंके।

टीका—इस गाथा मे पांचवी उच्चार-समिति का वर्णन किया गया है। संयमशील साधु के लिए शास्त्र की यह आज्ञा है कि वह मल, मूत्र आदि त्याज्य पदार्थो का भी विधि-पूर्वक व्युत्सर्जन करे, अर्थात् देख-भालकर और फैंकने योग्य स्थान में उपयोग पूर्वक फैंके, जिससे किसी को घृणा भी उत्पन्न न हो तथा क्षुद्र जीवों की विराधना आदि भी न हो। नासिका के मल को सिंघाण कहते है। शरीर में पसीना आ जाने से जो मल उत्पन्न होता है, वह जल्लक कहलाता है। इसके अतिरिक्त अशनादि आहार और उपधि त्यागने योग्य जीर्ण वस्त्रादि तथा देह—शरीर अर्थात् कोई साधु किसी निर्जन प्रदेश में वा अज्ञात ग्रामादि स्थान मे मृत्यु को प्राप्त हो गया हो,

उसके शव को एवं अन्य गोमयादि पदार्थो को यदि व्युत्सर्जन करना हो तो संयमशील साधु विवेक-पूर्वक व्युत्सर्जन करे।*

अब परिष्ठापन-विधि के विषय में कहते हैं-

अणावायमसंलोए, अणावाए चेव होइ संलोए ।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए ॥ १६ ॥

अनापातमसंल्लोकम्, अनापातं चैव भवति संलोकम् ।
आपातमसंलोकम्, आपातं चैव संलोकम् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–**अणावायं**–आगमन से रहित, **असंलोए**–देखता भी नहीं, **अणावाए**–आगमन से रहित, **च**–पादपूर्ति मे, **एव**–अवधारणार्थक में, **संलोए**–संलोकन करने वाला, **होइ**–होता है, **आवायं**–आता है, **असंलोए**–देखता नहीं, **आवाए**–आता है, **च**–और, **संलोए**–देखता भी है, **एव**–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ–१. आता भी नहीं और देखता भी नहीं। २. आता नहीं, परन्तु देखता है। ३. आता है, परन्तु देखता नहीं। ४. आता भी है और देखता भी है।

टीका–जब मल-मूत्र आदि का त्याग करना हो, तब १० बोल देखकर मल-मूत्र आदि का त्याग करना चाहिए। उसमे प्रथम चतुर्भगी की रचना करके दिखाते है। यथा–मलमूत्रादि के परिष्ठापन–व्युत्सर्जन की भूमि, जिसे स्थंडिल कहते हैं, ऐसी होनी चाहिए कि जिस समय कोई साधु उक्त मलादि पदार्थों को त्यागने के लिए गया हो, उस समय न तो कोई गृहस्थादि आता हो और न कोई दूर खड़ा देखता हो, यह प्रथम भंग है। जिसे–"**अनापात-असंलोक**" कहा गया है।

वहां कोई आता तो नहीं, परन्तु खड़ा देखता अवश्य है, यह दूसरा भंग है। जिसे "**अनापात संलोक**" कहा गया है।

आता तो है, पर देखता नहीं, यह तीसरा भंग है, जिसे '**आपात-असंलोक**' कहा गया है।

आता भी है तथा देखता भी है, यह चौथा भंग है—जिसे '**आपात-संलोक**' कहा गया है। इन चारो में उपादेय तो प्रथम भंग ही है, शेष तीन तो केवल दिखलाने के लिए वर्णन कर दिए गए हैं। इस सारे सन्दर्भ का सार इतना ही है कि इन घृणायुक्त पदार्थो को किसी निर्जन प्रदेश में ही विवेक-पूर्वक व्युत्सर्जन करना चाहिए, जिससे कि त्यागे हुए ये पदार्थ किन्हीं अन्य व्यक्तियों के लिए घृणा उत्पन्न करने वाले न हो जाएं।

*** इस विषय का पूर्ण विवरण देखना हो तो 'निशीथसूत्र' में देखना चाहिए, वहां पर व्युत्सर्जन के स्थानों का भी स्पष्ट उल्लेख है।**

उक्त गाथा में आए हुए **'संलोक'** शब्द में मत्वर्थीय **'अच्'** प्रत्यय जानना चाहिए, जिसका अर्थ होता है देखने वाला।

अब मल-मूत्रादि के त्याग की भूमि के विषय में कहते हैं–

अणावायमसंलोए, परस्सणुवघाइए ।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य ॥ १७ ॥

अनापातेऽसंलोके, परस्यानुपघातके ।
समेऽशुषिरे चापि, अचिरकालकृते च ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–**अणावायं**–अनापात, **असंलोए**–असंलोक स्थान में, **परस्स**–पर जीवों के, **अणुवघाइए**–अनुपघात में, **समे**–समभूमि में, **या**–अथवा, **अज्झुसिरे**–तृण-पत्रादि से अनाकीर्ण स्थान में, **य**–और, **अचिरकालकयम्मि**–अचिर काल के अचित्त हुए स्थान में, **अवि**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–अनापात–जहां लोग न आते हों, असंलोक–लोग न देखते हों, पर-जीवों का उपघात करने वाला न हो, सम अर्थात् विषम न हो और तृणादि से आच्छादित न हो तथा थोड़े काल का अचित हुआ हो, ऐसे स्थान में उच्चार आदि त्याज्य पदार्थों को व्युत्सर्जन करे, यह अग्रिम गाथा के साथ अन्वय करके अर्थ करना।

टीका–इस गाथा में मल-मूत्रादि के त्याग की विधि में स्थानादि का निर्देश किया गया है। जहां पर मल-मूत्रादि घृणास्पद वस्तुओं को गिराया जाए, वह स्थान किस प्रकार का होना चाहिए इसी बात का प्रस्तुत गाथा में वर्णन है। जैसे कि–उस स्थान को स्वपक्ष और विपक्ष के गृहस्थ लोग न तो देखते हों और न वहां पर आते हों तथा उस स्थान पर जीवों का उपघात न हो अथवा वहां आत्म-सयम और प्रवचन का उपघात न होता हो। वह भूमि सम हो अर्थात् ऊची-नीची न हो, एवं तृणादि से आच्छादित और मध्य में पोली भी न हो। तथा अचिरकाल अर्थात् थोड़े समय की अचित्त हुई हो। इस प्रकार मलादि पदार्थों के त्याग करने की भूमि में उक्त पांच बातें होनी चाहिएं। यथा–१ उसको कोई देखता न हो, २ वहां पर कोई आता न हो, ३ वह स्थान किसी का उपघातक न हो, सम हो, ४ तृण-पत्रादि से आच्छन्न और मध्य में पोला न हो और ५ थोडे काल की अचित्त की गई भूमि हो। ऐसी भूमि वा स्थान में उक्त मलादि पदार्थों का विवेक-पूर्वक त्याग करे। यह शास्त्रीय मर्यादा है, जिसका कि पालन करना साधु के लिए परम आवश्यक है, अन्यथा संयम की विराधना और प्रवचन की अवहेलना संभव है जो कि अनिष्ट-कारक है।

अब फिर स्थान-सम्बन्धी विषय में ही कहते हैं–

विच्छिण्णे दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवज्जिए ।
तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥ १८ ॥

विस्तीर्णे दूरमवगाढे, नासन्ने बिलवर्जिते ।
त्रसप्राणबीजरहिते, उच्चारादीनि व्युत्सृजेत् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**विच्छिण्णे**—विस्तीर्ण, **दूरमोगाढे**—नीचे दूर तक अचित्त, **नासन्ने**—ग्रामादि के अति समीप न हो, **बिलवज्जिए**—मूषक आदि के बिलों से रहित हो, **तसपाणबीयरहिए**—त्रस, पाणी और बीजरहित हो, **उच्चाराईणि**—उच्चारादि को, **वोसिरे**—व्युत्सर्जन करे।

मूलार्थ—जो स्थान विस्तृत हो, बहुत नीचे तक अचित्त हो, ग्रामादि के अति समीप न हो, मूषक आदि के बिलों से रहित हो तथा त्रस-प्राणी और बीज आदि से वर्जित हो, ऐसे स्थान में उच्चार आदि का त्याग करे।

टीका—प्रथम गाथा में स्थंडिल भूमि के पांच प्रकार बताए गए हैं। अब शेष पांच इस गाथा में वर्णन किए हैं। जैसे कि—१ स्थंडिल की भूमि लम्बाई और चौड़ाई में विस्तार वाली हो, २ बहुत नीचे तक अचित्त हो, ३ ग्रामादि के अति निकट न हो, ४ वहां पर मूषक आदि के बिल न हों, ५ द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव और शालि धान्यादि के बीज भी वहां पर न हों। ऐसी भूमि मे उच्चार-प्रस्रवण—मल-मूत्र आदि वस्तुओं का त्याग करे।

तात्पर्य यह है कि मल-मूत्रादि के त्याग में जिस भूमि का उपयोग किया जाए, उसमें उक्त दस बाते होनी चाहिएं जिनका इन दोनों गाथाओं में उल्लेख किया गया है। संयमशील साधु को चाहिए कि वह सयम की आराधना और जिन-प्रवचन के महत्त्व को लक्ष्य में रखता हुआ उक्त विधि क अनुसार '**उच्चार-समिति**' का यथाविधि पालन करे।

अब उक्त विषय का उपसंहार करते हुए गुप्तियों के वर्णन का उपक्रम करते हैं, यथा—

एयाओ पञ्च समिइओ, समासेण वियाहिया ।
एत्तो य तओ गुत्तीओ, वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥ १९ ॥

एताः पञ्च समितयः, समासेन व्याख्याताः ।
इतश्च तिस्रो गुप्तीः, प्रवक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**एयाओ**—ये, **पञ्च**—पांच, **समिइओ**—समितियां, **समासेण**—सक्षेप से, **वियाहिया**—वर्णन की है, **एत्तो**—इसके अनन्तर, **य**—वितर्क मे, **तओ**—तीन, **गुत्तीओ**—गुप्तियां, **अणुपुव्वसो**—अनुक्रम से, **वोच्छामि**—कहूगा।

मूलार्थ—ये पांच समितियां संक्षेप से वर्णन की गई हैं। इसके अनन्तर तीनों गुप्तियों का स्वरूप अनुक्रम से वर्णन करता हूं।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार सक्षेप से पांच समितियों का वर्णन कर दिया गया

है। अब इसके पश्चात् तीनों गुप्तियों के स्वरूप का मैं वर्णन करता हूं, तुम सावधान होकर श्रवण करो। यही इस गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है।

इसके अतिरिक्त **'अणुपुव्वसो'** यह आर्ष-वचन होने के कारण **'आनुपूर्व्या, आनुपूर्वीत:'** इन दो शब्दों का प्रतिवचन समझना चाहिए। तथा **'समासेण'** का अभिप्राय यह है कि जब सारा जिन-प्रवचन इनमें प्रविष्ट है—गर्भित है, तब इनका जितना भी विस्तार किया जाए उतना कम है।

अब पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार गुप्तियों के निरूपण—प्रस्ताव में प्रथम मनोगुप्ति के विषय में कहते हैं—

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउव्विहा ॥ २० ॥

सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्यसत्यामृषा च, मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥ २० ॥

पदार्थान्वय:—**सच्चा**—सत्या, **तहेव**—उसी प्रकार, **मोसा**—मृषा, **य**—पुन:, **सच्चामोसा**—सत्यामृषा, **तहेव**—उसी प्रकार, **चउत्थी**—चौथी, **असच्चमोसा**—असत्यामृषा, **य**—पादपूर्ति मे, **मणगुत्ती**—मनोगुप्ति, **चउव्विहा**—चतुर्विध है।

मूलार्थ—सत्या, असत्या, उसी प्रकार सत्यामृषा और चतुर्थी असत्यामृषा यह चार प्रकार की मनोगुप्ति कही गई है।

टीका—समितियों के अनन्तर अब शास्त्रकार गुप्तियों का वर्णन करते हैं। उनमें भी प्रधान होने से प्रथम मनोगुप्ति का वर्णन कर रहे हैं। मन के निरोध को मनोगुप्ति कहते है। इसके चार भेद है, यथा—सत्या, असत्या, सत्यामृषा और असत्यामृषा।

जो पदार्थ जगत् मे सत् रूप से विद्यमान हैं उनका मनोयोग से चिन्तन करना सत्यमनोयोग कहलाता है, इसके निरोध को अर्थात् इन सत्य पदार्थो के चिन्तन न करने को **'सत्या-मनोगुप्ति'** कहते हैं।

इसी प्रकार सत्य पदार्थो को विपरीत भाव से चिन्तन करने का नाम **'असत्यमृषा-मनोयोग'** है और उक्त योग के निरोध को **'असत्यमृषा-मनोगुप्ति'** कहते हैं।

सत्य और असत्य उभयात्मक विचार को मिश्रमनोयोग कहा गया है। इसके निरोध का नाम ही **'सत्यामृषा-मनोगुप्ति'** है। **'मिश्र मनोयोग'** जैसे कि बिना प्रतीति के यह चिन्तन करना कि "आज इस नगर में दस पुरुषों की मृत्यु हो गई है"।

चौथी व्यवहार मनोगुप्ति है जो कि असत्यमृषा मनोयोग के निरोध स्वरूप **'असत्यमृषा मनोगुप्ति'** के नाम से कही जाती है। असत्यमृषा मनोयोग वह है जो कि सत्य भी नहीं और

असत्य भी नहीं है। जैसे यह चिन्तन करना कि–"हे देवदत्त! घड़ा उठा लाओ, वह वस्तु मुझे दे दो।" तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का चिन्तन करना व्यवहारात्मक मनोयोग कहलाता है। सो इस व्यवहार मनोयोग के निरोध का नाम **'व्यवहार-मनोगुप्ति'** है।

यहां पर यह शंका हो सकती है कि पदार्थों के सद्‌भाव को मन में चिन्तन करने का नाम मनोयोग है। यदि मनोगुप्ति के द्वारा उस मनोयोग का निरोध कर दिया जाए तो फिर पदार्थों का बोध केसे होगा? क्योंकि मानसिक चिन्तन का वहां पर अभाव है।

इसका समाधान यह है कि मनोयोग का निरोध करके पदार्थों के सद्‌भाव का यथार्थ बोध श्रुतादि ज्ञान के द्वारा भली प्रकार से हो सकता है, कारण यह कि योग और है तथा उपयोग और है। योग का सम्बन्ध मन से है और उपयोग का आत्मा से है, अत: जब योगों का भली-भांति निरोध किया जाए तब पदार्थो का ठीक सद्‌बोध उपयोगों के द्वारा होने लगता है। उनका विशद रूप से भान होने लगता है। इसका कारण यह है कि परमाणुओं का समूह रूप एक मनोवर्गणा है, जो कि रूपी द्रव्य है और वह रूपी द्रव्यों के जानने में ही एकमात्र कारणभूत होती है, परन्तु आत्मा और उसका ज्ञान दोनों अरूपी हैं, अत: वे विशद रूप से रूपी और अरूपी दोनों प्रकार के पदार्थों को जानने और देखने में कारणभूत बनते हैं।

इस प्रकार मनोगुप्ति के चारों भेदों का निरूपण करके अब मन के निरोध के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥ २१ ॥

संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च।
मन: प्रवर्तमानं तु, निवर्त्तयेद्यतं यति: ॥ २१ ॥

पदार्थान्वय:–संरम्भ–संरंभ, **समारम्भे**–समारम्भ, **तहेव**–उसी प्रकार, **आरम्भे**–आरम्भ मे, **य**–फिर, **पवत्तमाणं**–प्रवृत्त हुए, **मणं**–मन को, **जयं**–यतना वाला, **जई**–यति, **नियत्तेज्ज**–निवृत्त करे–रोके।

मूलार्थ–संयमशील मुनि संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुए मन को निवृत्त करे–उसकी प्रवृत्ति को रोके।

टीका–इस गाथा मे मन के सकल्पो का दिग्दर्शन कराते हुए उसको वहां से रोकने का आदेश दिया गया है। यथा, संरम्भ–मै इसको मार दू, ऐसा मन में विचार करना संरम्भ कहलाता है। समारम्भ–किसी को पीडा देने के लिए मन में संकल्प करना तथा किसी का उच्चाटनादि के लिए ध्यान करना समारम्भ है। आरम्भ–जो अत्यन्त क्लेश से पर-जीवों के प्राण-हरण करने के लिए अशुभ ध्यान का अवलम्बन है, उसे आरम्भ कहते हैं। सो इस प्रकार के अनिष्ट-जनक-मानसिक

संकल्पों से संयमशील यति को सदा पृथक् रहना चाहिए, अर्थात् मन में ऐसे विचारों को स्थान नहीं देना चाहिए। किन्तु जो शुभसंकल्प हैं, उनकी ओर मन को प्रवृत्त करना चाहिए, जिससे अन्य जीवों का उपकार और स्वात्मा का उद्धार हो जाए। इस कथन से व्यवहार मनोगुप्ति का लक्षण दिखाया गया है। जैसे कि वृत्तिकार ने भी यही लिखा है कि* जो दोनों प्रकार–सत्यासत्य के भावों से विकल होकर मनोयोग की प्रवृत्ति होती है, उसे **'असत्यामृषा मनोगुप्ति'** कहते हैं। जिस समय मनोगुप्ति के करने का समय प्राप्त नहीं हुआ, उस समय मन के समवधारण द्वारा शुभ संकल्पों द्वारा मनोयोग के व्यापार का प्रयोग करे।

अब वाग्-गुप्ति के विषय में कहते हैं–

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउव्विहा ॥ २२ ॥

सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्यसत्यामृषा तु, वचोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः–**सच्चा**–सत्या, **तहेव**–उसी प्रकार, **मोसा**–मृषा, **य**–पुनः, **सच्चामोसा**–सत्यामृषा, **तहेव**–उसी प्रकार, **य**–फिर, **चउत्थी**–चतुर्थी, **असच्चमोसा**–असत्यामृषा, **वयगुत्ती**–वचनगुप्ति, **चउव्विहा**–चार प्रकार की है।

मूलार्थ–सत्यवाग्-गुप्ति, मृषावाग्-गुप्ति, तद्वत् सत्यामृषावाग्-गुप्ति और चौथी असत्यामृषा-वाग्-गुप्ति इस प्रकार वचन-गुप्ति चार प्रकार की कही गई है।

टीका–इस गाथा में वचन-गुप्ति के चार प्रकार बताए गए हैं–

१ जीव को जीव ही कथन करना **'सत्य वचनयोग'** है।

२ जीव को अजीव कहना **'असत्य वचनयोग'** है।

३ बिना निर्णय किए ऐसा कथन कर देना कि आज इस नगर में सौ बालकों का जन्म हुआ है, इसको **"मिश्र वाग्-योग"** कहते हैं।

४. **'असत्या मृषा वाग्योग'** उसका नाम है जिसमें ऐसा कहा जाए कि 'स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप कर्म नहीं है।' तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के वाग्-योग को असत्यामृषा वाग्- योग कहते हैं। इन चारो प्रकार के वचन-योगो के निरोध का नाम वचन-गुप्ति है।

यहां पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि मनोगुप्ति के पश्चात् वाग्-गुप्ति होती है, क्योंकि प्रथम जो विचार मन में उत्पन्न होता है, उसी का वाणी के द्वारा प्रकाश किया जाता है तथा ये दोनों ही कर्म निर्जरा के हेतुभूत हैं।

*** असत्यामृषा उभयस्वभावविकलमनोदलिकव्यापाररूपमनोयोगगोचरा मनोगुप्तिः ।**

अब वचन-गुप्ति के विषय का वर्णन करते हैं—

संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य ।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥ २३ ॥

संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च ।
वचः प्रवर्तमानं तु, निवर्तयेद्यतं यतिः ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**संरम्भ**—संरम्भ, **समारम्भे**—समारम्भ, **य**—और, **तहेव**—उसी प्रकार, **आरम्भे**—आरम्भ में, **य**—पुनः, **पवत्तमाणं**—प्रवृत्त हुए, **वयं**—वचन को, **तु**—निश्चय, **जयं**—यतना वाला, **जई**—यति, **नियत्तेज्ज**—निवृत्त करे।

मूलार्थ—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुए वचन को संयमशील साधु निवृत्त करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे वचन-गुप्ति के विषय का वर्णन है। संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुई वाणी को रोकना **'वचन-गुप्ति'** है। पर जीवों के विनाशार्थ क्षुद्र मंत्रादि के परावर्तन रूप सकल्पों के द्वारा उत्पन्न हुई जो सूक्ष्म ध्वनि है, वह संकल्प रूप शब्द का वाच्य है, उसी को **'वचन-संरम्भ'** कहते हैं। पर-परिताप करने वाले मंत्रादि का जो परावर्तन है, वह **'समारम्भ'** है। किसी के लिए हानिकारक वचनों का प्रयोग करना और आक्रोशयुक्त शब्दों का व्यवहार भी समारम्भ के अन्तर्गत है। नानाविध संक्लेशों के द्वारा अन्य प्राणियों के प्राण-व्यपरोपण करने के लिए जो मत्रादि का जप करना है, उसे **'आरम्भ'** कहते हैं। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से वचन के योग को हटा कर वचनगुप्ति का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए, इत्यादि।

अब कायगुप्ति के विषय में कहते हैं—

ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे ।
उल्लंघणपल्लंघणे, इन्दियाण य जुंजणे ॥ २४ ॥

स्थाने निषीदने चैव, तथैव च त्वग्वर्तने ।
उल्लंघने प्रलंघने, इन्द्रियाणां च योजने ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**ठाणे**—स्थान में, **निसीयणे**—बैठने में, **च**—समुच्चय में, **एव**—पादपूर्ति में, **तहेव**—उसी प्रकार, **तुयट्टणे**—शयन करने में, **उल्लंघण**—उल्लंघन, **य**—और, **पल्लंघणे**—प्रलंघन मे, तथा, **इंदियाण**—इन्द्रियों को, **जुंजणे**—जोडने में।

मूलार्थ—स्थान में, बैठने में तथा शयन करने में, लंघन और प्रलंघन में एवं इन्द्रियों को शब्दादि विषयों के साथ जोड़ने में यतना अर्थात् विवेक रखना चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में तीसरी कायगुप्ति के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—ऊंचे स्थानों में बैठने में त्वग्वर्तन अर्थात् शयन करने में, ऐसे ही ऊर्ध्वभूमि आदि के उल्लंघन में अथवा गर्त्त आदि के उल्लंघन में और सामान्य रूप से गमन करने में तथा इन्द्रियो को शब्दादि विषयों के साथ जोड़ने आदि बातों में काया के जो व्यापार हैं उनको संयम में रखना। तात्पर्य यह है कि उक्त क्रियाओं में होने वाले **काय-योग** के निरोध को काय-गुप्ति कहते हैं। काय-गुप्ति में शरीर का व्यापार बहुत कम होता है और वह भी विवेक-पूर्वक ही होता है। कायगुप्ति के समय आत्मा प्रायः पद्मासनादि आसनों में ही स्थित पाया जाता है, अतः कर्मनिर्जरा के लिए मन एवं वचन के साथ काया के निरोध की भी पूर्ण आवश्यकता है।

अब काय-गुप्ति के विषय का वर्णन करते हैं, यथा—

संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि तहेव य ।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥ २५ ॥

संरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च ।
कायं प्रवर्तमानं तु, निवर्तयेद्यतं यतिः ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**संरम्भ**—सरम्भ मे, **समारम्भे**—समारम्भ में, **य**—और, **आरम्भम्मि**—आरम्भ में, **पवत्तमाणं**—प्रवर्तमान, **कायं**—काया को, **नियत्तेज्ज**—निवृत्त करे, **जयं**—संयमशील, **जई**—यति।

मूलार्थ—प्रयत्नशील यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुई काया को निवृत्त करे, अर्थात् आरम्भ, समारम्भ आदि में प्रवृत्त न होने दे।

टीका—जैसे पूर्व की गाथाओं में मन और वचन के आरम्भ, समारम्भ आदि तीन भेद बताए गए हैं, ठीक इसी प्रकार काया के तीन भेद हैं। यथा—

यष्टि और मुष्टि आदि के मारने का संकल्प उत्पन्न करके स्वाभाविक रूप से जिसमें काय का संचालन किया जाए, उसे '**संरम्भ**' कहते हैं।

दूसरों को परिताप देने के लिए जो मुष्टि आदि का अभिघात किया जाए, उसको '**समारम्भ**' कहते हैं।

यदि संकल्पों के अनुसार पर-जीवों का नाश ही कर दिया जाए तो उसका नाम '**आरम्भ**'' है।

संयमशील मुनि उक्त आरम्भादि से अपनी आत्मा को सर्वथा निवृत्त करने का प्रयत्न करे, जिससे कि काय का योग स्थिर होकर वह कायगुप्ति के रूप में परिवर्तित हो जाए, जिसे कि ''**काययोग का निरोध**'' कहते हैं। यदि काया का निरोध—कायगुप्ति न हो सके तो ''कायसमव-

धारण'' तो अवश्य करना चाहिए। काया को अशुभ व्यापारों से निवृत्त करना और शुभ योगों में प्रवृत्त करना कायसमवधारण कहलाता है।

अब शास्त्रकार समिति और गुप्ति के परस्पर भेद का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

एयाओ पञ्च समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥ २६ ॥

एताः पञ्च समितयः, चरणस्य च प्रवर्तने ।
गुप्तयो निवर्तने उक्ताः, अशुभार्थेभ्यः सर्वेभ्यः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः–**एयाओ**–ये, **पञ्च**–पांच, **समिईओ**–समितियां, **चरणस्स**–चारित्र की, **पवत्तणे**–प्रवृत्ति के लिए, **य**–और, **गुत्ती**–गुप्तियां, **सव्वसो**–सर्व, **असुभत्थेसु**–अशुभ अर्थों से, **य**–शुभ अर्थो से, **नियत्तणे**–निवृत्ति के लिए, **वुत्ता**–कही हैं।

मूलार्थ–ये पांचों समितियां चारित्र की प्रवृत्ति के लिए कही गई हैं और तीनों गुप्तियां शुभ और अशुभ सर्व प्रकार के अर्थो से निवृत्ति के लिए कथन की गई हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में प्रयोजन विशेष को लेकर समिति और गुप्ति का परस्पर भेद बताया गया है। समितिया प्रवृत्ति रूप अर्थात् चारित्र में शुद्धि की विधायक है और गुप्तियां मन, वचन, काया के योगों की निरोधक होने से निवृत्ति रूप हैं। जैसे कि–पाचो समितियो का विधान, चारित्र की शुद्धि के लिए किया गया है, क्योंकि जब समितिपूर्वक गमनागमनादि क्रियाओ मे प्रवृत्ति होगी तब ही चारित्र की शुद्धि अर्थात् निर्मलता होगी, इसलिए चारित्र-संशोधनार्थ ही पाचो प्रकार की समितियों का प्रतिपादन किया गया है।

गुप्तियो का कथन शुभ वा अशुभ अर्थो से निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य यह है कि मन, वचन और काया के शुभ अथवा अशुभ योगों के निरोधार्थ ही शास्त्रकार ने तीनों गुप्तियों का विधान किया है। जैसे कि जब गुप्ति होती है तब योग निर्व्यापार हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि समिति का प्रयोजन चारित्र में प्रवृत्ति करना और गुप्ति का प्रयोजन योगों का निरोध करना है। जैसे कि गन्धहस्ति भाष्य में कहा है* –आगमानुसार जो राग-द्वेषरहित परिणामों का मन के साथ सहचार है, उसकी निवृत्ति करना ही गुप्ति है, इसी प्रकार वाक् और काय के विषय में जान लेना चाहिए। सारांश यह है कि–योगों का निर्व्यापार होना ही गुप्ति है।

इस गाथा के चतुर्थ चरण में 'सुप्' का व्यत्यय किया गया है, अर्थात् पंचमी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। 'अपि' शब्द चरण-प्रवृत्ति का वाचक है। 'च' शब्द इसलिए

---

* सम्यगागमानुसारेणारक्तद्विष्टपरिणतिसहचरितमनोव्यापार·, कायव्यापारो वाग्व्यापारश्च निर्व्यापारता वा वाक्कायगुप्तिः'।

दिया है कि उपलक्षण से अशुभ के साथ शुभ अर्थों का भी समुच्चय-ग्रहण हो सके। 'अर्थ' शब्द यहां पर शुभाशुभ परमाणुओं का वाचक ही जानना चाहिए।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए उसकी फलश्रुति का भी दिग्दर्शन कराते हैं, यथा–

एयाओ पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी ।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥ २७ ॥
त्ति बेमि ।
इति समिईओ चउवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥ २४ ॥

एताः प्रवचनमातृः, यः सम्यगाचरेन्मुनिः ।
स क्षिप्रं सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डितः ॥ २७ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति समितयश्चतुर्विंशमध्ययनं समाप्तम् ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः–**एयाओ**–ये, **पवयणमाया**–प्रवचन माता, **जे**–जो, **सम्मं**–भली प्रकार से, **मुणी**–साधु, **आयरे**–आचरण करे, **सो**–वह, **सव्व**–सर्व, **संसारा**–संसार से, **पण्डिए**–पंडित, **खिप्पं**–शीघ्र, **विप्पमुच्चइ**–छूट जाता है, **त्ति बेमि**–ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ–जो मुनि इन प्रवचन-माताओं का सम्यक् भाव से आचरण करता है, वह पण्डित सर्व संसारचक्र से शीघ्र ही छूट जाता है, ऐसा मैं कहता हूं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन-माताओं की सेवा–सम्यक् रूप से पालन करने का फल बताया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि जो तत्त्ववेता मुनि उपरोक्त प्रवचन-माताओं का सम्यक् प्रकार से आचरण करता है, वह मुनि बहुत शीघ्र नरक, तिर्यग्, मनुष्य और देवता इन चारों गति रूप ससारचक्र से सर्वथा मुक्त हो जाता है। जो तीनों काल के भावों को सम्यक् प्रकार से जानता हो उसे ही मुनि कहते हैं और वही प्रवचन-माताओं के पालन में समर्थ हो सकता है, साधारण व्यक्ति नहीं। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत गाथा में मुनि और पण्डित शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए प्रत्येक भव्य आत्मा के लिए यही उचित है कि वह मोक्षगमन के लिए प्रवचन-माताओं की सम्यक् प्रकार से सेवा करे, अर्थात् विशुद्ध भावों से इनका आचरण करके मुक्ति को प्राप्त करे।

'त्ति बेमि' की व्याख्या प्रथम की भांति ही जान लेनी चाहिए।

चतुर्विंशमध्ययनं संपूर्णम्

अह जन्नइज्जं पञ्चवीसइमं अज्झयणं

अथ यज्ञीयं पञ्चविंशतितममध्ययनम्

चौबीसवे अध्ययन में प्रवचन-माताओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है, परन्तु प्रवचन-माताओ का पालन वही कर सकता है जो कि ब्रह्म के गुणों में स्थित हो, इसलिए इस पच्चीसवे अध्ययन में जयघोष मुनि के चरित-वर्णन के माध्यम से ब्रह्म के गुणो का वर्णन करत है तथा यज्ञ और ब्रह्म के गुणों का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम भी–यज्ञीय अध्ययन है। जयघोष ब्राह्मण का पूर्व चरित संक्षेप से इस प्रकार है। यथा–

वाराणसी नगरी मे दो ब्राह्मण रहते थे। वे दोनों सहोदर भाई तथा परस्पर अत्यन्त प्रेम रखने वाले थे। किसी समय जयघोष स्नान करने के लिए गंगा के तट पर गया। जब वह स्नान करके अपना नित्यकर्म करने में प्रवृत्त हुआ तब उसने देखा कि एक भयकर सांप ने निकलकर एक मेंडक को पकड़ लिया है और वह उसे दबोच कर खाने लग गया। मेंडक बेचारा 'चीं-ची' शब्द कर रहा था।

उसी समय वन में रहने वाला एक बिल्ला (विडाल) वहा पर आ पहुचा। उसने सर्प पर आक्रमण किया और उसे मार डाला।

जब वह विडाल उस सर्प को मार कर खाने लगा तब जयघोष को इस दृश्य से बड़ा आश्चर्य हुआ और इस घटना पर विचार करते-करते उसको वैराग्य उत्पन्न हो गया। वैराग्य की धुन में वह कहने लगा कि "अहो! संसार की कैसी विचित्र दशा है, इसकी क्षणभंगुरता कितनी विस्मयोत्पादक है ! अभी यह सर्प मेंडक को खाने आया था और अब यह स्वयं एक विडाल का भक्ष्य बन गया है ! सत्य है जो इस संसार में बलवान् है, वह निर्बल का घातक हो जाता है।

काल सबसे बलवान् है, वह सर्व जीवों को परलोक में पहुंचा देता है। अत: वास्तव में देखा जाए तो इस विश्व में धर्म ही एक ऐसा महान् साधन है कि जो सर्व जीवों का रक्षक और कुशलदाता है एवं संसार के अनेकविध कष्टों से बचाकर मोक्ष-मंदिर मे पहुंचा देता है। अत: मुझे शीघ्र ही धर्म की ही शरण में जाकर सर्व दु:खों से निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिए। मन में इस प्रकार के भाव उत्पन्न होने के अनन्तर जयघोष वहां से उठा और एक परम पवित्र श्रमण के पास जाकर जैनधर्म में दीक्षित हो गया, अर्थात् उसने सर्वविरति-मार्ग को अंगीकार कर लिया। तदनन्तर वे जयघोष मुनि साधुवृत्ति का सम्यक् पालन करते हुए अर्थात् तप, स्वाध्याय और संयम आदि के सम्यक् अनुष्ठान से आत्मा की शुद्धि करते हुए धर्मोपदेश के निमित्त ग्रामानुग्राम विचरने लगे। इसके आगे का चरित सूत्रकार स्वयं वर्णन करते हैं। यथा–

माहणकुलसंभूओ, आसि विप्पो महायसो ।
जायाई जमजन्नम्मि, जयघोसि त्ति नामओ ॥ १ ॥

ब्राह्मणकुलसंभूतः, आसीद् विप्रो महायशाः ।
यायाजी यमयज्ञे, जयघोष इति नामतः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–माहणकुल–ब्राह्मणकुल में, **संभूओ**–उत्पन्न हुआ, **आसि**–था, **विप्पो**–विप्र, **महायसो**–महान् यश वाला, **जायाई**–आवश्यक रूप यज्ञ करने वाला, **जमजन्नम्मि**–यमरूप यज्ञ मे–अनुरक्त, **जयघोसि**–जयघोष, **त्ति**–इस, **नामओ**–नाम से प्रसिद्ध।

मूलार्थ–ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने वाला जयघोष नाम से प्रसिद्ध एक महान् यशस्वी विप्र हुआ है जो कि यमरूप–यज्ञ में अनुरक्त अतएव भावरूप से यजन करने के स्वभाव वाला था।

टीका–इस गाथा में ब्राह्मण जयघोष का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यथा–वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ था और भावयज्ञ के अनुष्ठान में रत था, अर्थात् अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का यथाविधि पालन करने वाला था। इस कथन से द्रव्ययज्ञ की निकृष्टता अथवा निषेध सूचन किया गया है।

यज्ञ के दो भेद हैं–एक द्रव्य-यज्ञ, दूसरा भाव-यज्ञ। इनमें द्रव्य-यज्ञ श्रौत, स्मार्त भेद से दो प्रकार का है। श्रौतयज्ञ के वाजपेय और अग्निष्टोमादि अनेक भेद हैं। स्मार्त यज्ञ भी कई प्रकार के हैं। इन द्रव्य-यज्ञों में जो श्रौत यज्ञ हैं, उनमें तो पशु-हिंसा अवश्य करनी पड़ती है और जो स्मार्त यज्ञ हैं वे पशु आदि त्रस जीवों की हिंसा से तो रहित हैं परन्तु स्थावर जीवों की हिंसा उनमें भी पर्याप्त रूप से होती है।

जो भाव यज्ञ है उसमें किसी प्रकार की हिंसा की सम्भावना तक भी नहीं होती, उसी को **'यम-यज्ञ'** कहते हैं।

मुनि जयघोष पूर्वाश्रम में ब्राह्मण होते हुए भी सर्वविरति रूप साधु-धर्म में दीक्षित हो चुके थे, इसलिए वे सर्व प्रकार के द्रव्य-यज्ञों के त्यागी और भाव-यज्ञ के अनुरागी थे। इसके अतिरिक्त जयघोष नाम से इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि पूर्वाश्रम में उसकी हिंसात्मक द्रव्य-यज्ञों के अनुष्ठान में अधिक प्रवृत्ति रही होगी। कारण यह कि यजनशील होने से जयघोष इस नाम के निष्पन्न होने की कल्पना सर्वथा निराधार तो प्रतीत नहीं होती किन्तु उस समय की बढ़ी हुई याज्ञिक प्रवृत्ति की ओर ध्यान देते हुए उक्त कल्पना कुछ विश्वास-योग्य ही प्रतीत होती है।

अब उसके व्यक्तित्व का और पर्यटन करते हुए फिर से वाराणसी नगरी में पधारने का उल्लेख करते हैं। यथा—

इन्दियग्गामनिग्गाही, मग्गगामी महामुणी ।
गामाणुगामं रीयंते, पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥ २ ॥

इन्द्रियग्रामनिग्राही, मार्गगामी महामुनिः ।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, प्राप्तो वाराणसीं पुरीम् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—इन्दियग्गाम—इन्द्रियो के समूह का, **निग्गाही**—निग्रह करने वाला, **मग्गगामी**—मुक्तिपथ मे गमन करने वाला, **महामुणी**—महामुनि, **गामाणुगामं**—ग्रामानुग्राम, **रीयन्ते**—फिरता हुआ, **वाणारसिं**—वाराणसी, **पुरिं**—पुरी को, **पत्तो**—प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—इन्द्रिय—समूह का निग्रह करने वाला मोक्षपथ का अनुगामी वह महामुनि ग्रामानुग्राम विचरता हुआ वाराणसी नाम की नगरी में पहुंचा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मुनि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में और उसके वाराणसी में पधारने का उल्लेख किया गया है। मुनि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कहा गया है—वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला अर्थात् इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला और सन्मार्ग—मोक्षमार्ग पर चलने वाला अर्थात् पूरा संयमी और धर्मात्मा था तथा ग्रामानुग्राम विचरता हुआ, अर्थात् अपने सदुपदेश से संसारी जीवो को धर्म का लाभ पहुचाता हुआ वाराणसी नगरी में आया। अपने-अपने विषयों की ओर जाती हुई चक्षुरादि इन्द्रियों को रोकना इन्द्रिय-निग्रह है।

वाराणसी नगरी में पधारने के पश्चात् मुनि जिस स्थान में ठहरे, अब उसका उल्लेख करते हैं—

वाणारसीए बहिया, उज्जाणम्मि मणोरमे ।
फासुए सेज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ३ ॥

वाराणस्यां बहिः, उद्याने मनोरमे ।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**वाणारसीए**—वाराणसी के, **बहिया**—बाहर, **मणोरमे**—रमणीय, **उज्जाणम्मि**—उद्यान में, **फासुए**—प्रासुक—निर्दोष, **सेज्जसंथारे**—शय्या और संस्तारक पर, **तत्थ**—उस वन में, **वासं**—निवास को, **उवागए**—प्राप्त किया।

मूलार्थ—वे मुनि वाराणसी के बाहर मनोरम नामक उद्यान में प्रासुक—निर्दोष शय्या और संस्तारक पर विराजमान होकर वहां रहने लगे।

टीका—इस गाथा में मुनि के निवास-योग्य भूमि का उल्लेख किया गया है। जैसे कि—वह जयघोष मुनि वाराणसी नगरी के समीपवर्ती एक मनोरम नामक उद्यान में आकर ठहर गये। वहां पर प्रासुक भूमि और तृणादि को देखकर तथा उनके स्वामी की आज्ञा लेकर उस पर विराजमान हो गए। प्रासुक शब्द का अर्थ है निर्जीव—प्राणरहित—अचित्त अर्थात् साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष।*

जयघोष मुनि के इस प्रकार नगरी के बाहर शुद्ध और निर्दोष भूमि पर विराजमान हो जाने के पश्चात् जो वृत्तान्त हुआ, अब उसका उल्लेख करते हैं—

अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे ।
विजयघोसि त्ति नामेणं, जन्नं जयइ वेयवी ॥ ४ ॥

अथ तस्मिन्नेव काले, पुर्यां तत्र ब्राह्मणः ।
विजयघोष इति नाम्ना, यज्ञं यजति वेदवित् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ, **तेणेव**—उसी, **कालेणं**—काल में, **तत्थ**—उस, **पुरीए**—नगरी में, **माहणे**—ब्राह्मण, **विजयघोसि**—विजयघोष, **त्ति**—इस, **नामेणं**—नाम से प्रसिद्ध, **जन्नं**—यज्ञ का, **जयइ**—यजन करता था, **वेयवी**—वेदवित्—वेदों का ज्ञाता।

मूलार्थ—उस समय उसी नगरी में वेदों का ज्ञाता विजयघोष इस नाम से विख्यात एक ब्राह्मण यज्ञ करता था।

टीका—जिस समय जयघोष मुनि नगरी के समीपवर्ती मनोरम उद्यान में विराजमान थे, उस समय उस नगरी में विजयघोष इस नाम से विख्यात और वेदों के ज्ञाता उनके छोटे भ्राता ने एक यज्ञ का आरम्भ कर रखा था, अर्थात् वह यज्ञ कर रहा था।

---

* **प्रगता असवः प्राणाः येषु ते प्रासुकाः।**

गंगातट पर नित्यकर्म करते हुए जयघोष को सर्प-मूषक वाली घटना देखकर वैराग्य उत्पन्न होना और जंगल में जाकर उनका एक मुनि के पास धर्म में दीक्षित होना आदि किसी भी घटना का विजयघोष को ज्ञान नहीं था। भ्राता के गंगा जी से लौट कर न आने और इधर-उधर ढूंढने पर भी न मिलने से विजयघोष ने यही निश्चय कर लिया कि मेरे भ्राता गंगा में बह कर मृत्यु को प्राप्त हो गये होंगे। इस निश्चय के अनुसार विजयघोष ने अपने भाई का शास्त्रविधि के अनुसार सारा और्द्धदैहिक क्रियाकर्म किया। जब जयघोष को मरे अथवा गए को अनुमानतः चार वर्ष हो गए थे तब विजयघोष ने अपने भाई का चातुर्वार्षिक श्राद्ध करना आरम्भ किया। यही उसका यज्ञानुष्ठान था, ऐसी वृद्धपरम्परा चली आती है।

कुछ भी हो, विजयघोष का यज्ञ करना तो प्रमाणित ही है, फिर वह चाहे भ्राता के निमित्त हो अथवा और किसी उद्देश्य से हो। यज्ञ से यहां पर द्रव्ययज्ञ का ही ग्रहण है, भावयज्ञ का नहीं।

इस गाथा में सप्तमी के स्थान मे तृतीया का प्रयोग **'सुप्'** के व्यत्यय से जानना। **'अथ'** शब्द उपन्यासार्थक है।

तदनन्तर क्या हुआ, अब इसके विषय में कहते हैं–

अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमणपारणे।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खमट्ठा उवट्ठिए ॥ ५ ॥

अथ स तत्रानगारः, मासक्षमणपारणायाम् ।
विजयघोषस्य यज्ञे, भिक्षार्थमुपस्थितः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–अह–अथ, **से**–वह, **अणगारे**–साधु, **तत्थ**–वहां, **मासक्खमण**–मासोपवास का, **पारणे**–पारणा के लिए **विजयघोसस्स**–विजयघोष के, **जन्नम्मि**–यज्ञ मे, **भिक्खमट्ठा**–भिक्षा के लिए, **उवट्ठिए**–उपस्थित हुआ।

मूलार्थ–उस समय वह जयघोष अनगार मासोपवास के पारणा के लिए विजयघोष के यज्ञ में भिक्षार्थ उपस्थित हुआ।

टीका–जिस समय विजयघोष ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था, उस समय जयघोष मुनि मासोपवास की तपश्चर्या में लगा हुआ था। जब उसके मासोपवास के पारणा का दिन आया, तब वह जयघोष मुनि आवश्यक नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर भिक्षा के लिए उस नगरी में भ्रमण करता हुआ जहा पर विजयघोष ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था वहां पर उपस्थित हुआ।

तात्पर्य यह है कि साधु की वृत्ति निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने की है, अतः वह अपनी साधुवृत्ति के अनुसार पर्यटन करता हुआ विजयघोष की यज्ञशाला में पहुंच गया।

'**भिक्खमट्ठा**' इस वाक्य में मकार अलाक्षणिक है और '**अट्ठा**' में अकार का दीर्घ होना एवं बिन्दु का अभाव होना यह सब प्राकृत के नियमों के अनुसार ही समझना चाहिए।

किसी-किसी प्रति में '**भिक्खस्सऽट्ठ–भैक्ष्यस्यार्थे**' ऐसा पाठ भी देखने में आता है।

तदनन्तर क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं–

समुवट्ठियं तहिं सन्तं, जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥ ६ ॥

समुपस्थितं तत्र सन्तं, याजकः प्रतिषेधयति ।
न खलु दास्यामि तुभ्यं भिक्षां, भिक्षो! याचस्वान्यतः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वय·–**समुवट्ठियं**–उपस्थित हुए, **तहिं**–वहां–उस यज्ञ में, **सन्तं**–विद्यमान, **जायगो**–याजक–विजयघोष, **पडिसेहए**–निषेध करता है, **ते**–तुझे, **भिक्खं**–भिक्षा, **हु**–निश्चय ही, **न दाहामि**–नहीं दूंगा, **भिक्खू**–हे भिक्षु ! **अन्नओ**–अन्य स्थान से, **जायाहि**–याचना करो।

मूलार्थ–जब जयघोष मुनि उस यज्ञ में भिक्षा के लिए उपस्थित हुआ, तब यज्ञ करने वाले विजयघोष ने प्रतिषेध करते हुए कहा कि "हे भिक्षो! मैं तुझे भिक्षा नहीं दूंगा, अतः तुम अन्यत्र कहीं जाकर याचना करो।"

टीका–जिस समय जयघोष मुनि भिक्षा के लिए उस यज्ञ में उपस्थित हुए, तब यज्ञ के अधिष्ठाता विजयघोष ने उनको भिक्षा देने से साफ इनकार कर दिया। विजयघोष के शब्दों को देखते हुए उस समय याजक लोगों का मुनियों के ऊपर कितना असद्भाव था, यह स्पष्ट रूप से झलक रहा है जो कि उस समय की बढ़ी हुई साम्प्रदायिकता का द्योतक है।

यहा पर '**हु**' शब्द एवार्थक है। यथा–'**नैव दास्यामि ते भिक्षाम्**' तुझे भिक्षा किसी तरह भी नहीं दूगा, इत्यादि।

अस्तु, इस प्रकार का अवहेलनासूचक उत्तर देने के अनन्तर यज्ञशाला में प्रस्तुत किए गए भोज्य पदार्थों का निर्माण किनके लिए है, तथा कौन-कौन पुरुष इस अन्न के अधिकारी हैं, इत्यादि बातों का वर्णन विजयघोष ने जिस प्रकार से किया अब उसका उल्लेख करते हैं–

जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया ।
जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा ॥ ७ ॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू! सव्वकामियं ॥ ८ ॥

ये च वेदविदो विप्राः, यज्ञार्थाश्च ये द्विजाः ।
ज्योतिः शास्त्रांगविदो ये च, ये च धर्माणां पारगाः ॥ ७ ॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
तेभ्योऽन्नमिदं देयं, भो भिक्षो ! सर्वकाम्यम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो, **य**—पुनः, **वेयविऊ**—वेदों के जानने वाले, **विप्पा**—विप्र—ब्राह्मण हैं, **य**—और, **जन्नट्ठा**—यज्ञ के अर्थी, **जे**—जो, **दिया**—द्विज हैं, **य**—और, **जे**—जो, **जोइसंगविऊ**—ज्योतिषांग के वेत्ता हैं, **य**—तथा, **जे**—जो, **धम्माण**—धर्मों के, **पारगा**—पारगामी हैं, **य**—च—शब्द अन्य विद्या समुच्चयार्थक है।

जे—जो, **समत्था**—समर्थ है, **समुद्धत्तुं**—उद्धार करने को, **परं**—पर का, **अप्पाणं**—अपनी आत्मा का, **एव**—पादपूर्ति में है, **तेसिं**—उनके लिए, **इणं**—यह, **अन्नं**—भोजनादि पदार्थ, **देयं**—देने योग्य है, **भो भिक्खू**—हे भिक्षो !, **सव्वकामियं**—सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला।

मूलार्थ—हे भिक्षो ! जो वेदों के जानने वाले विप्र हैं तथा जो यज्ञ के करने वाले द्विज हैं और जो ज्योतिषांग के ज्ञाता हैं एवं जो धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं तथा अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं, उनके लिए सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला यह अन्न—भोज्य पदार्थ तैयार किया गया है। (युग्मव्याख्या)

टीका—इन दोनों गाथाओं का अर्थ स्पष्ट है। विजयघोष ने अपने यज्ञ-मण्डप में प्रस्तुत किए गए अन्न के अधिकारी कौन हैं, अथवा किन पुरुषो के निमित्त यह अन्न—भोजन तैयार किया गया है, इत्यादि बातों का बड़े स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है।

विजयघोष कहते हैं कि हे मुने! यह भोजन उन पुरुषों के लिए तैयार किया गया है कि जो निम्नलिखित गुणों से अलंकृत है। यथा—जो वेदविद् अर्थात् वेदों के जानने वाले ब्राह्मण हैं, इतना ही नहीं किन्तु जो यज्ञार्थी—वेदोक्त विधि के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले द्विज है तथा ज्योतिषांग विद्या के ज्ञाता और धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं। इसके अतिरिक्त जो स्वात्मा और पर के आत्मा का उद्धार करने की अपने में सामर्थ्य रखते हैं तथा यह अन्न भी यज्ञ का अन्न है, अतः यह मनुष्यों की सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाला है। इसका तात्पर्य यह है कि इस समय इस यज्ञ में खाने की सभी वस्तुएं विद्यमान हैं जिसको जिस वस्तु के खाने की इच्छा हो, वही उसको सुख से उपलब्ध हो सकती है।

'सर्वकाम्यम्' इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि यज्ञ में प्रस्तुत किया गया यह भोजन षड्रसयुक्त है, अर्थात् इसमें मधुर अम्लादि सारे ही रस विद्यमान हैं, जिनका कि खाने वाले को सुखपूर्वक अनुभव हो सकता है। यद्यपि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष ये

छह वेदों के अंग कथन किए गए हैं*, अतः अंग के कथनमात्र से ही ज्योतिष का ग्रहण हो सकता है तो फिर ज्योतिष का पृथक् ग्रहण क्यों किया गया है ? इस प्रकार की शंका का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं, तथापि शास्त्रकार ने जो उसको पृथक् ग्रहण किया है उसका तात्पर्य ज्योतिषशास्त्र की प्रधानता को सूचन करना है, अर्थात् यज्ञ-मण्डप में यज्ञसम्पादनार्थ उपस्थित ब्राह्मण इस विद्या में विशेष निपुण होना चाहिए। मनुष्यों के सुख-दुःख, जन्म-मरण, लाभ-हानि आदि बातों का इसके द्वारा भली-भांति ज्ञान हो जाता है। इसलिए भी इसका पृथक् ग्रहण है।

'धम्माण पारगा-धर्माणां पारगाः'-धर्मों के पारगामी-इस वाक्य में आए हुए धर्म शब्द का अर्थ है-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग का प्रतिपादन करने वाले धर्मशास्त्र, उनके पारगामी अर्थात् धर्मशास्त्रों के मर्मज्ञ-मर्म को जानने वाले।

इस सारे वर्णन से विजयघोष का आशय यह प्रतीत होता है कि वह जयघोष मुनि से कह रहे हैं कि जो इन पूर्वोक्त गुणों से अलंकृत हैं, उन्हीं के लिए यह भोजन तैयार कराया गया है और किसी के लिए नहीं, अतः आप कहीं अन्यत्र जाएं, क्योंकि एक तो आप हमारे सम्प्रदाय से पृथक् हैं, दूसरे आप में उक्त गुणों का अभाव है, इसलिए यहां से आपको भिक्षा की प्राप्ति नही हो सकती, कारण कि आप इसके अधिकारी नहीं हैं।

विजयघोष के इस प्रकार के भिक्षानिषेधसम्बन्धी नीरस वचनों का जयघोष मुनि पर क्या प्रभाव पड़ा, अब इस विषय का वर्णन करते हैं-

सो तत्थ एवं पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी ।
नवि रुट्ठो नवि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ ॥ ९ ॥

स तत्रैवं प्रतिषिद्धः, याजकेन महामुनिः ।
नापि रुष्टो नापि तुष्टः, उत्तमार्थगवेषकः ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः-**सो**-वह जयघोष नामक मुनि, **तत्थ**-उस यज्ञ में, **एवं**-इस प्रकार, **पडिसिद्धो**-प्रतिषेध किए हुए, **जायगेण**-यज्ञकर्त्ता ने, **महामुणी**-महामुनि, **नवि**-न तो, **रुट्ठो**-रुष्ट-क्रुद्ध हुए, **नवि**-न ही, **तुट्ठो**-तुष्ट-प्रसन्न हुए, **उत्तमट्ठ**-उत्तमार्थ-मोक्ष के, **गवेसओ**-गवेषक।

मूलार्थ-इस प्रकार उस यज्ञ में भिक्षा के लिए प्रतिषेध किए गए महामुनि जयघोष न तो रुष्ट हुए और न ही प्रसन्न हुए, क्योंकि वे उत्तमार्थ अर्थात् मुक्ति की गवेषणा करने वाले थे।

---

* शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च ।
ज्यौतिषं चेति विज्ञेयं षडङ्गानि पृथक् पृथक् ॥

टीका—क्रोध, मान, माया आदि कषायों पर विजय प्राप्त करने वाले मुनिजनों की आत्मा कितनी उज्ज्वल होती है और रागद्वेष के मल से वह कितनी पृथक् हुई होती है, इस भाव का चित्र प्रस्तुत गाथा में बडी सुन्दरता से खींचा गया है। विजयघोष के अभिमानपूर्ण अकिंचित्कर वचनों का जयघोष मुनि की आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। जैसे साधारण सी मछली के कूदने पर महासमुद्र की गम्भीरता में अंशमात्र भी क्षोभ नहीं होता, इसी प्रकार विजयघोष के तुच्छ शब्दों से याचक जयघोष मुनि के राग-द्वेष से रहित, प्रशान्त और गम्भीर अन्तःकरण में अणुमात्र भी क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ, उनके चित्त में अल्पमात्र भी विकृति नहीं आई। उन्होंने विजयघोष के इस व्यवहार पर न खेद प्रकट किया और न प्रसन्नता ही व्यक्त की, किन्तु अपने निज स्वभाव में ही स्थिर रहे। कारण यह कि वे महामुनि थे और मोक्ष के गवेषक थे।

वास्तव में विचार किया जाए तो आगम-सम्मत भिक्षु का यही धर्म है, जिसका आचरण जयघोष मुनि ने किया। भिक्षा के लिए जाने वाले मुनि के विषय मे शास्त्रकार कहते हैं*—गृहस्थ के घर में अनेक प्रकार के खाद्य और स्वाद्य पदार्थ होते हैं, यदि भिक्षा के निमित्त घर में आए हुए साधु को गृहस्थ वे पदार्थ नहीं देता तो साधु उस पर क्रोध न करे, क्योंकि किसी पदार्थ को देना न देना उस गृहस्थ की अपनी इच्छा पर निर्भर है।

उत्तमार्थ मोक्ष का नाम है, क्योंकि मोक्ष से बढ़कर और कोई भी उत्तम अर्थ—पुरुषार्थ नही है।

विजयघोष के द्वारा प्रतिषेध किए जाने पर भी समभाव में स्थिर रहने वाले जयघोष मुनि ने उसके प्रति जो कुछ कहा उसका दिग्दर्शन कराने से पहले जिस हेतु को लेकर वह कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

नन्नट्ठं पाणहेउं वा, नवि निव्वाहणाय वा ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ॥ १० ॥

नान्नार्थं पानहेतुं वा, नापि निर्वाहणाय वा ।
तेषां विमोक्षणार्थम्, इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**नन्नट्ठं**—न तो अन्न के लिए, **वा**—अथवा, **पाणहेउं**—पानी के लिए, **वा**—तथा,

---

* बहु परघरे अत्थि, विविहि खाइम साइम ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छ दिज्जा परो ण वा ॥
बहुपरिगृहेऽस्ति, विविध खाद्यं स्वाद्यम् ।
न तस्मै पण्डित· कुप्ये-दिच्छया दद्यात्परो न वा ॥

नवि–न ही, **निव्वाहणाय**–वस्त्रादि के लिए अपितु, **तेसिं**–उनकी–याजकों की, **विमोक्ख-णट्ठाए**–विमुक्ति के लिए, **इमं**–यह वक्ष्यमाण, **वयणं**–वचन, **अब्बवी**–बोले।

मूलार्थ–जयघोष मुनि ने न तो अन्न के लिए और न पानी के लिए तथा न किसी प्रकार के वस्त्रादि निर्वाह के लिए, किन्तु उन याजको को कर्मबन्धन से मुक्त कराने के लिए उनके प्रति ये वचन कहे।

टीका–शास्त्रकारों का आदेश है कि साधु किसी को जो कुछ भी उपदेश दे, वह किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर न दे, तात्पर्य यह है कि साधु का धर्मोपदेश न तो अन्नपानादि की प्राप्ति के लिए होना चाहिए और न वस्त्रादि के निर्वाहार्थ। मुनिजनों का उपदेश अपनी यशः-कीर्ति के लिए भी न होना चाहिए। बस इसी साधुजनोचित कर्त्तव्य को ध्यान में रखकर जयघोष मुनि ने जो कुछ उन याजकों के प्रति उपदेशरूप में कहा उसका प्रयोजन मात्र उनको कर्मबन्धनों से मुक्त कराकर परमानन्द को प्राप्त कराना है।

सारांश यह है कि इस प्रकार से प्रतिषेध किए जाने पर भी जयघोष मुनि ने उनको उपदेश दिया, परन्तु वह अन्न, पानी या वस्त्रादि के लाभार्थ नहीं, केवल उनके सद्बोधार्थ एवं विमोक्षणार्थ ही परम दयालु मुनि ने उनके प्रति सब कुछ कहा।

जयघोष मुनि ने परोपकार बुद्धि से अपने लघु भ्राता विजयघोष के प्रति क्या कहा, अब इस विषय में कहते हैं–

नवि जाणासि वेयमुहं, नवि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥ ११ ॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
न ते तुमं वियाणासि, अह जाणासि तो भण ॥ १२ ॥

नापि जानासि वेदमुखं, नापि यज्ञानां यन्मुखम् ।
नक्षत्राणां मुखं यच्च, यच्च धर्माणां वा मुखम् ॥ ११ ॥
ये समर्थाः समुद्धर्तु, परमात्मानमेव च ।
न तान् त्वं विजानासि, अथ जानासि तदा भण ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–नवि–न तो, **जाणासि**–तुम जानते हो, **वेयमुहं**–वेदों के मुख को, **नवि**–और न, **जं**–जो, **जन्नाण मुहं**–यज्ञों का मुख है उसको, **च**–और, **जं**–जो, **नक्खत्ताण**–नक्षत्रों के, **मुहं**–मुख को, **वा**–अथवा, **जं**–जो, **च**–पुनः, **धम्माण**–धर्मो के, **मुहं**–मुख को।

जे–जो, **समत्था**–समर्थ हैं, **समुद्धत्तुं**–उद्धार करने, **परं**–पर का, **य**–और, **अप्पाणं**–आत्मा का, **एव**–निश्चयार्थक है, **ते**–उनको, **तुमं**–तुम, **न**–नहीं, **वियाणासि**–जानते, **अह**–यदि, **जाणसि**–जानते हो, **तो**–तो, **भण**–कहो।

मूलार्थ–न तो तुम वेदों के मुख को जानते हो और न यज्ञों के मुख को, नक्षत्रों के मुख को भी तुम नहीं जानते और धर्मों का जो मुख है, उसका भी तुमको ज्ञान नहीं। जो अपने तथा पर के आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं उनको भी तुम नहीं जानते, यदि जानते हो तो कहो।

टीका–प्रस्तुत दोनों गाथाओं में विजयघोष के कथनानुसार ही जयघोष मुनि ने अनुक्रम से उत्तर दिया है। जयघोष मुनि कहते हैं कि तुमको यह भी पता नहीं कि वेदों का मुख क्या है। तात्पर्य यह है कि वेदों में जिस वर्ण्य विषय की प्रधानता है उससे तू अनभिज्ञ है। यज्ञो में जिसकी प्रधानता है उससे भी तू अपरिचित है, अर्थात् सबसे बढकर जो यज्ञ है उसका तुम्हें ज्ञान नही है।

इसी प्रकार नक्षत्रों में जिसकी प्रधानता है उसको भी तुम नहीं जानते। धर्मो में जिसकी मुख्यता है उसका भी तुम्हे परिचय नही है। इसके अतिरिक्त स्व और पर आत्मा के उद्धार करने की जिनमें शक्ति है ऐसे महापुरुषों का भी तुम्हे पता नहीं, यदि है तो बताओ।

तात्पर्य यह है कि इन पूर्वोक्त विषयों से तुम सर्वथा अपरिचित प्रतीत होते हो, अर्थात् इनका तुम्हे यथार्थ ज्ञान हो, ऐसा मुझे तो प्रतीत नहीं होता। यदि तुम जानने का अभिमान रखते हो तो कहो–इनकी समुचित व्याख्या करके बताओ।

इस सारे कथन मे जयघोष मुनि ने विजयघोष की सारी बातों की समालोचना उसी क्रम से आरम्भ की है, जिस क्रम से विजयघोष ने कथन किया है। वास्तव में दोनों का यह वार्तालाप यज्ञमण्डप मे उपस्थित हुए अन्य ब्राह्मण विद्वानों के बोधार्थ ही उपस्थित किया गया समझना चाहिए। (युग्मव्याख्या)

जयघोष मुनि के उक्त सम्भाषण को सुनने के अनन्तर विजयघोष ने जो कुछ किया अब उसका वर्णन करते हैं–

तस्सक्खेवपमोक्खं च, अचयन्तो तहिं दिओ ।
सपरिसो पंजली होउं, पुच्छई तं महामुणिं ॥ १३ ॥

तस्याक्षेपप्रमोक्षं च, (दातुम्) अशक्नुवन् तत्र द्विजः ।
सपरिषत् प्राञ्जलिर्भूत्वा, पृच्छति तं महामुनिम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–**तस्स**–उस मुनि के, **क्खेवपमोक्खं**–आक्षेपों के उत्तर देने में, **अचयन्तो**–असमर्थ होकर, **तहिं**–उस यज्ञ में, **दिओ**–द्विज–ब्राह्मण, **सपरिसो**–परिषत् के सहित, **पंजली होउं**–हाथ जोड़कर, **तं**–उस, **महामुणिं**–महामुनि को, **पुच्छई**–पूछता है।

मूलार्थ–उस मुनि के आक्षेपों के उत्तर देने में असमर्थ हुआ वह द्विज विजयघोष ब्राह्मण–अपनी परिषद् के साथ हाथ जोड़कर उस महामुनि (जयघोष) से पूछने लगा।

टीका–जिस समय यज्ञशाला में उपस्थित हुए जयघोष मुनि ने विजयघोष के कथन को सुनकर उसके प्रति उक्त आक्षेप रूप प्रश्न किए तो वह उनका उत्तर देने में असमर्थ होता हुआ यज्ञ में उपस्थित हुए अन्य ब्राह्मण-समुदाय को अपने साथ लेकर जयघोष मुनि से हाथ जोड़कर पूछने लगा।

इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जयघोष मुनि के आक्षेप-प्रधान प्रश्नो के उत्तर देने की अपने में शक्ति न देखकर विजयघोष ने अपने मन में विचार किया कि इस यज्ञ-मण्डप में उपस्थित हुए मुझ सहित अनेक प्रकाण्ड विद्वानों के समक्ष निर्भय होकर जिस मुनि ने उक्त प्रकार के आक्षेप-प्रधान प्रश्न किए हैं, इससे यह विदित होता है कि यह अवश्य ही वेदो के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान रखने वाला कोई महान् भिक्षु है। ऐसे धारणाशील विद्वान् मुनियों का सयोग कभी भाग्य से ही प्राप्त होता है, अत: इनके किए हुए प्रश्नों के उत्तर भी विनय-पूर्वक इन्हीं से पूछने चाहिएं, क्योकि वे उत्तर ही वास्तविक उत्तर होंगे, जिनमें कि फिर किसी प्रकार के सन्देह को भी अवकाश नहीं रहेगा। इसलिए विजयघोष ने अपनी परिषद्–विद्वन्मण्डली–के सहित बड़े विनय के साथ हाथ जोडकर जयघोष मुनि से पूछने की इच्छा प्रकट की। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रतिपक्षी होने पर भी ज्ञानप्राप्ति के लिए तो विनय को अवश्य अगीकार करना चाहिए।

तदनन्तर विजयघोष ने जो कुछ पूछा अब उसके विषय में कहते हैं–

वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं बूहि, बूहि धम्माण वा मुहं ॥ १४ ॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
एयं मे संसयं सव्वं, साहू कहसु पुच्छिओ ॥ १५ ॥

वेदानां च मुखं ब्रूहि, ब्रूहि यज्ञानां यन्मुखम् ।
नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि, ब्रूहि धर्माणां वा मुखम् ॥ १४ ॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
एतं मे संशयं सर्वं, साधो ! कथय (मया) पृष्टः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–**वेयाणं**–वेदों के, **मुहं**–मुख को, **बूहि**–कहो, **च**–और, **जं**–जो, **जन्नाण**–यज्ञों का, **मुहं**–मुख है, **बूहि**–कहो, **नक्खत्ताण**–नक्षत्रों के, **मुहं**–मुख को, **बूहि**–कहो, **वा**–तथा, **धम्माण**–धर्मो के, **मुहं**–मुख को, **बूहि**–कहो, **जे**–जो, **समत्था**–समर्थ हैं, **समुद्धत्तुं**–उद्धार करने में, **परं**–पर के, **य**–और, **अप्पाणं**–अपने आत्मा के, **एव**–निश्चयार्थक है, **एयं**–इस, **मे**–मेरे, **सव्वं**–सर्व, **संसयं**–संशय को, **साहू**–हे साधो !, **पुच्छिओ**–पूछे हुए आप, **कहसु**–कहो।

मूलार्थ–हे साधो ! वेदों के मुख को कहो, यज्ञों के मुख को कहो, नक्षत्रों के मुख को और धर्मो के मुख को कहो एवं पर और अपने आत्मा के उद्धार करने में जो समर्थ है, उसे भी कहो, मेरे ये सर्व संशय हैं, मेरे पूछने पर आप इनके विषय में अवश्य कहो।

टीका–अपनी विद्वन्मण्डली के साथ उक्त मुनि के सम्मुख उपस्थित हुए विजयघोष ने बड़ी नम्रता के साथ इस प्रकार पूछना आरम्भ किया। यथा–"हे मुने ! वेदों का मुख क्या है ? अर्थात् वेदों मे मुख्य–उपादेय वस्तु क्या है ? अथवा वेदों में जो वस्तुतः वर्ण्य विषय है, आप उसे बताइए तथा यज्ञो और नक्षत्रों का जो मुख है, उसे भी आप प्रकट करे एवं धर्मों का मुख भी आप बताने की कृपा करें।

इसके अतिरिक्त अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में जो समर्थ है उसका भी आप वर्णन करें। मै आपसे विनयपूर्वक पूछ रहा हू, अतः आप मेरे इन उक्त सर्व संशयो को दूर करने की अवश्य कृपा करे।

इन दोनों गाथाओ में जयघोष मुनि के द्वारा किए गए प्रश्नो का उन्ही के मुख से उत्तर सुनने की जिज्ञासा प्रकट की गई है, क्योकि उनका जिस प्रकार का यथार्थ उत्तर उनसे प्राप्त हो सकता है, वैसा और किसी से मिलना अशक्य है। इसी आशय से विजयघोष ने उनसे उक्त प्रश्नो के उत्तर की याचना की है।

पहली गाथा में जो '**बूहि**' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है, वह केवल आदर–व सम्मान के द्योतनार्थ है, अतः पुनरुक्ति की आशंका के लिए यहां पर स्थान नहीं है।

सशय उसको कहते है, जिसमे मन दोलायमान रहे–'**संशेतेऽस्मिन् मन इति संशयः**'। '**एव**' शब्द यहा पर अवधारण अर्थ मे है। (युग्मव्याख्या)

विजयघोष के उक्त वक्तव्य को सुनने के अनन्तर जयघोष मुनि ने उसके उत्तर में जो कुछ कहा अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं–

अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसा मुहं ।
नक्खत्ताणं मुहं चन्दो, धम्माणं कासवो मुहं ॥ १६ ॥

अग्निहोत्रमुखा वेदाः, यज्ञार्थी वेदसां मुखम् ।
नक्षत्राणां मुखं चन्द्रः, धर्माणां काश्यपो मुखम् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–अग्गिहुत्तमुहा–अग्निहोत्रमुख, **वेया**–वेद हैं, **जन्नट्ठी**–यज्ञ का अर्थी, **वेयसा**–यज्ञ से जो कर्म क्षय करता है वही यज्ञ का, **मुहं**–मुख है, **नक्खत्ताणं**–नक्षत्रों का, **मुहं**–मुख, **चन्दो**–चन्द्रमा है, **धम्माणं**–धर्मो का, **मुहं**–मुख, **कासवो**–काश्यप–श्री ऋषभ हैं।

मूलार्थ–अग्निहोत्र वेदों का मुख है, यज्ञ के द्वारा कर्मो का क्षय करना यज्ञ का मुख है, चन्द्रमा नक्षत्रों का मुख है और धर्मो का मुख काश्यप–भगवान् ऋषभदेव हैं।

टीका–विजयघोष के उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए महामुनि जयघोष कहते हैं कि अग्निहोत्र वेदो का मुख है अर्थात् अग्निहोत्र-प्रधान वेद है, कारण यह कि वेदो में अग्निहोत्र को ही प्रधानता दी गई है। इसीलिए वेदों मे नित्यप्रति अग्निहोत्र करने की आज्ञा दी गई है। सो यह अग्निहोत्र वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय होने से वेदो का मुख माना गया है।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि जयघोष मुनि ने जिस आशय को लेकर यह कथन किया है वह बड़ा ही गम्भीर है। वे वेद और उसमें प्रतिपादन किए गए अग्निहोत्र आदि को विजयघोष की अपेक्षा किसी और ही दृष्टि से देख रहे हैं। अतएव उनके मत मे इन दोनों शब्दों की व्याख्या भी कुछ और ही प्रकार की है जो कि युक्तियुक्त और सर्वथा हृदयग्राही है।

यथा–वेद नाम ज्ञान का है, क्योंकि वेद शब्द **'विद् ज्ञाने'** अर्थात् ज्ञानार्थक **'विद्'** धातु से निष्पन्न होता है। जब ज्ञान के द्वारा सब द्रव्यों का स्वरूप भली-भांति जान लिया गया तो फिर अपने आत्मा को कर्म-जन्य ससारचक्र से मुक्त करने के लिए तप रूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप ईन्धन को जला कर सद्भावनारूप आहुति की आवश्यकता होती है। एतदर्थ दीक्षित को अग्निहोत्र की परम आवश्यकता है। जैसे कि अन्यत्र कहा भी है–

'कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढसद्भावनाहुतिः ।
धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥'

अर्थात् धर्मध्यानरूप अग्नि के द्वारा कर्म रूप ईन्धन को जलाना और सद्भावनारूप आहुति का प्रक्षेप करना चाहिए। इस प्रकार दीक्षित के लिए अग्निहोत्र का विधान है।

जैसे कि ऊपर कहा गया है कि अग्निहोत्र वेदो का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म है, इसीलिए **'अग्निमुखा वै वेदाः'** यह कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेदों का जो आरण्यक भाग है, उसको अधिक महत्त्व दिया गया है। जैसे दधि का सार नवनीत–मक्खन होता है, ठीक उसी प्रकार आरण्यक भाग को वेदो का सार बताया गया है। यथा–

'नवनीतम् यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिव ।
ओषधिभ्योऽमृतं यद्वद् वेदेष्वारण्यकं तथा ॥'

आरण्यक में धर्म का दश प्रकार से कथन किया गया है। यथा—

'सत्यं तपश्च सन्तोषः क्षमा चारित्रमार्जवम् ।
श्रद्धा धृतिरहिंसा च संवरश्च तथापरः ॥' इत्यादि।

इनका अर्थ स्पष्ट है।

अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं। यथा—वेद के कारण जो कर्म-क्षय किए जाते हैं, उसे वेदसा कहते हैं, वही संयमरूप भावयज्ञ है और उसका अनुष्ठान करने वाला यज्ञार्थी कहलाता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा का यज्ञ के नाम से वर्णन किया गया है, अतः सर्व प्रकार से अहिंसा के पालन करने वाले को यज्ञार्थी कहते हैं।

इसके अतिरिक्त निघण्टु—वैदिककोष में यज्ञ का नाम **'वेदसा'** भी लिखा है, अतः यज्ञ का मुख अर्थात् उपाय अहिंसादि कर्म ही है।

नक्षत्रों का मुख चंद्रमा है, कारण यह कि वह उनका स्वामी है। नक्षत्रों के प्रकाशमान होते हुए भी चन्द्रमा के बिना रजनी अमा कहलाती है, अतः नक्षत्रों में चन्द्रमा की ही प्रधानता है। इसके अतिरिक्त व्यापारविधि में भी चान्द्र संवत्सर और चान्द्रमास की ही प्रधानता मानी जाती है, इसी तरह तिथियों की गणना भी चन्द्रमा के ही अधीन है, अतः चन्द्रमा नक्षत्रो का मुख है।

आदि प्ररूपक होने से धर्मो में प्रधानता काश्यप अर्थात् भगवान् ऋषभदेव की है, कारण कि इस अवसर्पिणी काल के तृतीय समय के पश्चिम भाग में धर्म की प्ररूपणा श्री ऋषभदेव जी ने ही की थी। आरण्यक मे लिखा है—**'ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि प्रणीतानि ब्राह्मणानि। यदा च तपसा प्राप्तपदं यद् ब्रह्म केवलं तदा च ब्रह्मर्षिणा प्रणीतानि तानि पुस्तकानि ब्राह्मणानि।**

ब्रह्माण्डपुराण में कहा है कि—**'इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन, नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः। केवलज्ञानलम्भाच्च महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागाः स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिकास्तेषां प्रवर्तित आख्यातः प्रणीतश्च त्रेता-ग्रामादौ** इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि सब धर्मों मे प्रधान काश्यप—श्रीऋषभदेव ही हैं, अतः जिस प्रकार का अग्निहोत्र आदि कर्म का स्वरूप तुमने माना हुआ है, वह समीचीन नहीं। उसका यथार्थ भाव वही है जो कि ऊपर प्रदर्शित किया गया है।

अब काश्यप की प्रधानता के विषय में फिर कहते हैं—

जहा चन्दं गहाईया, चिट्ठन्ति पंजलीउडा ।
वन्दमाणा नमंसन्ता, उत्तमं मणहारिणो ॥ १७ ॥

यथा चन्द्रं ग्रहादिकाः, तिष्ठन्ति प्राञ्जलिपुटाः ।
वन्दमाना नमस्यन्तम्, उत्तमं मनोहारिणः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **चन्दं**—चन्द्रमा को, **गहाईया**—ग्रहादिक, **पंजलीउडा**—हाथ जोड़कर, **वन्दमाणा**—वन्दना करते हुए **नमंसन्ता**—नमस्कार करते हुए, **उत्तमं**—प्रधान को, **मणहारिणो**—मन को हरण करने वाले, **चिट्ठन्ति**—स्थित हैं।

मूलार्थ—जिस प्रकार सर्वप्रधान चन्द्रमा की मनोहर नक्षत्रादि तारागण हाथ जोड़कर वन्दना और नमस्कार करते हुए स्थित हैं, उसी प्रकार इन्द्रादि देव भगवान् काश्यप श्री ऋषभदेव की सेवा करते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में नक्षत्र और चन्द्रमा के दृष्टान्त से भगवान् ऋषभ देव के महत्त्व का वर्णन किया गया है। जैसे ग्रह, नक्षत्र और तारागणों का स्वामी होने से चन्द्रमा उनके द्वारा पूजनीय और वन्दनीय हो रहा है, वैसे ही श्रीऋषभदेव देवेन्द्र और मनुजेन्द्रादि के पूजनीय और सेवनीय है। तात्पर्य यह है कि लोक में वे चन्द्रमा के समान सर्वप्रधान माने गए हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त चारों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर अब पांचवें प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रथम उसकी भूमिका की रचना करते हैं—

अजाणगा जन्नवाई, विज्जामाहणसंपया ।
मूढा सज्झायतवसा, भासच्छन्ना इवग्गिणो ॥ १८ ॥

अजानाना यज्ञवादिनः, विद्याब्राह्मणसम्पदाम् ।
मूढाः स्वाध्यायतपसा, भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**अजाणगा**—तत्त्व से अनभिज्ञ, **जन्नवाई**—यज्ञ के कथन करने वाले, **विज्जा**—विद्या—और, **माहणसंपया**—ब्राह्मण की सम्पदा से अनभिज्ञ, **मूढा**—मूढ़ हैं, **सज्झाय**—स्वाध्याय और, **तवसा**—तप से, **भासच्छन्ना**—भस्माच्छादित, **अग्गिणो**—अग्नि की, **इव**—तरह।

मूलार्थ—हे यज्ञवादी ब्राह्मण लोगो ! तुम ब्राह्मण की विद्या और सम्पदा से अनभिज्ञ हो तथा स्वाध्याय और तप के विषय में भी मूढ़ हो, अतः तुम भस्म से आच्छादित की हुई अग्नि के समान हो। (तात्पर्य यह है कि जैसे भस्म से आच्छादित की हुई अग्नि ऊपर से तो शान्त दिखाई देती है और उसके अन्दर ताप बराबर बना रहता है, इसी प्रकार तुम बाहर से तो शान्त प्रतीत होते हो, परन्तु तुम्हारे अन्तःकरण में कषायरूप अग्नि प्रज्वलित हो रही है।)

टीका—पांचवें प्रश्न का उत्तर देने के लिए भूमिका का निर्माण करते हुए जयघोष मुनि कहते हैं कि जिन ब्राह्मण याजकों को आप उत्तम पात्र समझ रहे हैं वे वास्तव में ब्राह्मणों की विद्या और सम्पत्ति से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि ब्राह्मणों की विद्या आध्यात्मिक विद्या है और सम्पदा अकिंचन भाव है, परन्तु यहां पर इन दोनों का ही अभाव दीखता है। स्वाध्याय और तप के विषय में भी ये मोहयुक्त ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूप का इन्हें ज्ञान नहीं है। इसके अतिरिक्त ये भस्माच्छन्न—भस्म से ढकी हुई अग्नि के सदृश प्रतीत होते हैं अत: ये बाहर से शान्त और भीतर से कषाय-युक्त हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे भस्माच्छन्न अग्नि बाहर से देखने मे ठण्डी और अन्दर से उष्ण होती है, वैसे ही ये ब्राह्मण लोग भी ऊपर से तो शान्त और दान्त दिखाई देते हैं, परन्तु इनके हृदय को यदि टटोला जाए तो वहां कषायरूप अग्नि प्रचण्ड हो रही है। सारांश यह है कि आपके इन यज्ञप्रिय ब्राह्मणों में ब्राह्मणोचित गुणो का अभाव होने से ब्राह्मणत्व प्रतीत नहीं होता।

किसी-किसी प्रति में **'मूढ़ा'** के स्थान पर **'गूढ़ा'** पाठ देखने मे आता है। तब **'गूढा सज्झायतवसा—गूढाः स्वाध्यायतपसा'**—इसका अर्थ होता है स्वाध्याय और तप से गूढ अर्थात् छिपे हुए। तात्पर्य यह है कि बाह्य वृत्ति से तो वे स्वाध्यायशील और तपस्वी प्रतीत होते हैं, परन्तु उनका अन्त:करण कषायों की प्रचण्ड ज्वालाओं से प्रदीप्त हो रहा है।

इसके अतिरिक्त **'विज्जामाहणसंपया'** और **'मूढा सज्झायतवसा'** इन दोनों वाक्यो मे **'सुप्'** का व्यत्यय किया गया है। प्रथम में षष्ठी के स्थान पर तृतीया और दूसरे में सप्तमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

तब ब्राह्मण कौन है, और उसके क्या लक्षण हैं, इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए मुनि जयघोष ब्राह्मणत्व के विषय में कहते हैं—

जो लोए बम्भणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा ।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥ १९ ॥

यो लोके ब्राह्मण उक्तः, अग्निरिव महितो यथा ।
सदा कुशलसन्दिष्टं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**जो**—जो, **लोए**—लोक मे, **बम्भणो**—ब्राह्मण, **वुत्तो**—कहा गया है, **जहा**—जैसे, **अग्गी**—अग्नि, **महिओ**—पूजित है—तद्वत् पूजित, **व**—पादपूर्ति में है, **सया**—सदैव काल, **कुसलसंदिट्ठं**—कुशलों द्वारा सदिष्ट, **तं**—उसको, **वयं**—हम, **माहणं**—ब्राह्मण, **बूम**—कहते हैं।

मूलार्थ—जो कुशलों द्वारा संदिष्ट अर्थात् जिसको कुशलों ने ब्राह्मण कहा है और जो लोक में अग्नि के समान पूजनीय है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका--प्रस्तुत गाथा में प्रथम ब्राह्मण शब्द का महत्व सूचित किया गया है। जयघोष मुनि कहते हैं कि जो ब्राह्मण है वह जगत में अग्नि की भांति पूजनीय होता है, अर्थात् जैसे लोग अग्नि की उपासना करते हैं और घृत आदि के अभिषेक से उसे प्रदीप्त करते है, उसी प्रकार लोगो के द्वारा ब्राह्मण भी वन्दनीय और पूजनीय होता है तथा तपरूप अग्नि के द्वारा तेजस्विता धारण करने वाला होता है। इसके अतिरिक्त कुशलों–तीर्थंकरों ने ब्राह्मणत्व के सम्पादक जो गुण कथन किए हैं, उन गुणों से जो अलंकृत है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

कुशलों ने गुणों के अनुसार ब्राह्मण का जो स्वरूप बताया है, अब उसी के विषय में कहते हैं–

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयइ ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥ २० ॥

यो न स्वजत्यागन्तुं, प्रव्रजन्न शोचति ।
रमत आर्यवचने, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः--**जो**–जो, **न सज्जइ**–संग नही करता, **आगन्तुं**–स्वजनादि के आगमन पर, **पव्वयन्तो**–प्रव्रजित होता हुआ, **न सोयइ**–सोच नही करता, परन्तु, **अज्जवयणम्मि**–आर्य-वचनों मे, **रमइ**–रमण करता है, **तं**–उसको, **वयं**–हम, **माहणं**–ब्राह्मण, **बूम**–कहते हैं।

मूलार्थ–जो स्वजनादि में आसक्त नहीं होता और दीक्षित होता हुआ सोच नहीं करता, किन्तु आर्यवचनों में रमण करता है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में तीर्थंकर भाषित ब्राह्मण के लक्षणों का दिग्दर्शन कराया गया है, अतः जिन-प्रवचन के अनुसार ब्राह्मण का स्वरूप बताते हुए जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि– ''जो स्वजनादि सम्बन्धी जनों के मिलने पर वा उपाश्रय आदि मे आने पर भी उनका संग नहीं करता–उनमें अनुरक्त नहीं होता और दीक्षित होकर स्थानान्तर में गमन करता हुआ शोक भी नहीं करता (जैसे कि उनके बिना मैं क्या करूंगा इत्यादि) अपितु आर्य-वचनों–तीर्थंकर भगवान् के कहे हुए वचनों मे ही श्रद्धा रखता है, अर्थात् निस्पृह भाव से रहता है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो किसी में आसक्ति नहीं रखता तथा हर्ष और शोक से रहित एवं स्वाध्याय में रत है, वही सच्चा ब्राह्मण है, क्योंकि उसमें शास्त्रोक्त ब्राह्मणत्व के सम्पादक गुण विद्यमान हैं।

अब फिर इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं–

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं ।
रागदोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥ २१ ॥

जातरूपं यथामृष्टं, निर्ध्मातमलपावकम् ।
रागद्वेषभयातीतं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**जायरूवं**—जातरूप-स्वर्ण, **जहा**—जैसे, **आमट्ठं**—आमृष्ट, **निद्धन्त**—निर्ध्मात, **मल**—मल, **पावगं**—पावक से, **रागदोसभयाईयं**—राग, द्वेष और भय से रहित, **तं**—उसको, **वयं**—हम, **माहणं**—ब्राह्मण, **बूम**—कहते हैं।

मूलार्थ—जैसे अग्नि के द्वारा शुद्ध किया हुआ स्वर्ण तेजस्वी और निर्मल हो जाता है, तद्वत् राग-द्वेष और भय से जो रहित है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—'जातरूप' का अर्थ है स्वर्ण, जैसे मनःशिला आदि रासायनिक द्रव्यों के संयोग से अग्नि में तपाने पर निर्मल होने पर स्वर्ण अपने वास्तविक स्वरूप में आता हुआ स्वर्ण कहलाता है, अर्थात् अशुद्ध स्वर्ण को जैसे अग्नि में डाला जाता है और द्रव्यों के संयोग से उसको मल से रहित किया जाता है, फिर वह अपने असली रूप को प्रकट करने मे समर्थ होता है, अर्थात् लोक में वह स्वर्ण के नाम से पुकारा जाता है, ठीक इसी प्रकार साधन-सामग्री के द्वारा जिस आत्मा ने भय रूप बाह्य और राग-द्वेष रूप अन्तरंग मलों को दूर करके अपने को सर्वथा निर्मल बना लिया है, उसी को यर्थाथ रूप में ब्राह्मण कहते हैं।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि जैसे संशोधित स्वर्ण अपने अपूर्व पर्याय को धारण कर लेता है, उसी प्रकार कषाय-मल से रहित हुआ आत्मा अपूर्व गुण को धारण करने वाला हो जाता है।

प्रस्तुत गाथा में '**म**' अलाक्षणिक है और '**निद्धन्तमलपावगं**' मे '**पावक**' शब्द पद-व्यत्यय से प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि—**पावकेन वह्निना निर्ध्मातम्**' इत्यादि। यदि '**म**' को अलाक्षणिक न माने तो '**मट्ठं**' का अर्थ महार्थ भी किया जा सकता है जो कि मोक्ष का वाचक है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २२ ॥

तपस्विनं कृशं दान्तम्, अपचितमांसशोणितम् ।
सुव्रतं प्राप्तनिर्वाणं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**तवस्सियं**—तपस्वी, **किसं**—कृश, **दन्त**—दान्त—इन्द्रियों को दमन करने वाला, **अवचिय**—अपचित—कम हो गया है, **मंस**—मास और, **सोणियं**—रुधिर जिसका, **सुव्वयं**—सुन्दर व्रतो वाला, **पत्त**—प्राप्त किया है, **निव्वाणं**—निर्वाण को जिसने, **तं**—उसको, **वयं**—हम, **बूम**—कहते हैं, **माहणं**—ब्राह्मण।

मूलार्थ—जो तपस्वी, कृश और दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला है, जिसके शरीर में मांस और रुधिर कम हो गया है तथा व्रत, शील और निर्वाण—परम शान्ति को जिसने प्राप्त कर लिया है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयमशील परम तपस्वी साधु को ही ब्राह्मण रूप में वर्णन किया गया है। जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि जो तपस्वी अर्थात् तप करने वाला और तप के प्रभाव से जिसका शरीर कृश हो गया हो तथा शरीर का मांस और रुधिर भी सूख गया हो एवं जिसने परम शान्ति रूप निर्वाण को प्राप्त किया हो, ऐसे दान्त—परम संयमी पुरुष को हम ब्राह्मण कहते हैं।

इस गाथा में ब्राह्मणत्व के सम्पादक तप का अनुष्ठान, इन्द्रियों का दमन, व्रतों का पालन और पूर्णसमता रूप चार गुणों का उल्लेख किया गया है।*

अब फिर कहते हैं—

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥ २३ ॥

त्रसप्राणिनो विज्ञाय, संग्रहेण च स्थावरान् ।
यो न हिनस्ति त्रिविधेन, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**तस**—त्रस, **य**—और, **थावरे**—स्थावर, **पाणे**—प्राणियों को, **संगहेण**—संक्षेप से अथवा विस्तार से, **वियाणेत्ता**—जानकर, **जो**—जो, **तिविहेण**—तीनों योगों से, **न हिंसइ**—हिंसा नही करता, **तं वयं बूम माहणं**—उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जो त्रस और स्थावर प्राणियों को संक्षेप व विस्तार से भली-भांति जानकर उनकी हिंसा नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—ब्राह्मणत्व के सम्पादक अन्य गुणों का वर्णन करने के निमित्त से जयघोष मुनि विजयघोष आदि ब्राह्मण-मण्डली से फिर कहते हैं कि—हम ब्राह्मण उसको मानते हैं कि जो त्रस और स्थावर प्राणियों के स्वरूप को समास अथवा व्यास रूप से जानता हुआ उनकी मन, वचन और काया किसी से भी हिंसा नहीं करता। इसका अभिप्राय यह है कि त्रस अथवा स्थावर किसी भी जीव को मन, वचन और शरीर के द्वारा जो स्वयं कष्ट नहीं पहुंचाता और कष्ट देने के लिए किसी को प्रेरणा नहीं करता और यदि कोई कष्ट दे तो उसको भला नही समझता।

---

* **बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को प्रक्षिप्त कहा है, परन्तु दीपिका आदि में इसको प्रक्षिप्त नहीं माना गया।**

तात्पर्य यह है कि तीन योगों और तीन करणों से जो अहिंसा-धर्म का पालन करता है, उसको हम ब्राह्मण कहते अथवा मानते हैं। मन, वचन और काया के व्यापार की योग संज्ञा है। अन्यत्र भी लिखा है कि–

'यदा न कुरुते पापं, सर्वभूतेषु दारुणम् ।
कर्मणा मनसा वाचा, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥'

अर्थात् जो मन, वचन और कर्म से किसी प्रकार का पाप नहीं करता, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है।

इस प्रकार प्रथम महाव्रत की व्याख्या में ब्राह्मणत्व के स्वरूप का वर्णन किया गया है। अब द्वितीय महाव्रत पर आधारित ब्राह्मण के स्वरूप का वर्णन करते हैं–

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥ २४ ॥

क्रोधाद्वा यदि वा हास्यात्, लोभाद्वा यदि वा भयात् ।
मृषा न वदति यस्तु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः–**कोहा**–क्रोध से, **वा**–अथवा, **जइ वा**–यदि, **हासा**–हास्य से, **वा**–अथवा, **लोहा**–लोभ से, **जइ वा**–यदि, **भया**–भय से, **जो**–जो, **मुसं**–झूठ, **न**–नही, **वयई**–बोलता, **तं**–उसको, **वयं**–हम, **माहणं**–ब्राह्मण, **बूम**–कहते हैं। **उ**–अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ–क्रोध से, लोभ से, हास्य और भय से भी जो झूठ नहीं बोलता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका–इस गाथा में द्वितीय महाव्रत को लेकर ब्राह्मणत्व के स्वरूप का निरूपण करने के साथ-साथ इस बात को भी ध्वनित किया गया है कि असत्य किन-किन कारणों से बोला जाता है। जैसे कि–मनुष्य को झूठ बोलने का अवसर प्रायः क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य और भय आदि के कारणों से ही उपस्थित होता है, अर्थात् इन्हीं कारणों से मनुष्य झूठ बोलते हैं एवं हास्य के कारण भी अनेक पुरुष झूठ बोलते देखे जाते हैं, परन्तु जो व्यक्ति इन उक्त कारणों के उपस्थित होने पर भी असत्य नहीं बोलता, वास्तव में वही ब्राह्मण है।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य के अन्दर लोभ आदि उक्त दोष विद्यमान है, तब तक वह असत्य के सम्भाषण से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता और जहां उक्त

दोषों का अभाव है, वहां असत्य का लोप हो जाता है। इसलिए जो असत्य का त्यागी है, वही सच्चा ब्राह्मण है।*

अब तृतीय महाव्रत पर आधारित उक्त विषय का वर्णन करते हैं, यथा–

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गिण्हइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥ २५ ॥

चित्तवन्तमचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहुम् ।
न गृह्णात्यदत्तं यः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः–चित्तमन्तं–चेतना वाले पदार्थ, **वा**–अथवा, **अचित्तं**–चेतना रहित, **अप्पं**–अल्प, **वा**–अथवा, **बहुं**–बहुत, **जइ वा**–यदि, **जो**–जो, **अदत्तं**–बिना दिए, **न गिण्हइ**–ग्रहण नहीं करता, **तं वयं बूम माहणं**–उसको हम ब्राह्मण कहते है।

मूलार्थ–जितने भी सचित्त अथवा अचित्त, अल्प अथवा बहुत पदार्थ हैं, उनको जो बिना दिए ग्रहण नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका–जयघोष मुनि कहते है कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं चाहे वे सचित्त हों अथवा अचित्त हों तथा उन पदार्थो को अल्प प्रमाण में या अधिक प्रमाण में बिना दिए अर्थात् उनके स्वामी की आज्ञा के बिना जो कभी भी ग्रहण नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते है।

तात्पर्य यह है कि बिना दिए किसी वस्तु का ग्रहण करना स्तेय–चोरी है। इसलिए कोई भी वस्तु क्यो न हो, जब तक उसका स्वामी उसको लेने की आज्ञा न दे दे, तब तक उसको लेने की शास्त्र आज्ञा नहीं देता। अतः जो व्यक्ति बिना दिए किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता, वही सच्चा ब्राह्मण है। सचित्त–सजीव–चेतना वाले पदार्थ द्विपदादि और अचित्त–निर्जीव अर्थात् चेतनारहित पदार्थ तृण भस्मादिक हैं। यहा पर सचेतनादि के कहने का अभिप्राय यह है कि जो तृतीय महाव्रत को धारण करने वाले हैं वे शिष्यादि को उनके सम्बंधी जनो की आज्ञा के बिना ग्रहण नही कर

---

* अन्यत्र भी इसी बात का समर्थन मिलता है। यथा–
'यदा सर्वानृतं त्यक्तं मिथ्याभाषा विवर्जिता ।
अनवद्यं च भाषेत ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥'
अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥'
तात्पर्य यह है कि सत्य की सहस्त्रो अश्वमेधों से भी अधिक महिमा है।

सकते, अर्थात् दीक्षा नहीं दे सकते। उनको निर्जीव तृण भस्मादि तुच्छ पदार्थों को भी स्वामी के आदेश के बिना ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है।*

अब चतुर्थ महाव्रत के प्रस्ताव में उक्त विषय का वर्णन करते हैं–

दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २६ ॥

दिव्यमानुष्यतैरश्चं, यो न सेवते मैथुनम् ।
मनसा कायवाक्येन, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः–**दिव्व**–देव, **माणुस्स**–मनुष्य और, **तेरिच्छं**–तिर्यग्सम्बन्धी, **जो**–जो, **मेहुणं**–मैथुन को, **न सेवइ**–सेवन नहीं करता, **मणसा**–मन से, **काय**–काया से, **वक्केणं**–वचन से, **तं वयं बूम माहणं**–उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ–जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन को मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका–विजयघोष मुनि कहते हैं कि जो व्यक्ति देव, मनुष्य और पशुसम्बन्धी मैथुन का सेवन नहीं करता अर्थात् मन, वचन और शरीर इन तीनों से जिसने मैथुन का परित्याग कर दिया है, वही हमारे मत मे ब्राह्मण है। यहा पर शरीर के अतिरिक्त मन और वचन के उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि मन और वाणी से भी मैथुन का त्याग कर देना चाहिए, अर्थात् काम-विषयक मानसिक चिन्तन और वाणी द्वारा कामोद्दीपक विषयों का निरूपण करना भी ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य है। कारण यह है कि जिनके अन्तःकरण में काम-सम्बन्धी वासना विद्यमान है और जो अपनी वाणी के द्वारा कामवर्धक सामग्री का सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हैं, वे पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले नहीं कहे जा सकते। अतः तीन योग और तीन करणो से जिसने मैथुन का परित्याग कर दिया है, वही पूर्ण ब्रह्मचारी है और उसी को ब्राह्मण कहते है।**

प्रस्तुत गाथा मे जो तिर्यग् शब्द का उल्लेख किया है, उसका कारण यह है कि बहुत से अज्ञ और पामर जीव ऐसे भी इस सृष्टि में विद्यमान हैं कि जो सृष्टि-विरुद्ध आचरण करने से भी पीछे नहीं हटते, एतदर्थ तन्निषेधार्थ उक्त शब्द का उपादान किया गया है।

---

* अन्यत्र भी कहा है– 'परद्रव्यं यदा दृष्टम् आकुले ह्यथवा रहे ।
धर्मकामो न गृह्णाति ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' इत्यादि

** अन्यत्र भी लिखा है– 'देवमानुषतिर्यक्षु मैथुनम् वर्जयेद्यदा ।
कामरागविरक्तश्च ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' इत्यादि।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में कहते हैं, अर्थात् ब्राह्मणत्व के निरूपणार्थ पांचवें महाव्रत का उल्लेख करते हैं, यथा–

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ २७ ॥

यथा पद्मं जले जातं, नोपलिप्यते वारिणा ।
एवमलिप्तं कामैः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **पोमं**–पद्म, **जले**–जल में, **जायं**–उत्पन्न हुआ, **वारिणा**–जल से, **न**–नहीं, **उवलिप्पइ**–उपलिप्त होता, **एवं**–इसी प्रकार, **कामेहिं**–काम-भोगों से जो, **अलित्तं**–अलिप्त है, **तं वयं बूम माहणं**–उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ–जैसे कमल जल में उत्पन्न होता है, परन्तु वह जल से उपलिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो काम-भोगों से अलिप्त है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका–जयघोष मुनि कहते हैं कि जैसे कमल कीचड़ से उत्पन्न होकर जल के ऊपर ठहरता है और जल के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, ठीक इसी प्रकार जो काम-भोगों से उत्पन्न और वृद्धि को प्राप्त करके भी उनमें उपलिप्त नहीं होता उसी को हम ब्राह्मण मानते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष काम-भोगों से कमल-पत्र की तरह अलिप्त रहता है, अर्थात् उनमे आसक्त नहीं होता, वास्तव में वही ब्राह्मण है।

यहा पर इतना ध्यान रहे कि काम-भोग और परिग्रह इनको एक समझकर ही सूत्रकर्त्ता ने उनकी आसक्ति का निषेध किया है, अतः किसी भी भोग्य अथवा उपभोग्य वस्तु में आसक्ति का न रखना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है।*

इस प्रकार मूलगुणों के द्वारा ब्राह्मणत्व का निरूपण किया गया, अब उत्तरगुणों से उसका वर्णन करते हैं–

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥ २८ ॥

---

* अन्यत्र भी कहा गया है–'यदा सर्व परित्यज्य निस्संगो निष्परिग्रहः ।
निश्चिन्तश्च चरेद् धर्मं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' इत्यादि।

अलोलुपं मुधाजीवितम्, अनगारमकिञ्चनम् ।
असंसक्तं गृहस्थेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः–**अलोलुयं**–लोलुपता से रहित, **मुहाजीविं**–मुधाजीवी, **अणगारं**–आगार-रहित, **अकिंचणं**–अकिंचन वृत्ति वाला, **असंसत्तं**–असंसक्त, **गिहत्थेसु**–गृहस्थों में, **तं वयं बूम माहणं**–उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ–जो लोलुपता से रहित, अनगार और अकिंचन–अकिंचन वृत्ति वाला तथा गृहस्थों में आसक्ति न रखने वाला है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में साधु के उत्तम गुणों का वर्णन किया गया है, जो कि ब्राह्मणत्व के सम्पादक हैं। जयघोष मुनि कहते हैं कि ब्राह्मण वह है कि जिसमें आचारसम्बन्धी निम्नलिखित गुण विद्यमान हों अर्थात् इन आचरणीय गुणों से युक्त व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहना चाहिए। जैसे कि–अलोलुप–लोलुपता से रहित अर्थात् रसों मे अमूर्च्छित–मूर्च्छा न रखने वाला। मुधाजीवी अर्थात्–अपरिचित कुलों से निर्दोष भिक्षा लेने वाला। अर्थात् भिक्षावृत्ति से जीवन-यात्रा चलाने वाला। अनगार–गृह, मठादि से रहित। अकिंचन–द्रव्यादि का परित्यागी और गृहस्थों में असंसक्त अर्थात् उनसे अधिक परिचय न रखने वाला, कारण यह कि गृहस्थों के अधिक परिचय में आने से आत्मा में किसी-न-किसी प्रकार के हानिकारक दोषों के आ जाने की सम्भावना रहती है। तब इस सारे कथन का सारांश यह हुआ कि जो व्यक्ति रसो का त्यागी, निर्दोष भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने वाला, द्रव्य और गृह-मठादि से रहित एव गृहस्थो के अनावश्यक संसर्ग में नहीं आता वही सच्चा ब्राह्मण है।

अब पूर्वोक्त विषय में फिर कहते हैं–

जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥ २९ ॥

हित्वा पूर्वसंयोगं, ज्ञातिसंगांश्च बान्धवान् ।
यो न सजति भोगेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः–**जहित्ता**–छोड़कर, **पुव्व**–पूर्व, **संजोगं**–संयोग, **य**–और, **नाइसंगे**–ज्ञातियों का संग, **बन्धवे**–बन्धुजनो का संग, **जो**–जो, **न सज्जइ**–नहीं आसक्त होता, **भोगेसु**–भोगो में, **तं वयं बूम माहणं**–उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ–जो पूर्वसंयोगों तथा ज्ञाति और बन्धुजनों के सम्बन्धों को छोड़ने के अनन्तर फिर काम भोगों में आसक्त नहीं होता उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में व्याजरूप से त्यागवृत्ति को दृढ़तर रखने का उपदेश दिया गया है। जयघोष मुनि कहते हैं कि जिसने माता-पिता के सम्बन्ध को त्याग दिया है, श्वसुर आदि के संग को भी छोड़ दिया है, ज्ञाति तथा सम्बन्धी जनों के मोह से अलग हो गया है तथा त्यागे हुए काम-भोगों में जो फिर आसक्त नहीं होता, वही ब्राह्मण है। तात्पर्य यह है कि विषयभोग और तज्जनक सामग्री के विषय में जो विरक्त हो चुका है, अथवा विषय जन्य सुखों की जिसके हृदय में कल्पना तक नहीं है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

अब वेदों, वेद-विहित यज्ञों और उनका अनुष्ठान करने वाले याजकों के विषय में कहते हैं–

पसुबन्धा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायन्ति दुस्सीलं, कम्माणि बलवन्ति हि ॥ ३० ॥

पशुबन्धाः सर्ववेदाः, इष्टं च पापकर्मणा ।
न तं त्रायन्ते दुःशीलं, कर्माणि बलवन्ति हि ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः–**पशुबन्धा**–पशुओं के वध-बन्धन के लिए, **सव्ववेया**–सर्व वेद हैं, **च**–और, **जट्ठं**–यज्ञ, **पावकम्मुणा**–पापकर्मों का हेतुभूत है, **तं**–यज्ञ के करने वाले को, **न तायन्ति**–रक्षा नहीं कर सकते, **दुस्सीलं**–दुराचारी को, **इह**–तुम्हारे मत में, **कम्माणि**–कर्म, **बलवन्ति**–बलवान् है, **हि**–खेद अर्थ में है।

मूलार्थ–सर्व वेद पशुओं के वध-बन्धन के लिए हैं, अतः यज्ञ पापकर्म का हेतु है। वे वेद या यज्ञ वेदपाठी वा यज्ञकर्ता के रक्षक नहीं हो सकते, अपितु पाप-कर्मों को बलवान् बनाकर दुर्गति में पहुंचा देते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में वेदों के कर्मकाण्ड की आलोचना की गई है। जयघोष मुनि कहते हैं कि ऋग्, यजु, साम और अथर्व ये चारों वेद पशुओं के वध-बन्धनार्थ ही देखे जाते हैं। अश्वमेधादि यज्ञों में यूपों का वर्णन आता है, जो यज्ञ-मण्डप में गाड़े जाते हैं और उनके साथ वध्य पशु बाधे जाते हैं। इससे प्रतीत हुआ कि वेद प्रायः पशुओं के वध-बन्धनार्थ ही निर्मित हुए हैं। जब ऐसा है तब तो हिंसात्मक होने से उक्त यज्ञ भी पापकर्म को ही जन्म देने वाला है। यज्ञ के लिए पशुओं की नियुक्ति का उल्लेख मन्वादि स्मृतियों के **'यज्ञार्थ पशवः सृष्टाः'** इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त **'श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकामः'** इत्यादि वैदिक वाक्यों में यज्ञविषयक हिंसा का उल्लेख प्रत्यक्ष पाया जाता है। अतः इन उपरोक्त वैध यज्ञों के लिए वेदों का अध्ययन, पारलौकिक दुःखों से बचाने मे कभी सहायक

अथवा समर्थ नहीं हो सकता। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि हिंसाजनक क्रियाओं के अनुष्ठान से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का तीव्र बन्ध होता है और उसी के कारण यह आत्मा दुर्गति में जाता है। इससे प्रमाणित हुआ कि वेदोक्त हिंसामय यज्ञों से किसी प्रकार के भी पुण्य फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए सांख्यमत के मानने वालों ने भी इन वैध यज्ञों की बड़ी कड़ी आलोचना की है–

वृक्षांश्छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं प्राप्यते स्वर्गो नरकं केन गम्यते ॥'

अर्थात् यूपार्थ वृक्षों को काटकर, पशुओं को मारकर और रुधिर का कीचड़ करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो फिर नरक-प्राप्ति के साधन कौन-से हैं? तात्पर्य यह है कि इन उपायों से स्वर्ग की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

यहां पर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रस्तुत सूत्र के गत बारहवें अध्ययन मे वेदों को हिंसा के विधायक नहीं माना, किन्तु यह कहा है कि तुम वेदों को पढते तो हो, परन्तु उनके अर्थों का तुमको ज्ञान नही है और यहा पर उसके विरुद्ध यह लिखा है कि समस्त वेद पशु वधनार्थ हैं और तत्प्रतिपाद्य यज्ञादि कर्म पाप के हेतुभूत हैं। इस कथन से यह प्रतीत होता है कि जयघोष मुनि के समय में–हिंसात्मक वैदिक यज्ञों की प्रथा चल पड़ी थी और उनका प्रचार अधिक हो चुका था और वर्तमान काल में वेदों के जितने भी प्राचीन भाष्य उपलब्ध होते है, उनमे हिसा का विधान पुष्कल रूप से पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक भाष्यों की भी यही दशा है। उदाहरणार्थ स्वर्गीय पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र के यजुर्वेदीय भाषा भाष्य को ले लीजिए, उसमें यजुर्वेद के २५ वें अध्याय के आश्वमेधिक प्रकरण को पढ़िए और देखिए कि उसमें किस प्रकार से हिंसा का विधान किया गया है। वस्तुत: इसमे भाष्यकारों का कोई दोष नहीं, उन्होंने तो मूल वेदमन्त्रों का प्रकरण संगत, प्रमाणयुक्त और मन्त्र के अनुसार जो अर्थ था वह कर दिया है।

अब रही स्वामी दयानन्द जी के भाष्य की बात सो स्वामी जी का वेदभाष्य तो संसार में अपने नमूने का एक ही भाष्य है। उक्त भाष्य का विचारपूर्वक स्वाध्याय करने से पता चलता है कि यह भाष्य बिलकुल असम्बद्ध है, एक मन्त्र की दूसरे मन्त्र से न तो कोई प्रकरणगत-संगति है और न किसी प्रकार का अर्थगत सम्बन्ध है एवं वेदमन्त्रों के जो अर्थ किये हैं, उनमें भी किसी प्रामाणिक अथवा युक्तियुक्त सरणि का अनुसरण नहीं किया गया। इसमें संदेह नहीं कि स्वामी दयानन्द जी ने वेदों को हिंसा के कलंक से मुक्त कराने का अपने भाष्य में बड़ा प्रयत्न किया

है। मन्त्रों के पदों को इधर-उधर तोड़-मरोड़कर उनका मनमाना अर्थ और भाव निकालने में बड़े साहस से काम लिया है। परन्तु इस कथन में भी स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं कि वे इस काम मे बुरी तरह असफल हुए हैं। सारांश यह है कि वर्तमान काल में ऋग्, यजु आदि के नाम से प्रसिद्ध वेद और सायण, महीधर उब्बट आदि आचार्यो के संस्कृतभाष्य तथा पण्डित ज्वालाप्रसाद आदि अन्य आधुनिक विद्वानों के भाषा भाष्यों को देखने से एक तटस्थ विद्वान् के हृदय में जो भाव अंकित हो सकते हैं, उन्हीं को प्रस्तुत गाथा में संक्षेप से व्यक्त किया गया है।

अब प्रकारान्तर से उक्त विषय का वर्णन करते हैं, यथा–

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥ ३१ ॥

नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः, न ओंकारेण ब्राह्मणः ।
न मुनिररण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसः ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः–**न वि**–न तो, **मुण्डिएण**–मुण्डित होने से, **समणो**–श्रमण होता है, **न**–न, **ओंकारेण**–ओकार के पढ़ने मात्र से, **बम्भणो**–ब्राह्मण होता है, **रण्णवासेणं**–अरण्य मे निवास करने से, **न मुणी**–मुनि नहीं होता, **न**–नहीं, **कुसचीरेण**–कुशा-वस्त्रों से–कुश आदि तृणो के पहनने मात्र स, **तावसो**–तपस्वी होता है।

मूलार्थ–केवल शिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं बन सकता, केवल ओंकार मात्र कहने से ब्राह्मण नहीं हो सकता और जंगल में रहने मात्र से कोई मुनि तथा कुशा आदि के वस्त्र धारण कर लेने से कोई तापस–तपस्वी नहीं हो सकता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में बाह्य लिंग की अवगणना की गई है, अर्थात् जो लोग केवल बाह्य लिंग को ही कार्य का साधक समझते हैं, उनके विचारों की आलोचना की गई है। जयघोष मुनि कहते हैं कि कोई व्यक्ति केवल सिर मुंडा लेने से श्रमण नहीं बन सकता, जब तक उसमे श्रमणोचित गुण विद्यमान न हो और न ही कोई पुरुष मात्र ओंकार अर्थात् "**ॐ भूर्भुवःस्वः**" इत्यादि गायत्रीमन्त्र के उच्चारण कर लेने मात्र से ब्राह्मण हो सकता है। इसी प्रकार केवल अरण्य अर्थात् वन में निवास कर लेने मात्र से कोई मुनि भी नहीं हो सकता, तथा कुश–दर्भ और वल्कल आदि के पहन लेने से कोई तपस्वी भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ये तो सब बाह्य चिन्ह हैं जो केवल पहचान के लिए ही हैं। इनसे कार्य-सिद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। कार्य-सिद्धि का सम्बन्ध तो अन्तरंग साधनों से ही है।

'**ॐकार मात्र से ब्राह्मण नहीं हो सकता**' इस कथन का तात्पर्य यह है कि केवल

पाठमात्र का उच्चारण कर लेना ही ब्राह्मणत्व के लिए पर्याप्त नहीं है, किन्तु ब्राह्मणोचित गुणों का धारण करना आवश्यक है। इसी प्रकार दूसरे नामों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।*

फिर किन कारणों से श्रमणादि हो सकते हैं, अब इस विषय में कहते हैं–

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥ ३२ ॥

समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः–**समयाए**–समभाव से, **समणो**–श्रमण, **होइ**–होता है, **बम्भचेरेण**–ब्रह्मचर्य से, **बम्भणो**–ब्राह्मण होता है, **य**–और, **नाणेण**–ज्ञान से, **मुणी**–मुनि, **होइ**–होता है, **तवेण**–तप से, **तावसो**–तपस्वी, **होइ**–होता है।

मूलार्थ–समभाव से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।

टीका–जयघोष मुनि कहते हैं कि श्रमण वह होता है जिसमें समभाव हो, अर्थात् रागद्वेषादि से अलग होकर जिसकी आत्मा में समभाव की परिणति हो रही हो वह श्रमण है। इसी प्रकार मन, वचन और शरीर से ब्रह्मचर्य के धारण करने वाला ब्राह्मण होता है। 'ब्रह्म' शब्द के दो अर्थ है–एक शब्दब्रह्म, दूसरा परब्रह्म। इसके अतिरिक्त ब्रह्म शब्द कुशलानुष्ठान का वाचक भी है। इसलिए जो व्यक्ति शब्दब्रह्म में निष्णात होकर परब्रह्म–अहिंसादि महाव्रतों और कुशलानुष्ठान को धारण करता है वही ब्राह्मण है।

ठीक इसी प्रकार ज्ञान–तत्त्वज्ञान से मुनि होता है, अर्थात् जो तत्त्वविद्या मे निष्णात हो वह मुनि है। इसी भांति तप का आचरण करने वाला तापस है। इच्छाओं के निरोध को तप कहते हैं, अर्थात् जिसने इच्छाओं का निरोध कर दिया हो वही तपस्वी है। प्रस्तुत गाथा में जो कुछ कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि गुणों से ही पुरुष श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तपस्वी हो सकता है, न कि बाहर के केवल वेष मात्र से–द्रव्यलिंग मात्र से।

इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णों का विभाग भी कर्म के ही अधीन है, तथाहि–

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ ३३ ॥

---

* अन्यत्र भी कहा है– 'मुण्डनात् श्रमणो नैव, संस्काराद् ब्राह्मणो न वा ।
मुनिर्नारण्यवासित्वात्, वल्कलान्न च तापसः ॥' इत्यादि।

कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रियः ।
वैश्यो कर्मणा भवति, शूद्रो भवति कर्मणा ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—**कम्मुणा**—कर्म से, **बम्भणो**—ब्राह्मण, **होइ**—होता है, **कम्मुणा**—कर्म से, **खत्तिओ**—क्षत्रिय, **होइ**—होता है, **वइसो**—वैश्य, **कम्मुणा**—कर्म से, **होइ**—होता है, **सुद्दो**—शूद्र, **कम्मुणा**—कर्म से, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—कोई भी व्यक्ति कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ब्राह्मणादि चारों वर्णो की उत्पत्ति और स्थिति का सक्षेप से वर्णन किया गया है। जैसे कि मनुष्य-जाति तो एक ही है, परन्तु क्रिया-विभाग से चारों वर्णो की मर्यादा स्थापित की गई है। जिस समय मनुष्य जाति में अकर्म-भूमिज मनुष्य थे उस समय वर्ण-व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं थी, परन्तु जब वे कर्मभूमियों की आकृति मे आए, तब से उनकी क्रिया के अनुसार चारों वर्णो की स्थापना की गई। यथा—'**क्षमा दानं दमो ध्यानं सत्यं शौचं धृतिर्घृणा। ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥**' इत्यादि वाक्योक्त क्रियाओं के आचरण करने वालो की ब्राह्मण सज्ञा हुई।

क्षत का अर्थ है भय, अतः जो भय आदि से लोगों का संरक्षण करने लगे और परोपकार के लिए अपने जीवन को न्यौछावर करने लगे वे क्षत्रिय संज्ञा से अलंकृत हुए। जिन्होंने कृषि-कर्म, पशु-पालन और व्यापारादि में निपुणता प्राप्त कर ली वे वैश्य कहलाए और जो शिल्पकला और सेवाकर्म मे प्रवीण निकले उनको शूद्र कहा गया। फिर इन चारों वर्णो के कुल बन गए। जैसे कि ब्राह्मण कुल, क्षत्रिय कुल, वैश्य कुल और शूद्र कुल। इस प्रकार इन चारो वर्णो की उत्पत्ति कर्मो से ही मानी गई है। इस प्रकर का कथन महाभारत में भी विद्यमान है। यथा—'**एकवर्णमिदं सर्व, पूर्वमासीत् युधिष्ठिर! क्रियाकर्म-विभागेन, चातुर्वर्ण्य व्यवस्थितम् ॥**' तात्पर्य यह है कि प्रथम एक ही वर्ण था, फिर क्रिया-कर्म के विभाग से चारों वर्णो की व्यवस्था की गई।

सर्वज्ञ प्रभु ने इस बात का पहले उपदेश किया है, अब इसी विषय में पुनः कहते हैं, यथा—

एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥ ३४ ॥
एतान्प्रादुरकार्षीद् बुद्धः, यैर्भवति स्नातकः ।
सर्वकर्मविनिर्मुक्तं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः–**एए**–इन अनन्तरोक्त धर्मों को, **पाउकरे**–प्रकट किया, **बुद्धे**–बुद्ध ने–सर्वज्ञ ने, **जेहिं**–जिनसे, **सिणायओ**–स्नातक, **होइ**–होता है, **सव्व**–सर्व, **कम्म**–कर्मों से, **विणिम्मुक्कं**–विनिर्मुक्त, **तं वयं बूम माहणं**–उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ–इस धर्म को बुद्ध ने–सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया जिससे कि यह जीव स्नातक हो जाता है और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है, उस कर्म-मुक्त को हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका–जयघोष मुनि कहते हैं कि यह पूर्वोक्त वर्णन मैंने अपनी बुद्धि से नहीं किया, किन्तु यह सब जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ है जो कि बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ हैं। इन पूर्वोक्त धर्मों के आराधन से यह जीव स्नातक हो जाता है और कर्मों के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

यहां पर स्नातक शब्द से केवली का ग्रहण करना अभीष्ट है, तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि महाव्रतों के यथाविधि अनुष्ठान से यह आत्मा केवलज्ञान की प्राप्ति करता हुआ सर्व प्रकार के कर्मों का समूल घात कर देता है। उसी कर्म-बन्धन से मुक्त साधक को हम ब्राह्मण कहते हैं, इत्यादि।

जैनधर्म में स्नातक नाम केवली का है, वैदिकमत में चारों वेदों के पाठी को स्नातक कहते हैं और बौद्धमत में बुद्ध को माना गया है। सर्वकर्मविप्रमुक्त का अर्थ चारों घाती कर्मों का क्षय करने वाला है।

इसके अतिरिक्त एकवचन **'अहम्'** के स्थान पर जो बहुवचन **'वयम्'** का प्रयोग किया है, यह–**'द्वौ चास्मदौ विशेषणे'** इस सूत्र के आधार से किया गया है और **'विणिमुक्कं–विनिर्मुक्तम्'** यह प्रथमा के स्थान पर द्वितीया है।

अब उक्त विषय का उपसंहार करते हुए अंतिम प्रश्न के विषय में कहते हैं–

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा ।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥ ३५ ॥

एवं गुणासमायुक्ताः, जे भवन्ति द्विजोत्तमाः ।
ते समर्थाः समुद्धर्त्तं, परमात्मानमेव च ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–पूर्वोक्त, **गुण**–गुणों से, **समाउत्ता**–समायुक्त, **जे**–जो, **दिउत्तमा**–द्विजोत्तम, **भवन्ति**–होते हैं, **ते**–वे, **समत्था**–समर्थ हैं, **समुद्धत्तुं**–उद्धार करने को, **परं**–पर के, **य**–और, **अप्पाणं**–अपने आत्मा का, **एव**–अवधारणार्थक है।

मूलार्थ–उक्त प्रकार के गुणों से युक्त जो द्विजेन्द्र हैं, वे ही स्वात्मा को और पर को संसार समुद्र से पार करने में समर्थ हैं।

टीका—अपनी और पर की आत्मा का उद्धार करने में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है, इस अवशिष्ट प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया गया है। जयघोष मुनि कहते हैं कि पूर्व प्रकरण में अहिंसा और सत्य आदि जितने भी ब्राह्मणत्व के सम्पादक गुण बताए गए हैं, उन गुणों से युक्त जो आत्मा है वही अपने और पर के उद्धार करने में समर्थ है और इसीलिए वह द्विजोत्तम—द्विजों में श्रेष्ठ है। इसके विपरीत जिस आत्मा में उक्त गुण विद्यमान नहीं हैं वह वास्तव में वेदवित्, यज्ञार्थी और धर्म का पारगामी भी नहीं है। फिर उसको 'स्व' और 'पर' का उद्धारक कहना या मानना भी केवल साहसमात्र है। जैसे **कीचड़ से कीचड़ की शुद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार हिंसा आदि क्रूर कर्मों के आचरण से आत्मा की शुद्धि भी नहीं हो सकती,** इसीलिए सच्चा वेदवित्, सच्चा यज्ञार्थी और धर्म का पारगामी सच्चा ब्राह्मण बनने तथा 'स्व' 'पर' का उद्धारक बनने के लिए पूर्वोक्त गुणों का धारण करना ही नितान्त आवश्यक है।

इसके अनन्तर फिर क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

एवं तु संसए छिन्ने, विजयघोसे य बम्भणे ।
समुदाय तओ तं तु, जयघोसं महामुणिं ॥ ३६ ॥

एवं तु संशये छिन्ने, विजयघोषश्च ब्राह्मणः ।
समादाय ततस्तं तु, जयघोषं महामुनिम् ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **संसए**—संशय के, **छिन्ने**—छेदन हो जाने पर, **विजयघोसे**—विजयघोष, **बम्भणे**—ब्राह्मण, **य**—फिर, **समुदाय**—सम्यक् निश्चय कर, **तओ**—तदनन्तर, **तं**—उसको, **जयघोसं**—जयघोष, **महामुणिं**—महामुनि को पहचान लिया, **तु**—वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ—इस प्रकार संशयों के छेदन हो जाने पर विजयघोष ब्राह्मण ने विचार करके जयघोष मुनि को पहचान लिया कि यह मेरा भ्राता है।

टीका—जयघोष मुनि ने जब अपना वक्तव्य समाप्त किया तब विजयघोष ब्राह्मण ने उनकी वाणी और आकृति से उनको पहचान लिया, अर्थात् यह मेरा भ्राता ही है, इस प्रकार उसको निश्चय हो गया। वास्तव में शरीर की आकृति, वाणी और वार्तालाप आदि के अनन्तर विस्तृत पदार्थों की स्मृति हो ही जाया करती है।

प्रस्तुत गाथा में **'तु'** शब्द वाक्यान्तरोपन्यास अर्थ में गृहीत किया गया है। तथा **'च'** पूरणार्थक भी है। **'समुदाय'** यह आर्ष प्रयोग **'समादाय'** का प्रतिरूप है। किसी-किसी प्रति में **'बम्भणे'** के स्थान पर **'माहणे'** लिखा है, किन्तु अर्थ दोनों शब्दों का एक ही है।

इस प्रकार पहचान लेने के अनन्तर विजयघोष ने फिर जो कुछ किया अब उसका वर्णन करते हैं—

तुट्ठे य विजयघोसे, इणमुदाहु कयंजली ।
माहणत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥ ३७ ॥

तुष्टश्च विजयघोषः, इदमुदाह कृताञ्जलिः ।
ब्राह्मणत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः—**तुट्ठे**—तुष्ट हुआ, **विजयघोसे**—विजयघोष, **इणं**—यह वक्ष्यमाण वचन, **कयंजली**—हाथ जोडकर, **उदाहु**—कहने लगा, **माहणत्तं**—ब्राह्मणत्व, **जहाभूयं**—यथाभूत, यथार्थ, **सुट्ठु**—भली-भांति, **मे**—मुझे, **उवदंसियं**—उपदर्शित किया।

मूलार्थ—प्रसन्न हुआ विजयघोष हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगा कि हे भगवन्! आपने ब्राह्मणत्व के यथावत् स्वरूप को मेरे प्रति बहुत ही अच्छी तरह प्रदर्शित किया है।

टीका—जब विजयघोष ने यह जान लिया कि यह मुनिराज तो मेरे पूर्वाश्रम के भाई हैं, तब उसको बड़ी प्रसन्नता हुई और हाथ जोड़कर जयघोष मुनि से कहने लगा कि "भगवन्! आपने ब्राह्मणत्व के यथावत् स्वरूप को बहुत ही अच्छी तरह से प्रदर्शित किया है। तात्पर्य यह है कि आपने ब्राह्मण के जो लक्षण वर्णन किए है वास्तव में वही यथार्थ हैं, अर्थात् इन लक्षणो से लक्षित वा इन गुणों से युक्त जो व्यक्ति है उसी को ब्राह्मण कहना चाहिए।

इसके अतिरिक्त विजयघोष के प्रसन्न होने के दो कारण यहां पर उपस्थित हो गए—एक तो सशयों का दूर होना और दूसरे वर्षो से गए हुए भ्राता का मिलाप होना। इसलिए वह अतिप्रसन्नचित्त होकर जयघोष मुनि के पूर्वोक्त वर्णन का सविनय समर्थन करने लगा।

इस प्रकार प्रसन्न हुए विजयघोष ने अपने पूज्य भ्राता जयघोष मुनि से जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भे वेयविऊ विऊ ।
जोइसंगविऊ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥ ३८ ॥

यूयं यष्टारो यज्ञानां, यूयं वेदविदो विदः ।
ज्योतिषाङ्गविदो यूयं, यूयं धर्माणां पारगाः ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**तुब्भे**—आप, **जन्नाणं**—यज्ञों के, **जइया**—यजन करने वाले हैं, **तुब्भे**—आप, **वेयविऊ**—वेदों के वेत्ता हैं, **विऊ**—विद्वान् हैं, **तुब्भे**—आप, **जोइसंग**—ज्योतिषांग के, **विऊ**—पंडित है, **तुब्भे**—आप, **धम्माण**—धर्मों के, **पारगा**—पारगामी हैं।

मूलार्थ—हे भगवन् ! आप यज्ञों के करने वाले हैं, आप वेदों के ज्ञाता—वेद विद्या के पण्डित हैं, आप ज्योतिषांग के वेत्ता और धर्मों के पारगामी हैं।

टीका—कोई-कोई ऐसा पाठ भी पढ़ते हैं—'**संजाणंतो तओ तं तु**'—जानते हुए कि यह मेरा भाई है। तब विजयघोष ने जयघोष मुनि के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—"हे भगवन्! वास्तव में आप ही यज्ञों के याजक हैं, आप ही वेदविद्या के पूर्ण ज्ञाता हैं, अर्थात् आप ही वेदों के पूर्ण विद्वान् हैं तथा ज्योतिषांग के पूर्ण ज्ञाता भी आप ही हैं और धर्मों—सदाचार-सम्बन्धी नियमों के पारगामी भी आप ही हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे आप सर्वशास्त्रों में निष्णात हैं, वैसे ही आप चारित्र के पालन में भी सर्वथा परिपूर्ण है, अर्थात् जहां आप ज्ञानवान् हैं वहां आप चारित्रवान् भी हैं। यहां पर इतना ध्यान रहे कि यह सद्भूत गुणों की स्तुति है इसमें अतिशयोक्ति नहीं है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
तग्णुग्गहं करेहम्हं, भिक्खेणं भिक्खु उत्तमा! ॥ ३९ ॥

यूयं समर्थाः समुद्धर्तु, परमात्मानमेव च ।
तदनुग्रहं कुरुतास्माकं, भैक्ष्येण भिक्षूत्तमाः! ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः—**तुब्भे**—आप, **समत्था**—समर्थ है, **उद्धत्तुं**—उद्धार करने में, **परं**—पर का, **य**—और, **अप्पाणं**—अपनी आत्मा का, **एव**—पादपूर्ति मे है, **तं**—इसलिए, **भिक्खेणं**—भिक्षा से, **अम्हं**—हमारे ऊपर, **अणुग्गहं**—अनुग्रह, **करेह**—कीजिए, **भिक्खुउत्तमा**—हे भिक्षुओ में उत्तम!

मूलार्थ—हे परमोत्तम भिक्षो ! आप अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं, इसलिए आप भिक्षा ग्रहण द्वारा हमारे ऊपर अनुग्रह कीजिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जयघोष मुनि की स्तुति करते हुए साथ में उनसे भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की गई है। विजयघोष कहते हैं कि आप भिक्षुओं में उत्तम भिक्षु हैं और आप तत्त्ववेत्ता होने के कारण 'स्व' और 'पर' के उद्धार करने की भी अपने आत्मा मे पूर्ण शक्ति रखते हैं, अतः आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप भिक्षा द्वारा हमारे ऊपर अनुग्रह करें, अर्थात् भिक्षा लेकर हमें अनुगृहीत करे। तात्पर्य यह है कि आप यहां से भिक्षा अवश्य ग्रहण करें।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि विजयघोष ने जयघोष मुनि की सेवा में भिक्षा के लिए जो प्रार्थना की है, वह भावपूर्ण और शुद्ध हृदय से की है, अतः प्रत्येक सद्गृहस्थ को योग्य पात्र का अवसर प्राप्त होने पर अपने अन्तःकरण में इसी प्रकार के भावों को स्थान देना चाहिए।

विजयघोष की इस प्रार्थना के उत्तर में जयघोष मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसका निरूपण करते हैं—

न कज्जं मज्झ भिक्खेणं, खिप्पं निक्खमसू दिया ।
मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसारसायरे ॥ ४० ॥

न कार्यं मम भैक्ष्येण, क्षिप्रं निष्क्राम द्विज ! ।
मा भ्रम भयावर्ते, घोरे संसारसागरे ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः—मज्झ—मुझे, **भिक्खेणं**—भिक्षा से, **न कज्जं**—कार्य नहीं है, **दिया**—हे द्विज!, **खिप्पं निक्खमसू**—तू शीघ्र ही दीक्षा को ग्रहण कर, **मा भमिहिसि**—मत भ्रमण कर, **भयावट्टे**—भयों के आवर्त वाले, **घोरे**—भयकर, **संसारसायरे**—संसार रूप समुद्र में।

मूलार्थ—हे द्विज ! मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है, तू शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण कर और भयों के आवर्त वाले इस घोर संसार-सागर में भ्रमण मत कर।

टीका—विजयघोष द्वारा भिक्षा के लिए की गई प्रार्थना को सुनकर जयघोष मुनि बोले कि मुझे भिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं, मेरा प्रयोजन तो यहा पर आने का यह है कि तुम इस संसार को छोडो और जल्दी ही दीक्षा ग्रहण करो। इस संसाररूपी समुद्र में तुम भ्रमण मत करो—गोते मत खाओ। यह संसार समुद्र बड़ा भयकर है। इसमें अनेक प्रकार के भय रूप आवर्त—चक्र हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे समुद्र अनेक प्रकार के आवर्तो से युक्त है, अतएव भयंकर है, इसी प्रकार यह संसार भी ऐहिक और पारलौकिक भयों से युक्त होने से महाभयंकर और नाना प्रकार के दु:खो का घर है, इसलिए तुम इस संसार-सागर से पार होने का अति शीघ्र प्रयत्न करो और वह प्रयत्न यही है कि तुम इस ससार को छोड़कर प्रव्रजित हो जाओ।

अब इसी कथन का समर्थन करते हुए फिर कहते हैं—

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥ ४१ ॥

उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते ।
भोगी भ्राम्यति संसारे, अभोगी विप्रमुच्यते ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—उवलेवो—कर्मो का उपलेप, **होइ**—होता है, **भोगेसु**—कामभोगों मे, **अभोगी**—अभोगी जीव, **नोवलिप्पई**—कर्मों से लिप्त नहीं होता, **भोगी**—भोगी जीव, **संसारे**—संसार में, **भमइ**—भ्रमण करता है, **अभोगी**—अभोगी जीव, **विप्पमुच्चई**—कर्म-बन्धनों से छूट जाता है।

मूलार्थ—कर्मों का उपचय भोगों से होता है और अभोगी जीव कर्मो से लिप्त नहीं होता तथा भोगी संसार में भ्रमण करता है और अभोगी बन्धन से छूट जाता है।

टीका—जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि जो जीव शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि विषयों मे लगे हुए हैं, वे ही आत्मा में कर्मो का उपचय करते है। जिन आत्माओं ने इन विषयों का त्याग

कर दिया है, वे कर्मों से लिप्त नहीं होते। इस प्रकार जिन जीवों ने कर्मो का उपचय किया है और जिन्होंने नहीं किया उन दोनों के फल में अन्तर बतलाते हुए कहते हैं कि जो भोगी जीव हैं वे तो संसार-चक्र में ही भ्रमण करते रहते हैं और जिन्होंने इन विषय-भोगों को सर्वथा त्याग दिया है वे अभोगी आत्मा इस संसार-चक्र से निकलकर अर्थात् कर्मों के जाल को सर्व प्रकार से तोड़कर मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं।

तात्पर्य यह है कि भोगों में आसक्ति रखने वाले जीव जन्म-मरण की परम्परा में फंसे रहते हैं और अभोगी अर्थात् विषयभोगों से विरक्त जीव कर्मों के बन्धन को तोड़कर मुक्त हो जाते हैं। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को उचित है कि वह इन काम-भोगादि विषयों को त्यागने का प्रयत्न करे।

अब उक्त विषय को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं, यथा-

उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ॥ ४२ ॥

आर्द्रः शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ, गोलकौ मृत्तिकामयौ ।
द्वावप्यापतितौ कुड्ये, य आर्द्रः स तत्र लगति ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः-**उल्लो**-आर्द्र, **य**-और, **सुक्खो**-शुष्क, **दो**-दो, **छूढा**-गिराए हुए **गोलया**-गोले, **मट्टियामया**-मृत्तिकामय-मिट्टी के, **दो वि**-दोनों ही, **आवडिया**-गिरने पर, **कुड्डे**-भीत पर, **जो**-जो, **उल्लो**-आर्द्र-गीला होगा, **सो**-वह, **अत्थ**-उस भीत में, **लग्गई**-लग जाता है।

मूलार्थ-यदि गीला और शुष्क दो मिट्टी के गोले भीत पर फैंके जाएं तो उनमें से जो गीला होता है, वह भीत पर चिपक जाता है।

टीका-कर्मो के लेप-सम्बन्धी विषय को समझाने के लिए मिट्टी के दो गोलों का दृष्टान्त बड़ा ही स्थूल और जल्दी समझ में आ जाए ऐसा है। जैसे कि मिट्टी के दो गोले हैं, उनमें से एक गीला है और दूसरा सूखा हुआ है। उन दोनों को यदि पुरुष भीत पर फैंके तो उनमें जो गीला है वह तो वहां चिपक जाता है और जो सूखा होता है वह नहीं चिपकता, किन्तु नीचे गिर जाता है।

अब इसी को दृष्टान्त में घटाते हुए कहते हैं-

एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ॥ ४३ ॥

एवं लगन्ति दुर्मेधसः, ये नराः कामलालसाः ।
विरक्तास्तु न लगन्ति, यथा स शुष्क गोलकः ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इसी प्रकार, **लग्गन्ति**—कर्मों का बन्ध करते हैं, **जे**—जो, **नरा**—पुरुष, **दुम्मेहा**—दुष्ट बुद्धि वाले, **कामलालसा**—कामभोगों की लालसा करने वाले, **विरत्ता**—जो विरक्त हैं, **उ**—निश्चय में है, **न लग्गन्ति**—उनको कर्मों का बन्धन नहीं होता, **जहा**—जैसे, **से**—वह, **सुक्क**—सूखा हुआ, **गोलए**—गोला।

मूलार्थ—इसी प्रकार जो नर विषयों में मूर्च्छित हैं, उन्हीं को कर्म चिपकते हैं और जो विषयों से विरक्त हैं उनको ये कर्म नहीं चिपकते, जैसे कि सूखा हुआ गोला भीत पर नहीं चिपकता।

टीका—इस गाथा में अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त से कर्मो के उपचय की सिद्धि की गई है। जो पुरुष दुष्ट बुद्धि वाले और कामभोगों में लालसा रखने वाले हैं उन्ही को ये कर्माणु चिपकते हैं। जैसे कि मिट्टी का गीला गोला भीत पर चिपक जाता है। इसमें अन्वय दृष्टान्त इसका यह है कि जब विषय-वासना उत्पन्न हुई तब ही कर्मो का उपचय आत्मा के साथ हो गया, अर्थात् विषय-वासना के साथ ही कर्मो का बन्ध हो जाता है। व्यतिरेक दृष्टान्त यह है कि जब विषय-वासना जाती रही, तब कर्मो का उपचय भी अर्थात् कर्मों का बन्ध भी नहीं होता। **जैसे कि शुष्क गोले को भीत पर फैंकने से भी वह उससे नहीं चिपकता, ठीक इसी प्रकार विषयविरक्त-आत्मा के साथ भी कर्मो का उपचय नहीं होता।**

यहां पर इतना और स्मरण रहे कि यज्ञ-मण्डप मे उपस्थित हुए विद्वानों के सामने कर्मोपचय के सम्बन्ध में इस प्रकार अति स्थूल दृष्टान्त देने का तात्पर्य इतना ही प्रतीत होता है कि उन विद्वानो के साथ यज्ञ-मण्डप मे बैठे हुए अनेक साधारण बुद्धि रखने वाले मनुष्य भी उपस्थित थे जो कि इस अति सूक्ष्म विषय को सहज में समझने की योग्यता नहीं रखते थे। इसलिए परमदयालु जयघोष मुनि ने उनके बोधार्थ इस अति सहज और स्थूल दृष्टान्त को व्यवहार में लाने की चेष्टा की, जिससे कि वे लोग इस सरल दृष्टान्त के द्वारा कर्मबन्ध के विषय को अच्छी तरह से समझ जाएं। जैसे कि स्थानागसूत्र मे लिखा है—**'हेउणा जाणइ'** अर्थात् बहुत से जीव हेतु के द्वारा बोध को प्राप्त होते हैं।

जयघोष मुनि के इस सारगर्भित उपदेश को सुनने के अनन्तर विजयघोष याजक ने क्या किया, अर्थात् उसकी आत्मा पर मुनि जी के उक्त उपदेश का क्या प्रभाव पड़ा और उसने फिर क्या किया, अब इस विषय में कहते हैं—

एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अन्तिए ।
अणगारस्स निक्खन्तो, धम्मं सोच्चा अणुत्तरं ॥ ४४ ॥

एवं स विजयघोषः, जयघोषस्यान्तिके ।
अनगारस्य निष्क्रान्तः, धर्मं श्रुत्वाऽनुत्तरम् ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इस प्रकार, **से**–वह, **विजयघोसे**–विजयघोष, **जयघोसस्स**–जयघोष, **अणगारस्स**–अनगार के, **अन्तिए**–समीप, **अणुत्तरं**–प्रधान, **धम्मं**–धर्म को, **सोच्चा**–सुनकर, **निक्खन्तो**–दीक्षित हो गया।

मूलार्थ–इस प्रकार विजयघोष ब्राह्मण जयघोष मुनि के पास सर्वप्रधान धर्म को श्रवण करके दीक्षित हो गया।

टीका–प्रस्तुत गाथा में जयघोष मुनि के उपदेश की सफलता का दिग्दर्शन कराया गया है। जयघोष मुनि के तात्त्विक और सारगर्भित उपदेश को सुनकर अर्थात् यज्ञ, अग्निहोत्र और ब्राह्मणत्व आदि विषयों की जयघोष मुनि के द्वारा की गई सत्य और युक्ति-युक्त व्याख्या को सुनकर विजयघोष ब्राह्मण ने संसार का परित्याग करके उनके समीप मुनिवृत्ति को अंगीकार कर लिया–मुनि धर्म में दीक्षित हो गया। वास्तव में जो भद्रप्रकृति के मनुष्य होते हैं वे सन्मार्ग पर बहुत ही शीघ्र आ जाते हैं।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए उक्त दोनों मुनिवरों की दीक्षा के फल के विषय में कहते हैं–

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥ ४५ ॥
त्ति बेमि ।
इति जन्नइज्जं पञ्चवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥ २५ ॥

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च ।
जयघोष विजयघोषौ, सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ॥ ४५ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति यज्ञीयं पञ्चविंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः–**खवित्ता**–क्षय करके, **पुव्वकम्माइं**–पूर्वकर्मों को, **संजमेण**–संयम से, **य**–और, **तवेण**–तप से, **जयघोसविजयघोसा**–जयघोष और विजयघोष, **अणुत्तरं**–सर्वप्रधान, **सिद्धिं**–सिद्धि

को, **पत्ता**—प्राप्त हुए, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं। यह यज्ञीय नामक पच्चीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—संयम और तप के द्वारा पूर्वकर्मों को क्षय करके जयघोष और विजयघोष दोनों सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त हो गए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दोनों मुनियों की दीक्षा के फल का वर्णन किया गया है कि दोनों मुनियों ने संयम और तप के द्वारा कर्मो का क्षय करके पुनरावृत्तिशून्य सर्वप्रधान मोक्षगति को प्राप्त कर लिया। यही मुनिवृत्ति के धारण और आचरण करने का अन्तिम फल है। कर्मों को क्षय करने के लिए संयम और तप ही कारण है, अथवा यों कहिए कि कर्म तप और संयम के द्वारा ही क्षय किए जाते हैं। कर्मो को क्षय करने का और कोई साधन नहीं है, यही इस गाथा का ध्वनितार्थ है।

इसके अतिरिक्त '**त्ति बेमि**' का अर्थ प्रथम की भांति ही समझ लेना चाहिए।

पञ्चविंशतितममध्ययनं सम्पूर्णम्
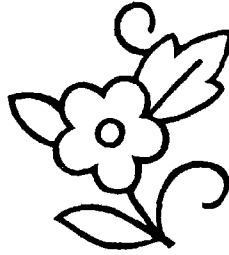
पारिभाषिक शब्दावली

(१४ वें अध्ययन से २५ वें अध्ययन तक)

१४ वां अध्ययन

विमान	१४/१	देवलोको की वे भूमियां जहां देवता निवास करते हैं।
काम-गुण	१४/४	सांसारिक विषय–वासनाएं।
अ-सुत	१४/८	पुत्रहीन, वैदिक धर्मानुयाइयो की दृष्टि में अपुत्रस्य गतिर्नास्ति–पुत्रहीन की गति नहीं होती, अर्थात् वह जीव प्रेत आदि योनियो मे ही भटकता रहता है।
प्रमाद	१४/१५	सांसारिक विषय–वासनाओ में लीन रहकर तप आदि के लिए तथा मोक्ष आदि के लिए यत्न न करना।
अरणि	१४/१८	जंड नामक वृक्ष की लकड़ी के सूखे दो टुकडे, जिन्हे परस्पर घिसने से शीघ्र ही अग्नि उत्पन्न हो जाती है।
बन्ध	१४/१६	पुण्य-पाप आदि कर्मों का आत्मा के साथ होने वाला बन्धन।
अमोघा	१४/२३	कभी भी व्यर्थ न जाने वाली। परन्तु यहां पर इसका अर्थ है कभी न रुकने वाली (गाथा में यह रात्रि का विशेषण है, किन्तु रात्रि शब्द से काल मात्र का ग्रहण यहा अभीष्ट है)।
रयणी	१४/२४	(रजनी) रात्रि, परन्तु यह रात्रि-शब्द काल मात्र का उपलक्षण है
सम्यक्त्व	१४/२६	(सम्मत्त) जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित संयम-मार्ग। नवतत्व-श्रद्धान।
मूर्छित	१४/४३	(मुच्छिया) आसक्ति से युक्त।
बुद्ध	१४/५१	ज्ञान-चेतना की जागृति से युक्त, संयम के पालन के प्रति सचेष्ट बुद्ध शब्द सिद्धो के लिए भी प्रयुक्त होता है।
परिनिर्वृत्त	१४/५३	(परिनिव्वुडे) मुक्ति को प्राप्त–मुक्तात्मा।

१५ वां अध्ययन

ऋजु-कृत	१५/१	(उज्जुकडे) छल-कपट-आदि से रहित।
निदान	१५/१	(नियाण-छिन्ने) किसी विशेष सांसारिक अभिलाषा की पूर्ति के लिए तप-संयम आदि का आचरण, नियाण-छिन्ने का अर्थ हुआ

		निष्काम कर्म करने वाला।
सस्तव	१५/१	(सथव) पारिवारिक जनों से सम्बन्ध का वर्णन।
अज्ञातैषी	१५/१	(अन्नायएसी) जाने-पहचाने परिवारो से भिक्षा न लेने वाला साधु।
लाढ	१५/२-३	सदनुष्ठान से युक्त साधक
मूर्छित	१५/२	(मुच्छिए) आसक्ति-युक्त–भोगो मे लीन
आत्म-गुप्त	१५/३	(आयगुत्ते)सयम-पालन-जन्य हर्ष को व्यक्त न करने वाला व्यक्ति।
उग्र	१५/६	(उग्ग) मल्लयुद्ध आदि साहसिक कार्य करने वाले लोग।
माहण	१५/६	ब्राह्मण
भोगिक	१५/६	राजवृत्ति का भोग करने वाले सामन्त आदि
खाद्य-स्वाद्य	१५/१२	(खाइम-साइमं) खाद्य--फल एव सूखे मेवे आदि। स्वाद्य--लौग, सुपारी चूरन आदि।
भय-भैरव	१५/१४	यहा भय का अर्थ आकस्मिक डर है और भैरव का अर्थ है सिह आदि जन्तुओ से होने वाला भय।
खेदानुगत	१५/१५	(खेयाणुगए) खेद का अर्थ है सयम, अत: खेदानुगत का अर्थ हे सयम से युक्त।
अणुकषायी	१५/१६	(अणुक्कसाई) कषाय का अर्थ है- क्रोध, मान, माया और लोभ, अत: इसका अर्थ है–थोड़े कषायों वाला।

१६ वां अध्ययन

शका	१६/२	ब्रह्मचर्य का पालन शरीर एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित है या नही ? क्या ब्रह्मचर्य से कुछ लाभ हो सकता है ?
काक्षा	१६/२	स्त्री-सग की इच्छा।
विचिकित्सा	१६/२	मानसिक उद्विग्नता एवं "ब्रह्मचर्य का पालन करू या न करू" की शका में मन का डोलना।
भद	१६/२	चारित्र-भ्रष्ट हो जाना।
निर्ग्रन्थ	१६/४	सांसारिक वासनाओं की ग्रन्थियो से रहित जैन साधु।
प्रणीत-आहार	१६/७	हलवा, चूरी आदि ऐसे पदार्थ जिन से घी टपक रहा हो। (प्रणीत गलत् स्नेह तैलघृतादिभि:)

१७ वां अध्ययन

बोधि-लाभ	१७/१	(बोहिलाहं) सम्यग्बोध की प्राप्ति।
प्रतिलेखना	१७/६	(पडिलेहणा) पात्र-वस्त्र-पुस्तक-स्थान आदि का अच्छी तरह इस प्रकार निरीक्षण कि किसी जीव-जन्तु का घात न हो।
विगय	१७/१५	(विगइओ) दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु, मद्य और मांस–इन नौ पदार्थों को विगय या विकृति कहा जाता है।
पाखण्ड	१७/१७	यहां पाखण्ड शब्द का अर्थ सम्प्रदाय एवं गच्छ है, अतः पर-पाखण्ड का अर्थ है–दूसरा सम्प्रदाय या दूसरा गच्छ। भगवान महावीर के समय अन्य धर्म-सम्प्रदाय क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी–इन चार मान्यताओं में विभक्त थे, क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियो के ८४ अज्ञानवादियो के ६७ और विनयवादियो के ३२ सम्प्रदाय थे। इस प्रकार उस समय ३६३ मत पर-पाखण्ड के नाम से जाने जाते थे।
गाण-गणिक	१७/१७	(गाणं गणिय) शास्त्र-मर्यादा के विरुद्ध जल्दी-जल्दी बिना कारण ही गण-परिवर्तन करते रहने वाला साधु।

१८ वां अध्ययन

अनगार	१८/१८	जिसका अपना कोई निवास-स्थान—मठ मन्दिर आदि नही, वह जैन साधु अनगार कहलाता है।
अनुत्तर-गति	१८/४२	जिसके अनन्तर कोई गति अर्थात् स्थान न हो–मोक्षधाम।

१९ वां अध्ययन

जाति-स्मरण	१९/७	(जाईसरणं) विशिष्ट ज्ञान का उदय होने पर होने वाला पूर्वजन्मों का ज्ञान।
सज्ञीज्ञान	१९/८	(सन्निनाण)–जाति-स्मरण ज्ञान को ही सज्ञीज्ञान कहा जाता है।
चतुर्विध आहार	१९/३१	असण–रोटी-चावल आदि अन्न-निर्मित पदार्थ। पाण–पानी, शर्बत आदि। स्वादिम–पान-सुपारी-लौंग, इलायची, चूर्ण आदि। खादिम–फल एवं सूखे मेवे आदि।
जल्ल	१९/३२	शरीर का मैल।
परीषह	१९/३३	साधना-काल में आने वाले कष्ट जो बाईस प्रकार के बताये गए

		है। विशेष परिचय के लिए देखिए उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन।
पंचलक्षणक भोग	१६/४४	रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श ये पांच भोग के लक्षण बताए गए है।
चातुरन्त	१६/४७	(चाउरन्ते) संसार रूपी वन के नरक, तिर्यञ्च, देव और मनुष्य ये चार अन्तर माने गए हैं, अत: ससार रूपी वन को चातुरन्त कहा गया है।
असाता	१६/७५	कष्ट-दु:ख आदि।
साता	१६/७५	सुख, आनन्द आदि।
समिति-गुप्ति	१६/८६	परिचय के लिए देखिऐ २४ वा अध्ययन।
बाह्य-आभ्यन्तर तप	१६/८६	विशेष परिचय के लिए देखिये तीसवा अध्ययन।

२० वां अध्ययन

भन्ते।	२०/१५	जैन साधुओं एवं बौद्ध साधुओ के लिए आदरार्थ प्रयुक्त होने वाला शब्द।
आस्रव-द्वार	२०/४५	आस्रव-द्वार अर्थात् अनेक विध कर्मो के प्रवाह का आत्मा की ओर आना। हिंसा, असत्य, झूठ आदि को भी आस्रव-द्वार कहा जाता है।
त्रिदण्ड	२०/६०	(तिदण्ड-विरओ) मनोदण्ड-मन से दण्डित करना। वाग्दण्ड–वाणी से दण्डित करना। काय-दण्ड–शरीर से दण्डित करना।

२१ वां अध्ययन

सवेग	२१/१०	मोक्ष-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा।
मावद्य योग	२१/१३	पापमयी क्रियाये।

२२ वां अध्ययन

लक्षण महनन	२२/५	हाथ-पैर आदि मे रेखाओं के रूप मे दृष्टिगोचर होने वाले छत्र, चक्र, अंकुश, पद्म आदि चिन्ह। साधारण मनुष्यो मे ३२, बलदेव, वासुदेव आदि मे १०८ तथा चक्रवर्ती और तीर्थंकरों आदि में १००८ लक्षण पाये जाते हैं। गुरुजनो के नाम के पूर्व १०८ या १००८ श्री का प्रयोग इन्हीं लक्षणो की अभिव्यक्ति करता है।

(विशेष ज्ञान के लिए प्रश्नव्याकरण सूत्र का अंगुष्ठ प्रश्न नामक अध्ययन देखिए।

वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन	२२/६	शरीर का ऐसा सुदृढ़ बन्धन जिसमे शरीर की प्रत्येक संधि-स्थान की हड्डियां एक दूसरे को आटा लगाए हुए हों, तीसरी हड्डी उनको ढक लेती है और चौथी हड्डी कील की तरह उनमें फसी हुई हुआ करती है।
सम-चतुरस्त्र -सस्थान	२२/६	यदि बैठने पर कन्धे और बाजू सम प्रतीत होते हों तो ऐसे शरीर को समचतुरस्त्र संस्थान वाला कहा जाता है।

२३ वां अध्ययन

अवधिज्ञान	२३/३	मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना केवल ध्यान लगाने से किसी निश्चित सीमा तक मूर्त-रूपी पदार्थो का ज्ञान।
मतिज्ञान	२३/३	मन और इंद्रियो की सहायता से होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान।
प्रासुक	२३/४	(फासुए) निर्दोष।
द्वादशाग-विद्	२३/७	आचाराड्.ग, सूत्रकृताड्.ग, स्थानाड्.ग, समवायाड्.ग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञाता- धर्म-कथा, उपासक-दशा, अन्तकृद्दशाड्.ग, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्न-व्याकरण, विपाक-सूत्र और दृष्टिवाद (जो लुप्त हो चुका है) इन बारह सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय को द्वादशागवाणी कहा जाता है और उसको जानने वाले द्वादशाड्.गविद् कहलाते हैं।
चतुर्याम रूप धर्म	२३/१२	आदि तीर्थकर श्री ऋषभदेव को छोडकर तेईसवें तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ तक २२ तीर्थकरो द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बाह्यादान-विरमण रूप चार व्रतों को चतुर्याम कहा जाता है।
पञ्च शिक्षा	२३/१२	प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव तथा चौबीसवे तीर्थकर भगवान महावीर ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप जिन पांच महाव्रतो का प्रतिपादन किया है उनको पञ्च शिक्षा कहा जाता हैं
अचेलक	२३/१३	वस्त्रों से रहित अथवा थोडे वस्त्र धारण करने वाला साधु।
सान्तरोत्तर वस्त्र	२३/१३	अन्तरीय अर्थात् अधोभाग मे पहने जाने वाले धोती आदि वस्त्र तथा उत्तरीय अर्थात् दुपट्टा आदि ऊपर ओढे जाने वाले वस्त्र-दोनों का सामूहिक नाम सान्तरोत्तर वस्त्र है।

२४ वां अध्ययन

समिति	२४/१	(समिइओ) धर्म-मार्ग मे विवेक-पूर्वक प्रवृत्ति कराने वाली साधनामयी विशिष्ट प्रक्रिया को समिति कहा जाता है।
गुप्ति	२४/१	(गुत्तीओ) अशुभ कर्मों से निवृत्त रखने वाले विशिष्ट चारित्राचरण को गुप्ति कहा जाता है।
असावद्य	२४/१०	(असावज्ज) सब प्रकार के दोषो से रहित।
गवेषणा	२४/११	भिक्षा के लिए विवेक-सहित परिभ्रमण।
ग्रहणेषणा	२४/११	शास्त्रोक्त ४२ दोषों से रहित भिक्षान्न का ग्रहण करना।
परिभोगेषणा	२४/११	लाए हुए खाद्य पदार्थो का विवेक-पूर्वक खाना।
उपधि	२४/११	साधु-जीवन की संरक्षा के लिए उपयोग मे आने वाले वस्त्र, पात्र और रजोहरण आदि साधन।

२५ वां अध्ययन

इस अध्ययन की समस्त शब्दावली अत्यन्त सरल एव पारिभाषिक शब्दो से रहित है।

जैन धर्म दिवाकर, आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराजः शब्द चित्र

जन्मभूमि	:	राहों
पिता	:	लाला मनसारामजी चौपड़ा
माता	:	श्रीमती परमेश्वरी देवी
वंश	:	क्षत्रिय
जन्म	:	विक्रम सं. १९३९ भाद्र सुदि वामन द्वादशी (१२)
दीक्षा	:	वि.स. १९५१ आषाढ शुक्ला ५
दीक्षा स्थल	:	बनूड़ (पटियाला)
दीक्षा गुरु	:	मुनि श्री सालिगराम जी महाराज
विद्यागुरु	:	आचार्य श्रीमोतीरामजी महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	:	अनुवाद, संकलन-सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग ६० ग्रन्थ
आगम अध्यापन	:	शताधिक साधु-साध्वियों को।
कुशल प्रवचनकार	:	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
आचार्य पद	:	पजाब श्रमण संघ, वि.सं. २००३, लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	:	अखिल भारतीय श्री वर्ध. स्था जैन श्रमण संघ सादड़ी (मारवाड़) २००९ वैशाख शुक्ला
संयम काल	:	६७ वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	:	वि.स. २०१९ माघवदि ९ (ई. १९६२) लुधियाना।
आयु	:	७९ वर्ष ८ मास ढाई घंटे।
विहार क्षेत्र	:	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	:	विनम्र-शान्त-गंभीर प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	:	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एवं पुस्तकालय आदि की प्रेरणा।

जैनभूषण, पंजाब केसरी, बहुश्रुत, गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराजः शब्द चित्र

जन्मभूमि	:	साहोकी (पंजाब)
जन्मतिथि	:	विक्रम स. १६७६ वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया)
दीक्षा	:	वि स. १६६३, वैशाख शुक्ला १३
दीक्षा स्थल	:	रावलपिडी (वर्तमान पाकिस्तान)
गुरुदेव	:	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
अध्ययन	:	प्राकृत, संस्कृत, उर्दू, फारसी, गुजराती, हिन्दी, पजाबी, अग्रेजी, आदि भाषाओ के जानकार तथा दर्शन एवं व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय धर्मो के गहन अभ्यासी।
सृजन	:	हमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण पर भाष्य, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि कई आगमों पर बृहद् टीका लेखन तथा तीस से अधिक ग्रन्थों के लेखक।
प्रेरणा	.	विभिन्न स्थानकों, विद्यालयों, औषधालयों, सिलाई केन्द्रों के प्रेरणा स्रात।
विशेष	:	आपश्री निर्भीक वक्ता हैं, सिद्धहस्त लेखक हैं, कवि हैं। समन्वय तथा शान्तिपूर्ण क्रान्त जीवन के मंगलपथ पर बढ़ने वाले धर्मनेता हैं, विचारक है, समाज सुधारक हैं, आत्मदर्शन की गहराई में पहुंचे हुए साधक हैं। पंजाब तथा भारत के विभिन्न अंचलों में बसे हजारों जैन-जैनेतर परिवारों में आपके प्रति गहरी श्रद्धा एवं भक्ति है। आप स्थानकवासी जैन समाज के उन गिने-चुने प्रभावशाली संतों में प्रमुख है जिनका वाणी-व्यवहार सदा ही सत्य का समर्थक रहा है। जिनका नेतृत्व समाज को सुखद्, संरक्षक और प्रगति पथ पर बढ़ाने वाला रहा है।

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. संक्षिप्त परिचय

जैन धर्म दिवाकर गुरुदेव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. वर्तमान श्रमण संघ के शिखर पुरुष हैं। त्याग, तप, ज्ञान और ध्यान आपकी सयम-शैया के चार पाए हैं। ज्ञान और ध्यान की साधना में आप सतत साधनाशील रहते है। श्रमणसघ रूपी बृहद्-सघ के बृहद्-दायित्वों को आप सरलता, सहजता और कुशलता से वहन करने के साथ-साथ अपनी आत्म-साधना के उद्यान में निरन्तर आत्मविहार करते रहते है।

पजाब प्रान्त के मलौट नगर में आपने एक सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित ओसवाल परिवार मे जन्म लिया। विद्यालय प्रवेश पर आप एक मेधावी छात्र सिद्ध हुए। प्राथमिक कक्षा से विश्वविद्यालयी कक्षा तक आप प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होते रहे।

अपने जीवन के शैशवकाल से ही आप श्री में सत्य को जानने और जीने की अदम्य अभिलाषा रही है। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी सत्य को जानने की आपकी प्यास को समाधान का शीतल जल प्राप्त न हुआ। उसके लिए आपने अमेरिका, कनाडा आदि अनेक देशो का भ्रमण किया। धन और वैषयिक आकर्षण आपको बाध न सके। आखिर आप अपने कुल-धर्म—जैन धर्म की ओर उन्मुख हुए। भगवान महावीर के जीवन, उनकी साधना और उनकी वाणी का आपने अध्ययन किया। उससे आपके प्राण आन्दोलित बन गए और आपने ससार से सन्यास मे छलांग लेने का सुदृढ सकल्प ले लिया।

ममत्व के असख्य अवरोधो ने आपके सकल्प को शिथिल करना चाहा। पर श्रेष्ठ पुरुषो के सकल्प की तरह आपका संकल्प भी वज्रमय प्राचीर सिद्ध हुआ। जैन धर्म दिवाकर आगम-महोदधि आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज के सुशिष्य गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज से आपने दीक्षा-मत्र अंगीकार कर श्रमण संघ मे प्रवेश किया।

आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। 'भारतीय धर्मो में मुक्ति विचार' नामक आपका शोध ग्रन्थ जहा आपके अध्ययन की गहनता का एक साकार प्रमाण है वही सत्य की खोज मे आपकी अपराभूत प्यास को भी दर्शाता है। इसी शोध-प्रबन्ध पर पजाब विश्वविद्यालय ने आपको पी-एच.डी की उपाधि से अलंकृत भी किया।

दीक्षा के कुछ वर्षो के पश्चात् ही श्रद्धेय गुरुदेव के आदेश पर आपने भारत भ्रमण का लक्ष्य बनाया और पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, उडीसा, तमिलनाडु, गुजरात आदि अनेक प्रदेशों मे विचरण किया। आप जहां गए आपके सौम्य-जीवन और सरल-विमल साधुता को देख लोग गद्‌गद् बन गए। इस विहार-यात्रा के दौरान ही सघ ने आपको पहले युवाचार्य और क्रम से आचार्य स्वीकार किया। आप बाहर मे ग्रामानुग्राम

विचरण करते रहे और अपने भीतर सत्य के शिखर सोपानों पर सतत आरोहण करते रहे। ध्यान के माध्यम से आप गहरे और गहरे पैठे। इस अन्तर्यात्रा में आपको सत्य और समाधि के अद्भुत अनुभव प्राप्त हुए। आपने यह सिद्ध किया कि पंचमकाल में भी सत्य को जाना और जीया जा सकता है।

वर्तमान में आप ध्यान रूपी उस अमृत-विधा के देश-व्यापी प्रचार और प्रसार में प्राणपण से जुटे हुए है जिससे स्वय आपने सत्य से साक्षात्कार को जीया है। आपके इस अभियान से हजारों लोग लाभान्वित बन चुके है। पूरे देश से आपके ध्यान-शिविरों की मांग आ रही है।

जैन जगत आप जैसे ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी संघशास्ता को पाकर धन्य-धन्य अनुभव करता है।

आचार्य प्रवर श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	:	मलौटमडी, जिला (फरीदकोट, पजाब)
जन्म	:	१८ सितम्बर १९४२ (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	:	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	:	स्व श्री चिरंजीलाल जी जैन
वर्ण	:	वैश्य ओसवाल
वंश	:	भाबू
दीक्षा	:	१७ मई, १९७२ समय : १२०० बजे
दीक्षा स्थान	:	मलौटमडी (पंजाब)
दीक्षा गुरु	:	बहुश्रुत, जैनागम रत्नाकर राष्ट्रसंत श्रमणसघीय मलाहकार श्री ज्ञानमुनिजी महाराज
शिष्य	:	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभम मुनि जी, श्री श्रीयश मुनि जी, श्री सुव्रत मुनि जी, श्री शमित मुनि जी
प्रशिष्य	:	श्री निशांत मुनि जी, श्री निरज मुनि जी, श्री निरजन मुनि जी, श्री निपुण मुनि जी।
युवाचार्य पद	:	१३ मई, १९८७ पूना (महाराष्ट्र)
श्रमणसंघीय आचार्य पदारोहण	:	९ जून, १९९९ अहमदनगर महाराष्ट्र
चादर महोत्सव	:	७ मई, २००२ ऋषभ विहार, नई दिल्ली
अध्ययन	:	डबल एम ए, पी-एच.डी, डी.लिट्, आगमों का गहन गंभीर अध्ययन, ध्यान योग साधना में विशेष शोध कार्य

श्रमण श्रेष्ठ कर्मयोगी श्री शिरीष मुनि जी महाराज : संक्षिप्त परिचय

श्री शिरीषमुनि जी महाराज आचार्य भगवन ध्यान योगी श्री शिवमुनि जी महाराज के प्रमुख शिष्य है। वर्ष १९८७ के आचार्य भगवन के मुम्बई (खार) के वर्षावास के समय आप पूज्य श्री के सम्पर्क में आए। आचार्य श्री की सन्निधि में बैठकर आपने आत्मसाधना के तत्त्व को जाना और हृदयगम किया। उदयपुर से मुम्बई आप व्यापार के लिए आए थे और व्यापारिक व्यवसाय मे स्थापित हो रहे थे। पर आचार्य भगवन के सान्निध्य मे पहुंचकर आपने अनुभव किया कि अध्यात्म ही परम व्यापार है। भौतिक व्यापार का कोई शिखर नहीं है जबकि अध्यात्म व्यापार स्वयं एक परम शिखर है। और आपने स्वयं के स्व को पूज्य आचार्य श्री के चरणों पर अर्पित-समर्पित कर दिया।

पारिवारिक आज्ञा प्राप्त होने पर ७ मई १९९० यादगिरी (कनार्टक) में आपने आर्हती दीक्षा में प्रवेश किया। तीन वर्ष की वैराग्यावस्था में आपने अपने गुरुदेव पूज्य आचार्य भगवन से ध्यान के माध्यम से अध्यात्म में प्रवेश पाया। दीक्षा के बाद ध्यान के क्षेत्र में आप गहरे और गहरे उतरते गए। साथ ही आपने हिन्दी, अग्रेजी, सस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओ का भी तलस्पर्शी अध्ययन जारी रखा। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक है। समाज मे विधायक क्राति के आप पक्षधर है और उसके लिए निरतर समाज को प्रेरित करते रहते है।

आप एक विनय गुण सम्पन्न, सरल और सेवा समर्पित मुनिराज है। पूज्य आचार्य भगवन के ध्यान और स्वाध्याय के महामिशन को आगे और आगे ले जाने के लिए कृत्सकल्प है। अहर्निश स्व-पर कल्याण साधना रत रहने से अपने श्रमणत्व को साकार कर रहे है।

शब्द चित्र में आपका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

जन्म स्थान	:	नाई (उदयपुर राज.)
जन्मतिथि	:	१९/२/१९६४
माता	:	श्रीमती सोहनबाई
पिता	:	श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वंश, गौत्र	:	ओसवाल, कोठारी
दीक्षा तिथि	:	७ मई १९९०
दीक्षा स्थल	:	यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	:	श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री शिवमुनि जी म
दीक्षार्थ प्रेरणा	:	दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा।
शिक्षा	:	एम.ए. (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	:	आगमो का गहन गभीर अध्ययन, जैनेतर दर्शनों मे सफल प्रवेश तथा हिन्दी, सस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
शिष्य	:	श्री निशांत मुनि जी, श्री निरज मुनि जी, श्री निरजन मुनि जी, श्री निपुण मुनि जी।
उपाधी	:	श्रमण श्रेष्ठ कर्मयोगी।
विशेष प्रेरणादायी कार्य	:	ध्यान योग साधना शिविरो का सचालन, बाल सस्कार शिविरो और स्वाध्याय शिविरो के कुशल संचालक। आचार्य श्री के अनन्य सहयोगी।

आचार्य भगवंत का प्रकाशित साहित्य

साहित्य (हिन्दी)

• श्री उपासकदशांग सूत्रम् (सम्पादन)	(आगम)
• श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् भाग-१ (सम्पादन)	(आगम)
• श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् भाग-२ (सम्पादन)	(आगम)
• श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम् (सम्पादन)	(आगम)
• श्री दशवैकालिक सूत्रम् (सम्पादन)	(आगम)
• भारतीय धर्मो मे मोक्ष विचार	(शोध प्रबन्ध)
• ध्यान: एक दिव्य साधना	(ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)
• ध्यान-पथ	(ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचार बिन्दु)
• ध्यान-साधना	(ध्यान सूत्र)
• समय गोयम मा पमाएय	(चिन्तन प्रधान निबन्ध)
• अनुशीलन	(निबन्ध)
• योग मन सस्कार	(निबध)
• जिनशासनम्	(जैन तत्व मीमासा)
• पढम नाण	(चिन्तन परक निबन्ध)
• अहासुह देवाणुप्पिया	(अन्तगडसूत्र प्रवचन)
• शिव-धारा	(प्रवचन)
• अन्तर्यात्रा	(प्रवचन)
• नदी नाव सजोग	(प्रवचन)
• शिव वाणी	(प्रवचन)
• अनुश्रुति	(प्रवचन)
• अनुभूति	(प्रवचन)
• मा पमायए	(प्रवचन)
• अमृत की खोज	(प्रवचन)
• आ घर लौट चले	(प्रवचन)
• सबुज्झह कि ण बुज्झह	(प्रवचन)
• सद्गुरु महिमा	(गुरु महिमा परक आलेख)
• प्रकाश पुञ्ज महावीर	(सक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)

साहित्य (अंग्रेजी)

- दी जैना पाथवे टू लिब्रेशन
- दी फण्डामेन्टल प्रिसीपल्स ऑफ जैनिज्म
- दी डॉक्ट्रीन ऑफ द संल्फ इन जैनिज्म
- दी जैना ट्रेडिशन
- दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन
- दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन विथ रेफरेस टू जैनिज्म
- स्परीच्युल प्रक्टेसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा